Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

PARISHODH 1980

G. K. V.
LIB.
HARDWAR

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

111503

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब यूनिवर्सिटी चण्डीगढ़

111503

आचार्य द्विवेदी स्मृति अंक

111503

३.०

परिशोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशोध

सम्पादक : डॉ० धर्मपाल मैनी

सह सम्पादक : डॉ० वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता

डॉ० यश गुलाटी

क्रम

सम्पादकीय

सहज मानव द्विवेदी 1 डॉ० धर्मपाल मैनी

शोध-निबन्ध

संस्कृति के प्रतीक और आख्याता आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 3 डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्येतिहासकार के रूप में 11 डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त

आधुनिक हिंदी समीक्षा के प्रमुख आधार स्तंभ और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी 18 डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

निबंधकार द्विवेदी : 'अशोक के फूल' के संदर्भ में 23 डॉ० पी० ए० राजु

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में काव्य की रचना-प्रक्रिया 28 डॉ० अभिमन्यु

शैली के सिद्ध : आचार्य द्विवेदी 37 डॉ० रवीन्द्र भ्रमर

आचार्य द्विवेदी : रचनाकार की भूमिका में 42 डॉ० सूर्य नारायण द्विवेदी

हिन्दी गद्यकार—हजारी प्रसाद द्विवेदी 47 डॉ० पुष्पा बन्सल

आत्मकथात्मक शैली का उपन्यास : बाणभट्ट की आत्मकथा 53 श्रीमती सुदर्शन इन्द्रजीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

सहज मानव द्विवेदी

बलिया का सामान्य ग्रामीण—जो पढ़ने काशी गया, तो मालवीय जी को अपने भाषा पर अधिकार से प्रभावित कर बैठा, हिन्दी पढ़ाने शान्ति-निकेतन गया, तो अपने तेजस्वी व्यक्तित्व से कवीन्द्र रवीन्द्र को मोहित कर बैठा, पुनः हिन्दी का आचार्य बन हिन्दू विश्वविद्यालय में गया, तो धर्म और संस्कृति की नगरी वाराणसी के विद्वत्-समाज को अपने पाण्डित्य एवं आचार्यत्व से अभिभूत कर बैठा और ऋषि-भूमि ब्रह्मावर्त्त-चण्डीगढ़ आया, तो पश्चिमी सभ्यता की भौतिकता एवं आधुनिकता-परायण वैज्ञानिक-बौद्धिक दृष्टि रखने वाले यहां के जन-मानस के कण्ठ का हार बन गया, अपने सरल, सहज, स्वाभाविक, ऋषि-तत्त्व-परायण व्यक्तित्व के माध्यम से पुनः भारतीय संस्कृति के केन्द्र काशी लौटा, तो अपनी मानवीय संस्कृति की चेतना से देश-भर को ही शाश्वत मूल्यों से समृद्ध कर बैठा और देह छोड़ने दिल्ली आया, तो उसी केन्द्र के माध्यम से राष्ट्र और विश्व को आलोकित कर चला गया। ऐसा था सहज ग्रामीण जो अनायास ही महामानव बन अमर हो गया और विश्व को ज्योतित करने के लिए अपनी अखण्ड अनन्त ज्योति छोड़ गया।

आचार्य द्विवेदी अद्भुत प्रतिभा के धनी थे। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व इसका ज्वलन्त प्रमाण है। उनका सृजन-धर्मा साहित्यकार न केवल उनके उपन्यासों में ही प्रभावोत्पादक ढंग से साकार हुआ है, अपितु उनके ललित निबन्धों को भी जीवन्त-शक्ति से अणुप्राणित किये हुए है। उनका साहित्येतिहासकार व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अमर साहित्यकारों के साथ-साथ अन्य साहित्यकारों की भी संवेदनाओं को ग्रहण कर उपयुक्त अभिव्यक्ति देने में सफल हुआ है। उनका आलोचक सूक्ष्म विश्लेषणात्मक दृष्टि के साथ-साथ सरस मर्मभेदिनी प्रज्ञा को लेकर चलने के कारण स्रष्टा के अन्तर्मन का द्रष्टा बन सका, सम्भवत: इसीलिए सहृदयता से उसे ग्रहण कर विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक दृष्टि से उसका मूल्यांकन कर सरस एवं सहज अभिव्यक्ति दे सका है। उनकी शोधार्थिनी मेधा देश और काल के अन्तराल को लांघकर जिन सूक्ष्म धरातलों तक पहुंचकर वहां से मणिक्य एवं मोती चुन लायी है और उनसे साहित्य और जगत् को समृद्ध किया है वह अविस्मरणीय है। सरस्वती का ऐसा वरदपुत्र जिस अद्भुत वक्तृत्व-शक्ति का अधिकारी था, वह हिन्दी जगत् में तो अपना सानी नहीं रखता। गहन से गहन विषयों को जिस सरल शैली में सरस अभिव्यक्ति देने में वे निष्णात थे वह युग-युग तक अविस्मरणीय बनी रहेगी। वस्तुतः उनका यह वक्ता ही उनके प्रभावोत्पादक अध्यापक रूप का मूलाधार था। अध्यापक द्विवेदी के सम्पर्क में आने वाला कोई विद्यार्थी उनसे प्रभावित हुए बिना चला गया हो, मुझे कम से कम इसका ज्ञान नहीं। अपने आपको उनका शिष्य बतलाने में कौन गौरवान्वित अनुभव नहीं करता। सम्भवतः इसी लिए देश और काल की सीमा लाँघकर चले आने वाले विद्यार्थी समूह ने इसे सार्थक कर दिया। जब काशी में थे तो पंजाब से लेकर सूदूर दक्षिण में कन्याकुमारी तथा गुजरात से लेकर बंगाल तक के छात्र वहां पहुंचे और जब पंजाब आये, तो न केवल उत्तर प्रदेश, बिहार अपितु श्रीलंका के विद्यार्थी भी यहां पहुंचे—मात्र उनके पास। द्विवेदी जी का सम्पूर्ण जीवन मानवतावादी चेतना से अनुप्राणित था। उनकी प्रतिभा, उनका मौलिक चिंतन, उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय सांस्कृति की पृष्ठभूमि, उनकी सृजनधर्मिता, सभी उनकी मानवतावादी चेतना की अभिव्यक्ति की आधार-भूमियां सिद्ध हुई। यही कारण है कि पुरातन और नवीन का ऐसा समन्वय उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में साकार हुआ, जो शाश्वत-धर्मा बन गया है। उनकी वत्सलता अगाध थी, स्नेह-सिंचित शिष्य इसके साक्षी हैं, उनकी उदारता व्यापक थी. सभी के प्रति खुलकर उन्होंने इसका परिचय दिया, जो उनकी शरण में आया, उसे अपनाया ही, विद्यादान में कभी पीछे नहीं हटे। शोधार्थियों को शोध की दिशा एवं दृष्टि भी दी, भूले-भटकों को सही मार्ग दिखाया, मूल्यहीनों में जीवन-मूल्य अनुस्यूत कर उन्हें मूल्यवान् बनाया। इस प्रकार मानवीय चेतना से अनुप्राणित हो न केवल शिष्य-वर्ग एवं समाज में अपितु राष्ट्र एवं सम्पूर्ण मानव समाज में सांस्कृतिक चेतना को विकसित तथा प्रसरित किया तथा इन सांस्कृतिक मूल्यों के माध्यम से भारतीय एवं मानव संस्कृति को युग-युग के लिए समृद्ध किया।

आज उनका पार्थिव शरीर हम से बिछुड़ चुका है, लेकिन उस महामानव का अट्टहास जो उसके सौम्य, शालीन और तेजस्वी आनन पर सुशोभित है, उनके आप्त-काम देह की प्रसन्नता, मन की अनन्त-शान्ति, चिन्तन-परायण बुद्धि के सुख, उदार-हृदय के आनन्द और निष्कलुष आत्मा के आह्लाद का प्रतीक एवं परिचायक है। सम्भवतः इसीलिए उनके निबन्धकार, उपन्यासकार, इतिहासकार, आलोचक, कवि, वक्ता, अध्यापक, चिन्तक आदि सभी रूपों पर प्रतिष्ठित है उनका 'सहज मानव' उनकी महिमा और गरिमा की आधार-भूमि। शतशः नमन हो तुम्हारे इस रूप को गुरुदेव।

– धर्मपाल मैनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
आचार्य, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

संस्कृति के प्रतीक और आख्याता आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

समकालीन हिन्दी साहित्य को अपने पांडित्यपूर्ण चिन्तन, वैदुष्यपूर्ण लेखन और वैदग्ध्यपूर्ण भाषण से सर्वाधिक प्रभावित करने वाले साहित्यकारों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का स्थान अप्रतिम है। समीक्षकों का सर्वसम्मत कथन है कि मूल्यों के संक्रमण के युग में आचार्य द्विवेदी ने भारत की हजारों साल पुरानी परम्परा को आत्मसात् कर, अतीत के उज्जवल इतिहास को समझकर और वर्तमान युग के जीवन्त बोध को पचाकर जो कुछ लिखा वह साहित्य के निकष पर कालजयी ठहरता है। आचार्य द्विवेदी साहित्य को किसी एक विशिष्ट काल-सीमा में बांध कर देखने के पक्ष में नहीं थे। कालातीत दृष्टि से उद्भूत "साहित्य वस्तुत: मनुष्य का वह उच्छलित आनन्द है जो उसके अन्तर में अटाये नहीं अट सकता। साहित्य मानव जीवन से सीधा उत्पन्न होकर सीधे मानव जीवन को प्रभावित करता है। साहित्य में उन सारी बातों का जीवन्त विवरण होता है जिसे मनुष्य ने देखा है, अनुभव किया है, सोचा है, समझा है।" द्विवेदी जी ने अपने साहित्य-सृजन की आधार-शिला इसी स्वानुभूत, अधीत और कल्पित ज्ञान की नींव पर खड़ी की है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, बंगला, हिन्दी और अंग्रेजी के ज्ञान के साथ मानविकी के अनेक शास्त्रों में उनकी मजबूत पकड़ थी। इसलिए प्राचीन शास्त्रज्ञ पंडित होने के साथ वे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के भी पूरे पारखी थे।

आचार्य द्विवेदी ने अपने साहित्य को विविध विधाओं में लिखा। सर्जक साहित्यकार के रूप में उनके चार उपन्यास, शताधिक निबंध और भाषण उनके मौलिक लेखन के प्रमाण हैं। इतिहास लेखक के रूप में उनके तीन इतिहास ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। समीक्षक के रूप में सूर, कबीर, कालिदास, 'आधुनिक साहित्यबोध', 'साहित्य का मर्म' आदि कृतियां बहुचर्चित हैं। संस्कृति और कला के सम्बन्ध में 'मध्यकालीन धर्म साधना' और 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद', सुविख्यात हैं। सम्पादन तथा अनुवाद के क्षेत्र में भी द्विवेदी जी ने उल्लेखनीय कार्य किया हैं। द्विवेदी जी वस्तुतः भारतीय साहित्य सम्पदा के धनी, धर्म, कला और संस्कृति के मर्मज्ञ तथा आधुनिक युग के गंभीर विचारक थे।

संस्कृति का क्षेत्र और स्वरूप

आचार्य द्विवेदी की साहित्यिक अभिरुचि और प्रवृत्ति का आकलन करने पर जो तथ्य उभर कर सामने आता है वह है उनका संस्कृति-प्रेम। संस्कृति की परिभाषा, पहचान विश्लेषण स्वरूप-निर्धारण आदि के संदर्भ में उन्होंने अपनी सभी कृतियों में कुछ न कुछ अवश्य कहा है। यदि सभी कृतियों से उनके संस्कृति विषयक विचारों का संकलन किया जाय तो निश्चय ही संस्कृति की विशद व्याख्या प्रस्तुत करने वाला प्रामाणिक ग्रंथ तैयार हो सकता है। संस्कृति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय में द्विवेदी जी की धारणा बड़ी स्पष्ट और उदार है। उन्होंने संस्कृति को किसी देश, जाति, धर्म या सम्प्रदाय में सीमित कर नहीं देखा। 'मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएं ही संस्कृति हैं। इसलिए संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है। उनकी मान्यता है कि विश्व की हर जाति ने अपनी-अपनी साधना-परम्परा के द्वारा 'सामान्य अविरोधी सत्य' के किसी न किसी रूप का साक्षात्कार अवश्य किया है। सांस्कृतिक-चेतना का आधारभूत तत्त्व सूक्ष्मतर अविरोधी मूल्यों की उपलब्धि ही है। 'अशोक के फूल' में उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है—"नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा, भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान् सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है जिसे हम संस्कृति शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं"

संस्कृति को सभ्यता के साथ देखना तथा इन दोनों का व्यावर्तन करना भी आवश्यक होता है। अतः इसी निबंध में उन्होंने सभ्यता का भी विवेचन किया है। वे लिखते हैं—"ज्यों-ज्यों मनुष्य संघबद्ध होकर रहने का अभ्यस्त होता गया, त्यों-त्यों उसे सामाजिक संघटन के लिए नाना प्रकार के नियम-कानून बनाने पड़े। इस संघटन को दोषहीन और गतिशील बनाने के लिए उसने दण्ड-पुरस्कार की व्यवस्था भी की, इन बातों को एक शब्द में 'सभ्यता' कहते हैं। आर्थिक व्यवस्था, राजनैतिक संघटन, नैतिक परम्परा और सौन्दर्य बोध को तीव्रतर करने की योजना; सभ्यता के ये चार स्तंभ हैं। इनके सम्मिलित प्रभाव से संस्कृति बनती है। सभ्यता मनुष्य के बाह्य प्रयोजनों को सहजलभ्य करने का विधान है और संस्कृति प्रयोजनातीत आनन्द की अभिव्यक्ति।"

वस्तुतः संस्कृति को व्यापक अर्थ में ग्रहण करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संस्कृति देश, काल, जाति, धर्म और सम्प्रदाय तक सीमित न होकर मानवता के विकास की सरणि है। संस्कृति की दिशा में बढ़ने वाला व्यक्ति उन गुणों को अपने जीवन में स्थान देकर परितुष्ट होता है जो आत्मसुख और परिग्रह से रहित जनकल्याण और अपरिग्रह से युक्त होते हैं। मनुष्यता के मार्ग की ओर अग्रसर होने और सुसंस्कृत बनने के लिए भौतिक सुख-भोग और स्थूल उपलब्धियों से ऊपर उठना होता है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में—"यह जो स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होना है, जो कुछ जैसा होने वाला है, उसको वैसा ही न मानकर जैसा होना चाहिए, उसकी ओर जाने का प्रयत्न है, यही मनुष्य की मनुष्यता है। प्रयोजन के जो अतीत है, जहां मनुष्य की आनंदिनी वृत्ति ही चरितार्थ होती है, वहां की ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति को संतोष होता है।" मनुष्य की ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति को प्रेरणा देने और परिष्कृत करने का काम संस्कृति द्वारा ही सम्पन्न होता है। इसके लिए मनुष्य को श्रेष्ठतर साधनाओं में प्रवृत्त होना पड़ता है।

भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य

संस्कृति को मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति स्वीकार करने पर द्विवेदी जी के समक्ष यह प्रश्न पूरी जिज्ञासा के साथ खड़ा रहा कि वे कौन सी सर्वोत्तम साधनाएं हैं जो भारतीय संस्कृति का स्वरूप निर्धारित करती हैं। उन्होंने स्वयं यह माना है कि "भारतवर्ष एक विशाल देश है। इसका इतिहास बहुत पुराना है। इस देश में अज्ञात समय से नाना जातियां आकर बसती रहीं और इसकी साधना को नाना भाव से मोड़ती रहीं, नया रूप देती रहीं, समृद्ध करती रहीं।" बाहर से आयी हुई जातियों, धर्म-विश्वास, रीति-नीति सबको आत्मसात् करने पर इस देश की साधना का कौन सा अंश श्रेष्ठतर है, सांस्कृतिक है यह पहचानना कठिन है। अनेकानेक देशों से आयी हुई विभिन्न जातियों के अपने संस्कार, आचार-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार किस प्रकार भारतभूमि में विलुप्त होते गए और किस प्रकार ये जातियां भारतीय परिवेश में पनप कर अपना-पराया भूल कर सांस्कृतिक स्तर पर एकत्व को प्राप्त करती रहीं यह भी गंभीर चिन्तन-मनन द्वारा ही जाना जा सकता है।

भारतीय जीवन-दर्शन का एक सिद्धान्त जिसे कर्मफल नाम से व्यवहृत किया जाता है, विदेशागत जातियों के लिए भले ही प्रारम्भ में स्वीकार्य न रहा हो किन्तु भारत की प्रायः सभी जातियों में इस सिद्धान्त ने अपना गहरा प्रभाव छोड़ा है। अपने किये हुए कर्म का फल उसे भोगना है यह मानकर चलने पर प्रत्येक व्यक्ति अपनी जातिगत सामाजिक स्थिति से विद्रोह नहीं करता। प्रारब्ध और संचित कर्म का सिद्धान्त शनैः शनैः इस देश के सभी निवासियों पर अपना प्रभाव किसी न किसी रूप में छोड़ता रहा है। मध्य युग के विचारकों ने जातिगत ऊंच-नीच की भावना को निरस्त करने का प्रयत्न किया और सभी मनुष्यों को परमात्मा की सन्तान मान कर समबुद्धि से देखने का भी उपदेश दिया। किन्तु इससे वैसी सफलता नहीं मिली जैसी संतों और विचारकों को अभीष्ट थी। क्योंकि साधारण जनता उच्चतर आध्यात्मिक भूमियों की अपेक्षा धर्म की रूढ़ियों को अधिक मानती है। और भ्रमवश इसे भारतीय संस्कृति भी समझती है।

भारतीय संस्कृति के मूल में अध्यातम और दर्शन का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक पाया जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में वरुण के पुत्र भृगु की सूक्ष्म चिन्तनपरक कथा आती है जिसमें ब्रह्म का स्वरूप खोजते-खोजते भृगु अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द (अध्यात्म) तक पहुंचा है। यह कथा यही बताती है कि भारतीय मनीषी की दृष्टि भौतिक पदार्थ, विज्ञान और बुद्धि तक सीमित न रहकर परम-तत्त्व आनन्द (ब्रह्म) तक व्याप्त है। उसे प्राप्त किये बिना मनुष्य अपने ध्येय तक नहीं पहुंच सकता। इस तत्त्व तक पहुंचने के लिए दर्शन का मार्ग पकड़ना होता है। दर्शन के लिए चित्त बुद्धि, अभ्यास और वैराग्य भारतीय चिन्ता में समाहित हैं। योगदर्शन में इसकी बाह्य एवं आभ्यन्तर साधना का विधान है। फलतः योग-साधना भी हमारे देश में आवश्यक हो जाती है।

भारतीय संस्कृति के उन्नायकों ने दार्शनिक चिन्तन के साथ कुछ अन्य तत्त्वों का भी समावेश किया है। अहिंसा, मैत्री, मुदिता, करुणा आदि मान-वोचित्त गुणों को भारत में सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए आवश्यक माना गया है। इन गुणों का समर्थन हमारे महाकाव्यों में नायकों के उदात्त-चरित्रों की अवतारणा द्वारा किया गया है। गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, अशोक, शंकराचार्य, वल्लभाचार्य, कबीर, नानक, सूर, तुलसी, महात्मा गांधी, आदि की उदात्त वाणी भी हमारी संस्कृति का किसी न किसी रूप में उद्घोष करती है। संतों, भक्तों और महात्माओं की तितिक्षा, परदुःखकातरता, अपरिग्रह और त्याग को द्विवेदी जी ने भारतीय चिन्तन के वैराग्य पक्ष की देन ठहराया है, और इसे भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य कहा है। भारतीय संस्कृति ज्ञानोन्मुख है, उसके मूल में अज्ञात को जानने की जिज्ञासा है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' वेदान्त की पहली प्रतिज्ञा है। पाश्चात्य संस्कृति का मूलाधार विज्ञान है। जिज्ञासा वहां भी है किन्तु प्राकृतिक तत्वों के उद्भव, विकास और परिणति के अन्वेषण और अनुसंधान पर अधिक बल है। भारत की संस्कृति को कुछ विदेशी विद्वान् आरण्यक-संस्कृति मानते हैं किन्तु आचार्य द्विवेदी ने इसे भौतिक और पारमार्थिक विकास के संदर्भ में ही देखा है। अहिंसा, प्रेम, सत्य, तितिक्षा, अपरिग्रह का अर्थ जीवन से विरति नहीं, जीवन के प्रति सार्थकता का अनुभव है। वैराग्य का अर्थ वन-गमन नहीं, घर-बार में रहकर संयम-नियम का पालन और माया-मोह का परित्याग है। इन सब बिभेदक तत्त्वों पर प्रकाश डालते हुए द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य उजागर किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय संस्कृति के उपादान

भारतीय संस्कृति के कुछ बाह्य उपादान भी हैं। ये उपादान जड़ भी हैं और चेतन भी। इन उपादानों के द्वारा हमारे कविगण हमारे भीतर राष्ट्रप्रेम और राष्ट्र-गौरव का भाव जगाते रहे हैं। वाल्मीकि ने रामचन्द्र, भरत, हनुमान, सीता, आदि पात्रों द्वारा और वेद व्यास ने श्रीकृष्ण, भीष्म, द्रोण, युधिष्ठिर, कुन्ती, गांधारी आदि द्वारा जिस आदर्श को प्रस्तुत किया है वह भारतीय जन-मानस में आज भी रिक्थ के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इनके अतिरिक्त अनेक पौराणिक चरित्र हरिश्चन्द्र, दधीचि, शिव, पार्वती, सावित्री, नल-दमयन्ती आदि हैं जो अपने किसी न किसी विशेष उत्सर्ग से आज भी भारतीय जनता की चित्तवृत्ति का परिष्कार करते हैं। आचार्य द्विवेदी ने इन उदात्त पात्रों के साथ ही उनका भी संकेत सांस्कृतिक संदर्भ में किया है जो जड़ जगत् के प्रतिनिधि हैं। हिमालय, भागीरथी, यमुना, कावेरी, नर्मदा, काशी, वैशाली, देवदारु, अश्वत्थ, कुटज आदि के साथ भी हमारा गहरा रागात्मक संस्कार जुड़ा है। कालिदास ने हिमालय का वर्णन, शिप्रा नदी का वर्णन उज्जयिनी का वर्णन यों ही मनोरंजन के लिए नहीं किया वरन् वह महाकवि इस देश की सांस्कृतिक धरोहर में इन जड़ वस्तुओं का भी हाथ देख रहा था जिसे द्विवेदी जी ने बड़े आग्रहपूर्वक अपने निबंधों में व्यक्त किया है तथा भारतीय सांस्कृतिक परिवेश के साथ जोड़कर इनकी महिमा का उल्लेख किया है।

संस्कृत साहित्य और संस्कृति :

भारतीय संस्कृति की पहचान के लिए द्विवेदी जी संस्कृत-साहित्य की महान् धरोहर की ओर दृष्टि-निक्षेप का आग्रह करते हैं। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में उन्होंने भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास जिन परम्पराओं में खोजा है उनमें संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश के साथ बौद्ध: जैन आदि धर्मों के विपुल साहित्य का वर्णन है। द्विवेदी जी यह स्वीकार नहीं करते कि मध्ययुगीन भक्ति काव्य के प्रवर्तन के पीछे किसी विदेशी धर्म या बाह्य आन्दोलन का कोई प्रभाव है। उनका स्पष्ट मत है कि "हमारे पाठक आगे के सहस्राब्दक की साहित्यिक चेतना को जाति की (हिन्दू जाति) स्वाभाविक चेतना के रूप में देखें, अस्वाभाविक अधोगति के रूप में नहीं।"

आचार्य द्विवेदी ने भारतीय संस्कृति की पक्की पकड़ के लिए उन सभी स्रोतों के दोहन का संकेत किया है जो भाषा, साहित्य, कर्मकाण्ड, आचार-विचार आदि द्वारा कहीं-कहीं जन-मानस को छूते ही नहीं संस्कृत करते हैं। विशेषत: संस्कृत साहित्य की अपार ज्ञानराशि को तो उन्होंने भारतीय मनीषी का नवनीत माना है और अनेक स्थलों पर इसे भारतीय संस्कृति का संवाहक ठहराया है। "संस्कृत का साहित्य वह उच्च गिरिशृंग है जिस पर चढ़ कर मनुष्य काल के स्रोत को बड़ी दूर तक देख सकता है। इस महानद के तट पर मनुष्य के उत्थान और पतन के चिह्न दिखाई देते हैं। संस्कृत का साहित्य हमें बताता है कि विपत्ति और कष्ट आते हैं और चले जाते हैं, समृद्धि और धनाढ्यता फेन बुद-बुद के समान काल-स्रोत में उत्पन्न होती है और विलीन हो जाती है, साम्राज्य और धर्मराज्य उठते हैं, गिर जाते हैं, परन्तु मनुष्य फिर भी बचा रहता है। इतिहास-विधाता की अज्ञात-योजना का ठीक-ठीक स्वरूप हम नहीं जानते, पर संस्कृत का साहित्य उच्च स्वर से पुकार कर कहता है कि वह योजना मंगल की ओर अग्रसर हो रही है।" इस मंगल-यात्रा के पीछे निश्चय ही सांस्कृतिक चेतना है और वही मनुष्य को युद्ध, विग्रह, संघर्ष और मार-काट से बचा सकती है। इसीलिए भारतीय संस्कृति के मूल उपकरणों के परिज्ञान के लिए आचार्य द्विवेदी संस्कृत भाषा के अध्ययन पर सदा बल देते रहे। उनका विश्वास था कि "हजारों वर्गमील में फैले करोड़ों मनुष्यों की वासभूमि इस महादेश की हजारों वर्ष की चिरन्तन साधना का सर्वोत्कृष्ट सार इस भाषा में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संचित है। संस्कृत भाषा संसार की अद्वितीय महिमा-शालिनी भाषा है।'

रूढ़िमुक्त संस्कृति

भारतीय संस्कृति के विपक्ष में एक आरोप यह लगाया जाता है कि इसमें अनेक रूढ़ियां और अंध-परम्पराएं घर कर गई हैं और वे संस्कृति के स्वरूप को अनाविल नहीं रहने देतीं। कुछ अंधविश्वासी धार्मिक इन्हीं रूढ़ियों को सांस्कृतिक सम्पदा समझ कर इनका कठोरता के साथ पालन भी करते हैं। आचार्य द्विवेदी स्वयं प्राचीन परम्परा के अर्वाचीन पंडित थे किन्तु अंधविश्वास, जड़परम्परा और पुरानी रूढ़ियों को वे सर्वथा त्याज्य मानते थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है—"पुरानी रूढ़ियों का मैं पक्षपाती नहीं हूं। परन्तु संयम और निष्ठा पुरानी रूढ़ियां नहीं हैं। वे मनुष्य के दीर्घ अभ्यास से उपलब्ध गुण हैं और दीर्घ आयास से ही पाये जाते हैं।" इन गुणों को हम संस्कृत और सभ्य व्यक्ति के लिए आवश्यक समझते हैं। भारत के प्राचीन ऋषि-मुनि संयम और निष्ठा के धनी थे। आचरण की पवित्रता और आस्तिक निष्ठा ही उनकी जीवनचर्या थी। वे संस्कृति के प्रतीक थे और हम भारतीय जन उन पर आज भी गर्व करते हैं।

'भारतवर्ष क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए द्विवेदी जी कहते हैं—"अनादि काल से नाना जातियां अपने नाना भांति के संस्कार, रीति-रस्म आदि लेकर इस देश में आती रही हैं। इन्हीं नाना जातियों, नाना संस्कारों, नाना धर्मों, नाना रीति-रस्मों का जीवन्त समन्वय भारतवर्ष है। इसी वैचि-वैचित्र्यपूर्ण जनसमूह को आशा और उत्साह का संदेश देना साहित्य का लक्ष्य है। इसका कल्याण ही साध्य है।" इस साध्य की प्राप्ति के साथ हम भारतीय संस्कृति की स्वच्छ शुद्ध, निर्मल भावधारा को जन-मानस में प्रवाहित होते देख सकेंगे। भारतीय संस्कृति को उसके अनाविल रूप में प्रस्तुत करने के लिए हमें अपने महापुरुषों के उदात्त गुणों का अनुसरण करना होगा। किन्तु इस अनुसरण में हमें ध्यान रखना होगा कि उपनिषद् में पुकार-पुकार कर मनुष्य से कहा गया है कि 'यान्य वद्यानि कर्माणि तानि तयो परस्या निनो इतराणि' अर्थात् महापुरुषों के जो अनवद्य (श्रेष्ठ कर्म) हैं उन्हीं का अनुसरण करो अन्य का नहीं। ऐसा सत्य-निष्ठ कठोर अनुशासनात्मक उपदेश इसी देश की संस्कृति में उपलब्ध होता है। यह अनुशासन अंधानु-करण पर सीधा और तीखा प्रहार है। इसलिए भारतीय संस्कृति में रूढ़ियों की जड़ता और अंध-विश्वासों की मूढ़ता को तनिक भी स्थान प्राप्त नहीं है।

साहित्य और संस्कृति के मूल में मनुष्य

आचार्य द्विवेदी साहित्य के मूल में मनुष्य को सर्वोपरि मानते हैं। उनके अनुसार 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है।' साहित्य-सृजन का यदि कोई सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन हो सकता है तो वह मनुष्य के विकास और उद्धार का ही होगा। साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने के पक्षपाती होने के कारण द्विवेदी जी ने चिन्तन, अध्ययन और मनन का लक्ष्य मनुष्य को ही स्वीकार किया है।—"वास्तव में हमारे अध्ययन की सामग्री प्रत्यक्ष मनुष्य ही है। आपने इतिहास में इसी मनुष्य की धारावाहिक जययात्रा की कहानी पढ़ी है। साहित्य में इसी के आवेगों, उद्वेगों और उल्लासों का स्पन्दन देखा है। राजनीति में इसकी लुका-छिपी के खेल का दर्शन किया है; अर्थशास्त्र में इसकी रीढ़ की शक्ति का अध्ययन किया है। यह मनुष्य ही साहित्य और संस्कृति का वास्तविक लक्ष्य है। यदि किसी देश का बाह्य रूप सम्मान योग्य तथा सुन्दर नहीं बन सका तो समझना चाहिए कि उस राष्ट्र की आत्मा में एक उच्च जगत् का निर्माण किया जाना शुरू नहीं हुआ है, अर्थात् वहां सच्चे साहित्य के निर्माण का श्रीगणेश नहीं हुआ है। साहित्य ही मनुष्य को भीतर से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुसंस्कृत और उन्नत बनाता है और तभी उसका बाह्य रूप के स्वस्थ और साफ होने से आन्तरिक स्वास्थ्य का भी प्रारंभ होता है।" यह आन्तरिक स्वास्थ्य ही संस्कृति का परिचायक है।

द्विवेदी जी की दृष्टि में सारे मानव समाज को सुन्दर बनाने की साधना का नाम ही साहित्य है। मनुष्य के इतर किसी और को सजाने-संवारने की कल्पना मंगल-साधना नहीं है। ऐसा समझना चाहिए कि सत्वस्थ चित (सात्विक भावनिष्ठ चित्त) इस प्रकार का व्यापक मानव चित्त है, जो विश्वजनीन है। जो वस्तु इस समष्टि मानव चित्त को सुन्दर लगती है, वही सुन्दर है। द्विवेदी जी ने अपने उपन्यासों में जिन पात्रों की अवतारणा की है वे युगविशेष की सांस्कृतिक चेतना के ही उद्घोषक हैं। उनके चरित्र में मानवीय दुर्बलताओं का अभाव नहीं है किन्तु यथार्थ चित्रण के द्वारा वे मनुष्य के सर्वांगीण रूप को ही उद्घाटित करते हैं। उनके उपन्यासों के सभी पात्र अपना अद्भुत प्रभाव छोड़ते हैं। 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' के नायक बाणभट्ट, निपुणिका और भट्टिनी महिमा मंडित महान् चरित्र हैं किन्तु वे प्राकृतिक मनुष्य ही हैं, देवता नहीं। 'चारु चन्द्रलेख' का कथा-नायक सातवाहन उज्जयिनी का राजा है किन्तु वह ज्ञान का प्रतीक है। रानी चन्द्रलेखा इच्छा-शक्ति की प्रतीक है और मैना क्रियाशक्ति की। ये सब पात्र भी मानवीय धरातल पर उन समस्त व्यापारों में लीन दिखाये गये हैं जो मनुष्य को संघर्षरत रखकर सभ्यता और संस्कृति के पथ पर अग्रसर करते हैं। 'पुनर्नवा' उपन्यास में कथा का जाल पुराना होने पर भी चिन्तन-मनन की सामग्री से भरपूर और मनुष्य के अन्तरतम को उद्घाटित करने का ही प्रयास है। वस्तुतः द्विवेदी जी के उपन्यास भारत की गौरवमयी विरासत के प्रतीक हैं। उनमें कथा से कहीं अधिक कथ्य है।

मानवतावाद और संस्कृति

आचार्य द्विवेदी ने अपनी कृतियों में स्थान-स्थान पर मानव की श्रेष्ठता और मानवतावाद की प्रतिष्ठा की है। विश्व में फैले हुए विभिन्न जातियों और धर्मों के मनुष्यों के बीच वह एक ही सूत्र देखते हैं और उसका नाम मानवता है। संसार में समता, बधुता और ऐक्य स्थापना के लिए हमें मानवता के मूल में पैठे मनुष्य को दुःख-दैन्य से विनिमुक्त करना होगा। 'मनुष्य को, व्यक्ति मनुष्य को नहीं, बल्कि समष्टि "मनुष्य को, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा। जब तक यह नहीं होता तब तक हम विश्व में मानवतावाद को प्रतिष्ठित नहीं कर सकते।" द्विवेदी जी नाना प्रकार के द्वन्द्व और संघर्षों में जूझते हुए मनुष्य को देखकर निराश नहीं होते, वे इस बात से तनिक भी कुंठित या अवसन्न नहीं होते कि मनुष्य प्रयत्न करने पर भी उच्चतर भावभूमि पर नहीं पहुंच पा रहा है। वह युद्ध और लोभ-मोह में ग्रस्त है। इतिहास के परिप्रेक्ष्य में मनुष्य और मानवता को रखकर वे कहते हैं कि— "मनुष्य थका है, पर रुका नहीं है। वह बढ़ता जा रहा है। इतिहास के अवशेष उसकी विजय-यात्रा के पद-चिह्न हैं।" इन्हीं पदचिह्नों में मानवता की छाप देखने का उनका आग्रह है।

महाभारत में मनुष्य की महत्ता, चंडीदास और रवीन्द्रनाथ की कविता में मानव-महत्त्व की प्रतिष्ठा आचार्य द्विवेदी के मानवतावादी दृष्टिकोण के निर्माण में सहायक हुई। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "ईश्वर का स्थान अब मानवता ने ले लिया है, पूजन-भजन के स्थान पर आज पीड़ित मानवता की सहायता और हमदर्दी प्रतिष्ठित हो चुकी है।" द्विवेदी जी के मानवतावादी दृष्टिकोण के पीछे भारतीय संस्कृति की आदर्शवादी परम्परा का सम्बल रहा है। उनका सांस्कृतिक पक्ष इसी कारण पाठक को आकृष्ट करता है कि वह भारतीय उदार दृष्टि के साथ समस्त विश्व को कल्याण-पथ की ओर उन्मुख करता है। संस्कृति की चरम उपलब्धि मानवता का अभ्युदय और निश्रेयस ही तो है और वही द्विवेदी का काम्य है। 'मानव सत्य'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और 'मानव धर्म' शीर्षक निबंधों में उन्होंने अपनी इस मान्यता को बड़े सबल शब्दों में व्यक्त किया है। मानवतावाद की स्थापना में वह सामाजिक मानवतावाद को उत्तम मानते हैं और संस्कृति के मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए उत्तम मूल्यों की उपलब्धि और विश्व के मंगल-विधान का स्वप्न देखते हैं। मैं इसे स्वप्न इसलिए कह रहा हूं कि महान् लेखक की यह शुभकामना है, आदर्श भावना है, किन्तु इस स्वप्न को सत्य होने में मानव को किन उच्चावच भूमियों में होकर गुजरना पड़ेगा, इसका अनुमान हमारे जैसे सामान्य मानव के लिए कठिन है। कहना न होगा कि आचार्य द्विवेदी संस्कृति के सच्चे प्रतीक थे। उनकी दृष्टि संस्कृति के उस उच्च शृंग पर टिकी थी जहां वे मनुष्य और मानवता के प्रकाश पुंज को देख सकते थे। द्विवेदी जी सच्चे अर्थों में आशावादी थे। "मनुष्य में सांस्कृतिक समन्वय बुद्धि अहिंसा और मैत्री पर आधारित धर्मबुद्धि और सौन्दर्य के सम्मान पर आधारित कलात्मक अभिरुचि निरन्तर विकसित होती जा रही है। युद्ध और शोषण के कोलाहलों के भीतर मानवता की देवी चुपचाप, किन्तु निश्चित गति से विजय-यात्रा और बढ़ रही है। लोहार की दुकान की खटरखट्ट और गर्दोगुबार से शंकित होने वाले भूल जाते हैं कि यह वस्तुतः वीणा के तार की तैयारी का कोलाहल है। जिस समय (मानवता की) वह वीणा प्रस्तुत हो जायगी, उस समय उसकी मनोहर ध्वनि हृदय को आनन्दविह्वल कर देगी।" संस्कृति की दृष्टि से आज का युग संक्रान्ति का है। इस संक्रान्ति काल में हम अपनी मुट्ठी से उन अनमोल रत्नों को निकलने न दें जो सहस्राब्दियों से हमारे पास सुरक्षित रहे हैं। वे हमारे पूर्वजों के सुकृत्यों के सुफल हैं किन्तु हम यह भी देख और समझ लें कि हम किसी प्रथा की जड़ता के कारण चिरन्तन न समझें, किसी रूढ़ि को दुर्विजेय न मानें और आज की बनने वाली रूढ़ियों को भी त्रिकाल-सिद्ध सत्य न मान लें। इतिहास विधाता का स्पष्ट इंगित इस ओर है कि मनुष्य में जो मनुष्यता है, जो उसे पशु से अलग कर देती है, वही आराध्य है। यदि मनुष्य को संस्कृति के प्रशस्त राजमार्ग पर अग्रसर होना है तो उसे सौ बार सोचविचार कर अपना सांस्कृतिक-पथ निश्चित करना होगा। मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है। और जो मनुष्य इनसे बच कर शुद्ध संस्कार, स्वतंत्रता, विमल विवेक और समता के मार्ग पर आरूढ़ होता है सुसंस्कृत कहाता है। सार्वभौम संस्कृति का यही ऋजु मार्ग है। इस पथ पर चलने में देश, काल, जाति और धर्म आड़े नहीं आते। इसे मानव धर्म मान कर ही स्वीकार करना चाहिए। इस पृथ्वी पर जब तक मनुष्य और मनुष्यता जीवित रहेगी संस्कृति का यह पावन संस्कार उसका मार्ग दर्शन करता रहेगा।

द्विवेदी जी ने संस्कृति को देश और काल की सीमाओं से ऊपर रखने के लिए एक जगह कहा है कि "जिसे हम संस्कृति कहते हैं वह सम्पूर्ण समष्टि मानव के कल्याण के लिए है, क्योंकि वह निर्मात्री शक्ति है, अतः बहुत सी चीजों को जो सड़ी-गली हैं, छोड़ती जाती हैं और जो नए क्षेत्र में आती हैं उन्हें ग्रहण करती हैं। केवल विचार-संस्कृति संस्कृति नहीं है, विचारों को जिस रूप में हम प्रस्थापन करते हैं बुद्धिग्राह्य, इन्द्रियग्राह्य, मनोग्राह्य बनाते हैं वही संस्कृति है। जो चीज मानवता का उद्घाटन करती है उसे हम संस्कृति कहते हैं। संस्कृति मनुष्य के चित्त के सस्कार का परिणाम है।

संस्कृति के प्रतीक द्विवेदी जी

हमने आचार्य द्विवेदी को संस्कृति का प्रतीक कहा है—यह कोरा विशेषण नहीं वरन् साभिप्राय और सार्थक है। जो व्यक्ति अपने व्यवहार, आचरण, लेखन, भाषण, चिन्तन और मनन में सत्वगुण को स्थान देता है, जो अपने चारों ओर फैले जन-समूह को प्यार और समता से देखता है, जो विश्व के सभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मों और जातियों के मनुष्यों को आदर और समत्व देता है वह संस्कृति और सभ्यता का आदर्श होता है। आचार्य द्विवेदी ने साहित्यकार के स्तर पर जिस रचना-धर्मिता को स्वीकार किया था वह भारतीय जनमानस के साथ एकात्म हो सकी थी। उन्होंने मनुष्य के सुख-दुख, द्वन्द्व-संघर्ष, आवेग-संवेग, उत्थान-पतन को उसकी विजय-यात्रा के रूप में देखा और उसका ऐसा सटीक और सजीव वर्णन किया कि मनुष्य अपने को प्रत्यक्ष पहचान सके। उनके समकालीन लेखकों में प्रेमचन्द को छोड़कर मनुष्य के इतने समीप और कोई नहीं पहुंच सका। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का स्वर छायावादी कवियों में भी था, और प्रसाद ने उसे अपेक्षाकृत ऊंचे स्वर से मुखरित भी किया था किन्तु मानव की साहित्य में जैसी प्रतिष्ठा द्विवेदी जी कर सके वैसी और कोई नहीं कर सका। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपनी समीक्षाओं में सौन्दर्य और सौष्ठव के साथ सांस्कृतिक मूल्यों की ओर इंगित किया, भारतीय संस्कृति के भास्वर बिन्दुओं को उभारा भी किन्तु मानव-महिमा का उद्घोष वे भी नहीं कर सके। समकालीन लेखकों ने अपनी श्रेष्ठ रचनाओं से प्रशंसा अवश्य पायी किन्तु सार्वजनिक हृदय का स्नेहपूर्ण आतिथ्य आचार्य द्विवेदी और प्रेमचन्द को ही प्राप्त हुआ।

प्रेमचन्द ने शोषित-दलित वर्ग की वेदना को वाणी का स्पन्दन दिया है तो द्विवेदी जी ने मनुष्य मात्र के महत्त्व, उसके दीर्घ-कालीन संघर्ष एवं विजय यात्रा का उमंग और उल्लास की वाणी में वर्णन किया है। द्विवेदी जी ने धरती की धूल में सने सतत संघर्षरत मानव को संस्कृति के दर्पण में प्रतिबिम्बित देखा—यह अद्भुत और असाधारण बात है। उनकी वाणी ताप तप्त धरती पर बरसने वाले सजल जलधार के समान थी। आज हम हिन्दी भाषी विशेष गर्व का अनुभव करते हैं कि मानव संस्कृति का ऐसा समर्थ आख्याता हमारी भाषा में उत्पन्न हुआ। मनुष्य और मनुष्यता के उद्गाता ऐसे महान् साहित्यकार को देश के घर-घर में स्वतः प्यार और सम्मान मिल रहा है। स्वतः उच्छ्वसित होने वाला यह प्यार बता रहा रहा है कि आचार्य द्विवेदी सच्चे साहित्य-स्रष्टा थे, संस्कृति के प्रतीक और आख्याता थे। अन्य साहित्यकारों की भांति वे जटिल या दुर्बोध न थे; अत्यन्त सहज, सरल, निष्कपट, मन्द-सुगंध मलय-पवन के समान आनन्द और उमंग की तरंग में बहने वाले सुसंस्कृत महामानव थे द्विवेदी जी!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० गणपतिचन्द्र गुप्त
कुलपति,
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय,
शिमला—5

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्येतिहासकार के रूप में

इतिहास चाहे समाज का हो या साहित्य का उसके लेखक को कई प्रक्रियाओं में से गुजरना पड़ता है। सर्वप्रथम इतिहासकार आधारभूत तथ्यों का संकलन करता है, फिर वह उन्हें काल-क्रम से व्यस्थित एवं वर्गीकृत करता हुआ प्रत्येक वर्ग की विशिष्ट प्रवृत्तियों के उद्गम एवं विकास की विवेचना करता है तथा तत्कालीन युग के परिप्रेक्ष्य में उनका मूल्यांकन करता है। इस प्रकार इतिहास-लेखन का कार्य एक वैज्ञानिक शोध जैसा कार्य है, जिसमें सामग्री-संकलन, वर्गीकरण, विश्लेषण एवं संश्लेषण की विभिन्न प्रक्रियाओं का अवलम्बन करना पड़ता है। हिन्दी जैसी व्यापक भाषा के इतिहास-लेखन में इन सभी प्रक्रियाओं को संपन्न कर लेना एक ही व्यक्ति के बस की बात नहीं थी—अतः अलग-अलग विद्वानों ने क्रमशः लगकर इन्हें संपन्न किया। गार्सां द तासी एवं शिवसिंह सेंगर जैसे विद्वानों ने मुख्यतः सामग्री संकलित की तो जार्ज ग्रियर्सन एवं मिश्र बन्धुओं ने उस सामग्री को मुख्यतः व्यवस्थित एवं वर्गीकृत करने का कार्य किया तथा आगे चलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के स्पष्टीकरण एवं सम्यक् मूल्यांकन का कार्य संपन्न किया। इस प्रकार इतिहास-लेखन की विभिन्न प्रक्रियाएं आचार्य शुक्ल तक संपन्न हो चुकी थीं, किन्तु अभी एक कार्य और शेष था—वह था, विभिन्न काव्यधाराओं एवं काव्यप्रवृत्तियों के मूल उत्सों एवं उद्गम-स्रोतों की शुद्ध एवं स्पष्ट व्याख्या करने का तथा प्राचीन काव्य का तत्कालीन युग की चेतना के आधार पर सम्यक् मूल्यांकन करने का। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन के क्षेत्र में अवतीर्ण होकर इस कार्य को पूरा करने का प्रयास किया—इस में वे कहां तक सफल हुए है, इस पर हम आगे विचार करेंगे।

साहित्येतिहास-लेखन की परम्परा में आचार्य द्विवेदी के योगदान को हम मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(1) दृष्टिकोण की नवीनता, (2) विभिन्न काव्य-धाराओं के उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण एवं तत्सम्बन्धी नये तथ्यों का निदर्शन और (3) प्राचीन काव्य का नया मूल्यांकन। इनमें से प्रत्येक पर यहां क्रमशः विचार किया जाता है।

हिन्दी साहित्येतिहास के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी नया दृष्टिकोण लेकर अवतरित हुए। जहां पूर्ववर्ती इतिहासकार विभिन्न काव्य-धाराओं के विकास पर विचार करते समय मुख्यतः तत्कालीन वातावरण पर ही ध्यान देते थे। उससे सम्बन्धित पूर्ववर्ती परंपराओं की प्रायः उपेक्षा कर देते थे, वहां आचार्य द्विवेदी ने पूर्ववर्ती परंपराओं एवं तत्कालीन वातावरण दोनों पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बराबर ध्यान दिया। वैज्ञानिक विकासवाद के सिद्धान्तों के अनुसार परम्परा और वातावरण दोनों का महत्व है—आचार्य द्विवेदी ने भी इसी का अनुगमन किया। फलस्वरूप उन्होंने हिन्दी साहित्य को इस्लाम-प्रवेश की प्रतिक्रिया या हारी हुई जाति की कुण्ठा के रूप में न देख कर उसे पूर्ववर्ती परंपराओं के सहज विकसित रूप में देखा। आचार्य द्विवेदी ने पूर्ववर्ती विद्वानों के दृष्टिकोण का तीव्र विरोध करते हुए लिखा है, "मैं इन दोनों बातों का प्रतिवाद करता हूं। ऐसा करके मैं इस्लाम के महत्व को भूल नहीं रहा हूं लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूं कि अगर इस्लाम न आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।" उन्होंने पूर्ववर्ती धर्म-संप्रदायों एवं साहित्यिक परंपराओं के विश्लेषण के द्वारा अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखा—"इसप्रकार महायान सम्प्रदाय या यों कहिए कि भारतीय बौद्ध संप्रदाय सन् ईसवी के आरंभ से ही लोकमत की प्रधानता स्वीकार करता गया, यहां तक कि अन्त में जाकर लोकमत में घुलमिलकर लुप्त हो गया। सन् ईसवी के हज़ार वर्ष बाद तक यह अवस्था सभी संप्रदायों, शास्त्रों और मतों की हुई। मुसलमानी संसर्ग से उसका कोई संपर्क नहीं है। हज़ार वर्ष पहले से वे ज्ञानियों और पंडितों के ऊँचे आसन से नीचे उतर कर अपनी असली प्रतिष्ठाभूमि लोकमत की ओर आने लगे। उसी की स्वाभाविक परिणति इस रूप में हुई। मैं प्रस्ताव करता हूं कि हमारे पाठक आगे के सहस्राब्दक की साहित्यिक चेतना को जाति की स्वाभाविक चेतना के रूप में देखें। अस्वाभाविक अधोगति के रूप में नहीं। अवश्य ही जो अंश उसमें अस्वाभाविक भव से बाधा-ग्रस्त और विकृत है, उसे मैं भूल जाने को नहीं कहता।"[1] यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्य द्विवेदी का यह दृष्टिकोण जहां नया था वहां स्वस्थ एवं वैज्ञानिक भी था। हिन्दी साहित्य की तर्क-संगत व्याख्या एवं उसके सम्यक् मूल्यांकन के लिए इसी दृष्टिकोण की अपेक्षा थी—इसे हम आगे स्पष्ट करेंगे।

हिन्दी साहित्य की विभिन्न काव्य-धाराओं के विकास की परम्परा ऊपर से देखने पर आठ-नौ वर्ष से अधिक पुरानी प्रतीत नहीं होती, किन्तु यदि हम उनके मूल उत्स का अनुसंधान करें तो हमें बहुत पीछे लौटना पड़ेगा। भक्तिकाल की अनेक काव्य-धाराएं तो वैदिक युग से लेकर दसवीं शती तक के भारतीय साहित्य की अनेक दीर्घ परम्पराओं के प्रभाव से ओत-प्रोत हैं। अतः उन्हें समझने के लिए केवल हिन्दी-साहित्य का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है—पूर्ववर्ती भाषाओं के साहित्य का अध्ययन भी अपेक्षित है। आचार्य द्विवेदी इन अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त समर्थ हैं। इसीलिए वे हिन्दी की अनेक काव्य-धाराओं के उद्गम-स्रोतों के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न भ्रान्तियों का निराकरण करने में तथा उनके उद्भव की नई व्याख्या करने में सफल हो सके। विशेषतः आदिकाल और भक्तिकाल की काव्य-धाराओं के विकास पर उन्होंने बहुत कुछ नये ढंग से विचार किया है।

आदिकालीन एवं भक्तिकालीन साहित्य के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती विद्वानों की धारणाएं संक्षेप में इस प्रकार थी—(1) अपभ्रंश एवं लोक भाषाओं का साहित्य हिन्दू राज्यकाल में सर्वथा उपेक्षित था, मुसलमानों के आगमन से लोकभाषाओं के साहित्य की प्रतिष्ठा सम्यक् रूप में हुई। (2) आदिकाल एवं भक्तिकाल की विभिन्न काव्य-धाराएं मुसलमानी प्रभाव से विकसित धाराएं हैं। आचार्य द्विवेदी ने सबल तर्कों एवं पुष्ट प्रमाणों के आधार पर इन धारणाओं को भ्रान्त एवं निराधार सिद्ध किया। अपभ्रंश एवं लोकभाषाओं के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट किया कि मुसलमानों के आगमन के पूर्व भी हिन्दू राजाओं के दरबार में उन्हें सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था, यह दूसरी बात है कि संस्कृत का महत्व इनसे अधिक समझा जाता था। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने राज-शेखर एवं भोज के ग्रन्थों से कतिपय उद्धरण प्रस्तुत किए हैं, जिनसे भली-भांति स्पष्ट है कि अपभ्रंश के कवियों को राज-दरबारों में निश्चित स्थान प्राप्त था। वे लिखते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं—"संस्कृत का आदर इस देश में हमेशा से ही रहा है, पर इससे यह निष्कर्ष निकालना अन्याय है कि मुसलमानों के आगमन से पहले अपभ्रंश या लोकभाषा का स्थान उपेक्षणीय समझा जाता था।—मेरी दृष्टि में सही बात तो यह है कि मुसलमानी शासन के प्रभाव से अवस्था चाहे जो कुछ भी क्यों न रही हो उसके पहले प्राकृत और अपभ्रंश की कविताएं संस्कृत के समान ही आदर पाती थीं।"

इसी प्रकार उन्होंने इन युगों की काव्य-धाराओं को भी मुख्यत: 6 अंगों में विभाजित करते हुए उन्हें अपभ्रंश काव्य से ही विकसित सिद्ध किया है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है—"आधुनिक युग के आरंभ होने के पहले हिन्दी कविता के प्रधानत: छ: अंग थे—डिंगल कवियों की वीर गाथाएं, निर्गुणिया संतों की वाणियां, कृष्णभक्त या रागानुगा भक्ति-मार्ग के साधकों के पद, रामभक्त या वैधी भक्ति मार्ग के उपासकों की कविताएं, सूफी साधना से पुष्ट मुसलमान कवियों के तथा ऐतिहासिक हिन्दू कवियों के रोमांस और रीतिकाव्य। हम इन छहों धाराओं की आलोचना अलग-अलग करें तो देखेंगे कि ये छहों धाराएं अपभ्रंश कविता का स्वाभाविक विकास हैं।"

हिन्दी साहित्य के पूर्व मध्यकाल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण चेतना भक्ति की है—इसे प्राय: सभी इतिहासकारों ने स्वीकार किया है, किन्तु यह भक्ति की चेतना किस प्रकार आई, और क्यों आई—इसका सम्यक् समाधान पूर्ववर्ती इतिहासकार नहीं कर पाये थे। डा० ग्रियर्सन जैसे विद्वान् ने जहां इसे ईसाइयत का प्रभाव सिद्ध करने का प्रयास किया तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पराजित हिन्दुओं की निराशा में इसका प्रेरणा-स्रोत ढूंढा। आचार्य द्विवेदी ने इन दोनों ही मतों का खंडन करते हुए स्पष्ट रूप में दक्षिण के परम्परागत वैष्णव मतवाद से सम्बन्धित किया। उनके शब्दों में—"जो लोग इस युग के वास्तविक विकास को नहीं सोचते उन्हें आश्चर्य होता है कि ऐसा अचानक कैसे हो गया।—स्वयं डा० ग्रियर्सन का अनुमान है कि वह ईसाइयत की देन है। यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है और यह कहना तो और भी उपहासास्पद है कि जब मुसलमान हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करने लगे तो निराश होकर हिन्दू लोग भजन-भाव में जुट गये। असल में दक्षिण का वैष्णव मतवाद ही भक्ति आन्दोलन का मूल प्रेरक है।"

भक्ति-आन्दोलन की ही भांति संत-मत और संत-साहित्य को भी इस्लाम से प्रेरित मान लिया गया था, जबकि आचार्य द्विवेदी ने इसका सम्बन्ध भारतीय परम्परा से स्थापित किया। वे स्वीकार करते हैं कि अनेक संत कवि जन्म से ही मुसलमान थे, फिर भी उनका दृष्टिकोण, उनके संस्कार, उनकी विचार-धारा, साधना-पद्धति एवं अभिव्यंजना-शैली विशुद्ध भारतीय थी। जो लोग इन्हें इस्लाम से प्रेरित मानते थे, उनका कहना था कि इन्होंने वर्ण-व्यवस्था, जाति-भेद, एवं मूर्ति-पूजा आदि का विरोध इस्लाम के अनुसार ही किया है। पर आचार्य द्विवेदी ने इसके प्रतिवाद में पूर्ववर्ती सिद्धों की वाणियों में से ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जिनसे पता चलता है कि संतों की ये प्रवृत्तियां सिद्धों में भी थी। वस्तुत: क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छन्द और क्या खंडन-मंडन की पद्धति—इन सभी के आधार पर उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि हिन्दी का संत-काव्य पूर्ववर्ती सिद्धों एवं नाथ-पंथियों के साहित्य का सहज विकसित रूप है, इसे इस्लाम से प्रेरित मानने की आवश्यकता नहीं।

तथाकथित सूफी कवियों के प्रेमाख्यानों को भी हमारे अनेक विद्वानों ने फारसी मसनवियों की अनुकृतियों के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य द्विवेदी ने इन प्रबन्ध-काव्यों की प्रतिपादन-शैली एवं इसकी कथानक रूढ़ियों की सूक्ष्म छान-बीन करते हुए प्रमाणित किया है कि ये आख्यान भी भारतीय साहित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की परम्परा से सर्वथा अविच्छिन नहीं हैं। उन्होंने अपने मत को स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"कुछ लोगों को भ्रम है कि पद्मावत आदि में दोहे और चौपाइयों में प्रबन्ध काव्य लिखने की जो प्रथा है वह सूफी कवियों का अपना आविष्कार है। यह बात नितान्त भ्रमजन्य है। सहजयान के सिद्धों में से सरहपाद और कृष्णाचार्य के ग्रन्थों में दो-दो चार-चार चौपाइयों के बाद दोहा लिखने की प्रथा पाई जाती है।—इस प्रकार यह पद्धति अर्थात् कड़वक के बाद छेदात्मक उल्लाला या कव्व छंद देकर धारा-वाहिक रूप से प्रबन्ध काव्य लिखना सूफी कवियों की ईजाद नहीं है।" इसी प्रकार "अधिकांश कवियों के काव्यों का मूल आधार भारतीय लोककथाएँ हैं।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य द्विवेदी ने हिन्दीकाव्य की अनेक धाराओं के उद्भव के संबंध में प्रचलित मतों का खण्डन करते हुए अपनी नई स्थानाएं प्रस्तुत की हैं, जो कि आज प्रायः सर्व-मान्य हो चुकी हैं। काव्य-धाराओं के अतिरिक्त उन्होंने विभिन्न काव्य-रचनाओं के मूल उत्सों के सम्बन्ध में भी नया प्रकाश डाला है, जैसे कि पृथ्वीराजरासो, कीर्तिलता, पद्मावत आदि के सम्बन्ध में। अस्तु, इस सम्बन्ध में उनका योगदान महत्वपूर्ण है इसमें कोई सन्देह नहीं।

इतिहासकार जहां एक ओर परम्पराओं के मूल-उत्सों और उनके प्रेरणा-स्रोतों को खोजता हुआ उनके विकास को स्पष्ट करता है वहां वह उन्हें काल-विशेष की पृष्ठभूमि में रखकर उनका मूल्यांकन भी करता है। प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन के समय समीक्षक को विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है। जब तक वह प्राचीन युग के सांस्कृतिक वातावरण, उस युग की लोकचेतना एवं मनोवृत्तियों का भली-भांति हृदयंगम नहीं कर लेता तब तक वह उसे सम्यक् रूप से समझने एवं समझाने में सफल नहीं हो सकता ऐसी स्थिति में वह उस साहित्य के साथ न्याय नहीं कर पाता। आचार्य द्विवेदी इस दृष्टि से प्राचीन हिन्दी काव्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त समीक्षक सिद्ध होते हैं। प्राचीन भाषाओं एवं साहित्य के ज्ञान के कारण वे हिन्दी के प्रारंभिक काल की उन कृतियों को जिन्हें पूर्ववर्ती विद्वान् असाहित्यिक एवं सांप्रदायिक ग्रन्थ मात्र घोषित कर चुके थे, पुनः साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने में सफल हो सके। आचार्य शुक्ल का यह एक विचित्र दृष्टिकोण था कि एक ओर वे तुलसी, सूर की रचनाओं को उत्कृष्ट साहित्य की कोटि में रखते थे तो दूसरी ओर वे जैन मुनियों, सिद्धों व नाथ-पंथियों के साहित्य को "सांप्रदायिक शिक्षा मात्र" मानते थे। अवश्य ही इनके काव्य में सांप्रदायिक शिक्षा है—जैसे कि तुलसी के काव्य में भक्ति का उपदेश है, किंतु इसी से हम इन्हें काव्य-क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं कर सकते। इनमें धार्मिक उपदेश केवल मस्तिष्क के शुष्क चिन्तन के बल पर नहीं दिया गया है अपितु उसके पीछे हृदय की भी अनुभूति है। जैन कवियों ने तो न केवल धर्म सम्बन्धी अनुभूतियों का अपितु प्रेम, करुणा, शौर्य जैसे लौकिक भावों एवं सांसारिक प्रसंगों का भी निरूपण उत्कृष्ट काव्यात्मक शैली में किया है। अतः यदि इस साहित्य को साहित्य के क्षेत्र से पृथक् किया जाए तो फिर भक्तिकाल का सारा साहित्य असाहित्यिक माना जाएगा। आचार्य द्विवेदी ने जैन-सिद्ध कवियों के साहित्य को अपने संतुलित दृष्टिकोण से देखते हुए स्पष्ट रूप में उनकी साहित्यिकता का समर्थन किया है। वे लिखते हैं—"ऊपर जिस सामग्री की चर्चा की गई है, उनमें कई रचनाएं ऐसी हैं जो धार्मिक तो हैं किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाये रखने का पूरा प्रयास है धर्म यहां कवि को केवल प्रेरणा दे रहा है। जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हों उससे वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न है जिसमें धर्म-भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो और साथ ही जो हमारी सामान्य मनुष्यता को आन्दोलित, मथित और प्रभावित कर रही हो। इस दृष्टि से अपभ्रंश की कई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचनाएं जो मूलतः जैन-धर्म भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निस्संदेह उत्तम काव्य हैं—यही बात बौद्ध सिद्धों की कुछ रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है। इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएं साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी-कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात बहुत उचित नहीं मालूम होती।"[2]

संतों एवं भक्तों के साहित्य के सम्यक् मूल्यांकन के लिए भी उनकी परंपराओं, साधना-पद्धतियों, उनके जीवन दृष्टिकोण एवं भीतरी सांप्रदायिक वातावरण का ज्ञान अपेक्षित था। इसके अभाव में उनके सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियां उत्पन्न हो सकती थीं और वस्तुतः ऐसा हुआ भी। संतों के द्वारा प्रयुक्त शब्दावलियों को देखकर एक ओर कुछ विद्वानों ने उन्हें कृच्छ-साधना में प्रवृत्त-नाथ-पंथी योगियों के समकक्ष स्थान प्रदान किया तो दूसरी ओर कुछ लोगों ने उन्हें ज्ञान मार्गी मानकर उनकी काव्यधारा को "ज्ञानाश्रयी शाखा" कहा। वस्तुतः ये दोनों ही बातें भ्रामक थीं। कबीर आदि ने सिद्धों और योगियों की शब्दावली का प्रयोग नये अर्थों में किया था, जिससे उनका मूल अर्थ ही बदल जाता है। जनता के हृदय में जो शब्द अन्ध-विश्वास एवं रूढ़ि के रूप में गहराई से पैठ गये थे, उन्हें निकाल फेंकना एकाएक संभव नहीं था। अतः संतों ने उन्हीं शब्दों में ऐसा अर्थ भरा जिससे कि अंध-विश्वासों के स्थान पर सच्चे ज्ञान की प्रतिष्ठा हो सके। पूर्ववर्ती परंपरा के अनुसार जनता यदि "आसन मारकर" "योगसमाधि" लगाने में विश्वास रखती थी, तो संतों ने इसके स्थान पर "आशाओं तृष्णाओं" को मारकर प्रेम समाधि या सहज-समाधि लगाने का उपदेश दिया। इस प्रकार यदि हम संतों की शब्दावली के सूक्ष्म अर्थ तक पहुंचें तो ज्ञात होगा कि उन्होंने अपने काव्य में योग की जटिल साधनाओं का नहीं अपितु ईश्वर प्रेम की सहज साधनाओं का ही प्रतिपादन किया है। जो संत काव्य की गहराई में न उतर कर ऊपर से ही झांक कर चले जाते हैं, वे भले ही इस तथ्य को न समझ सकें। इसी प्रकार संतों ने पोथियों के ज्ञान की अपेक्षा प्रेम के अढाई अक्षरों का ही महत्व अधिक स्वीकार किया है। उन्होंने बार-बार घोषित किया है—"पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय, ढाई अच्छर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।" न केवल उन्होंने इसकी घोषणा की है, अपितु इसी मार्ग पर वे चले भी हैं। प्रिय का पंथ जोहती हुई कबीर की विरहिणी आत्मा को, आने-जाने वाले प्रत्येक-पथिक से प्रिय का एक शब्द पूछने वाली विरहिणी को, प्रिय के वियोग से चुपचाप जलने वाली प्रेयसी को, और प्रिय का साक्षात्कार हो जाने पर प्रेम से गद्गद्, लाज से विभोर एवं हर्ष से आप्लावित हो जाने वाली संतों की प्रणय-विभोर आत्मा को "ज्ञानमार्गी" या "ज्ञानाश्रयी" कहना, न केवल उनका उपहास है अपितु उनकी प्रणयानुभूतियों का अपमान भी है। आचार्य द्विवेदी ने पूर्ववर्ती विद्वानों की उपर्युक्त दोनों ही भ्रान्तियों का निराकरण दृढ़तापूर्वक किया है। संतों की साधना-पद्धति एवं शब्दावली के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि कबीर की साधना वही नहीं थी जो इन योगियों या सहजयानियों की थी। कबीर आदि ने योगियों और सहजयानियों के पारिभाषिक शब्दों की अपने ढंग पर व्याख्या की। जिस प्रकार वैष्णव शास्त्रों से गृहीत होकर भी उनके राम "दशरथ-सुत" नहीं थे ठीक उसी प्रकार उनका सहज शून्य, षट् चक्र, समाधि, इड़ा, पिंगला आदि भी सहजयानियों और योगियों के इन्हीं शब्दों से भिन्न अर्थ रखते थे। इतना ही नहीं, सूफियों की साधना से गृहीत शब्दों की भी उन्होंने अपने ढंग पर व्याख्या की थी।"[3]

संतों को प्रेममार्गी न मानकर ज्ञानमार्गी मानने की बात का भी खंडन करते हुए उन्होंने कहा है—"प्रेम पर इन संतों ने इतना अधिक जोर दिया है कि भक्ति के बिना भगवान् को भी अपूर्ण बताया।...यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हें विशुद्ध ज्ञानमार्गी मान लिया जाएगा तो उक्त बात अबोध्य हो जाएगी। जिन पंडितों ने इन संतों को ज्ञानश्रयी कहा है वे सचमुच चक्कर में पड़ गये हैं और तात्विक दृष्टि से विचार करने पर यह कहने को बाध्य हुए हैं कि न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी"[4]

कुछ आलोचकों ने संतकवियों के शास्त्रीय ज्ञान पर भी संदेह प्रकट करते हुए उन्हें उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण से देखा है। वे सोचते हैं, शायद संत कवि शास्त्र-निष्णात होते तो साहित्य की या समाज की अधिक सेवा कर सकते थे। किन्तु एक दूसरा दृष्टिकोण भी हो सकता है—शास्त्रीय ज्ञान से मुक्त होने के कारण ही वे परंपरागत रूढ़ियों को अधिक मुक्त या स्वतंत्र दृष्टि से देख सके। निश्चित ही वे शास्त्रों में पारंगत नहीं थे, किन्तु इससे साहित्य को हानि नहीं लाभ ही हुआ है। यह दूसरा दृष्टिकोण आचार्य द्विवेदी का है। वे अपने इस नूतन दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—"कभी-कभी हास्यास्पद भाव से कबीरदास को शास्त्र-ज्ञानहीन, सुनी-सुनाई बातों का गढ़ने वाला आदि कह दिया जाता है, मानों उस युग में जुलाहे, मोची, धनिये और अन्यान्य नीची कही जाने वाली जातियों के लिए शास्त्र और वेद का दरवाजा खुला था और कबीरदास आदि ने जानबूझकर उनकी अवहेलना की थी। सच पूछा जाए, तो शास्त्र-ज्ञान तत्व-ज्ञान के मार्ग में सब समय सहायक ही नहीं होता और कभी-कभी तो युग की तथोक्त नीच जातियों में से आये हुए महापुरुषों का शास्त्रीय तर्कजाल से मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है।"[5]

संतकाव्य की विषयवस्तु की भांति उसकी भाषा-शैली के भी अनेक महत्वपूर्ण पक्षों पर आचार्य द्विवेदी ने नया प्रकाश डाला है जहां पहले कबीर आदि की भाषा को केवल विभिन्न प्रान्तीय शब्दों के मिश्रण के कारण "सधुक्कड़ी" कह दिया गया था, वहां आचार्य द्विवेदी ने उसमें अन्तर्निहित अभिव्यंजना-शक्ति एवं उसके सूक्ष्म रूप-वैभव का उद्घाटन करते हुए, उसे साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान दिलाया। उनके विचार से इस "सधुक्कड़ी भाषा" या "खिचड़ी भाषा" में ही अभिव्यंजना की ऐसी सहजता, शक्तिमत्ता एवं प्रभावोत्पादकता छिपी हुई है कि जिसके बल पर उसके प्रयोक्ता को "वाणी का डिक्टेटर" कहा जा सकता है। संतों की शैली के इस सबल पक्ष को अब प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार कर लिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य द्विवेदी ने न केवल हिन्दी साहित्य के इतिहास की विभिन्न काव्य-धाराओं के उद्गम-स्रोतों एवं उद्भव को स्पष्ट करने में योग दिया है अपितु विभिन्न वर्गों के साहित्य की भी नई व्याख्या और नये मूल्यांकन के कार्य को आगे बढ़ाया है। जहां उन्होंने प्रारंभिक लोकभाषा के साहित्य की पृष्ठभूमि; उसके प्रेरणा-स्रोतों एवं उसके अन्तर्निहित साहित्यिक तत्वों का उद्घाटन स्पष्ट रूप में किया है वहां उन्होंने नाथ-पंथी योगियों की साधनापद्धति, संतों की अनुभूति एवं भक्त कवियों की भक्ति-भावना का भी विवेचन एवं विश्लेषण नूतन ढग से किया है। यहां हम उनके वैष्णव-भक्ति सम्बन्धी विवेचन की मौलिकता पर अधिक प्रकाश नहीं डाल सके, किन्तु संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आदिकालीन साहित्य की सूक्ष्म विशेषताओं एवं मध्यकाल की विभिन्न काव्यधारओं के विभिन्न पक्षों पर—उनसे सम्बन्धित-संप्रदायों, उनके प्रेरक पूर्ववर्ती, ग्रन्थों, उनकी साधना-पद्धतियों, उनकी भावभूमियों एवं उनकी अभिव्यंजना-शैलियों का—जितनी गहराई से आचार्य द्विवेदी ने विचार किया है तथा जितनी स्पष्टता से वे उसे समझ सके एवं समझा सके हैं, वह अपूर्व है। वस्तुतः हिन्दी के संतकाव्य एवं भक्तिकाव्य के लिए एक ऐसे ही विद्वान् की अपेक्षा थी जो कि अपने धर्म-परंपराओं के ज्ञान, संत स्वभाव एवं भक्त हृदय के बल पर भक्तियुगीन साहित्य के रचयिताओं के हृदय से तादात्म्य स्थापित करता हुआ उनके मन की बात हमें बता सके। इस अपेक्षा की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्ति बहुत कुछ आचार्य द्विवेदी के द्वारा हुई है — "हिन्दीसाहित्य की भूमिका" से लेकर "सन्तों का सूक्ष्म-वेद" तक की उनकी रचनाएं हमारे कथन को प्रमाणित करती हैं। इतिहासकार के रूप में उन्होंने उसकी बाह्य चारदीवारियों एवं उसके स्थूल ढांचे में भले ही कोई परिवर्तन न किया हो किन्तु उसकी आधारभूत परंपराओं उसके अन्तर्निहित तत्वों एवं उसके विकास की सूक्ष्म रेखाओं में उन्होंने अत्यधिक परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं संशोधन करते हुए उसे नया रूप एवं नया वैभव प्रदान किया है—इसमें कोई सन्देह नहीं।

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका : पृ० 8, 10
2. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : पृ० 11
3. हिन्दी साहित्य की भूमिका : पृ० 44
4. —वही—पृ० 46
5. हिन्दी साहित्य की भूमिका : पृ० 5, 42

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी
आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन

आधुनिक हिंदी समीक्षा के प्रमुख आधार स्तंभ और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

साहित्य में क्रमागत भारतीय चिंतन जो सामान्यत: आत्मवाद पर प्रतिष्ठित था - हिंदी जगत् में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा एक भिन्न भूमिका पर आरूढ़ किया गया। यह भूमि थी बुद्धिवादी। उनका ख्याल था कि आत्मवाद या आत्मतत्व दार्शनिकों और रहस्यदर्शियों के क्षेत्र की वस्तु है—उसे साहित्य के क्षेत्र में लाया ही नहीं जा सकता। उनकी दृष्टि में साहित्य-चेतना का संबंध मनोमय कोष तक ही है। मन की मुक्त दशा ही उसका उत्स है। वही "रस" है। साहित्य के माध्यम से पाठक इसी दशा (रसदशा) तक पहुंचता है। जो यहां से उत्पन्न होकर यहां तक पहुंचाते नहीं, वह साहित्य नहीं। रस या आनंद का सौंदर्य से अविच्छेद्य संबंध है। अत: उन्हें सौंदर्य पर भी विचार करना पड़ा और कहना पड़ा कि अंत: सत्ता की तदाकार (सुन्दर वस्तु के आकार) परिणति ही सौंदर्यानुभूति है और सौंदर्य सुन्दरवस्तु ही है। सुन्दर और कुरूप या असुंदर बस काव्य में ये ही दो पक्ष हैं। धर्मज्ञ अपनी दृष्टि से जिसे मंगल कहता है, दार्शनिक सत्य कहता है। कवि उसे ही सुन्दर कहता है। उसकी दृष्टि सौंदर्य की ओर ही जाती है। इस चिंतनक्रम में शुक्ल जी की रसात्मकता जो मनुष्यता की उच्चभूमि है—सात्विक मनोदशा या नैतिक मनोदशा का ही पर्याय है। यही कारण है कि उन्हें मानवीय या लोकमंगल की भावना से प्रेरित कार्यकलाप में ही सौंदर्य दिखेगा—राम के व्यापार ही सुन्दर प्रतीत होंगे—रावण के व्यापार नहीं। शुक्लजी ने स्पष्ट कहा कि राम के काव्यात्मक निरूपण में ही पाठकों या श्रोताओं को रस मिलता है, रावण के निरूपण में नहीं। शुक्ल जी की दृष्टि में रावण की सक्रियता का योगदान काव्य की भूमि पर भी सौंदर्यबोध में नहीं है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी इसी बिंदु पर शुक्लजी से अपना साहित्यिक प्रस्थान भिन्न कर लेते हैं। वाजपेयी जी के अनुसार काव्यानुभूति के अखण्ड धरातल पर यह नैतिक-अनैतिक का विभाजन असंगत है। साथ ही वाजपेयी जी 'बुद्धिवाद' को अधूरी दृष्टि और 'वैदिकदृष्टि' को समग्र दृष्टि मानते हैं। अतः आत्मवाद के प्रति उनकी गहरी आस्था व्यक्त होती है। स्वच्छंदतावाद या छायावाद काव्यचेतना की सीमा मनोमय कोष तक ही नहीं मानता वह उसमें आत्मानुभूति तक पहुंचने की संभावना का द्वार बंद नहीं करता। जहां शुक्लजी अनात्मवाद या बुद्धिवादी भूमि पर इस रस का विचार करते हैं इसलिए रस की उत्तम, मध्यम आदि अनेक कोटियां निर्धारित करते हैं वहां आत्मवादी दृष्टि रखने के कारण वाजपेयी जी रस को सर्वथा आनंदमय, अखण्ड और साध्य कहते हैं। निष्कर्ष यह कि काव्य की मूलभूत स्रोतस्विनी रस-दशा के विषय में दोनों का दृष्टिभेद स्पष्ट है।

डा० नगेन्द्र भी रसवादी आचार्य हैं—रस को काव्य का उत्स मानते हैं—लेकिन जिस प्रकार काव्या-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नुभूति या सर्जनात्मक अनुभूति की व्याख्या डा० नगेन्द्र करते हैं। वह एक भिन्न दृष्टि ही है। उन्होंने मनोविज्ञान के आचार्यों का सहारा लिया है और काव्य में आत्माभिव्यक्ति का आदय स्पष्ट किया है। उनकी दृष्टि में आत्मा का अर्थ व्यक्तित्व है—भारतीय दार्शनिक सम्मत चिदानन्दमय अखण्ड तत्व नहीं। यद्यपि आरंभ में वाजपेयी जी की भांति नगेन्द्रजी भी स्वच्छंदतावादी आलोचक रूप में ही आते हैं, फिर भी इनकी दृष्टि वैदिक नहीं, अवैदिक है। आत्मा और व्यक्तित्व को अभिलार्थक मानते हुए कहा है कि व्यक्तित्व उन रागद्वेषों का, जिनमें से अधिकांश काम-चेतना के प्रोद्भास है, संश्लिष्ट समूह हैं। इस व्यक्तित्व के भी उसी अंश की साहित्य में अभिव्यंजना होती है—जो अभाव या अतृप्ति से ग्रस्त होता है। निष्कर्ष यह कि आत्मा या व्यक्तित्व के निर्माण में वे काम-वृत्ति या उसकी अतृप्ति का योग स्वीकार करते हैं और यह भी तभी संभव है जब सौंदर्य का उद्दीपन हो आनंद—और अभाव की पीड़ा—दोनों का संयोग हो। अर्थात् व्यक्तित्व या आत्म की जो अनुभूति अनायास फूट पड़ती है। उसमें आनंदमयता के साथ अभाव की पीड़ा भी होती हैं। यह काव्यानुभूति की महत्ता है कि आनंद और पीड़ा के विरोध में अन्विति ला देती है। डा० साहब के अनुसार काव्यानुभूति में आनंद के साथ पीड़ा और पूर्णता के साथ अभाव का सहावस्थान होता है। सर्जना के अतिरिक्त ग्रहण की दृष्टि से विचार करते हुए तो 'रससिद्धान्त' में उन्होंने अपने साहित्यिक चिंतन की प्रस्थान-भूमि भिन्न करते हुए स्पष्ट स्वीकार किया है कि काव्यानंद आत्मानंद नहीं है। यदि हम आनंद के विभिन्न रूपों और स्तरों में भेद करते हैं तब फिर काव्यानन्द को अत्यंत उदात्त और अवदान अनुभव मानने पर भी आत्मानंद रूप नहीं माना जा सकता। इसीलिए तो काव्यानुभूति में एक और ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता एवं तीव्रता (ऐन्द्रियता एवं कटुता) नहीं होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नहीं होती और इसीलिए वह पहले से अधिक शुद्ध परिष्कृत तथा दूसरी से अधिक सरस होती है। निष्कर्ष यह कि काव्यानुभूति सर्जनात्मक और ग्रहणात्मक दोनों सतहों पर आनंदात्मक होती है। पर उद्भव में अभाव की पीड़ा भी रहती है जब कि डा० नगेन्द्र ग्रहण में उसे अनिवार्य रूप से आनन्दमय ही मानते हैं और ऐसा होने में रिचर्डस की मान्यताओं का सहारा लेते हुए उसे संवेदन के रूप में निरूपित करते हैं। भावन का यहां उपयोग होता है। फलतः मनोवेगों में संतुलन आता है। काव्यानुभूति का यही स्वरूप है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी शुक्ल जी के अनन्तर किन्तु आचार्य वाजपेयी तथा डा० नगेन्द्र के साथ हिंदी साहित्य में अपना एक विशिष्ट साहित्यिक प्रस्थान निर्मित कर रहे थे। द्विवेदी जी के चिंतन के मूल में संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश और अवहट्ट का विशाल वाङ्मय पृष्ठभूमि का कार्य कर रहा था। इस विशाल वाङ्मयाम्बुधि का उन्होंने अगस्त्य की भांति पान किया था; उसमें निहित भारतीय चिंतन को आत्मसात् किया था। इसलिए उनके चिंतन में जहां एक ओर सांस्कृतिक सुगंध है, वहां दूसरी ओर ऐतिहासिक चेतना भी। इन दोनों पाथेयों के साथ अपनी चिंतन-यात्रा को विश्वसनीय बनाने के लिए वे समाजशास्त्रीय पद्धति भी अपनाते थे। विभिन्न युगों की सामाजिक चेतना के साथ सांस्कृतिक और ऐतिहासिक चेतना का तालमेल बिठाते हुए अपनी सारस्वत-यात्रा द्विवेदी जी ने सम्पन्न की है। शोध के क्षेत्र की उनकी स्थापनाओं में ये सभी तत्व मिलेंगे। 'चाहे हिंदी साहित्य की भूमिका' लें, या 'आदिकाल' 'सूरसाहित्य' लें 'मध्यकालीन धर्मसाधना' अथवा 'मध्यकालीन पुराबोध' आदि सर्वत्र मंथनलब्ध स्थापनाओं के रत्नों में सांस्कृतिक ऐतिहासिक तथा समाजशास्त्रीय दीप्तियां भास्वती हुई लक्षित होंगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्विवेदी जी शोधी ही नहीं, आलोचक और सर्जक भी हैं। आलोचना सैद्धान्तिक भी हैं और व्यावहारिक भी। ये तीनों रूप एक दूसरे को हस्तावलंब देते हैं। डा० नगेन्द्र अंततः शोध और आलोचना को पृथक् नहीं मानते, खासकर साहित्य शोध और आलोचना के उपकरण और चरमपरिणति को वे एक ही कर देते हैं। आरंभ में शोध और आलोचना भले पृथक् लगें, परिणति में वे पृथक् नहीं मानते। उनके अनुसार तथ्यान्वेषण शोध का लक्ष्य है और तत्वान्वेषण साहित्यालोचन का; पर अंततः काव्यक्षेत्र का अनुसंधान तत्वबोध (सौंदर्यबोध) में पर्यवसित नहीं होता तो वह काव्य-क्षेत्र का अनुसंधान नहीं है। जैसे भारतीय साहित्याचार्यों ने काव्य और काव्यशास्त्र का प्रयोजन एक ही माना है, उसी वृत्ति को आगे बढ़ाते हुए डा० नगेन्द्र ने काव्य-शोध को भी काव्य की वृहत्तम परिधि के भीतर ही रखना चाहा है। उनकी दृष्टि में जो उपकरण साहित्यालोचन के लिए अंतरंग है, वे ही शोध के लिए भी। जैसे तथ्यसंग्रह, तदाधृत विचार और विचारों की प्रतीत्यात्मक परिणति। तथ्य से विचार की ओर बढ़ने में भावन और विचार से प्रतीति की ओर बढ़ने में दर्शन आवश्यक है। डा० नगेन्द्र आलोचन को सर्जनात्मक भी मानते हैं। अतः शोध, आलोचन, सर्जन तीनों काव्य के क्षेत्र में सर्वथा एक न भी हों तो भी एक लक्ष्य से प्रस्थित होने के कारण परस्परावलम्बी अवश्य हैं। थोड़ी देर के लिए डा० नगेन्द्र के निर्दिष्ट रास्ते से बढ़ा जाय तो द्विवेदी जी के तीनों रूपों को परस्परावलम्बी माना जा सकता है। अतः एक अपेक्षणीय है और दूसरा उपेक्षणीय या कमजोर यह ठीक नहीं। यह ठीक है कि उनका सर्जक रूप जो निबंध और उपन्यासों में दीप्त और उद्ग्रीव है— नितांत मनोहर तथा हिन्दी जगत् में पथ-प्रदर्शक बन गया है, पर इसका अर्थ यह कैसे है कि ''लालित्य-शास्त्र' या हिंदी साहित्य की भूमिका' कमजोर है या कि उस क्षेत्र में उन्हें काम नहीं करना चाहिए। एक पर हाथ साधना दूसरे को समृद्ध करना है। यों स्पष्ट है कि यह सब कुछ मनुष्य को समझने के लिए ही उनका सारा प्रयास है। उनकी धारणा है कि मनुष्य सृष्टि का सर्वोच्च प्राणी है और काव्य उसकी सर्वोच्च सृष्टि। इसके साथ ही वे यह भी मानते हैं कि जहां मनुष्य की सर्वोच्च सृष्टि काव्य है वहीं काव्य का लक्ष्य भी मनुष्य है। उनकी दृष्टि में वह काव्य नहीं है जो मनुष्य में निहित प्रयोजनातीत संभावनाओं को उपलब्धि का रूप देने को साधन न बन सके। वैसे तो काव्य का भी कुछ प्रयोजन है—पर वह भौतिक प्रयोजन आहार, निद्रा, भय, मैथुन जैसे पशुसुलभ प्रयोजनों से ऊपर है। इसी अर्थ में काव्य का प्रयोजन (पशुसामान्य) प्रयोजनों से अतीत है। निश्चय ही इस स्वर में सोचने वाले पण्डित को, जो काव्य का लक्ष्य संस्कृति या मानव मात्र के अविरोधी धर्म मानवता के घटक उपकरणों (प्रेम, दया, उपकार, करुणा, सहानुभूति आदि) को मानता है—सांस्कृतिक या मानवतावादी आलोचक कहा जाएगा। वह रवीन्द्र और अरविंद को स्थापनाओं में आस्थावान् है। चेतना को चरमतत्व मानता है और समस्त सृष्टि को चरमतत्व में निहित अनन्तानन्त संभावनाओं का मूर्त रूप मानता है—सृष्टि को चेतना की जय-यात्रा मानता है, विजय अधःकर्षक शक्तियों पर, जड़ता पर। जड़ता एवं अधःकर्षक शक्तियों पर विजय प्राप्त करती हुए चेतना की महामाया मानव-स्तर तक हो चुकी है—और क्या पता यह यात्रा मानव-गत अपूर्णता को भी, जीतकर शान्त हो। आचार्य द्विवेदी कवीन्द्र रवीन्द्र की 'यूनीवर्सल मैन' वाली कल्पना में आस्था रखते हैं और भारतीय आगमों में निहित तत्वचिन्तन के आलोक में उसे संगत ठहराते हैं। इन तमाम प्राचीन आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों को आत्मसात् कर उनकी सर्जनात्मक कल्पना काव्यसृष्टि के लिए अग्रसर होती है।

इस प्रकार जिस दृष्टि को ग्रहण कर आचार्य द्विवेदी साहित्य-मंथन या सर्जन के लिए प्रस्थित हुए, स्पष्ट ही वह शुक्लजी और डा० नगेन्द्र से इसे माने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

111503

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भिन्न है कि द्विवेदी जी अपने चित्वादी पक्ष को कहीं छोड़ते नहीं। वे मानते हैं कि ज्ञान ज्ञेयात्मक यावत् सृष्टि है—चेतना का ही प्रकाशन है और चेतना का सर्वोच्च विकास मानव या मनुष्य सृष्टि के रूप में हुआ है। अतः मनुष्य की ज्ञान-विज्ञान के रूप में जो चेष्टा है—वह सबकी सब उसे समझाने में सहायक होती है। इसीलिए द्विवेदी जी की प्रस्थान सर्वग्राही है, शुद्धतावादियों की भांति त्यागी नहीं है। आदिकाल को समझने में शुक्लजी साम्प्रदायिक साहित्य का त्याग करते हैं—द्विवेदी जी उसका भी उपयोग करते हैं। लेकिन ऐसा करते हुए वे आत्मवाद के अतिवाद से बचते हैं—संतुलित रहते हैं, इसीलिए उनके चिंतन में वह विकृति नहीं आती, जिसके आने की संभावना से लोग आत्मवाद को एक किनारे रख देते हैं। आत्मवाद में आचार्य वाजपेयी की आस्था है, पर भारतीय चेतना जिस भारतीय विविध भाषा-बद्ध साहित्य के साक्ष्य पर ठीक-ठीक पकड़ी जा सकती है और उसकी ऐतिहासिक परिणति का साक्षात्कार किया जा सकता है, वह सब कुछ वाजपेयी जी के पास नहीं था। शुक्लजी युगांनपरिस्थितियों का साहित्य-प्रतिबिम्बित चित्तवृत्ति के साथ कार्यकारण भाव निरूपित करते हैं, द्विवेदी जी इतना ही पर्याप्त नहीं समझते। वे परिस्थितियों और जनता की चित्तवृत्तियों के बिंब-प्रतिबिम्बन के, कार्य-कारण भाव निरूपण के साथ-साथ यह भी देखना चाहते हैं—समाज प्रवाह के माध्यम से विकसित सांस्कृतिक चेतना अपने ऐतिहासिक क्रम में कैसी है? इसीलिए जहां शुक्लजी 'भक्ति-भाव' को तत्कालीन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मात्र कहकर रुक जाते हैं वहां सांस्कृतिक चेतना के ऐतिहासिक क्रम-विकास को दृष्टिगत कर द्विवेदी जी मानते हैं कि मध्यकालीन भक्ति का स्वरूप जो अपने क्रम में विकसित हो रहा था—यदि मुसलमान न भी आए होते तो भी बारह आने वह वैसा ही होता।

पुरातन चित्वाद की यह अतिथि की यह व्यक्ति-मंगल की वह भी परलोक में ही मिलने की बात करता था, फलतः समाज और राष्ट्र का बहिरंग उपेक्षित हो रहा था। आधुनिक चिन्तकों और साहित्यिकों ने इसे लक्षित किया और प्रयास किया कि विकास संतुलित हो। अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही पक्ष समुन्नत हों। आंतरिक विकास की परिणति बाह्य जीवन से विच्छिन्न न हो। बहिरंग तर-दोनों ही संतुलित रूप में पूर्णता की ओर विकसित हों; मंगल परलोक तक ही सीमित न रहे, इह लोक में भी वह उतरे। वर्तमान की कुरूपता और अनुध्यात् शोभनता में जो व्यवधन सर्जक अनुभव करता है—उसको भरने की व्याकुलता प्राचीन साहित्यकार में भी थी, पर इस व्यवाधान को इसी धरती पर दूर करने का संकल्प आधुनिक युग की एक खास विशेषता है। मार्क्सवाद भी यह संकल्प लेकर चलता है और आत्मवाद भी। आचार्य द्विवेदी आत्मवाद का पक्ष लेकर आधुनिक चेतना को मूर्त होते देखना चाहते हैं। वे साहित्य में उस 'यथार्थ' के चित्रण के पक्षधर नहीं हैं जो पाशवरूप को उरेहता है—वरन् उस रूप को महत्व देते हैं जिससे मनुष्यता उद्दीप्त होती हो। साहित्य को इस अर्थ में वे भी साधन मानते हैं कि वर्तमान की कुरूपता हटाकर वह कुरूप समाज को बदल डाले या समाज की कुरूपता को उच्छिन्न कर डाले। बहिरंतर के व्यवधान को, वर्तमान और काम्य की खाई को पाट डाले, लेकिन इसके लिए वे जड़वादी दर्शन को मान्यता नहीं देते। इसलिए वे रामविलासजी प्रभृति मार्क्स-वादी चिंतकों से भी अलग जा पड़ते हैं। दूसरी ओर व्यक्तिमंगल या समाजमंगल की काष्ठापन्न चरितार्थता धरती पर ही देखने की अदम्य आकांक्षा से पुरातन चिद्वादियों से भी पृथक् हो जाते हैं। जो चिद्-वाद में आस्था नहीं रखते, बुद्धिवाद या ज्ञान-विज्ञान की ही अधुनातन गैर-आत्मवादी स्थापनाओं से संपृक्त हैं—उनसे पृथक् तो हैं ही। सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा समाजशास्त्रीय दृष्टि-कोण रखने का ही परिणाम है कि सर्जकों की आलोचना करते समय या किसी विशेष धारा अथवा युग का विश्लेषण करते समय काव्य-शास्त्रीय सौंदर्य स्रोतों की ओर उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टि नहीं जाती। आचार्य शुक्ल. डा० नगेन्द्र और आचार्य वाजपेयी की रुझान काव्य शास्त्रीय सौंदर्यस्रोतों की ओर भी है। वैसे 'सौंदर्य' का पक्षधर कौन नहीं होगा? लेकिन दृष्टिभेद होने के कारण द्विवेदी जी सौंदर्य को सामंजस्य के रूप में रेखांकित करना चाहते हैं। वे अपनी बात को समझाने के लिए मानते हैं कि शक्ति त्रिक (इच्छा, ज्ञान और क्रिया) के सहज योग से विशुद्ध चैतन्य की, गोचर जगत् के रूप में अभिव्यक्ति हो रही है। संसार का समस्त आकर्षण, उल्लास, लालित्य और सौंदर्य इसी चित् की स्वातंत्र्यात्मा इच्छा-शक्ति के अनुकूल स्पंदन का नाम है। जहां विपरीत है वहां इस मूल इच्छात्मक छंदोधारा का प्रातिकूल्य है। द्विवेदी जी मानते हैं कि पश्चिम के पण्डितों ने व्यक्ति-चित्त की इच्छा को सौंदर्य कहा है, जो सौंदर्य को व्यक्ति-सापेक्ष तत्व की खिड़कियों में खड़ाकर अव्यवस्था और तर्क-वितर्क को का कारण बनाता है। अतः देश काल-सापेक्ष और परम्परा-स्वीकृत ननवर्ग विशेष के समष्टिचित्त की इच्छा को सौंदर्य मानने के लिए विवश होना पड़ता है। माना कालिदास ने भी द्विवेदी जी की दृष्टि में व्यक्तिचित्त की इच्छा को ही सौंदर्य; परन्तु उनकी व्यक्ति-इच्छा समष्टिव्यापिनी इच्छा का ही प्रतिरूप है—विशिष्ट रूप है। समष्टि-इच्छा विश्वव्यापिनी मंगलेच्छा के अनुकूल होने पर ही व्यक्तिगत इच्छा सार्थक होती है। व्यक्तिगत इच्छा इसके प्रतिकूल जाकर कुत्सित हो जाती है। समष्टि-इच्छा चेतन-धर्म है—जो बात चेतन-धर्म के अनुकूल है—वही सुन्दर है। समष्टिचेतना सर्जनात्मक है—सिसृक्षा है, व्यक्तिगत इच्छा उससे अनुकूल रहकर ही चरितार्थ होती है। जिस इच्छा में अज्ञान है, मोह है. परोत्सादनवृत्ति है, वह पाप-इच्छा है—जड़त्व से अभिभूत होती है—सौंदर्य उसमें नहीं रहता 'कालिदास की लालित्य योजना' के संदर्भ में "सौंदर्य" की अपनी अवधारणा द्विवेदीजी ने स्पष्ट की है। व्यक्ति जितने अंश में विरोधी है—वह जड़ता का प्रकाश है और जितने में समंजस वह, चेतना की अभिव्यक्ति है—फलतः समंजस का यही सामंजस्य सौंदर्य है—असामंजस्य असौंदर्य। समष्टि या समाज का मेरुदण्ड यही सामंजस्य है—इसके अभाव में वह टूटने लगता है—जड़ता हावी हो जाती है—चेतन की अभिव्यक्ति पर। व्यष्टि-व्यष्टि खण्ड-खण्ड के भीतर व्याप्त अखण्ड मनुष्यता ही आस्वाद-गोचर होकर रस रूप में प्रतीत होती है। द्विवेदी जी इस दृष्टि से साहित्य की सर्जना और मंथना में प्रवृत्त होते हैं। वे चेतना की जययात्रा के रूप में सब कुछ देखते हैं—और मनुष्यता को ही सर्वोत्तम सांस्कृतिक उपलब्धि के रूप में देखते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० पी० ए० राजु
रीडर, हिन्दी विभाग
आंध्र विश्वविद्यालय
वाल्तेरु, विशाखपट्टणम

निबंधकार द्विवेदी : 'अशोक के फूल' के संदर्भ में

अद्यतन युग के निबंधकारों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी अग्रगण्य हैं। उनके निबंधों में सर्वत्र भारतीयता की छाप स्पष्ट झलकती है और निबंध-कला की दृष्टि से भरतीय एवं पाश्चात्य प्रणाली का सफल समन्वय दृष्टिगोचर होता है। 'अशोक के फूल', 'कल्पलता', 'विचार-प्रवाह', 'विचार-वितर्क,' 'कुटज' आदि उनके प्रतिनिधि निबंध-संकलन है।

नवीन जीवन-बोध तथा नयी सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण तो प्राचीन इतिहास और आदर्श के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया जाना पंडित जी के प्रत्येक निबंध में पाया जाता है। इसी कारण उनके निबंध विषय, विचार, व्याख्या, विविधता आदि की दृष्टि से भी हिंदी निबंध-साहित्य के इतिहास में अपना पृथक् स्थान रखते हैं। साधारण से साधारण विषय को चुनकर उसमें असाधारण प्रतिभा को सरस और रोचक शैली में प्रदर्शित करने मे द्विवेदी जी अद्वितीय हैं।

उनके सभी निबंध-संकलनों में 'अशोक के फूल', विषय, विचार एवं विश्लेषण की दृष्टि से उच्चकोटि का संकलन माना जा सकता है। उनकी अविच्छिन्न साहित्यिक साधना, गंभीर अध्ययन, प्राचीनता से नूतनता का सुंदर सामंजस्य इस संकलन में स्पष्ट परिलक्षित होता है। इन समस्त निबंधों को सांस्कृतिक, साहित्यिक, सामाजिक और अन्य—इस प्रकार चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं जिनमें प्रथम तथा द्वितीय वर्ग के निबंध तो कई दृष्टियों से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

सांस्कृतिक निबंध

इनमें भारतीय संस्कृति की रूप-रेखा, इतिहास और उनके मूल में काम करने वाले जीवन-तत्वों का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट विवरण प्रतिपादित है।

द्विवेदी जी के अनुसार—"सब मनुष्य एक हैं", वैसे ही समस्त विश्व की संस्कृति भी है। भारतीय संस्कृति तो एशिया और यूरोप को भी अपनी धर्म-साधना की उत्तम वस्तुएं प्रदान कर चुकी है। बाह्य जीवन के संघर्षपूर्ण और कल्लोलित वातावरण में मानव की अंतश्चेतना के पूनर्गठित और समन्वित करने की अद्भुत शक्ति भारतीय संस्कृति और जीवन-दर्शन में निहित है। इस समता और सामर्थ्य को निबंधकार प्राकृतिक परिवेश के अंतर्गत धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि के साथ स्पष्ट करने का प्रयत्न आलोच्य निबंधों में करते हैं। इन निबंधों को पढ़ते समय ऐसा अवश्य लगेगा कि निबंधकार प्राचीनता से पानी ग्रहण कर, वर्तमान से खाद जुटाकर, मौलिक विचारों के अमूल्य फल पाठक को प्रदान कर रहे हों। 'अशोक के फूल' में आधुनिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तन सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर जनता-जनार्दन की महत्ता को स्वीकार करते हुए पंडित जी यह स्पष्ट बताते हैं "मैं संस्कृति को किसी जाति-विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है।" इस बात को पढ़कर यह समझ बैठना गलत होगा कि आप भारतीय संस्कृति को सच्चे अर्थ में न समझ सके हैं अथवा उसमें आस्था नहीं रखते। वास्तव में बात यह है कि डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी का दृष्टिकोण किसी पूर्व-निश्चित अभिप्राय या विश्वासों से आच्छादित नहीं रहता। आपका आशय मनुष्य की जय-यात्रा का सफल होना है जिसके लिए संस्कृति एक साधन मात्र के रूप में काम आ सकती है। इसलिए आप कहते हैं—"भारतीय और पश्चिमी जैसे विशेषणों को जोड़कर संस्कृति जैसी अखण्ड वस्तु को अपनाना या त्यागना बिल्कुल असंगत है। समस्त मनुष्यों के आचार-विचार भिन्न-भिन्न होने पर भी जिस प्रकार उनमें स्थित मानवता एक ही वस्तु है ठीक उसी प्रकार सच्ची संस्कृति भी स्वभाव में अविरोधी है। यह उत्कृष्ट अविरोधी सत्य जिस प्रदेश की संस्कृति में जितनी अधिक मात्रा में पाया जाता है और मनुष्य की जय-यात्रा में जो अधिक सहायक सिद्ध होता है, वह संस्कृति उतनी ही श्रेष्ठ मानी जा सकती है।" इस उद्देश्य में वे भारतीय संस्कृति को प्रचारोचित और सर्वत्र स्वीकार्य मानते हैं। आप भारतीय विशेषण को अवरोधी तत्त्व के अर्थ में प्रयोग करते हैं। द्विवेदी जी का यह भी विश्वास है कि ऐसी ही संस्कृति रूप-रंग, परिस्थिति तथा स्तर-भेद जैसे प्रतिबन्धकों को पार कर मनुष्य मात्र को प्यार करने का पाठ पढ़ा सकती है और मानव के कल्याण के लिए बलि होने की प्रेरणा भी दे सकती है।

मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र को, अजातशत्रु पांडुपुत्र धर्मराज को, अद्वितीय अहिंसाव्रती महात्मा गान्धी जी जैसे अनेक महापुरुषों को जन्म दिया है इसी संस्कृति ने। 'समस्त लोकारसुखिनों भवन्तु', 'वसुधैव कुटुम्बम्' जैसे महान् मंत्रों का आविष्कार किया है इसी संस्कृति ने। आज संसार भर में व्याप्त आर्थिक-असमानता, अधिकार – विस्तार की महत्वाकांक्षा, भोग-विलास की लिप्सा जैसे सामाजिक रोगों को दूर करने का मंगलमय मार्ग यही संस्कृति प्रदर्शित कर सकती है। तिलक, त्रिपुण्ड, चोटी, दाढ़ी, जनेऊ, जयमाला, वगैरह बाहरी चीजों में ही भारतीय संस्कृति का दर्शन करने वालों के लिये यह बात आश्चर्यजनक तथा गलत लग सकती है। विदेशियों के साथ मिल-जुल कर रहना, उनका साहित्य पढ़ना और पुराने पोशाक-पहनावे में थोड़ा परिवर्तन करने मात्र से भारतीय संस्कृति का भ्रष्ट होने की शंका करने वाले लोग निबंधकार के ये वाक्य पढ़ें—"सारे संसार को भी इस भारतीय संस्कृति में कुछ न कुछ ऐसा अवश्य लगेगा जिससे उसे वर्तमान प्रलयकारी अवस्था से उबारने का मौका मिल सके।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन निबंधों में भारतीय संस्कृति की शक्ति, स्वरूप और स्वभाव को विलेश्षित कर हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है।

साहित्यिक निबंध

इनमें काव्य और कला के अन्तर्निहित अर्थ पर विचार किया गया है।

देश की वर्तमान समस्याओं का जिक्र करके साहित्य-सेवा के नाम पर इनके प्रति उदासीन रहने वालों को सावधान करके पंडित जी कुछ महत्वपूर्ण तथा रचनात्मक कर्त्तव्य भी सुझाते हैं।

हिन्दी भाषा तथा साहित्य को अंग्रेजी की भांति दुर्बोध बना देने, संस्कृत भाषा तथा साहित्य की भांति पण्डित लोगों तक ही सीमित रख देने के खतरे से बचाकर उसे (भाषा) इतनी सरल बना देने की सलाह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देते हैं कि वह शिक्षित तथा अर्ध-शिक्षित देश और विदेशों में भी समान रूप से विहार कर सके।

वर्तमान आलोचक एवं समालोचकों के स्वरूप तथा स्वभाव के बारे में अपने विचारों को प्रकट करते हुए पंडित जी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि आलोचना का स्वतंत्र मान तभी सम्भव है जब आलोचक गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ की भांति द्वन्द्वों से परिचालित न हों, अनुराग-विराग, ईर्ष्या-द्वेष आदि के द्वारा निर्णय करने की अपनी साधारण दुर्बलता से बचने की कोशिश करें, अपने मानसिक संस्कारों के चश्मे से आलोच्य विषय को न देखें।

इस साहित्यिक निबंधों से पता चल जाता है कि आचार्यवर बंगला तथा संस्कृत साहित्य के भी गंभीर अध्येता हैं, पठित विषय पर मनन चिंतन करने के पश्चात् ही अपने अभिप्राय स्थिर कर लेते हैं, उनको प्रकट करने में संकोच नहीं करते और न दुराव-छिपाव से, घुमा-फिरा कर अपनी बात कहते हैं। हां, व्यंग्य का प्रयोग अवश्य करते हैं ।

उदाहरणार्थ 'आलोचना का स्वतंत्र मान' शीर्षक निबंध में आलोचकों के मत-भेद पर लिखित उनके ये वाक्य द्रष्टव्य हैं—"समलोचक नामक वैज्ञानिक में व्यक्तिगत बुद्धि कमबेशी तो होती ही होगी, पर उल्टी क्यों होगी ? अर्थात् 'क' अगर कहे कि शेक्सपियर अद्वितीय नाटककार है, तो उससे अधिक जानकारी रखने वाले को कहना चाहिए कि वह अतृतीय है, अपंचम नाटककार है यह क्योंकर 'ख' कहे कि उसे नाटक के 'न' अक्षर का भी ज्ञान नहीं ?"

यहां समालोचक नामक वैज्ञानिक तथा अतृतीय, नाटक का 'न' अक्षर शब्दों पर ध्यान दें तो आपका आशय तुरन्त स्पष्ट हो जायेगा। बहुत से समालोचक आलोच्य विषय के बारे में अपना मत गणित के हिसाब के समान दे देते हैं, उसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति उस रचना की कोई साहित्यिक विशेषता भी व्यक्त करे तो वह सहन नहीं कर सकता। साहित्य के लिए यह बात न तो अच्छी है और न सही। दो और तीन जोड़ने से पाँच होते हैं, यह गणित की बात है। इसके बारे में एक गणित के आचार्य का जवाब जितना सही है उतना ही एक साधारण विद्यार्थी का भी। यही बात विज्ञान के बारे में भी कही जा सकती है। लेकिन साहित्य जोकि मन और हृदय से सम्बन्धित विषय है, के बारे में यह सूत्रीकरण नहीं हो सकता।

जैसे द्विवेदी कहते हैं, साहित्य एक साधन मात्र है न कि साध्य। साधन कभी अपरिवर्तित नहीं रह सकते। जब साधन के रूप में स्वीकृत साहित्य ही परिवर्तनशील है तो उसके गुण-दोषों को परखने वाले सिद्धांतों के बारे में कहना अनावश्यक है।

इस तथ्य को ध्यान में रखकर 'आपने मेरी रचना पढ़ी' निबंध में वर्तमान साहित्यिकों में व्याप्त अरोचकता की ओर आचार्य जी इस प्रकार के संकेत करते हैं—"साहित्य से संबंध रखने वाले जीव पांच प्रकार के हैं—लेखक, पाठक, संपादक, प्रकाशक और आलोचक। सब के क्षेत्र अलग-अलग हैं। (हां उनमें बादरायण संबंध तो है।) पढ़ने वाला आलोचना नहीं करता, आलोचना करने वाला पढ़ता नहीं—यही तो उचित नाता है। एक ही आदमी पढ़े भी और लिखे भी, या पढ़े भी और आलोचना भी करे या लिखे भी इत्यादि-इत्यादि तो साहित्य में अराजकता फैल जाय।"

इस साहित्यक दोष अथवा रोग से बचने के लिए ही तो आप स्वयं लिखते, पढ़ते, आलोचना भी करते हैं और संपादन भी। ऐसी बहुमुखी साधना विरले ही व्यक्ति करते हैं या कर सकते हैं। पंडित जी की यह प्रतिभा हिन्दी साहित्य के लिए गौरव की ही नहीं गर्व की भी बात है :

सामाजिक निबंध

इनमें संप्रदाय, परिवर्तन और माया-मोह के प्रति लेखक की कबीरी भावना, राष्ट्रीय चेतना, सामाजिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तरदायित्व, विभिन्न विषयों का विस्तृत परिचय आदि कई बातों का पता हमें लग जाता है।

हममें स्थित मोह-ममता की जो स्वाभाविक भावना है वह सचमुच रेशमी रस्सी के समान आकर्षक होते हुए भी बन्धक बनती है। एक प्रसंग में सन्त विनोबा जी कहते हैं कि भारतीयों में प्राचीनता के प्रति जो मोह रहा वही उनके विकास में बड़ा बाधक साबित हुआ। अतः प्राचीनता के प्रति श्रद्धा, गौरव की भावना तो ठीक है लेकिन मोह या ममकार की नहीं। यही मंतव्य द्विवेदी जी 'घर जोड़ने की माया' शीर्षक निबंध में व्यक्त कर यह प्रमाणित करते हैं कि संप्रदाय परिवर्तन की माया में फंसकर बुद्ध तथा कबीर के शिष्य किस प्रकार स्वतंत्र-चिंतन शक्ति खो बैठे हैं, अन्ध-विश्वास तथा अनावश्यक आडंबरों में पड़कर आत्मज्ञान की बात से किस प्रकार कोसों दूर जा पड़े हैं। यह प्रवृति अथवा दुर्बलता भारतीयों में आज भी बहुत मात्रा में है। इसके लिए अवतारवाद तथा भाग्यवाद कुछ हद तक उतरदायी हैं। आज समाज में यह देखा जाता है कि गांधी जी को अवतार मानकर उनके जन्म-दिवस या मृत्यु-दिवस मनाने के फेर में पड़कर उनके धार्मिक तथा राजनैतिक सिद्धांत भूल बैठे हैं। हमारी इस मानसिक दुर्बलता से नाजायज़ फायदा उठानेवाले गान्धी-भक्त न जाने कितनी मात्रा में आज मैदान में उतर पड़ते हैं। उनसे सचेत रहने के लिए हमें निबंधकार के ये वाक्य स्मरण रखना आवश्यक है—"यह कह देना कि सब गलत हुआ, कुछ विशेष काम की बात न हुई। क्यों गलत हुई ? माया से छूटने के लिए माया के ये प्रपंच रचे गये यह सत्य है। कबीर पंथ का नाम तो यहां इस लिए आ गया है कि ये बातें कबीरपंथी साहित्य में पढ़ते-पढ़ते मेरे मन में आईं हैं, नहीं तो सभी महा-पुरुषों के प्रवर्तित मार्गों की यही कहानी है। माया का जाल छुटाये-छूटता नहीं, यह इतिहास की चिरो-द्घोषित वार्ता सब देशों और सब बातों में समान भाव से सत्य रही।"

इस प्रकार हम देखते है कि द्विवेदी जी के मन्तव्य स्पष्ट हैं और गहरे अध्ययन तथा गंभीर चिंतन के परिणाम हैं। इनमें समाज-कल्याण की सद्भावना भी निहित है और जन-जागृति की प्रबल इच्छा भी दारुगत अग्नि की भांति सुलगते परिलक्षित होती है।

यहां प्रयुक्त 'जन-जागृति' शब्द का विशेष अर्थ है। आचार्य जी उसी भाव-चेतना को जन-जागृति मानते हैं जिससे प्रेरित होकर शताब्दियों से पद-दलित, निर्वाक्, निरन्न जनता समुद्र की लहरियों के फूत्कार के समान की गर्जना से अपना अधिकार मांगेगी। और तब अपने को त्यागी, सेवक, उद्धारक घोषित कर साधारण जनता के अज्ञान तजा अबोधपन से अनुचित लाभ उठानवाले नेताओं को सिर धुन कर, 'प्रायश्चित करने की घड़ी' अवश्य आ जाएगी। इस कथन में साधारण जनता के प्रति लेखक की सहानुभूति और श्रद्धा-भावना खुले व्यंजित हो गयी है। आप समाज-सेवा तथा समाजोद्धार तभी संभव मानते हैं जब वे नेता लोग कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के विश्वास के अनुसार हल्ला-गुल्ला करके, ढोल पीट के, गला फाड़के, लेक्चरबाजी करना छोड़ देते हैं, और आत्मजयी अन्तर्मुखी, साधक बनकर देश में करोड़ों की संख्या में स्थित दलित, अपमानित, निरन्न निर्वसन लोगों के समस्त दुःख को शिरसा स्वीकार कर पागलों के समान पथ पर चल सकते हैं। ये बातें शौकिया देशोद्धार करने वाले वाग्वीरों को अचरज लग सकती हैं। अतः उनको रवीन्द्रनाथ ठाकुर जी के वाक्य भी "क्या हुए, जो तुमने गांवों को नहीं जगाया। तुम्हारे मन में क्या है सो तुमने खुद-ब-खुद चिल्लाकर नहीं कहा तो क्या बिगड़ गया। ये बाजे बन्द करके चुपचाप ही चल दिये तुम।" गांठ में बांध लें। तात्पर्य यह है कि देश के प्रति नेता लोगों में "अहेतुक प्रेम, वा वास्तविक भक्ति-भावना होना आवश्यक है, क्योंकि यही देश-भक्ति का सबसे बड़ा संबल है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहां हम देखते हैं कि द्विवेदी जी कवीन्द्र रवीन्द्र की साहित्यिक मान्याताओं के साथ-साथ उनके साहित्यिक एवं सामाजिक विचारों से भी काफी प्रभावित हो चुके हैं। शायद यही कारण होगा कि हजारी प्रसाद द्विवेदी जी साहित्य को राजनीति से दूर या पृथक् नहीं मानते और मनुष्य को ही साहित्य का लक्ष्य मानते हैं।

भाषा-शैली

पंडित जी की भाषा, चुस्त एवं शैली प्रवाह-युक्त है। उस में पाण्डित्यपूर्ण वाक्यों की तथा तत्सम शब्दों की प्रधानता के कारण, उसे कुछ आलोचक कठिन भी मानते हैं। लेकिन 'अशोक के फूल' में यह बात नहीं है। उसमें आपकी शैली कलात्मक से प्रौढ़ता प्राप्त कर गयी है। इसमें सांस्कृतिक और शास्त्रीयता के साथ-साथ विनादप्रियता भी है। हां, विषय के अनुसार यत्र-तत्र संस्कृत के कुछ कठिन शब्द पाये जाते। फिर भी अर्थ-ग्रहण में वे बाधक नहीं होते। उर्दू शब्दों को भी बेधड़क इस्तेमाल करते, तो भी शैली अस्वाभाविक नहीं लगती। इसका मुख्य कारण यह है कि पंडित जी के निबन्धों के सरस विषय, विचारोत्तेजक निष्कर्ष, उद्घाटित सत्य तथा विषय-प्रतिपादन का कलात्मक ढंग पाठक को बरबस अपने में तल्लीन कर लेते हैं। निबंध समाप्त करते ही पाठक यह अनुभव करने लगता है—'हमारे हाथ कुछ लगा है, हमारे दिल व दिमाग को कुछ मसाला मिल गया है।' शायद इसी कारण ही पाठक का ध्यान भाषा-शैली की ओर कम जाता है।

जहां किसी वस्तु या परिस्थिति का वर्णन करना पड़ता है वहां छोटे और सरल वाक्य इस्तेमाल करके काम निकाल लेते। 'वसन्त आ गया है' में विष्णुकान्त घास का वर्णन देखिए—"कैसा मनोहर नाम है। फूल भी मनोहर होते हैं। जरा-सा आकार होता है। पर बलिहारी है उस नील मधुर रूप की। बादल की बात छोड़िए, जरा सी पुरवैया बह गयी तो इसका उल्लास देखिए। बरसात के समय तो इतने खिलते हैं कि मत पूछो।" बस हमारे मन में उस पुष्प का रूप-रंग बैठ गया है। उसी प्रकार अपने कथन में प्रभावोत्पदकता एवं सरसता लाने के लिए व्यंग्य तथा हास्य का सहारा वे अवश्य लेते हैं, और उसमें कबीर की वाणी की निर्भीकता और तीखापन भी कुछ-कुछ मिला हुआ पाया जाता है। और पंडित जी की अपूर्व प्रतिभा, गहरा अध्ययन, गम्भीर चिन्तन तथा साहितियक सुलभ सरलता आदि उसमें चार चांद लगा देते हैं।

ऐसे प्रतिभावान् तथा साधना-संपन्न लेखकों की निबन्ध-रचना से ही वर्तमान सामाजिक तथा साहित्यिक क्षेत्र के बीच में स्थित गहरी खाई पट सकती और दोनों के बीच में ताना-बाना का संबंध जुड़ सकता। इस प्रकार साहित्य का लक्ष्य मनुष्य हो जायेगा और मनुष्य का प्रिय विषय साहित्य बन जाएगा। तभी साहित्य-सृजन की सार्थकता तथा मानव-जन्म की सफलता सिद्ध हो सकती है।

'अशोक के फूल' की उपर्युक्त समीक्षा में जो तथ्य प्रकाश में आये है उनके आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी हिन्दी के शीर्षस्थ निबंधकार हैं, उनके निबंध हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं और उनका विचार और निष्कर्ष सर्बकालिक और सार्वदेशिक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० अभिमन्यु
संस्कृत-विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय
शिमला

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में काव्य की रचना-प्रक्रिया

"वस्तुतः काव्यचेतना उस संवेदनात्मक स्पन्दन का परिणाम है जो बाह्य जगत् के ज्ञात तथ्यों के आधार पर और अन्तर्जगत् के परिचित भावावेग साधनों के सहारे कविचित्त की मर्मानुभूति को समस्त सहृदयों के हृदय में संचारित करता है।"[1]

"कविता मनुष्य की अन्तःस्थित सहजात भाव-धारा और बाह्य जगत् की वास्तविकता के व्याकुल संघर्ष की उपज है।"[2]

"कविता मानवचित्त के निगूढ़ अन्तस्तल के आवेगों को शब्दों में ढालने का प्रयत्न करती है।"[3]

उपरिलिखित पंक्तियों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने काव्य की रचना-प्रक्रिया को सूत्र रूप में ग्रथित कर दिया है। वास्तव में द्विवेदी जी ने बाह्य-जगत्, कविचित्त और अन्तर्जगत् के त्रिकोणात्मक रूप में कविता-रचना की व्याख्या की है। बाह्य जगत् कविचित्त को प्रभावित करता है, जिससे कविचित्त में आवेग उत्पन्न होते हैं और उचित माध्यम के द्वारा वे आवेग कविता के रूप में अभिव्यक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली कविता एक प्रदीर्घ चैतसिक व्यापार है। इसके अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दो आयाम हैं। अन्तर्मुखी आयाम में बाह्य जगत् के साथ चित्त का सम्बन्ध और उसके प्रतिबिम्बों तथा तज्जन्य संस्कारों की व्याख्या अपेक्षित है। कविता के निर्माण के क्षणों में कविचित्त सत्त्वस्थ होकर समाधि में लीन हो जाता है। समाधिस्थ कवि उचित माध्यम पाकर अन्तर्जगत् को अभिव्यक्त कर देता है। यह काव्याभिव्यक्ति रचना-प्रक्रिया का बहिर्मुखी आयाम है।

कविता कविचित्त के दोहन का परिणाम है। आचार्य द्विवेदी ने 'कविचित्त' की धारणा भारतीय अध्यात्मवादी दृष्टिकोण और योग दर्शन के संप्रत्ययन के आधार पर निबद्ध की है। द्विवेदी जी ने जन्म-जन्मान्तरवादी भारतीय विचारधारा के आधार पर कहा है कि "न जाने कितने युग युगान्तर के संस्कारों का समुच्चय है यह मानव चित्त।"[4] मानव चित्त में संस्कारों और वासनाओं की स्थिति है। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"पुराने लोग प्रभृष्ट तत्ताक स्मृति के नीचे मानव चित्त के अतल गाम्भीर्य में वासना की स्थिति मानते हैं। मानव चित्त के आवेगों, संवेगों, उद्वेगों के उत्स के रूप में यह आज भी नाम बदल कर स्वीकृत होता आ रहा है। आलंकारिकों ने इसी वासना-रूप में स्थित स्थायी भावों को रसास्वाद का मुख्य हेतु माना है। आज की भाषा में इसे अव-चेतन मन कहा जाने लगा है।"[5]

चित्त अनेक संस्कारों और वासनाओं का समुच्चय है। उचित वातावरण पाकर ये संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं। चित्त में संस्कारों के समूहन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रक्रिया योग दर्शन में प्रतिपादित की गई है। योग-दर्शन का सिद्धान्त है कि बाह्य विषय चित्त में उसी प्रकार प्रतिबिम्बित हो जाते हैं जैसे—सरोवर के तट पर स्थित वृक्ष उसके जल में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। चित्त में बाह्यजगत् के प्रतिबिम्बित होने की प्रक्रिया को सांख्य-योग के ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया गया है। योग दर्शन का मत है कि "चित्त इन्द्रियों के माध्यम से पदार्थों के साथ सम्पर्क में आता है। फिर वह पदार्थों के आकार में परिणत हो जाता है। जैसे जल केदार (क्यारी) के अनुरूप आकार धारण कर लेता है वैसे ही चित्त भी पदार्थों के आकार के अनुसार 'तदाकारता' को प्राप्त हो जाता है।[6] पदार्थों (विषयों) के सम्पर्क एवं 'तदाकारता सम्बन्ध' से चित्त में संस्कारों का जन्म होता है। संस्कार और वासनाओं की व्याख्या करते हुए आधुनिक भारतीय विद्वान् श्री सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने लिखा है—"हिन्दू दर्शन में संस्कार का अर्थ है—अनुभूत विषय या वस्तुओं के चित्त पर पड़े प्रतिबिम्ब—जो बीज रूप में अवचेतन में निहित रहते हैं। हमारे समस्त अनुभव चाहे संज्ञानात्मक हों, भावनात्मक या क्रियात्मक अवचेतन रूप में विद्यमान रहते हैं और अनुकूल स्थितयां पाकर स्मृति के रूप में उद्भूत हो जाते हैं। ... चित्त में पूर्वजन्मों की प्रवृत्तियां और वासनाएं संस्कार रूप में निहित रहती हैं। जिस प्रकार जाल में अनेक गांठें होती हैं उसी प्रकार चित्त में वासनाएं गुंथी रहती हैं। वासना से तात्पर्य पूर्वजन्म की उन प्रवृत्तियों से है जो चित्त में सुषुप्त अवस्था में रहती हैं। केवल वे ही अभिव्यक्त हो पाती हैं जिन्हें इस जीवन में अनुकूल अवसर मिलता है जब कि संस्कार वे अवचेतन वृत्तियां हैं जो हर बार अनुभव के कारण उद्भूत होती रहती हैं। वासनाएं वे सहज संस्कार हैं जो इस जीवन में नहीं आए हैं।"[7]

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि मानव चित्त या कविचित्त में अनेक संस्कार तथा वासनाएं प्रसुप्त रूप में विद्यमान रहती हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि ये संस्कार कैसे उद्बुद्ध होते हैं तथा काव्य के रूप में कैसे परिणित हो जाते हैं? प्रस्तुत प्रश्न के समाधान के लिए आचार्य द्विवेदी ने दो सम्भावनाएँ प्रस्तुत की हैं— वे हैं आन्तरिक और बाह्य कारण। किसी बीज के प्रस्फुटित होने के लिए आन्तरिक और बाह्य कारणों की सत्ता स्वीकार की जाती है। यदि भूमि में दबाए गए बीज में प्रस्फुटित होने की शक्ति है तो वह प्रस्फुटित हो सकता है। यह शक्ति आन्तरिक कारण है। इसके अतिरिक्त उस बीज के प्रस्फुटित होने के लिए अनुकूल वातावरण भी चाहिए। ग्रीष्मकाल में भूमिगत हुए बीज वर्षा में उग आते हैं। जलवृष्टि बाह्य कारण है। इसी प्रकार कविचित्त के प्रस्फुटित या उच्छलित होने के भी आन्तरिक और बाह्य कारण हो सकते हैं। आन्तरिक कारण के अन्तर्गत वे सर्जनेच्छा को महत्त्व देते हैं। उनका मन्तव्य है—"मानव-चित्त में गति एवं स्थिति के द्वन्द्व से ही रूप (फ़ार्म) बनता है। गति इच्छा है, स्थिति क्रिया, इच्छा गति है क्रिया स्थिति है, गति और स्थिति का यह द्वन्द्व चलता रहता है, इसी से रूप बनता है, छन्द बनता है, संगीत बनता है।"[8] सर्जनेच्छा से कवि या कलाकार किसी मानसी मूर्ति या कल्प की धारणा बनाता है। कल्प के पश्चात् सृष्टि होती है। इसी धारणा को व्यक्त करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है —"मूल बात यह है बाह्य-जगत् की सत्ता अवश्य है और वह एक क्षण में तथ्य के द्रष्टा के चित्त में भावमूर्ति की रचना करती है। और उसके अन्तरतर की वासना को उद्बुद्ध करती है। उसकी किसी अबोधपूर्वा स्मृति को क्रियाशील बनाती है...तब सृष्टि होती है।"[9] उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है कि इच्छा और क्रिया के द्वन्द्व से सृष्टि या कलाकृति बनती है। 'जहां कलाकार सर्वोत्तम सर्जनेच्छा के साथ माध्यम का प्रयत्न-साध्य निर्देश एक दूसरे को समृद्ध करते हैं वहीं कलाकृति श्रेष्ठ होती है।"[10]

आचार्य द्विवेदी ने आन्नदवर्धन तथा अभिनव-गुप्त द्वारा विवेचित क्रौञ्चवध के दृश्य के आधार पर काव्य की रचना-प्रक्रिया की व्याख्या की है। समग्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटना के मुख्य क्रमिक बिन्दु निम्नलिखित हैं— क्रौञ्चवध का दृश्य, उससे चित्त में उत्पन्न करुण भाव फिर उसका गाढ काव्य में प्रस्फुटन और अन्ततः इस अभिव्यक्ति द्वारा सौख्यानुभूति । इसकी व्याख्या के लिए उन्होंने श्री सी. वी. वैद्य द्वारा प्रदर्शित हैज़लिट की विचारधारा को प्रस्तुत किया है । कविता की रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में हैज़लिट के विचार इस प्रकार हैं—"किसी मार्मिक वस्तु या घटना के प्रत्यक्षीकरण से संमूर्तन प्रक्रिया और सान्द्र भावानुभूति को गतिशील बनाने वाली समवेदना द्वारा विशेष प्रकार की स्वर प्रक्रिया और ध्वनि-प्रवाह के रूप में फूट पड़ने वाली मानसिक प्रतिक्रिया ही कविता है ।"[11]

आचार्य द्विवेदी ने भी कालिदास द्वारा लिखित 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के एक श्लोक के आधार पर तत्सदृश धारणा का निर्माण किया है । श्लोक का भाव है कि रमणीय वस्तुओं को देख कर और मधुर शब्दों को सुनकर सुखी जन्तु में भी एक प्रकार की व्याकुलता (पर्युत्सकी भाव) आ जाती है । यह व्याकुलता या आवेग का उच्छलन ही कविता को जन्म देता है । संसार में हो रही घटनाओं के सम्पर्क से कवि को अनुभूति होती है । इन घटनाओं से कविचित्त उत्प्रेरित हो जाता है । लौकिक दृश्य कवि को प्रेरणा देते हैं । यह प्रेरणा बाह्य जगत् की घटनाओं से आती हैं, इस लिए कविचित्त का बाह्यजगत् से जो सम्पर्क होता है उससे कवि में अनुभूति या उद्वेग की उत्पत्ति होती है । इसलिए कविचित्त का बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क उद्वेगों का उत्पादक होने से बाह्य कारण माना जा सकता है ।

कविचित्त सान्द्र अनुभूति से व्याकुल हो उठता है और उस व्याकुलता को संवेदनात्मक स्पन्दन को अभिव्यक्त करने का प्रयास करने लगता है । ये क्षण ही कविता के निर्माण के क्षण हैं । उस समय कवि को प्रसव-वेदना जैसी मर्मांतक पीड़ा का अनुभव होता है । इसी संवेदनात्मक स्पन्दन को अभिव्यक्त करने के लिए वह माध्यम का सहारा लेता है । "ये उद्वेग और अनुरोध ही वे लालटेन हैं जिसको हाथ में लेकर आगे चलना पड़ता है ।'[12] वह किसी कथा, पात्र, घटना आदि का चुनाव करता है । वह बाह्य जगत् का आभ्यन्तरीकरण और आभ्यन्तर का बाह्यीकरण करता है । इसीलिए आधुनिक विचारक कविता या कला को अन्तर्जगत् और बाह्यजगत् के समंजित स्वरूप का परिणाम मानते हैं ।"[13] बाह्यजगत् एवं अन्तर्जगत् का यह समञ्जन कवि की इच्छा से होता है । कवि बाह्यजगत् या स्थूल जगत् की उपेक्षा नहीं कर सकता । उसे सामग्री-संग्रह बाह्यजगत् से करना पड़ता है । बाह्यजगत् को उपादान बनाकर वह कविता का निर्माण करता है । अच्छे कवि या कलाकार को "उपादन की प्रकृति का निपुण पारखी होना चाहिए ।'[14] लौकिक जगत् और काव्य-जगत् में अन्तर है । कविनिर्मित जगत् लौकिक जगत् से भिन्न होता है । यह भिन्नता कवि की रुचि के कारण होती है । कवियों की भिन्न-भिन्न वैयक्तिक रुचियों के कारण ही काव्यों में भिन्नता आती है । कवि निर्मित जगत् कवि के अधीन होता है । कवि विधाता के तुल्य है । वह विश्व को जैसा चाहता है वैसा बना लेता है— 'यथास्मै रोचते विश्वम् । तथेदं परिवर्तते ।' इसी मर्म का उद्घाटन करते हुए आचार्य द्विवेदी ने लिखा है— "उसकी निखरी हुई रुचि की छलनी से सब मलिनता छन जाती है । और अपूर्व रसलोक की सृष्टि होती है । यहाँ का प्रजापति कवि है उसे जैसा रुचता है वैसा ही जगत् को बनना पड़ता है ।"[15]

आचार्य द्विवेदी जी ने कविनिर्मित जगत् की व्याख्या 'अन्यथाकरण' एवं 'अन्वयन' आदि कालिदासीय शब्दों के आधार पर की है । 'अन्यथाकरण' से उनका तात्पर्य जो वस्तु जैसी है उसे वैसा न रहने देने से है ।[16] कवि अथवा कलाकार को तथ्यात्मक बाह्यसत्ता को 'अन्यथा' करने का प्रयत्न करना पड़ता है । ऐसा करना उसकी विवशता है, वह इस से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छुटकारा नहीं पा सकता है। 'अन्यथाकरण' के साथ-साथ कवि को अन्वयन भी करना पड़ता है। व्यक्तिचित्त और समाजचित्त में सामञ्जस्य स्थापित करना पड़ता है। यह सामञ्जस्य अन्वयन के कौशल से प्रस्थापित किया जा सकता है।

आचार्य द्विवेदी जी ने कविता-निर्माण के लिए कवि द्वारा उपात्त कतिपय साधनात्मक प्रयत्नों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने 'कालिदास की 'लालित्ययोजना' में कतिपय स्थलों पर चित्त के सत्त्वस्थ होने और 'पूर्ण समाधि' की चर्चा की है। वे काव्य के निर्माण-क्षणों की स्थिति का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—"पूर्णसमाधि के बिना सुन्दर की रचना नहीं हो सकती। सत्त्वस्थ चित्त ही अनिन्द्य सुन्दर की रचना कर सकता है।"[17]

"विधाता को भी श्रेष्ठ रचना के लिए प्रयत्न करना पड़ना है। समाधि की अवस्था में पहुँचना पड़ता है। तभी वह सुन्दर की सृष्टि कर सकता है।"[18]

आचार्य द्विवेदी जी की 'समाधि' एवं 'सत्त्वस्थ चित्त' विषयक अवधारणा कालिदास-साहित्य के आधार पर निर्मित हुई है। इस अवधारणा की पृष्ठभूमि में भट्ट नायक सम्मत साधारणीकरण से सम्पन्न भोगीकृत व्यापार तथा अभिनवगुप्त का रस विषयक गहन चिन्तन भी काम करते हैं। कालिदासीय मान्यता को स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है—"विधाता के बहाने कालिदास ने यहाँ मानव कलाकार की रचना-प्रक्रिया की ओर इंगित किया है।......... कालिदास ने रचयिता का जो रूप सोचा होगा या स्वयं रचना-प्रक्रिया का जैसा अनुभव किया होगा उसी को विधाता में घटित कराया होगा। यह अनुमान असंगत नहीं है। कालिदास उत्तम रचना के लिए समाधिस्थ चित्त को बहुमान देते हैं।"[19]

भट्टनायक की रस विषयक अवधारणा सांख्य-योग से प्रभावित है। सांख्य के अनुसार प्रकृति स्वयं में तथा उससे परिणमित विश्व त्रिगुणात्मक है। गुण तीन हैं—सत्त्व, रजस् और तमस्! ये तीनों गुण परस्पर अभिभव तथा उपमर्दन शील हैं। गुणों के वैषम्य के कारण सृष्टि में वैचित्र्य परिलक्षित होता है। चित्त या बुद्धि भी प्रकृति का परिणाम है। अतः यह त्रिगुणात्मक है। साहित्य तथा दर्शन-ग्रन्थों में चित्त के सत्त्वस्थ होने की विशेषरूप से व्याख्या की गई है। भोज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण' में सत्त्व का स्वरूप बताते हुए लिखा है—'रजस्तमो भ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते।'[20] सत्त्व की प्रतिष्ठा से चित्त में रजोगुण तथा तमोगुण का अभिभव हो जाता है। इस प्रकार चित्त सत्त्वस्थ हो जाता है। रसानुभूति के लिए आचार्यों ने सत्त्वोद्रेक की चर्चा की है। भट्टनायक ने जिस भोगीकरण की कल्पना की है उसका अर्थ यही है कि 'सत्वोद्रेक' प्रचुरता से हो जाता है—'सत्त्वोद्रेक प्रकाशानन्दमय संविद् विश्रान्ति सतत्वेन भोगेन भुज्यते।'[21] इस सत्त्वमयी अवस्था में कवि या रसिक का आत्मचैतन्य रूप लोकोत्तर आनन्द से प्रकाशित होता है। यह ऐसा आनन्द है जिस में वेद्यान्तर विगलित हो जाते हैं।

योग दर्शन के अनुसार 'समाधि' निरुद्ध चित्त की एक अवस्था है। संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात इसके दो मुख्य भेद हैं। संप्रज्ञात में चित्त की रजस् एवं तमस् वृत्तियां सत्त्व वृत्ति से अभिभूत होकर निरुद्ध हो जाती हैं तथा असंप्रज्ञात में चित्त की सत्त्व वृत्ति का भी निरोध हो जाता।[22]" चित्त का सत्त्वस्थ होना समाधि में सहायक होता है। समाधि की अवस्था में अशुद्धि या मलों का आवरण चित्त से हट जाता है। चित्त स्वच्छ बन जाता है, वह परम निर्मल हो जाता है। उसमें प्रज्ञा का आलोक स्फुरित होने लगता है। इस प्रज्ञा का नाम योग दर्शन में 'ऋतम्भरा' दिया गया है। इससे युक्त साधक या कवि समस्त विश्व का साक्षात्कार करस्थ बदरवत् प्रत्यक्ष करने में समर्थ हो जाता है। जैसे प्रासाद पृष्ठ पर स्थित व्यक्ति भूमिस्थ व्यक्तियों को देख लेता है ऐसे ही प्रज्ञा-प्रासाद पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरूढ़ हुआ कवि समस्त वर्ण्य-विषय का साक्षात्कार कर लेता है।[23]

भारतीय साहित्याचार्यों ने समाधिस्थ चित्त में प्रतिभा के उन्मेष की बात कही है। हेमचन्द्र का विचार है कि अज्ञानावरण के उपशम होने पर जो आत्मचैतन्य उद्भासित होता है—वही प्रतिभा है।[24] रुद्रट ने भी प्रतिभा को समाधिस्थ मन की देन माना है। वे प्रतिभा को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि जब कवि का मन समाहित हो जाता है तो अभिधान (शब्द) और अभिधेय (अर्थ) का बहुधा स्फुरण होता है।[25] आनन्दवर्धन का तो मत है कि यदि कवि प्रतिभा से संपन्न है तो वह काव्य का निर्माण अविराम भाव से कर सकता है। प्रतिभा के होने पर अभिव्यंजना के समस्त उपकरण स्फुरित होने लगते हैं। क्या अलंकार, क्या गुण, क्या शब्द-वैभव सभी कुछ तो उपस्थित हो जाता है।[26]

आचार्य द्विवेदी जी ने भी भारतीय आचार्यों की भांति काव्यसर्जना के लिए प्रतिभा के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया है। प्रतिभा के साथ-साथ उन्होंने व्युत्पत्ति और अभ्यास पर भी बल दिया है। सुभाषित ग्रन्थों तथा दण्डी आदि आचार्यों के मतों का अनुशीलन कर वे इस तत्त्व पर पहुंचे हैं कि—"यह कविता केवल प्रतिभा को आश्रय करके नहीं बनती इसके लिए अच्छी काव्य-शिक्षा और पुराने कवियों की रचनाओं की जानकारी बहुत आवश्यक है। सातवीं शताब्दी के आलंकारिक और कवि दण्डी ने तो यहां तक कहा है कि विशेष प्रतिभा-शक्ति न होने पर भी यदि कोई परिश्रम-पूर्वक काव्य-शिक्षा का अभ्यास करे तो सरस्वती की कृपा उस पर कुछ न कुछ न अवश्य हो जाती है और वह सहृदय रसिकों की गोष्ठी में निर्द्वन्द्व विहार कर सकता है।[27]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'कालिदास की लालित्य योजना' और 'मध्याकालीन बोध का स्वरूप' नामक पुस्तकों में इस प्रश्न के सम्बन्ध में भी विचार किया है कि क्या कवि रचनाकाल में काव्यरस का अनुभव करता है या नहीं ? उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र तथा सुभाषित संग्रहों में उपलब्ध श्लोकों के आधार पर इस विषय के पक्ष और विपक्ष पर गम्भीरता से विचार प्रस्तुत किये हैं। आचार्य द्विवेदी जी संस्कृत के रसवादी आचार्यों से प्रभावित थे, इसलिए उन्होंने 'कलाकार के द्वारा रसानुभूति की जाती है।' इस पक्ष को मान्यता प्रदान की है। भारतीय आचार्यों का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"भारतीय आचार्यों के अनुसार जब तक कलाकार के चित्त में स्वयं रसानुभूति नहीं होती तब तक वह सहृदय को भी रसबोध नहीं करवा सकता।"[28] आचार्य द्विवेदी की इस स्थापना का आधार भट्टनायक, अभिनवगुप्त और वाल्मीकि जैसे मनीषियों का चिन्तन एवं अनुभव है। आचार्य भट्टनायक का विचार है कि जब तक कवि का हृदय रस से आप्लावित नहीं हो जाता तब तक वह अपने उद्‌गारों को काव्य के रूप में अभिव्यक्त नहीं कर सकता।[29] आचार्य अभिनवगुप्त का विचार है कि जिस प्रकार जल से परिपूर्ण कुम्भ उच्छलित हो जाता है इसी प्रकार रसावेश से युक्त कवि का चित्त काव्य-निर्माण में तत्पर हो जाता है।[30] कवि के चित्त में आवेग किसी प्रेरणा से उद्‌बुद्ध होते हैं। अतः काव्यार्थ और कविमानस का तादात्म्य होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में श्री ब्रजमोहन चतुर्वेदी ने लिखा है—"काव्यवस्तु के साथ कवि के अन्तःकरण की तादात्म्यापत्ति को ही आचार्य महिम भट्ट ने कवि की प्रज्ञा कहा है, जो सर्जनात्मक मनः स्थिति के अनुरूप शब्दार्थ के चिन्तन में एक क्षण के लिए मग्न उसके चित्त में वस्तु के विशिष्ट स्वरूप की झलक से उत्पन्न होती है[31]

रसानुगुण शब्दार्थचिन्तास्तिमित चेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥

व्यक्तिविवेक संग्रह कारिका 2/117

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्यार्थ (रस) से कवि के तादात्म्य की व्याख्या भरत मुनि ने एक दृष्टान्त देते हुए की है। भरत मुनि का कथन है —

यथा बीजाद् भवेद् वृक्षः वृक्षात्पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावाः व्यवस्थिताः॥

नाट्य शास्त्र, 6/38

इस श्लोक की विशद व्याख्या अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती' में की है। अभिनवगुप्त के अनुसार इस काव्य-वृक्ष का मूल-बीज कविगत रस है। काव्य वृक्ष स्थानीय है, पत्र पुष्प की तुलना नट के अभिनयादि व्यापार से की जा सकती है और सामाजिकों के द्वारा रसास्वादन को फल के तुल्य माना जा सकता है।[32]

प्राचीन आचार्यों का मत रहा है कि जिस प्रकार सामाजिक रसास्वाद का अनुभव करता है उसी प्रकार कवि भी रसास्वाद करता है। कवि सामाजिक के तुल्य ही है। कवि तथा श्रोता दोनों का अनुभव समान होता है।[33] भावों को भाव इसलिए कहा जाता है कि वे कवि के अन्तर्गत भावों को भावित कराते हैं।[34] कवि का भाव सहृदय तक कैसे संक्रान्त होता है। इसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने विलक्षण ढंग से की है। उनका विचार है कि यद्यपि कवि का यह भाव चित्त-वृत्तिरूप होता है, तथापि यह उसका व्यक्तिगत मनोविकार नहीं है।[35] यह तो कवि की प्रतिभा से प्रकाशित काव्यार्थ है। कविगत प्रतिभा लौकिक विषयों या अनुभवों को साधारणीकरण के द्वारा आलौकिक रूप प्रदान कर देती है। इसीलिए वे भाव आस्वादयोग्य प्रतीत होते हैं।

रस कवियों का साक्ष्य है, इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य द्विवेदी लिखते हैं —"स्वयं वाल्मीकि ने अपनी मनःस्थिति का विश्लेषण किया था और इस नतीजे पर पहुँचे थे कि शोकार्त होकर मैं जो कह गया वह निःसन्देह श्लोक है – काव्य है।" "स्वयं कवि की गवाही से पता चलता है—वास्तविक वस्तु के दर्शन से शोक का प्रबल वेग अनुभूत हुआ था।"[36] आधुनिक विचारकों की भाँति आचार्य द्विवेदी भी काव्यनिर्माण में कवि की अनुभूति को महत्त्व प्रदान करते हैं। काव्य-चेतना का विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं —"वस्तुतः काव्य चेतना उस संवेदनात्मक स्पन्दन का परिणाम है जो बाह्य जगत् के ज्ञात तथ्यों के आधार पर और अन्तर्जगत् के परिचित भावावेग साधनों के सहारे कविचित्त की मर्मानुभूति को समस्त सहृदयों के हृदयों में संचारित करता है।"[37] कवि की अनुभूति ही काव्य के रूप में परिणत होती है। श्री मैनेजर पाण्डेय का विचार है—"कला सर्जन एक प्रदीर्घ मानसिक प्रक्रिया है, जिसमें कलाकार के संचित अनुभव तथा चिन्तन संश्लिष्ट और रूपायित होकर अभिव्यक्त होते हैं।[38] ये अनुभव परोक्ष और अपरोक्ष दोनों प्रकार के हो सकते हैं। इसलिए भारतीय आचार्यों ने कविगत भावों को सामाजिक संक्रान्त होने का प्रतिपादन किया है। उनका यह भी विचार रहा है कि कवि की इस मानसिक अनुभूति में विद्यमान (या अनुभूयमान) दुःख भी सुख रूप होते हैं। अभिनवगुप्त इन्हें कवि के व्यक्तिगत मनोविकार नहीं मानते हैं, वे इन्हें अलौकिक मानते हैं। भावों की अलौकिकता सिद्ध कर वे दुःखात्मक भावों से भी आनन्द-प्राप्ति होती है एवंविध मान्यता की स्थापना करते हैं।

आचार्य द्विवेदी ने सुभाषित संग्रहों में प्राप्त होने वाले सुभाषितों के आधार पर इस मत का प्रतिपादन किया है कि कवि रस का आस्वादयिता नहीं होता है। सुभाषितों में कहा गया है कि जैसे वृक्ष फल तो पैदा करते हैं परन्तु उनका आस्वाद पक्षियों द्वारा जाना जाता है। अन्य सुभाषित में कविता की तुलना कवि की पुत्री से की गई है, जिस प्रकार पिता पुत्री का पालन-पोषण किसी दूसरे व्यक्ति के लिए करता है इसी प्रकार कवि भी कविता का निर्माण सामाजिक के लिए करता है[39] उन्होंने प्रस्तुत मतवाद का प्रबल शब्दों में खण्डन किया है तथा ऐसी मान्यता को सदोष सिद्ध किया है। उनका विचार है— "यह कहना कि कवि रचना के बाद सहृदय रूप में ही काव्य का रसास्वादन करता है, कविता को स्थितिशील कलावस्तु (स्टेटिक ऑब्जेक्ट) मान लेने के समान है। उसकी रचना-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रक्रिया में जो गतिशील पक्ष (डाइनेमिक प्रोसेस) का आनन्द है, वह उपेक्षित हो जाता है ।"[40] आचार्य द्विवेदी जी ने संस्कृत काव्यशास्त्रियों की इस कमजोरी की ओर भी ध्यान दिलाया है कि रससिद्धान्त का विवेचन सहृदय या सामाजिक को लक्ष्य कर गया है। इसीलिए कविता के निर्माण के क्षणों में कवि द्वारा अनुभूत आनन्द की उपेक्षा कर दी गई और उसका स्वरूप केवल उत्पादयिता के रूप में ही वर्णित किया जाता रहा क्योंकि "भारतीय आचार्य उत्पादयिता के आनन्द को भोक्ता के आनन्द के सामने नगण्य मान लेते थे ।"[41]

कवि अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके लिए माध्यम ढूंढता है। कवि के पास अनुभूति को अभिव्यक्त करने का साधन है भाषा—अर्थात् शब्द और अर्थ का सहित भाव । भाषा का व्यवहार तो साधारण व्यक्ति भी कर सकता है, परन्तु कवि और साधारण व्यक्ति में यही अन्तर है कि कवि द्वारा प्रयुक्त-भाषा वैशिष्टय से युक्त होती है । कवि के कौशल की ओर इंगित करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"जिसमें शक्ति होती है वह कवि कहलाता है । अनेक प्रकार के कौशल से वह इस बात को कहने का प्रयत्न करता है, फिर भी शब्दों का सहारा तो उसे लेना ही पड़ता है—शब्द सदा सामान्य अर्थ को प्रकट करते हैं । कवि विशिष्ट अर्थ देना चाहता है । वह छन्दों के सहारे, उपमान योजना के बल पर, ध्वनिसाम्य के द्वारा विशिष्ट अर्थ का साधारणीकरण करता है ।"[42]

उपरिलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है कि कवि में वह शक्ति (प्रतिभा) होती है, जिसके द्वारा वह अपने अनुभवों को श्रोता या पाठक तक पहुंचा देता है । जो कवि जितना प्रेषणधर्मिता में समृद्ध होगा वह उतना ही आदर का पात्र होगा, क्योंकि "दुनियां में कवियों की जो कदर में वह इसलिए है कि वे जो अनुभव करते हैं उसे श्रोता के चित्त में प्रविष्ट भी करा सकते हैं ।"[43] वे शब्दों और छन्दों को ऐसा अस्त्र मानते हैं जो अनुभूतियों को लेकर तीर की तरह श्रोता के हृदय में चुभ जाता है ।

कवि अपनी अनुभूति को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है । इसके लिए वह भाषा के अनेक 'रूपों' को अपनाता है । उसमें अलंकार, छन्द, काकु और ध्वनि आदि भी हैं । अलंकारों के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने दो विशेष तथ्य प्रकाशित किये हैं, (1) अलंकार कवि के अन्तर तर से उत्थित होते हैं, वे वासना की देन हैं । (2) जब कवि भावों को प्रकट करने में भाषा को असमर्थ पाता है तो वह अलंकारादि का सहारा लेता है । उनकी प्रथम मान्यता का आधार भारतीय काव्यशास्त्र है । आनन्दवर्धन भी कवि के लिए शक्तिसम्पन्न अर्थात् प्रतिभा से युक्त होना आवश्यक मानते हैं । प्रतिभासम्पन कवि के सामने अभिव्यंजना-कौशल के समस्त साधन आ विराजते हैं। आनन्दवर्धन ने तो यहां तक कह दिया है कि रस-समाहित कवि के लिए अलंकारादि स्पर्द्धापूर्वक प्रस्तुत हो जाते हैं, न केवल अलंकार अपितु अभिव्यक्ति की अनेक विधाएं भी आविर्भूत हो जाती हैं ।[44] इससे सिद्ध होता है । कि अलंकारादि प्रतिभा से प्रकट होते हैं ।

दूसरी बात यह है कि काव्य-रचना करते समय जब कवि भाषा को भावाभिव्यञ्जन में असमर्थ पाता है तो वह उपमादि अलंकारों के माध्यम से आत्मानुभूति को व्यक्त करना चाहता है । इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने लिखा है—"भाषा भावमूर्ति को व्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ नहीं होती । इस सामर्थ्य के अन्तराल को कवि उपमा, रूपक आदि अलंकारों से भरता है ।"[45] इससे स्पष्ट है कि अलंकार भावाभिव्यक्ति के समर्थ साधन हैं ? परन्तु क्या अलंकार वस्तु सत्य को प्रकाशित कर सकते हैं । आचार्यों का मत है कि इससे तथ्यात्मक जगत की वास्तविकता प्रकाशित नहीं हो पाती । केवल तथ्यों का प्रतिभास प्रकट होता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसीलिए कवि द्वारा निर्मित विश्व साधारण विश्व से कुछ भिन्न होता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि आचार्य द्विवेदी जी काव्य की रचना-प्रक्रिया में बाह्यजगत्, कविचित्त और अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति को महत्त्व देते हैं। उनकी काव्य की रचना-प्रक्रिया विषयक मान्यताओं का आधार भारतीय दर्शन एवं काव्यशास्त्र हैं। भारतीय मान्यताओं के प्रबल समर्थक होते हुए भी आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को उपेक्षणीय नहीं समझते हैं। उनके विचारों में प्राचीनता और आधुनिकता का मञ्जुल समन्वय विद्यमान है। ऐसा लगता है—ज्ञान विज्ञान और प्राचीन शास्त्रों का मन्थन करने उपरान्त उन्होंने पाठक के समक्ष यह विचार-नवनीत प्रस्तुत किया है।

---

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य का मर्म (लखनऊ विश्वविद्यालय व्याख्यानमाला-1), पृ० 64
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, सिसृक्षा का स्वरूप, आलोचना-पूर्णांक 28, अक्टूबर, 1963
3. वही, पृष्ठ 13
4. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, कालिदास की लालित्य योजना, (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1970), पृ० 116
5. वही, पृ० 116
6. पतञ्जलि, सांख्ययोगदर्शनम्, (बनारस : चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, 1938 ई०), 1/4 पर योगवार्तिका टीका।
7. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, (भाग-1), अनुवादक कला नाथ शास्त्री, (जयपुर : राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1978), पृ० 269-270
8. लालित्य तत्त्व, पृ० 14 'शान्ति निकेतन से से शिवालिक' में श्री रमेशकुन्तल मेघ द्वारा उद्धृत।
9. हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन बोध का स्वरूप, (चण्डीगढ़ : पब्लिकेशन ब्यूरो पंजाब यूनिवर्सिटी, 1970) पृ० 122
10. कालिदास की लालित्य योजना, पृ० 85
11. मध्यकालीन बोध का स्वरूप, पृ० 106
12. रामरतन भटनागर, रचना के स्रोत और समीक्षा के मानदण्ड, आलोचना-पूर्णांक 8, जुलाई 1853, पृ० 50
13. मैनेजर पाण्डेय, कलासृजन में परम्परा और प्रतिभा, आलोचना-पूर्णांक 57, जन०-मार्च 1972, पृ० 34
14. कालिदास की लालित्य योजना, पृ० 86
15. साहित्य का मर्म, पृ० 56
16. कालिदास की लालित्य योजना, पृ० 87
17. वही, पृ० 68
18. वही, पृ० 82
19. वही, पृ० 71
20. वेंकट शर्मा, काव्यसर्जना और काव्यास्वाद, (दिल्ली : आत्माराम एण्ड सन्स, 1973), के पृष्ठ 508 पर उद्धृत।
21. मम्मट, काव्य प्रकाश, चतुर्थ उल्लास
22. द्र०, सांख्य योग दर्शन, प्रथम पाद
23. द्र०, वही, प्रथम पाद
24. हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, 1/7
25. रुद्रट, काव्यालङ्कार, 1/15
26. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, 4/6 तथा वृत्ति।
27. मध्यकालीन बोध का स्वरूप, पृ० 63
28. कालिदास की लालित्य योजना, पृ० 109

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

29. आनन्दवर्धन रचित ध्वन्यालोक की लोचन टीका के पृष्ठ 88 पर अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत 'यावत् पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम् ।

30. वही, पृ० 87 (अभिनवगुप्त कृत लोचन) सहित, ध्वन्यालोक, व्याख्याकार जगन्नाथ पाठक, (वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन 2021 वि. स.)

31. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, रस सिद्धान्त के अनालोचित पक्ष, (दिल्ली : अजन्ता पब्लिकेशन्स, 1978), पृ० 172

32. गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे. भारतीय साहित्यशास्त्र (बम्बई : पॉप्युलर बुक डिपो, 1960), पृ० 351 पर उद्धृत ।

33. वही, पृ० 351

34. भरत, नाट्यशास्त्र,7/2

35. द्र०, लोचन, पृ० 88

36. मध्यकालीन बोध का स्वरूप पृ० 106

37. द्र० सन्दर्भिका, संख्या 1

38. द्र० ,, 13

39. मध्याकालीन बोध का स्वरूप, पृ० 64-65

40. वही, पृ० 65

41. वही, पृ० 65

42. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कुटज, (इलाहाबाद : लो भारती प्रकाशन, 1970), पृ० 86

43. वही, पृ० 86

44. ध्वन्यालोक, पृ० 86-87

45. हजारीप्रसाद द्विवेदी, लालित्यसर्जना और विविक्त वर्णभाषा, आलोचना-पूर्णांक 40, अक्टू०-दिस० 67, पृष्ठ 34

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० रवीन्द्र भ्रमर
रीडर, हिन्दी विभाग
अलीगढ़ विश्वविद्यालय
अलीगढ़

शैली के सिद्ध : आचार्य द्विवेदी

एक महान् गद्य-शिल्पी के रूप में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को सदैव स्मरण रक्खा जायेगा। हिन्दी गद्य के युग-निर्माताओं में वे प्रथम पंक्ति के अधिकारी हैं। गद्य-शैली के विकासात्मक परिप्रेक्ष्य में बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद और प्रेमचन्द की भाँति आचार्य द्विवेदी का रचनात्मक योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अपने जीवन्त व्यक्तित्व तथा प्रगाढ़ पांडित्य के मणि-कांचन योग द्वारा उन्होंने हिन्दी गद्य-शैली को नये तेवर प्रदान किये। उनके लेखन की अद्वितीय भंगिमा अत्यन्त रोचक, भावप्रवण, चिन्ता-विह्वल तथा सत्यान्वेषी गद्य-शैली का द्योतन करती है। उनकी आलंकारिक व्यंजना-पद्धति एवं सांस्कृतिक पदावली, उदात्त मानव-मूल्यों से संदर्भित होने के कारण, एक सार्थक संवाद बन जाती है और उनके गद्य-लेखन में आधुनिकता के आयाम विकसित होते हैं।

गद्य-लेखक के रूप में आचार्य द्विवेदी की प्रतिभा अनेक प्रणालियों में मुखरित हुई। निबन्ध, संस्मरण, उपन्यास, आलोचना, इतिहास इत्यादि विभिन्न विधाओं के माध्यम से इन्होंने विपुल मात्रा में साहित्य की सृष्टि की। 'अशोक के फूल', 'कल्पलता' 'कुटज', 'संवेद्य' इत्यादि' निबंध संग्रह, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुचन्द्र लेख', 'पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा' नामक चार उपन्यास हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कबीर,' 'नाथ-सम्प्रदाय', 'सूर-साहित्य' और 'हिन्दी साहित्य की आदिकाल' इत्यादि कृतियां साहित्यालोचन के नए मानदण्ड स्थापित करती हैं। आचार्य द्विवेदी के निबन्ध व्यक्तित्वप्रधान-व्यक्तिव्यंजक ललित गद्य आदर्श रूप हैं। इनके उपन्यासों में प्राचीन इतिहास, संस्कृति और आधुनिक युगबोध की त्रिवेणी का संगम दिखाई पड़ता है। अपनी गर्वीली-अलंकृत शैली के कारण इनके सभी उपन्यास एक अलग सी पहचान रखते हैं। इनके आलोचनात्मक साहित्य में भी इनकी रचना-धर्मिता और इनकी निजी शैली का सौन्दर्य सर्वत्र व्याप्त है। विविध रूपों में उपलब्ध इनकी गद्य-कृतियों के सम्बन्ध में समग्र रूप से विचार करने पर यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि ये एक उच्चकोटि के शैलीकार थे—शैली के सिद्ध थे। गद्य-शैली का मूल्यांकन प्राय: निबंध-लेखन के परिप्रेक्ष्य में किया जाता है किन्तु आचार्य द्विवेदी की गद्य-शैली उनकी सभी प्रकार की कृतियों में समान भाव से प्रतिफलित हुई है।

जार्ज बर्नार्ड शा ने विचारों की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति को शैली का प्राणतत्व स्वीकार किया है। जर्मन आलोचक बफ़न ने शैली को लेखक की प्रतिकृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा है। उसे लेखक की प्रतिच्छवि कहा जा सकता है। जैसा लेखक होगा, जैसा उसका चरित्र और व्यक्तित्व होगा, वैसी ही उसकी शैली होगी। किसी महान् व्यक्तित्व वाले लेखक से ही उत्कृष्ट और उदात्त शैली की अपेक्षा की जा सकती है। आचार्य द्विवेदी के प्रगाढ़ पांडित्य, निश्छल व्यक्तित्व और मानवीय संवेदना से परिपूर्ण उनके वैचारिक धरातल से हम भली प्रकार परिचित हैं। वे एक उदार और मानवतावादी विचारक थे। उन्होंने कई भाषाओं और साहित्य का बहुत अच्छा अनुशीलन किया था। फलित ज्योतिष से लेकर वनस्पतिशास्त्र तक उनकी जानकारी का क्षेत्र बहुत व्यापक था। संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ होने के बावजूद उन्होंने अपने युग और समाज से बहुत अच्छा तादात्म्य स्थापित किया था। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर और आचार्य नरेन्द्र देव जैसे मनीषियों के निकट सम्पर्क में रहने के कारण उनकी चेतना का क्षितिज बहुत व्यापक बन गया था। यही कारण है कि उनकी भाषा-शैली में जिस वैचारिक गरिमा और सांस्कृतिक दीप्ति के दर्शन होते हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है।

आचार्य द्विवेदी का पाण्डित्य उनकी शैली में पूरी तरह से तरंगायित है। अपने विचारों की अलंकृति अथवा संपुष्टि के लिए वे बहुधा संस्कृत के उद्धरणों का प्रयोग करते हैं। उद्धरण वे अन्यत्र से भी लेते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश की मनोहर सूक्तियाँ, सन्त-भक्त कवियों की कविता, रवीन्द्रनाथ के बंगला-गान इत्यादि उनकी अभिव्यक्ति के सटीक माध्यम रहे हैं किन्तु संस्कृत की उद्धरणी उनकी विचार-धारा का मुख्य अंग है। जहां-कहीं अवसर मिलता है, उनका मन संस्कृत के धार्मिक-पौराणिक अथवा ललित साहित्य के विस्तृत आकाश में उन्मुक्त भाव से उड़ने लगता है—

"भक्तों के नाम-स्मरण का अर्थ है, भगवान् के भाव-गृहीत रूप का स्मरण।...संत लोग प्रेमांजन से विच्छुरित भक्तिरूप नयनों से सदैव उसका दर्शन करते रहते हैं अर्थात् जो अरूप होने के कारण दृष्टि का अविषय है उसे प्रेम के अंजन से अनुरंजित करके विशिष्ट बनाकर देखा करते हैं :

प्रेमांजनच्छुरित भक्ति-विलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेऽप्यवलोकयन्ति।
यं श्याम सुन्दरमचिन्त्यगुणप्रकाशं
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

भगवान् का यह प्रेमांजनच्छुरित रूप भक्त की अपनी विशेषता है।"[1]

आचार्य द्विवेदी ने अपनी शैली के तात्त्विक सन्दर्भ में संस्कृत-वाङ्मय का उपभोग एक अन्य प्रकार से भी किया। उन्होंने उसके कथाकाव्यों की सामासिक एवं अलंकृत वर्णन-शैली को कहीं-कहीं एकदम आत्मसात कर लिया है। विशेष रूप से उनके उपन्यासों में उनका यह वर्णन-कौशल देखने योग्य है—

"साथ-साथ चलने वाली परिचारिकाओं के चरणविघट्टन-जनित नूपुरों के क्वणन से दिगन्त शब्दायमान हो उठा था। वेगपूर्वक भुजलताओं के उत्तोलन के कारण मणिजटित चूड़ियां चंचल हो उठी थीं। इसके बाहु लताएं भी झनकार करने लगी थीं। उनकी ऊपर उठी हथेलियों को देखने से ऐसा लगता था मानो आकाश-गंगा में खिली हुई कमलिनियाँ हवा के झोंके से विलुलित होकर नीचे उतर आई हों।"[2] 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में प्रयुक्त यह शैली 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' की प्रतिच्छाया जान पड़ती है किन्तु इसका जैसा सार्थक और साधिकार प्रयोग आचार्य द्विवेदी ने किया, हिन्दी का कोई अन्य लेखक वैसा नहीं कर सका। संस्कृत साहित्य—ज्योतिष, व्याकरण, काव्य, नाटक इत्यादि—का यथेष्ट अध्ययन करने के उपरान्त द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य में पदार्पण किया था, अतः संस्कृत का लालित्य उनके संस्कार में था, और वही उसका सर्वोत्तम उपयोग कर सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
111503

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की कविताएं आचार्य द्विवेदी की चेतना में पूरी तरह रसी-बसी थीं। द्विवेदी जी को शान्तिनिकेतन में कवीन्द्र रवीन्द्र के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनकी विचारधारा पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव व्यापक रूप से देखा जा सकता है। उनकी गद्य कृतियों में रवीन्द्र की कविताएं मोती की तरह टँकी हुई हैं। 'कबीर' नामक कृति में भगवत् प्रेम के आदर्श की व्याख्या करते समय उन्होंने बड़े विस्तार से कबीर और रवीन्द्रनाथ की तुलना प्रस्तुत की है—"परन्तु वह प्रिय बड़ा ही कठोर है, और जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है, दु:ख की रात का राजा है, अन्धकार से भरे महल का बादशाह है। उसे सुख और साज पसन्द नहीं; अपनी प्रेयसी के विरह में वह रस लेता है। वह सहज ही नहीं गलता। जब दुख की आंधी आती है, तब बिजली की कड़क के साथ वह भक्त-प्रेयसी के छिन्न-भिन्न शयन-कंथा पर आ विराजमान होता है.. अरे कौन है वहां पड़ा हुआ? खोल दे दरवाजा जल्दी खोल दे।...अचानक, दु:ख की रात के साथ मेरा राजा आंधी के साथ आ पहुंचा है—

ओरे दुयार खुले दे रे, बाजा शंख बाजा।
गंभीर राते एसेछे आज आँधार धरेर राजा।
वज्र डाके शून्य तले, विद्युतेरि झिलिक झले,
छिन्न शयन टेने एने आङिना तोर साजा।
झड़ेर साथे हठात् एलो दु:ख रातेर राजा॥

तो कबीरदास का प्रियतम भी दु:ख का राजा है। उसका रास्ता देखते-देखते आंखों में झाईं पड़ गई है, नाम पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गये हैं।"[3] आचार्य द्विवेदी की यह आलोचना-शैली वास्तव में उनकी रचनात्मक गद्य-शैली का उदाहरण है। इस भाव-विस्तार में रवीन्द्रनाथ की कविता ने जो विशेषता उत्पन्न कर दी है, वह द्विवेदी जी की अपनी सम्पदा है। उनके अनेक निबन्धों में बंगला कविता के उद्धरण यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाते हैं। बंगला कविताओं की ललित पदावली और मधुर भावचित्रों के संयोग से उन्होंने अपने गद्य में भी काव्य की छवि उत्पन्न कर दी है। हिन्दी और बंगला को एक-दूसरे से जोड़ने, परस्पर निकट ले आने का ऐतिहासिक कार्य भी आचार्य द्विवेदी द्वारा ही सम्पन्न हुआ।

श्रेष्ठ गद्य-शैली का निर्माण सत्य और सुन्दर के मणिकांचन योग से होता है। सत्य की सहज-सुन्दर अभिव्यक्ति प्रभावपूर्ण होती है और उसमें मर्मस्पर्शिनी क्षमता उत्पन्न हो जाती है। लेखक के लिए सत्य क्या है? विषय-वस्तु से आगे बढ़कर उसकी अनुभूति की सत्यता लेखक के लिए अपेक्षित है। जहां अनुभूति की प्रामाणिकता है, अभिव्यक्ति का सौन्दर्य वहीं फलीभूत होता है। प्रामाणिक अनुभूति प्रेरणा के हल्के-से संस्पर्श से अभिव्यक्ति की भाषा ढूंढ लेती है और तब श्रेष्ठ शैली रूपायित होती है। आचार्य द्विवेदी अनुभूति और प्रेरणा के धनी थे। उन्हें विषय की पूरी जानकारी थी ही, उन्होंने उससे सच्चा तादात्म्य भी स्थापित किया था और उनका अन्तःकरण उन तथ्यों को व्यक्त करने के लिए सतत् उद्वेलित रहता था। बात करना सबको आता है लेकिन बात-बात में नयी बात पैदा कर देना आचार्य द्विवेदी की अपनी कला थी। कबीरदास के फक्कड़-फकीरी ठाट की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा—

"कबीरदास का रास्ता उल्टा था। वे कुछ भगवान की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान् नृसिंहावतार की मानव प्रतिमूर्ति थे। नृसिंह की भांति वे नाना असम्भव समझी जानेवाली परिस्थितियों के मिलन-बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे। जहां से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहां एक ओर ज्ञान निकल जाता है और दूसरी ओर अशिक्षा, जहां एक ओर योगमार्ग निकल जाता है और दूसरी ओर भक्तिमार्ग, जहां एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण-साधना, उसी प्रशस्त चौरास्ते पर वे खड़े थे।"[4]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहां कबीरदास और कहां नृसिंहावतार, लेकिन दोनों में तादात्म्य स्थापित करते हुए ऐसा रूपक खड़ा करना आचार्य जी की अनुभूति, संवेदना और कल्पना-शीलता का उदाहरण हैं। उन्होंने इस प्रकार के अनेक रूपक बांधे हैं जो उनकी शैली को अत्यन्त रोचक और प्रभावपूर्ण बना देते हैं। इन रूपकों के कारण उनकी शैली में एक प्रकार का कलात्मक वैभव प्रस्फुटित हो उठा है।

आचार्य द्विवेदी एक अत्यन्त सफल अध्यापक और कुशल वक्ता थे। भाषण-कला में वे पूरी तरह पारंगत थे और अपनी अजस्र वाग्धारा से श्रोता-समूह को मन्त्र-मुग्ध कर देते थे। यही कारण है कि उनकी गद्यशैली में वक्तृत्व कला के तत्त्व पूरी मात्रा में पाये जाते हैं। भाषण अथवा वक्तृत्व कला की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में है कि भाषण-कर्त्ता श्रोता-समूह की मनस्थिति को ठीक से समझ ले। उसे उद्बुद्ध, अनुरंजित और सन्तुष्ट करता चले। वक्ता यदि श्रोता की नब्ज़ को ठीक-ठीक नहीं पकड़ पाता तो वह उसके मानसिक कौतूहल का उपचार भी नहीं कर सकता। समर्थ लेखक को भी इस बात का बोध होना चाहिए कि वह किस के लिए लिख रहा है, क्या लिख रहा है और किस भाषा-शैली में लिख रहा है? श्रोता और पाठक एक ही वर्ग के प्राणी हैं। अतः सफल लेखक में समर्थ व्याख्याता के कुछ गुण-धर्म आवश्यक हैं। समर्थ वक्ता अपने वक्तव्य को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए नाना प्रकार के उपायों का अवलम्ब ग्रहण करता है। उपमाओं, लोकोक्तियों और सूक्तियों इत्यादि के माध्यम से वह अपने कथन को मर्मस्पर्शी बनाता है। कथा-कहानियों और चुटकुलों की सहायता लेकर प्रतिपाद्य विषय को रोचक विस्तार देता है। श्रोता वर्ग के आलस्य और प्रमाद को दूर करने के लिए कभी-कभी वह व्यंग्य और विनोद के छींटे भी मारता है। आचार्य द्विवेदी की शैली में वक्तृत्व-कला के ये सभी तत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। हिन्दी गद्य-शैली के विकास में स्वामी दयानन्द सरस्वती, पं० मदनमोहन मालवीय और महात्मा गांधी ने भाषण-कला की जिस सहज भंगिमा का प्रयोग व्यापक रूप से किया था, उसका अत्यन्त सफल निर्वाह आचार्य द्विवेदी के गद्य-साहित्य में उपलब्ध होता है।

आचार्य जी सच्चे अर्थों में वाणी के सफल प्रयोक्ता थे। उन्होंने भाषा की भैरवी को वशीभूत कर लिया था। उपमाएं, उक्तियां और सूक्तियां उनकी लेखनी पर थिरकती रहती थीं। चुटकुलों और निजन्धरी कथा-कहानियों के तो वे बादशाह थे। व्यंग्य-विनोद में भी उनका मन खूब रमता था और उनके उन्मुक्त अट्टहास से वातावरण में एक संजीवनी चेतना व्याप्त हो जाती थी। वाणी और व्यक्तित्व की ये समस्त उपलब्धियां उनके लेखन को अद्वितीय गरिमा प्रदान करती है। भाषण-कला से दीप्त उनकी गद्य शैली के सन्दर्भ में एक उदाहरण इस प्रकार है—

"एक बार कल्पना कीजिए तरल-तप्त धातुओं के प्रचंड समुद्र की, निरन्तर झरने वाले अग्नि-गर्भ मेघों की, विपुल जड़ संघात की और फिर कल्पना कीजिए क्षुद्रकाय मनुष्य की। विराट् ब्रह्माण्ड निकाय, कोटि-कोटि नक्षत्रों का अग्निमय आवर्त-नृत्य, अनन्त शून्य में निरन्तर उद्भूयमान और विनाशमान नीहारिका-पुंज विस्मयकारी हैं, पर उनसे अधिक विस्मयकारी है मनुष्य जो नगण्य स्थानकाल में रहकर इनकी नाप-जोख करने निकल पड़ा है।"[5]

उपर्युक्त शैली में, मैंने आचार्य द्विवेदी का व्याख्यान सुना है। भावावेश की एक विचित्र मुद्रा में, कभी-कभी ऊर्ध्वबाहु बनकर जब वे भाषण करते तो लगता था कि—

"गगन गरजि, बरसै अमी, बादर गहिर गँभीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्विवेदी जी बड़े सरल लहजे में कभी-कभी बड़ी ऊँची बातें कहते थे। उनकी उक्तियाँ स्वयं 'सूक्ति' बन जाती थीं। उदाहरण के लिए कुछ वाक्य द्रष्टव्य हैं—

"पंडिताई भी एक बोझ है—जितनी ही भारी होती है, उतनी ही तेज़ी से डुबाती है।"

"सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है।"

"दूसरों की आँख में ख़राबी सिद्ध कर देने से हमारी आँख में दृष्टि-शक्ति नहीं आ जाएगी।"

"शंकाशील हृदयों में प्रेम की वाणी भी शंका उत्पन्न करती है।"

आचार्य द्विवेदी भाषा के पण्डित और भाषा की शक्ति के पूर्ण ज्ञाता थे। शैली-विज्ञान के अध्येता यह भली प्रकार जानते हैं कि भाषा के विषयानुकूला-भावानुकूल सफल प्रयोग से श्रेष्ठ शैली का जन्म होता है। ओज, माधुर्य, प्रसाद इत्यादि गुण, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना नामक शब्द-शक्तियां, अनुप्रास, उपमा, रूपक इत्यादि अलंकार सभी भाषा की विशिष्ट भंगिमाओं पर आधारित हैं। भाषा ही अभिव्यक्ति है। भाषा ही रचनात्मक लेखन का पर्याय है। भाषा के बिना व्यक्ति गूंगा होता है और भाषा के बिना सरस्वती मुखर नहीं होती। अत: उत्कृष्ट, उदात्त और फड़कती हुई शैली के लिए भाषा के गुणों की जानकारी और भाषा की शक्तियों का ज्ञान होना आवश्यक है। आचार्य हजारी प्रसाद की गद्य-शैली में भाषा के ऐसे विविध रूपात्मक प्रयोग और ऐसी बहुरंगी छवियाँ मिलती हैं कि प्रबुद्ध पाठक को आश्चर्य होने लगता है। तत्सम, तद्भव, देशी और विदेशी सभी प्रकार के शब्द ठीक मात्रा और ठीक अनुपात में उनकी लेखनी का अनुसरण करते हैं। विषय और प्रसंग के अनुसार वे कभी अत्यन्त परिनिष्ठित, समास-बहुला और अलंकृत भाषा का प्रयोग करते हैं और कभी एकदम ठेठ बोलचाल की भाषा पर उतर आते हैं। कहीं-कहीं वे नये शब्दों और नये मुहावरों को गढ़ते हैं और कहीं पुराने मुहावरों अथवा शब्दों को तोड़ देते हैं। कबीर की भाषा पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा था—

"भाषा पर कबीर का ज़बर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है; बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कबीर के सामने कुछ लाचार-सी नज़र आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फ़रमाइश को नाहीं कर सके।"[6]

— यहां कबीर के जिस भाषा-सौष्ठव का बखान किया गया है, वह द्विवेदी जी की भाषा-शक्ति का भी परिचायक है। उनकी भाषा-शैली कहीं से भी कृत्रिम या बनावटी नहीं है। उसमें एक प्रवाहपूर्ण और अर्थपूर्ण सहजता है। उसके सन्तुलित पद-विन्यास में एक आत्माराम पण्डित का व्यक्तित्व बोलता है। भाषा की सहजता पर विचार करते हुए उन्होंने एक स्थान पर लिखा था कि 'सहज भाषा का अर्थ है, सहज ही महान् बना देने वाली भाषा।' इसमें तनिक भी सन्देह की गुंजाइश नहीं कि उनकी भाषा ने उन्हें महान् बना दिया। हिन्दी गद्य के इतिहास में उन्हें भाषा का अपूर्व शिल्पी और शैली का सिद्ध कहकर सदैव स्मरण किया जायेगा।

---

1. मध्यकालीन धर्मसाधना, प्रथम संस्करण, पृ० 5
2. बाणभट्ट की आत्मकथा, प्रथम संस्करण, पृ० 12
3. कबीर, चतुर्थ संस्करण, पृ० 192-93
4. कबीर, चतुर्थ संस्करण, पृ० 181-82
5. भारतीय संस्कृति की देन : अशोक के फूल, पृ० 80
6. कबीर, बम्बई 1953, पृ० 216

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सूर्य नारायण द्विवेदी
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यायल
काशी

आचार्य द्विवेदी : रचनाकार भूमिका में

हिन्दी के समसामयिक रचनाकारों और चिन्तकों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का अप्रतिम स्थान रहा है। समकालीन मानव चेतना के समक्ष उनके जो महत्वपूर्ण स्वरूप उभरे, उनमें से उनका कौन रूप कम आकर्षक था, कहना कठिन है। रचनाकार के रूप में आचार्य द्विवेदी उपन्यास, निबन्ध एवं कविता सभी स्तरों पर जुड़े, तो आचार्य के रूप में मानवीय संस्कृति के व्याख्याता, इतिहास के अनुसन्धाता और साहित्यगत शील और सौन्दर्य के विशिष्ट रूप का उद्घाटन करने वालों में भी उन्होंने अपनी साख पैदा की। ऐसी साख जो रचना और आलोचना दोनों को वैचारिक और आनुभूतिक स्तर पर अधिकाधिक मोहक और विश्वसनीय बनाती है। प्रस्तुत सन्दर्भ में केवल उनके रचनाकार स्वरूप की कुछ रेखाओं को स्पष्ट करने का प्रयास होगा।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की रचनाएँ साहित्य के क्षेत्र में एक विशेष दृष्टि लेकर चली और वह थी इनकी मानवतावादी दृष्टि। कवीन्द्र रवीन्द्र के साहचर्य से उन्हें इस बात का ज्यों ही आभास हुआ कि मनुष्य को केवल जाति, सम्प्रदाय और देशकाल जैसी संकुचित सीमाओं से ही ऊपर नहीं उठाना होगा अपितु उसे उदात्त गुणों से भी जोड़ना आवश्यक होगा, जिनके बिना वह न व्यष्टि के स्तर पर और न समष्टि के स्तर पर ही महान् हो सकता है। अपनी इस भावना को आचार्य द्विवेदी ने अपने उपन्यासों, अपने निबंधों और अपनी कविताओं में इतनी सहजता से आने दिया कि रचनाएं मोहक और सहज प्रभाव डालने वाली वन सकी। आचार्य द्विवेदी अपनी रचनाओं के बीच उन्हें ऐसे रूप में संजोते, कि ऐसा कहीं नहीं लगता कि यह दृष्टि उन पात्रों पर आरोपित है। यद्यपि यह सर्वथा सत्य है कि रचनाकार को अपनी रचनाओं में अपनी दृष्टि को बहुत सतर्कता से निविष्ट करना होता है। मानव के विकास में अवरोध डालने वाली बातों को वे न तो पसन्द करते हैं और न अपनी रचनाओं में आने देते हैं। 'विचार और वितर्क' नामक पुस्तक के एक निबन्ध में उन्होंने स्पष्ट ही स्वीकार किया है कि 'हमारा परम लक्ष्य मनुष्यत्व है।' यह मनुष्यत्व उनकी दृष्टि में मनुष्य को, व्यक्ति मनुष्य को नहीं बल्कि समष्टि मनुष्य को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा। असली मानवीय संस्कृति, मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी।' किन्तु उनका यह भी विचार है कि 'ऐसी संस्कृति को विकसित करने में आज के मनुष्य को उदार और व्यापक भूमिका निभानी होगी।' आचार्य द्विवेदी ने अपने साहित्य के माध्यम से जो कुछ दिया उसका उनकी दृष्टि में केवल एक प्रयोजन था—मनुष्य को संकीर्णता और मोह से उठाकर उदार, विवेकी और सहानुभूतिपूर्ण बनाना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य द्विवेदी का रचनाकार जहां उक ओर मानवता के विविध पक्षों को उद्घाटित करने के लिए भौतिक वस्तु सत्य से जुड़ता वहां उसकी दृष्टि मानव चित्त के भीतर तरल रूप में विद्यमान भाव-सम्पदा को नज़रअन्दाज़ नहीं करती थी। उनकी दृष्टि में वस्तु का सम्बन्ध यदि जीवन के यथार्थ की पहली इकाई है, जहां से मनुष्य की प्रज्ञा के लिए तर्कसंगत उपादान सुलभ होते हैं, तो भाव सम्पदा का भी अनुभूति की चरम इकाई से सम्बन्ध जुड़ता है। वस्तु जीवन के लिए आवश्यक है किन्तु उसके साथ मानसिक औदार्य, बौद्धिक निर्लिप्तता और चित्त की असमोर्ध्व आह्लादकता भी आवश्यक है। इसीलिए आचार्य द्विवेदी यह स्पष्ट स्वीकार करना चाहते हैं कि भाव मूलतः मानवीय विश्वास से जुड़ता है और विश्वास का सीधा सम्बन्ध मानवीय चित्त से है। उनके अनुसार विभिन्न युगों में साहित्यिक साधनाओं के मूल में कोई न कोई व्यापक मानवीय विश्वास होता है। आधुनिक युग का यह व्यापक विश्वास मानवतावाद है। .....नवीन मानवतावादी विश्वास की सबसे बड़ी बात है इसकी ऐहिक दृष्टि और मनुष्य के मूल्य और मर्यादा का बोध।[3] ऐहिक दृष्टि का तात्पर्य वस्तु दृष्टि यदि लिया जाए और मानवतावादी विश्वास को मनुष्य चित्त की तरलता से जोड़ा जाए और इन दोनों के परिप्रेक्ष्य में आचार्य द्विवेदी के रचनात्मक साहित्य को देखने का श्रम उठाया जाए तो यह स्पष्ट लगेगा कि आचार्य द्विवेदी ने अपने उपन्यासों और निबन्धों में रचना और अनुसन्धान के स्तर पर वस्तु से भाव तक की कुशल यात्रा निर्वति की है।

रचनाकार का दायित्व असाधारण होता है। वह जो कुछ लिखता है उसके पीछे उसकी मानसिक तथा वैचारिक उथल-पुथल होती है जिसका सम्बन्ध परम्परित मूल्यों और वर्तमान की प्रचलित धारणाओं के बीच से रास्ता ढूंढने से होता है। रचनाकार ऐसे क्षणों में केवल इनमें से किसी एक दृष्टि को न चुनकर ऐसे बिन्दु का चुनाव करना चाहता है जो उसकी रचना को बहुप्रचलित और कम महत्वपूर्ण धारणाओं से हटा अप्रतिम महत्व के साथ सम्बद्ध कर सके। स्वभावतः ऐसी अभिव्यक्ति के लिए उसे चिरपरिचित साधनों के माध्यम से अपरिचित विचार और भावभूमियों में संचरण करना होता है जिसके द्वारा वह समसामयिक और अनागत के मनुष्य के लिए वह अधिक शिवमय कुछ अधिक सौन्दर्यमय साहित्य दे सके। आचार्य द्विवेदी ने अपने रचनात्मक साहित्य में इसीलिए चिरपरिचित माध्यमों की सहायता से अपरिचित और अत्यन्त परिचित भूमियों तक पद संचार किया है। अतीत से सामग्रियां उठाते हुए मनुष्य जाति की समसामयिक और अनागत की समस्याओं को उभाड़ कर व्यापक समाधानों का प्रयत्न करने में उन्होंने अतीत और वर्तमान के चिरपरिचित तथ्यों और वस्तुओं से सम्बद्ध धारणाओं का परिष्कार, अपेक्षित अर्थों का विनिवेश और नवीन सम्भावनाओं का समावेश किया है। कौन नहीं जानता है कि न बाणभट्ट, न सातवाहन, न गोपालदारक और न रैक्व सुदूर अतीत के ऐतिहासिक पात्र हैं, कमोबेश उनकी स्थितियों का परिचय पुराने साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध भी हो जाता है, किन्तु द्विवेदी जी की रचनाओं में उन्हें जो रूप मिला है वह निश्चित ही उनके रचनाकार के द्वारा गढ़ा गया रूप है, जिसके माध्यम से उन्होंने अपने अपेक्षित उद्देश्य-मानवतावादी चिन्ताधारा को सामने रखा। आचार्य द्विवेदी ने कहीं यह स्पष्ट ही स्वीकार किया है कि 'साहित्य प्रकाश का रूपान्तर है।' उन्होंने भी अपनी रचनाओं के द्वारा ऐसे ही आलोक-पुंज को समसामयिक और अनागत के पाठकों के लिए सुलभ कराने का प्रयत्न किया है।

आचार्य द्विवेदी की रचनात्मक कृतियों को देखने से लगता है कि वे आवश्यक भावों और विचारों को रूपायित करने की दिशा में बढ़ते समय कल्पनाओं और सम्भावनाओं के आकाश में उड़ान भरती हैं। वे उड़ानें इस बात का भी प्रमाण हैं कि अशक्त या अक्षम रचनाकार वैसी उड़ानों से सामान्यतया नहीं जुड़ सकता। उनके उपन्यासों और निबन्धों में यह सत्य स्पष्ट ही देखा और परखा जा सकता है जहां रचना-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार के प्रयोजन के अनुकूल कल्पनाओं और सम्भावनाओं का विचित्र और विश्वसनीय स्वरूप देखने को मिलता है। 'बाणभट्ट' में बाणभट्ट और हर्ष आदि के अतिरिक्त सारे पात्र, सारी कथावस्तु और सारी परिस्थितियां उनके कल्पनाशील मस्तिष्क की उपज है। 'चारु चन्द्र-लेख' में लोक प्रचलित अनुश्रुतियों, किम्वदन्तियों को ऐतिहासिक फलक के आधार पर रूपायित करने की चेष्टा आचार्य द्विवेदी जैसे समर्थ रचनाकार की सम्भावक प्रज्ञा का कार्य हो सकता है। 'पुनर्नवा' का ऊपरी ताना-बाना मृच्छकटिक से सूत्र अवश्य लेता है किन्तु बाकी सब का सब उनके उर्वर मस्तिष्क की कल्पना से सम्बद्ध है इसे कौन नहीं जानता ? 'अनामदास का पोथा' का संग्रथन भारतीय उपनिषद् विद्या से उपकृत होता हुआ भी कितनी दुस्सन्धेय ग्रन्थियों और वैचारिक मान्यताओं को समेटता हुआ भी आवश्यक आस्वाद की भावना को जो समाहित करता चलता है उसके पीछे उनकी महत्तर मेधा का पद-संचार ही तो है और उनके ललित निबन्धों में तो यह चीज और भी खुलकर सामने आयी। इस प्रकार आचार्य द्विवेदी का रचनात्मक साहित्य कल्पनाओं से सम्भावनाओं तक के अपेक्षित सहकार से विचित्र और आकर्षक रूप ले पाया है।

रचनाकार का पथ सरल नहीं होता। वह जो कुछ लिखना चाहता है, उसे शब्दार्थ के माध्यम से उतार पाना कितना कठिन होता है। इसे वे ही जानते हैं, जो रचना के पथ से गुजरते हों या रचना के पथ से रचनागत अनुभूति का साक्षात्कार करते हों। आचार्य द्विवेदी का रचनात्मक साहित्य जो कितना व्यापक आयाम समेट सका है, उसके पीछे उनकी लम्बी साधना और लम्बी सम्भावना समाहित है। यह वे ही समझ सके हैं जिन्होंने उनकी रचनाओं में निहित विविध शास्त्रीय और मानवीय मूल्यों और मान्यताओं से सीधा जुड़ने का अवसर पाया है। साहित्य, साहित्य-शास्त्र, कामशास्त्र, योग, सांख्य, मीमांसा, व्याकरण, नृतत्त्व शास्त्र, दर्शन, उपनिषद्, पुराण और न जाने क्या-क्या उनकी रचनाओं की रीढ़ के रूप में जो सामने आया है, वह इस बात का प्रमाण है कि इन विद्याओं से अपरिचित व्यक्ति उतनी सहजता के साथ ऐसे स्थलों से नहीं जुड़ सकता, जिनको आचार्य द्विवेदी का रचनात्मक साहित्य अनायास आत्मसात् करता हुआ देखा जाता है।

आचार्य द्विवेदी ने मानवीय संस्कृति के क्रम में उसके टूटे हुए, भुलाये हुये सूत्रों को इतिहास की सहायता से जहां एक ओर अर्थवत्ता दी है, वहीं विविध विद्याओं के परिप्रेक्ष्य में जाति, सम्प्रदाय, देश और काल की तह में दबे पड़े हुए मानवीय मूल्यों के अनुसन्धान का कार्य भी किया, जिससे मानवीय चिन्तन तो उपकृत हुआ ही, उसकी चेतना को भी नये अनुसन्धान की दिशाओं का रास्ता मिला। अन्यथा आधुनिकता के आरोप और आग्रह के कारण जि[illegible] रूप में अपने देश में अतीत के वाङ्मय को अनर्गल अप्रासंगिक और अस्पृश्य घोषित किया जाने लगा [illegible] उसके द्वारा अतीत का सारा कुछ कब और कहां न[illegible] हो गया होता, इसका पता तक नहीं लग पाता आचार्य द्विवेदी ने इस रूप में अपनी साधना औ[illegible] सन्धान का निश्चित ही अप्रतिम उपयोग किया है।

साहित्य आचार्य द्विवेदी की दृष्टि में [illegible] निश्चित उद्देश्य की ओर साहित्यकार की मानस-या[illegible] है और उसका लक्ष्य है मनुष्य जीवन के प्रति सह[illegible] भूति उत्पन्न करके मनुष्यता के वास्तविक लक्ष्य तक [illegible] जाने का संकल्प, मनुष्य के दुःखों को अनुभव [illegible] सकने वाली दृष्टि की प्रतिष्ठा और ऐसे दृढ़ [illegible] आदर्श चरित्रों की सृष्टि जो दीर्घ काल तक मनुष्य को मार्ग दिखाते रहें।[4] साहित्य आचार्य द्विवेदी [illegible] धारणा के अनुसार मनुष्य को सम्पूर्ण मनुष्य बना[illegible] दृष्टि का संकल्प लेकर चलने वाली वाङ्मय विधा[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि प्रत्यक्ष सृष्टि में मनुष्य से बढ़कर कुछ नहीं। सारा जड़ और चेतन समुदाय मानव की विजय-यात्रा का सहचर हो सकता है। मुख्य तो वही है। मनुष्य में भौतिकता के साथ-साथ दिव्यत्व भी छिपा है। भौतिकता की ओर मनुष्य का झुकाव यदि हुआ वह अन्य चेतन प्राणियों से अपनी विशिष्ट अर्थवत्ता सिद्ध करने में असमर्थ हो जायेगा। इसलिए मनुष्य के भीतर छिपी हुई दिव्यता का अनुसन्धान और उसे सहज भाषा में मानव तक पहुंचाने का कार्य ही काव्य का, उनकी दृष्टि में, सबसे बड़ा उद्देश्य है। मनुष्य को उसकी स्वार्थ-बुद्धि से ऊपर उठाना, इहलोक की संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर सत्व गुण में प्रतिष्ठित करना, उसे परदुःखकातर और सम्वेदनशील बनाना ही उनकी दृष्टि में काव्य का काम है। आचार्य द्विवेदी ने अपने रचनात्मक साहित्य के द्वारा इस उद्देश्य को अधिक सजग रूप में निभाने का प्रयत्न किया है। कहने की पद्धति में विभिन्न कृतियों में अन्तर हो सकता है और है, किन्तु सामान्यतः कहीं भी उन्होंने अपने रचनाकार को इस सीमा के उल्लंघन का अवसर नहीं दिया है। यही कारण है कि वहां यदि इस स्तर के विपरीत यदि कोई पात्र आया है तो वह केवल व्यंग्य और विनोद की दृष्टि से ही, जो द्विवेदी जी की मनोरंजक एवं विनोद-प्रिय प्रकृति का परिचय देकर चुपचाप खिसक जाता है। अन्यथा प्रायः सम्पूर्ण रचनाएं गम्भीर, संकीर्णता से मुक्त, सत्व गुण से सम्पन्न और संम्वेदन-शील दायित्व से भरी हुई हैं।[5]

इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य द्विवेदी का साहित्य मानवीय चिन्ता से ओतप्रोत है और मनुष्य को केन्द्र में रखकर चलता है किन्तु मनुष्य का मानवत्व तो तभी सम्पूर्ण होता है जब वह आध्यात्मिक चेतना के स्तर पर भरा-पूरा हो सके। मानव चरित्र को आचरण के स्तर पर उठाने की बात विविध संस्कृतियों में बार-बार कही गई है, किन्तु आचरण-सिद्धान्त के पीछे भी कुछ छिपा है। आचार्य द्विवेदी की अनुसंधानपरक दृष्टि इस ओर गये बिना नहीं रही और उन का निष्कर्ष था कि, जो आचरण चिन्मुख है वह श्रेष्ठ है। उनकी दृष्टि में जिन प्रयत्नों से मनुष्य का चिन्मय स्तर प्रभावित होता है वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। महत्त्वपूर्ण आचरण ऐसे ही महत्त्वपूर्ण प्रयत्नों का नाम है। इसलिए ऐसे आचरणों के प्रति मानव-व्यक्ति में आस्था को जागृत रखना साहित्य का प्रमुख काम है। यदि साहित्य इस प्रकार की आवश्यकता से नहीं जुड़ता तो अपने उद्देश्य से वंचित होता है क्योंकि मनुष्य की सम्पूर्णता ही यदि उसका मूल लक्ष्य है तो मनुष्य का समस्त आहार-विहार और समस्त मन प्रायः चिन्मुख हो कर सार्थक होता है।[6] आचार्य द्विवेदी ने इतिहास से रस लेते हुए अपने साहित्य के माध्यम से कल्पनाओं और सम्भावनाओं के आधार पर जो कुछ दिया है उसमें मात्र किस्से-कहानियां अथवा मन-गढ़न्त विचार नहीं हैं, अपितु सत्व-चित्त से बहुत कुछ ऐसा कहने का प्रयास है, जो पाठक के सामने मनुष्य के चिन्मय स्तर के उद्घाटन का सार्थक प्रयत्न है। उस स्तर को सामने लाने के लिए ही आचार्य दिवेदी ने वास्तव में वाङ्मय की लम्बी और दुर्गम घाटियों को झांक जाने का संकट मोल लिया। उनसे प्राप्त तथ्यों और अपेक्षित कल्पनाओं और सम्भावनाओं के सहयोग से जो कुछ वे सामने ला सके उसका एक ही लक्ष्य है—मनुष्य, एक ही स्वर है—सम्पूर्ण मनुष्यता का उद्गीथ और एक ही परिणति है-मनुष्य में चिन्मयता का स्फुरण।

साहित्य की रचना में उसकी कलात्मक साधना का कम महत्त्व नहीं होता और वह महत्त्व बहुत कुछ उसमें निहित सौन्दर्य से सम्बद्ध होता है। रचना में शिवत्व के साथ सौन्दर्य का अपेक्षित सहकार आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी होता है। महत्तर उद्देश्य की अभिव्यक्ति यदि ललित हो, वह लक्ष्य की तरह मनोहारिणी होती है क्योंकि उसका एक कार्य सहृदय चित्त की अपर्जकता भी है। उसके न होने पर रचना का लक्ष्य पाठकों तक पहुंच नहीं पाता। विशिष्ट रचनाकार इसीलिए अपनी रचना में ऐसे ललित तत्त्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का सहज रूप में विनिवेश करता है जो अनायास पाठक को आकृष्ट कर सके। आचार्य द्विवेदी का साहित्य अपनी लालित्य योजना के कारण भी महत्त्वपूर्ण बन पाया है। 'कालिदास की लालित्य योजना' का रचनाकार और 'लालित्य तत्त्व' नामक शोधपत्र के लेखक को यह खूब मालूम था कि रचना में अपेक्षित सौन्दर्य-मय दृष्टि केवल विचार, कल्पना और तथ्य के स्तर पर ही नहीं पद और पदार्थ के विभिन्न स्तरों पर भी आवश्यक है। आचार्य द्विवेदी ने अपनी रचनाओं में मानवकृत कलाओं को मानव सापेक्ष लालित्य के आधार पर रचने का प्रयत्न किया है। उनकी दृष्टि में मनुष्य को, मनुष्य की दृष्टि से समझने और बूझने से लेकर उसके द्वारा अन्वेषित सौन्दर्य के प्रतिमानों का आधार भी अपेक्षित है क्योंकि शेष सृष्टि का केन्द्र स्वयं वही है इसीलिए मनुष्य की मंगल-साधना सौन्दर्यमय रचना के द्वारा सामने तो लायी जा सकती है किन्तु स्वयं सौंदर्य को प्रधानता देकर शिवत्व की गौणता उन्हें पसन्द नहीं। अपने 'लालित्व तत्त्व' नामक शोध-पत्र में उन्होंने इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।

आचार्य द्विवेदी का रचनाकार सहज वैचारिकता और सहज अनुभूति का रचनाकार है। वह बड़ी से बड़ी बात और गूढ़ से गूढ़ अनुभूति को सहज भाषा में आकार देने में माहिर है। वैसे तो वह कम ही सामान्य विचार, सामान्य भाव और सामान्य कल्पना से जुड़ता है फिर भी यदि कहीं ऐसा अवसर आया तो विरले ही स्थल हैं। अन्यथा मानवीय संस्कृति के भावनात्मक और वैचारिक पक्षों के उद्घाटन की ओर चलते समय जब वह आटोप बांधता है, पाठक बहुत जल्दी उसके आग़ोश में आ जाता है किन्तु जैसे-जैसे रचनाकार आगे बढ़ता है पाठक अपने को एक ऐसी सहज वैचारिक और भावनात्मक ऊंचाई पर पाता है कि उस का भटकाव के प्रति पश्चाताप का भाव उत्पन्न न होकर उसे सहज और महत्त्वपूर्ण अनुभूतिक सत्य से जोड़ देता है।

आचार्य द्विवेदी की समस्त संरचना के पीछे एक सम्वेदनशील मस्तिष्क और अकुण्ठित रचनाकार की दृष्टि काम करती है। मानवीय चेतना के उत्तरोत्तर विकास के प्रति जहां एक आस्थाशील व्यक्तित्व प्राप्त है वहीं विषय को उपस्थापित करने वाली प्रज्ञा का सहज सहकार भी ; जो बिना किसी रोक-टोक के मनुष्य की आज तक की सांस्कृतिक, सामाजिक, इतिहासिक शास्त्रीय वैज्ञानिक और आध्यात्मिक उपलब्धियों से उन्हें जुड़ने देता है और अपने काम की बात को कह पाने में विचित्र भूमिका निभाता है। यह सम्वेदनशील मस्तिष्क और अकुण्ठित दृष्टि ही आचार्य द्विवेदी की रचनाओं का मुख्य सम्बल रहा है जिनसे वे वैसा कुछ कह सके हैं जो दूसरों के लिए उतना सहज नहीं था। ऐसा रचनाकार कई सदियों में कभी-कभी ही जन्म लेता है।

---

1. विचार और वितर्क, पृ० 92-93।
2. साहित्य का मर्म, पृ० 153।
3. विचार और वितर्क, पृ० 90।
4. साहित्य सहचर, पृ० 20।
5. वही. पृ० 69।
6. सहज साधना, पृ० 101।
7. लालित्य तत्त्व (शोध पत्र)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० पुष्पा बन्सल
रीडर, हिन्दी विभाग
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय
रोहतक

हिन्दी गद्यकार—हजारी प्रसाद द्विवेदी

गद्यकार हजारी प्रसाद द्विवेदी का हिन्दी साहित्य में प्रवेश उस समय हुआ जब हिन्दी गद्य का जन्म हो चुका था, शैशव बीत चुका था। और वह एक किशोर के रूप में अपना व्यक्तित्व निर्मित करने में लगा हुआ था। इस किशोर को निश्चित रूप से अंग्रेजी की शब्दावली का तथा उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी की चलती शैली का मोह था। प्राकृत-अपभ्रंश की तो कौन कहे, संस्कृत से भी उस का किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रह गया था, तथा उसका प्रयत्न 'संस्कृत-निष्ठता' से येन केन प्रकारेण अपना पिण्ड छुड़ा लेने का था। सम्भवत: युग की 'आधुनिकता' की यही मांग थी। हिन्दी मानस के ध्रुवीय विस्तार की यही विधि थी तथा गद्य से जुड़ी विश्लेषणात्मकता की यह सहज सम्भाव्य परिणति थी। सस्कृत-निष्ठता अथवा संस्कृत भाषा-साहित्य से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध पोंगापन्थी होने की, दुराग्रही होने की और कूप-मण्डूक होने की निशानी था। हिन्दी गद्य में वर्ण्य विषयों के लिए समाज, देश, शिक्षा, शिष्टाचार, सुधार और धर्म, काव्य-शास्त्र (व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक दोनों पक्ष) लिए जा रहे थे और ये ही पक्ष आधुनिकता की अवधारणा से जुड़े भी थे। जो पक्ष नितान्त अवहेलित-उपेक्षित थे – वे थे भारत का अतीत, प्राचीन संस्कृति, संस्कृत साहित्य का गौरव, मध्ययुगीन लोक साहित्य, हिन्दी भाषा, संस्कृतभाषा, प्राचीन भारत की राजनैतिक अवस्था तथा इन सब से अकाट्य रूप से जुड़ा, देशीय, जातीय गौरव का भाव! हिन्दुत्व की गरिमा एवं निज भाषा-बोध। उस समय का हिन्दी-गद्य-किशोर पाश्चात्य राजनैतिक-आर्थिक, धार्मिक वैज्ञानिक सन्दर्भों में अपनी पहचान बना रहा था, उस समस्त परिपेक्ष्य में रखकर स्वयं को देख रहा था। वह स्वयं को अपनी भाषा, शब्द-विकास, संस्कृति-धारा, जाति-व्यवस्था, विभिन्न रीति-रिवाज, पर्वोल्लास, वर्णाश्रम-व्यवस्था एवं नख-शिख आदि पहचान कराने वाला वास्तविक साधनों के माध्यम से नहीं देख रहा था। वह अपने रूप को विदेश में निर्मित विदेशी भाषा के दर्पण में निहार कर तदनुरूप अंकित करना चाह रहा था। अपने 'नाम' के दर्पण में झाँकना उसने नहीं सीखा था। गद्यकार हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन्हीं अभावात्मक सूत्रों को पकड़ा तथा अपने संस्कृत भाषा एवं प्राचीन भारतीय पौराणिक-ऐतिहासिक संस्कृति के बोध का आलोक, अपनी सरस-चपल-मदालस-भाषा के छवि-संयन्त्र द्वारा एक स्नेह-सिक्त, जिज्ञासा-व्याकुल एवं तथ्योद्घाटन-विह्वल मानस के कोण से यों डाला कि वह रूप अपनी सम्पूर्ण निजता में आलोकित हो उठा; आलोकित नहीं रमणीय आकर्षक एवं मूल्यवान् हो उठा। द्विवेदी जी के गद्य ने भारतीयों की, भारतीय संस्कृति के प्रति दृष्टि में क्रांति उपस्थित कर दी। यह संस्कृति-वेत्ता झम्म से इस हिन्दी गद्य के रंगमंच पर आया तथा सहस्रों पाठकों को अभिभूत करता हुआ खप्प से निकल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया। एक अकेला व्यक्ति था बूढ़ा मोहनदास करम चन्द गांधी, जिसे द्विवेदी जी ने 'अवधूत' कहा है। वह अवधूत हमारे देश के ऊपर से जो यह, मार-काट-अग्निदाह, लूट-पाट, खून-खच्चर, बवंडर बह रहा था उसके भीतर भी स्थिर रह सका था। "क्यों? मेरा मन पूछता है कि ऐसा क्यों सम्भव हुआ? क्योंकि शिरीष भी अवधूत है। शिरीष वायु-मण्डल से रस खींच कर इतना कोमल और कठोर है। गांधी भी वायु-मण्डल से रस खींचकर इतना कोमल और कठोर हो सका था। मैं जब-जब शिरीष की ओर देखता हूं तब-तब हूक आती है—हाय! वह अवधूत आज कहां है?" वह अकेला व्यक्ति—द्विवेदी जी का अवधूत-अकेला महामहिम ब्रितानी साम्राज्य से लड़ गया था—लड़कर जीत गया था और केवल भारत को ही नहीं, सम्पूर्ण एशिया वरन् सम्पूर्ण शोषण-पीड़ित पूर्वीय दुनिया को अपनी नई पहचान दे गया था। उसकी शक्ति का स्रोत तो द्विवेदी जी अपने 'शिरीष के फूल' निबन्ध में खोज लेते हैं पर द्विवेदी जी ने अपने निबन्धों में जो दे दिया, उसका स्रोत कहाँ है? इस झर-झर बहती वाग्धारा की गंगोत्री कहां है? हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान; नहीं, संस्कृति-भाषा-इतिहास के रत्नों से भरे उस मानसरोवर का सच्चा रूप क्या है? उस अगाध रस-राशि का ओर-छोर क्या है? यह सब कुछ जान लेने की व्यग्रता विकल कर रही है। मेरा मन उस 'महामानव', महामानव नहीं महालेखक के रचनाधर्मी मानस के कुज्झटिकाच्छन्न आकाश में उन्मुक्त विचरण करना चाहता है। जो समर्थ हैं—समीक्षा के पैने परों से सुसज्जित हैं, पंडिताई तथा अंतरंग परिचय के कवच से मण्डित हैं—वे कर सकते हैं - पर मैं? हाय! पंख कहां हैं? पर पंख न होने से ही क्या होता है? क्या जटायु पंख कटने के बाद भी लड़ता नहीं रहा था? अपना निर्दिष्ट कर्त्तव्य पूरा किये बिना वह मरा नहीं था। पंडिताई क्या बहुत जरूरी है? पंडितों से माथा फोड़ना, और पंडिताई का बोझ उठाना सहज अथवा सरल कार्य है? "पंडिताई भी एक बोझ है—जितनी ही भारी होती है उतनी ही तेजी से डुबाती है।" और परिचय के लिए क्या अब वे लेख ही पर्याप्त नहीं हैं, जो लेखक से परिचय की उत्कण्ठा जगाते हैं? और कवच क्या आवश्यक ही है? दानी कर्ण इतिहास में तभी प्रतिष्ठित हुए थे जब वे अपने कवच (कुण्डल) का दान कर चुके थे। जैसे जीवन को देखने, जीने-जानने के अपने-अपने ढंग होते हैं, वैसे ही लेखक को समझने की भी अपनी-अपनी विधि एवं अपनी-अपनी दृष्टि होती है। इस पथ का एक मात्र वही पाथेय होता है, और हो सकता है। संकल्प ही बड़ी बात है। नैवेद्य कुछ भी हो, संकल्प की महिमा से बड़ा हो जाता है।

आज मन बहुत विकल है। वह सब कुछ को जान लेना चाहाता है, थाह लेना चाहता है। पर क्या 'अशोक के फूल', 'कुटज', 'विचार-प्रवाह', 'कल्पलता', 'विचार और वितर्क', हमारी साहित्यिक समस्याएं' नामक संग्रहों में छपे सभी निबन्धों-लेखों को इस अल्प-स्थान में अवगाहित कर पाना सम्भव है? इनमें हिन्दी भाषा सम्बन्धित लेख हैं, हिन्दी तथा अन्य भाषाएं (विचार और वितर्क), संस्कृत और हिन्दी, हिन्दी की शक्ति, हिन्दी प्रचार की समस्या (हमारी साहित्यिक समस्याएँ), फिर से सोचने की आवश्यकता है, हिन्दी को पंजाब की देन, हिन्दी का वर्तमान और भविष्य (कुटज)। इनमें संस्कृति सम्बन्धी लेख हैं—भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या, भारतीय संस्कृति की दे (अशोक के फूल) हमारी संस्कृति और साहित्य सम्ब हिन्दू संस्कृति के अध्ययन के उपादान (विचार और वितर्क)। इनमें समीक्षक की दृष्टि को उजागर कर लेख हैं, जिन की संख्या लगभग 27 है। साहित्य नई मान्यताएँ, सच्चा साहित्यकार, लोक भाषा अध्ययन, साहित्य के नए मूल्य आदि (विचार और वितर्क) मनुष्य की सर्वोत्तम कृति—साहित्य, साहित्य नया कदम, हम क्या करें (कल्प-लता) साहित्य निर्माण का लक्ष्य, साहित्य का नया रास्ता आदि (कुटज) साहित्यकारों का दायित्व, मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य आलोचना का स्वतन्त्र मान आदि (अशोक के फूल) प

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब को छाप कर जो लेख विराज रहे हैं; वे हैं द्विवेदी जी के ललित निबन्ध 'आम फिर बौरा गए', 'नाखून क्यों बढ़ते हैं', शिरीष के फूल आदि (कल्प-लता) जब कि दिमाग़ खाली है ? पंडितों की पंचायत आदि (विचार और वितर्क) अशोक के फूल, वसन्त आ गया है आदि (अशोक के फूल) तथा कुटज, देवदारु आदि (कुटज)।

ये ललित निबन्ध ही हैं, जिनमें रचयिता ने अपने अन्तर के सम्पूर्ण ज्ञान एवं रस को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर शहद में घोल कर पाठकों को अर्पित कर दिया है। सम्पूर्ण आत्मादानी ये निबन्ध मनुष्य-मात्र के प्रति लक्षित हैं। ये निबन्ध मनुष्य, विशेष कर, भारतीय संवेदनशील मनुष्य को हीनता-कातरता-परमुखापेक्षिता से ऊपर उठाते हैं और उनके हृदयों में साहित्यामृत की लहाधेह वर्षा करते हैं। इन निबन्धों में एक अदना से (गुलाम) भारतवासी (संस्कृत का पंडित—एक ज्योतिषी मात्र।) की भूगोल दृष्टि "रत्नाकर और महोदधि 'दोनों को दोनों भुजाओं से चाहता हुआ पृथ्वी का मानदण्ड" रूपी हिमालय से लेकर सुदूर दक्षिण के त्रिभुज को नोक बनाती कुमारिका खण्ड तक दौड़ी है; इतिहास दृष्टि आधुनिक व्यवस्थाओं से होती हुई भगवान् महावीर की वैशाली के वज्जियों की गण-व्यवस्था तक दौड़ी है; उनकी सांस्कृतिक दृष्टि भारत में बसे सभी वर्गों—धोबी, मोरिक, कोल, मुण्डा, सभी भारत में समय-समय पर आने वाले सभी आक्रान्ताओं, भारत में प्रचलित सभी धर्मों, भारत द्वारा समय-समय पर उत्पन्न किए गए सभी मनुष्य-रत्नों यथा बुद्ध, विक्रम, महावीर, टैगोर, गान्धी तथा उनके समसामयिक भारत में वर्तमान साम्प्रदायिक हिंसा-द्वेषात्मक दुरवस्था, पारस्परिक क्षुद्र ईर्ष्या-द्वेषाग्नि के वातावरण तक दौड़ी है; भाषा वैज्ञानिक दृष्टि कंदर्प, गन्धर्व, देवदारु, देवतरु, कुटज, कमल, कुड्मल, कुम्भ, शिवालिक मुंडकट्टे आदि शब्दों के बाह्य पटल को खुरचते-खुरचते भारतीय समाज की आदिम गठन, आर्य-एवं आर्येतर जातियों के युद्ध, असुर-देव संघर्ष, असुर-पराजय, देव-संस्कृति-स्थापना, मुसलमान रईसों की रस-राशि सम्पन्न सामाजिक-व्यवस्था और उससे होती हुई आज के व्यावसायिक युग में घरघरा कर चल पड़ने वाले मशीन के रथ तथा विज्ञान के सवेग धावन तक पहुंची है। उनकी वैज्ञानिक दृष्टि पृथ्वी के सम्पूर्ण महत्वाकर्ष को अभिभूत कर ऊर्ध्वमुखी, नन्हें से तृणांकुर को और उसके विकास की प्रक्रिया में उदारहृदया प्रकृति द्वारा मुक्त करों से किए गए असंख्य प्रयोगों के माध्यम से सिर उठाते हुए मनुष्य को देखा है। वह मनुष्य जिसके आविर्भाव ने पृथ्वी की व्यवस्था में एक फाँक, एक दरार उपस्थित कर दी थी—यथास्थिति की अनिवार्य स्वीकृति को अस्वीकार करके; उनकी आशावादी दृष्टि ने इस मानव की सम्पूर्ण जय-यात्रा को हस्तामलकवत् देखा है, तथा आज की हिंसात्मक मार-काटात्मक त्राहि-त्राहि की कर्णकटु पुकार में वीणा के तारों के बनने की खटखट को सुना है। उनकी मानवतावादी दृष्टि ने स्पष्ट देखा है कि समस्त नियमों-उपनियमों,शास्त्रों, व्यवस्थाओं को छाप कर उनके ऊपर विराज रहा है मनुष्य-अविशेष, निरुपाधि, निर्जाति निधर्म मनुष्य! उनकी पुराण-रसिक दृष्टि ने देखा है, शिव को रस भाव विवर्जित तांडव करते, शिवप्रिया पार्वती को मादक लास्य करते, शिव के शिष्य तण्डु को उनसे नृत्य सीखते, नन्दिकेश्वर को काव्य-शास्त्र सीखते' सुन्दरियों के सनूपुर आसिंजनकारी चरणों के मृदु आघात से अशोक पुष्पों को फूलते, कालिदास के यक्ष को आषाढ़ के प्रथम दिवस पर कुटज के पुष्प स्तबकों से मेघ का अर्चन करते! उस दृष्टि ने तो सन्तानकामिनि स्त्रियों को यक्षों (वृक्षों के देवताओं) के पास जाते और सफलकाम होते भी देखा है और देवदारु की लकड़ी की झमाझम मार लगाकर फचाफच गायत्री-मंत्र बोलते पंडित जी को मुँडकट्टे भूतों को भगाते भी देखा है। कहां तक गिना जा सकता है, बाबा! और सब कुछ को गिनकर बताया ही क्यों जाए! मूलतः यह गणना करने की दृष्टि ही गलत है। हिन्दी का समीक्षक क्यों गणना के जाल से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाता? मेरा मन कहता है कि कहीं बिस्मिल्ला में ही ग़लती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। एक कृति का अध्ययन करने के लिए क्या बिन्दुओं (प्वाइन्ट्स) का गिनना-गिनाना ज़रूरी है? क्या गणना के मार्ग से रस के जगत् में प्रवेश किया जा सकता है? क्या गणना की सीढ़ियां रस के सरोवर को सम्पूर्णता में बहा सकती हैं? पर पंडितों का यही कायदा है और पंडितों से लड़ाई मोल कौन लेता फिरे!

ये जो रचनाएं हैं न—ये अपने रचयिता की एक तस्वीर उकेरती हैं—जो एक मानव है! सम्पूर्ण मानव !! इस या उस वाद में बन्धा फंसा आधा-अधूरा मानव नहीं! अल्हड़ है—मस्त है! इसके प्रिय फल-फूल फक्कड़ाना मस्ती से झूमा करते हैं, पंचबाण कामदेव के तूणीर के पांचों बाणों—अरविंद, मल्लिका, उत्पल, आम्रमंजरी एवं अशोक से इसे बड़ा मोह है, उनको प्रायः सन्दर्भित किया करता है। नगाधिराज हिमालय की विशालता से यह पूर्णतया अभिभूत है, आम की टिकोरियों का इसे मोह है और चलते-चलते बात-बात में बेमालूम से ढंग से चुटकी लेते चलना इसका प्रिय व्यसन है। सन्दर्भों-अनुसन्दर्भों की इसके मस्तिष्क में निरन्तर गाड़ियाँ दौड़ती रहती हैं। अशोक का फूल है तो कालिदास के सम्पूर्ण काव्य से लेकर ब्राह्मणग्रन्थ, बौद्ध साहित्य, महाभारत, अशोक-कल्प और महाराजा भोज का 'सरस्वती-कण्ठाभरण तक सब पोथे एक साथ मानसपटल पर खुल जाते हैं और अपने-अपने शब्दों में अशोक के फूल को इन्ट्राड्यूस करने लगते हैं! देवदारु के जंगल में जा बैठते हैं तो कालिदास, महाभारत, मिथक-शास्त्र, शब्दार्थ मीमांसा जैमिनी मुनि का व्याकरण; सबके पृष्ठ फड़फड़ाने लगते हैं; और शब्द देवदारु, देवतरु बनता हुआ रचयिता को वहां ले जाता है-सुदूर अतीत में, जहां देवदारु द्रुमवेदिका पर महादेव ने प्रयोजनातीत समाधि लगाकर अपने अन्त एवं बाहर का तुक मिलाया था जहां बहुत सावधान सदा जागृत रहने वाला देवता-महादेव-वसन्त पुष्पों के आभरण से सजी, सञ्चारिणी पल्लविनी लता के समान सामने आ उपस्थित हुई पार्वती के बिम्बफल के समान अधरोष्ठ वाले मोहक मुख को देख कर विकारग्रस्त हो गया था—उसने आंखें झुका ली थीं। कुटज के नीले रंग के फूलों से भरे पौधों के बीच बैठकर उसे शापेनास्तंगितमहिमायक्ष, रहीम, मुनि-अगस्त्य, सिलवाँ लेवी, याज्ञवल्क्य ऋषि यह सब याद आते जाते हैं। महाभारत का शान्तिपर्व कुटज के सन्दर्भ में 'हृदयेनापराजितः' शब्द तथा राजा जनक का 'मनों में निर्जितं तस्मात् वशे तिष्ठति सर्वदा, सत्य प्रस्तुत करता है। विचित्र है यह रचयिता मानस! सर्वग्रासी, सर्वग्राही, सर्वसंचयी, किमपि न विस्मृतम्। किसी रचना के अन्दर कहीं से भी ज़रा सा झांको पहले तो शब्द-योजना ही अपनी रमणीय, पद-झंकार से मुग्ध कर जायेगी, फिर तनिक सी अर्थ की फुसफुसाहट को सुनो तो संस्कृत तत्सम शब्द नितान्त सारल्य में सहजता से ही प्रकृति के प्रांगण में तिनके के जन्म के माध्यम से मनुष्य के जन्म की कथा से लेकर पुराणों-इतिहासों के मध्य से होता हुआ आज के मानव को अपने अनेक आयामों में प्रस्तुत कर देगा। और शब्दों-अर्थों के छिलकों को तनिक सा खुरचो-तो मानव तथापि भारतीय मानव के आत्यन्तिक वास्तविक कल्याण के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाता, उठा-उठा कर सहज-सूत्रों में सार की बातें बताता, सत्य को उसकी पूर्णता में स्वीकार कर लेने को उकसाता, उसका पूरा उपेक्षित मूल्य दे देने के लिए स्वयं को तैयार कर लेने का मन्त्र देता, वह महामानव उभर आएगा जो सदियों से अकारण अपमानित होने वाले जातियों के दर्द को अनुभव करता है, जो हिन्दू-मुसलमान से अधिक, हिन्दू-हिन्दू-मिलन की समस्या से बेचैन है, जो कालिदास-कबीर-कवीन्द्र का शैदा है और जो जानता है कि सीधी लकीर खींचना एक टेढ़ा काम है।

हमारे सामने इस रचनाकार का यह जो रूप है यह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है भारतीयता अथवा संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के नाम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी भी प्रकार की शुद्धता की बात यह नहीं मानता, वास्तव में उसके सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल उसकी दुर्दम जिज्ञासा, सिसृक्षा एंव विवक्षा। उस ही के अन्तर्गत उसने सब कुछ को पढ़ा, पचाया और प्रस्तुत किया। ज्ञान को बोझ बना कर कन्धों पर नहीं ढोया, उसे प्राण-रस बन कर अपनी धमनियों में दौड़ते रक्त से घुल-मिल जाने दिया और इस प्रकार वह सम्पूर्ण ज्ञान उसके रक्त का संसार कण-समूह बन गया और उसकी गद्य-कृतियों में स्वास्थ्य-स्फूर्ति-प्रणवत्ता एवं चापल्य के अद्भुत दर्शन हो सके।

चापल्य की बात क्या करें —शिवालिक की सूखी पहाड़ियों पर मुस्कुराता कुटज दीख पड़ा। अब नाम याद ही न आये, पर भला नाम जाने बिना छांड़ कैसे सकते हैं? बोले "अजीब सी अदा है, मुस्कुराता जान पड़ता है, लगता है, पूछ रहा है, क्या तुम मुझे भी नहीं पहचानते? -- पहचानता तो हूं बाबा! उजाड़ के साथी तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूं, नाम भूल रहा हूं! ...नाम की जरूरत हो तो सौ दिए जा सकते हैं' सुस्मिता, गिरिकान्ता, वनप्रभा, शुभ्रकिरीटिनी... या फिर पौरुष व्यंजक नाम भी दिए जा सकते हैं — अकुतोभय, त्रिभूगौरव, कूटोल्लास, अपराजित, धरती-धकेल, पहाड़ फोड़, पाताल भेदक! पर मन नहीं मानता"। देवदारु के घर जंगल में बैठे हैं तो "ऐसा लगता है कि ऊपर वाले देवदारु वृक्षों की फुनगी पर से लुढ़का दिया जाऊँ तो फुनगियों पर ही लोटता हुआ हज़ारों फीट नीचे तक जा सकता हूं, अनायास!—पर भगवान न करे कोई सचमुच लुढ़का दे। हड्डी-पसली चूर हो जाएगी" लोग देवदारु के नगर में रह कर भी देवदारु की ओर नहीं देखते—उसकी महिमा स्मरण नहीं करते। इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा, "गधों और खच्चरों से तो शहर भरा पड़ा है, लेकिन मैं जिधर हूं, उधर वे भी कम ही आते हैं। गाहे-बगाहे आ भी जाते हैं, पर उन्हें देवदारु की ओर देखने की फुरसत नहीं होती।"

अभिव्यक्ति केवल चापल्य को ही व्यंजित करती हो यह बात नहीं, कभी-कभी थोड़े से शब्द मन की गहन व्यथा को यों उकेर कर रख देते हैं कि वह उदात्त व्यथा सहृदय के अन्तरतम तक क्रमशः पैठती चली जाती है -और भीतर.. और भीतर! तब तक जब तक कि लेखक स्वयं ही सन्दर्भ बदल कर भाषा की पटड़ी ही नहीं बदल देता, "जिन बातों को मैं अत्यन्त मूल्यवान् समझ रहा हूं, और जिनके प्रचार के लिए चिल्ला-चिल्ला कर गला सुखा रहा हूं, उनमें कितनी जियेंगी और कितनी बह जाएँगी, कौन जानता है? मैं क्या शौक़ से उदास हुआ हूं? माया काटे कटती नहीं! उस युग के साहित्य और शिल्प मन को मसले दे रहे हैं—यह मनोहर पुष्प क्या भुलाने की चीज़ थी। मेरी नस-नस से आज करुण उल्लास की झंझा उत्थित हो रही है। मैं सचमुच उदास हूं!"

मेरा मन उमड़-घुमड़कर आज सम्पूर्ण हिन्दी रचना-जगत् एंव समीक्षा-साधना पर बरस जाना चाहता है। ऐसी रचनात्मिका प्रतिभाएँ वह अधिक क्यों उत्पन्न नहीं कर सका है? क्या इसके पास चिन्तकों, ज्ञानियों, विद्वानों का अभाव है? क्या इन हिन्दी-विद्वानों के पास इतिहास-पुराण का ज्ञान नहीं है? क्या पुराणों एवं मिथकों का अर्थ खोलने की दृष्टि से वे वञ्चित हैं? क्या नगाधिराज हिमालय अथवा शिवालिक की सूखी पहाड़ियों अथवा विन्ध्याचल पर्वत-माला अथवा इसी प्रकार भारत की अपनी विशिष्ट भौगोलिक सम्पदा उन के मन को गरिमा-बोध से नहीं भर देती? क्या रत्नाकर-महोदधि की लहरियाँ उनके हृदयों में लहरें नहीं उठातीं? क्या अपने आसपास वर्ष प्रति वर्ष खिल-खिलाकर मुरझा जाने वाले अनचाहे-अनपहचाने फूल उन्हें पहचान कर लेने को उत्सुक नहीं करते? नहीं, मेरा मन कहता है —यह सब कुछ तो है, ज्ञान, विद्वत्ता, भाषाधिकार सभी कुछ है—ततः किम्! नहीं है तो हिन्दी के लिए अर्थात् उनके लिए जो हिन्दी के माध्यम से अपना कारोबार चलाते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं; उनके आत्यान्तिक कल्याण के लिए स्वयं को निःशेष रूप से दान कर देने की इच्छा । जिस दिन इस इच्छा का उनकी ज्ञान-गरिमा के साथ परमूटेशन कौम्बीनिशन हो जायेगा, उस दिन ...फिर उदास होना बेकार हो जायेगा, उदासी घट जाएगी, उस दिन हिन्दी के इस सहस्रदल कमल के प्रत्येक दल में भारतवर्ष का सुवर्ण-युग लहरायेगा । ऐसे हिन्दी साधक हजारी-प्रसादों की सिसृक्षा में हल्की रुनझुन होते ही ऊपर सरस सशक्त साहित्य के लाल फूलों का उल्लास छा जाया करेगा ।

उदास होना सचमुच बेकार है ! मानव की जय-यात्रा अप्रतिहत है ! हिन्दी जगत् में आज जो यह आशंका-अविश्वास-अशान्ति का कर्दम है, यह सब विलीन हो जायेगा निश्चय से ही ! इतिहास-विधाता के दरबार में जिस दिन हिंदी-सेवी मुक्त-भाव प्रस्तुत होगा, जिस दिन उसकी रचनाएं उसके पुंजी अन्तरंग उन्मुक्त अट्टहास बन उठेंगी, उसी दिन हि गद्य कृतकार्य हो जायेगा ।

उदास होना बेकार है । इतिहास-विधाता दरबार में सब कुछ मिलता है । इस प्रकार के आशा वाद में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने ढंग आस्था रख सके थे, हम भी रख सकते हैं अपने ढं से । आचार्य जी का गद्य हिंदी और हिंदी बोल वालों के मानस में अमोघ-भाव से नव-उत्साह प्राणवत्ता का संचार करेगा । महाकाल के कुण्ठ नृत्य में उन के प्रत्येक पदाघात से निराशा की धरती धसकेगी तथा आशा के अशोक फूलेंगे !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीमती सुदर्शन इन्द्रजीत
द्वारा हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चंडीगढ़

आत्मकथात्मक शैली का उपन्यास : बाणभट्ट की आत्मकथा

'बाणभट्ट की आत्मकथा' उस के रचियता की भांति ही एक महत् आदर्श एवं सत्यं-शिवं-सुन्दरम् का अनूठा समुच्चय है। इस की विशालता, भाषा-भाव की भव्यता, गहनतम विचार-गर्भिता, सभी इस के स्रष्टा के गुण हैं, जो सर्जना में निधि-तत्वों के रूप में कहीं न कहीं छद्म रूप में विद्यमान हैं।

आत्मकथात्मक शैली की जो विशिष्टतायें एवं संभावनाएं, इस शैली को उदात्त एवं सफल बनाती है, उन सभी का समीकरण लेखक ने जिस कौशल से भूमिका भाग में ही कर दिया है, वह स्वयं द्विवेदी जी की कलम या व्यक्तित्व का ही कमाल हो सकता है, इस सत्य को एक स्वर होकर यदा-कदा सभी विद्वानों ने स्वीकारा है।

आत्मकथात्मक शैली की संक्षिप्तता, घनता, संप्रेषणीता जैसी कसौटियों को सामने रखकर जब हम इस उपन्यास को पढ़ते हैं तो लगता है लेखक उपन्यास के आकार-वर्द्धन में जिस तन्मयता से लग गया है, या भावप्रवण होकर भाषा के जिस ललित वाक्य-विन्यास में व्यस्त हो गया है, वह निश्चय ही सारे कथानक एवं उपन्यास के ढांचे को भुरभुरा कर धराशायी कर देगी, लेकिन आत्मकथात्मक शैली के औत्सुक्य, प्रवाहमयता को लेखक ने अंत तक जिस कुशलता से निभाया है, वह हैरतंग़ज़ है।

सब से प्रथम प्रश्न इतिहासाश्रित कथानक को लेकर है। जिस 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लेखक लिखने बैठा है, पहले तो वह ही आम समस्याओं, एवं संवेदनाओं से हट कर है, दूसरा उस में आत्मकथात्मक शैली की संप्रेषणीयता की कमी है, लेकिन लेखक इसे अपनी निजता के सुगुम्फन से इस सफलता से निभा ले गया कि आत्मकथात्मक शैली की सभी अपेक्षाओं को नकारता हुआ भी अक्षुण्ण रूप में आज सबसे ऊपर खड़ा किया जा सकता है।

इतिहासाश्रित होते हुए भी लेखक ने आत्मकथात्मक शैली की लगभग सभी पद्धतियों का सुन्दर नियोजन किया है—यथा स्मृत्यावलोकन, फ्लैश बैक या पूर्वदीप्ति पद्धति, चेतना-प्रवाह, काल विपयर्य आदि। कथा का प्रारंभ ही फ्लैशबैक शैली से होता है...।

आत्मकथात्मक शैली पूर्वदीप्ति एवं चेतना-प्रवाह पद्धति के नितांत अनुकूल बैठती है। चेतना-प्रवाह शैली अपने भीतर फ्लैश-बैक शैली को समाहित किये रहती है। प्रत्येक फ्लैश-बैक चेतना-प्रवाह है लेकिन प्रत्येक चेतना-प्रवाह के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह फ्लैशबैक हो। फ्लैश बैक की प्रक्रिया में चिन्तन की एक श्रृंखला होती है, जिसका एक क्रम होता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर चेतना प्रवाह के लिये यह आवश्यक नहीं ।[1] कथा को पूर्णता प्रदान करने के लिए और अतीत की घटनाओं को सामने लाने के लिए द्विवेदी जी ने प्रमुख पात्रों की स्मृतियों का सहारा लिया है । अनुकूल संदर्भ पाकर अतीत जीवन विद्युत की भांति उनके मानस गगन में कौंध जाता है और वे उस के प्रकाश में तिमिराच्छन्न जीवन-जगत् को देख लेते हैं । जैसे अप्रत्याशित रूप से निउनिया से मिलने पर बाण की पूर्वस्मृतियां सजग हो उठती हैं । यह काम लेखक ने दृश्यबिंब एवं स्मृतबिंबों से लिया है । स्मृतबिंबों को मूर्त रूप देने के लिए लेखक ने या तो नये पात्रों की अवतारणा कर ली है या किसी पात्र की पूर्व स्मृतियों को जगाकर उसके स्वगत कथन द्वारा कार्य सम्पादित कर लिया है । वस्तु-निर्माण की इस कुशलता ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को सदोष होने से बचा लिया है कि कहीं भी उपन्यासकार को स्वयं उपस्थित होकर स्वयं लम्बे भाषण नहीं देने पड़े हैं ।

आत्मकथात्मक शैली में लिखे होने के कारण जितनी भी घटनायें या प्रसंग आये हैं वह सब बाणभट्ट द्वारा ही प्रस्तुत किये गये हैं । पुस्तक आत्मकथात्मक शैली में लिखी जा रही है, लेखक पद-पद पर इस तथ्य के प्रति सचेत है, इसी लिए जहां किसी पात्र के पूर्व जीवन से अवगत कराना पाठकों को अभीष्ट था, वहां उसने अन्य पात्र की सृष्टि कर ली, जो उस पात्र के पूर्व पर प्रकाश डाल सके, जैसे सुचरिता के प्रसंग में काशीवासी वृद्ध की अवतारणा कर ली !

काल-विपर्यय मनोवैज्ञानिक पद्धति का भी इस में समुचित प्रयोग हुआ है । आत्मकथाकार के लिए सब से सशक्त स्मृति-स्रोत होता है । स्मृतियां कभी क्रमवार नहीं आ सकतीं, वह तो समय-समय पर तदनुकूल घटने वाली घटनाओं के घटने अथवा प्रसंगों के आ जाने से जगती हैं । यही कारण है कि बाणभट्ट के जीवन से संबंधित घटनाएं समय-समय पर कालक्रम की उपेक्षा करके लेखक द्वारा उपन्यास में वर्णित की गई हैं, जैसे बाणभट्ट की कथा बाणभट्ट के सौभाग्य के साथ प्रारंभ होती है, जिस का उदय स्थानीश्वर में हुआ । स्थानीश्वर में जब बाणभट्ट कुमार कृष्णवर्द्धन को उसके पुत्रोत्सव पर बधाई देने जा रहा था, उसकी भेंट पान की दुकान पर बैठी निपुणिका और उसकी सहायता से देवपुत्र तुवरमिलिंद की एक मात्र कन्या चन्द्रदीप्ति अथवा उपन्यास की नायिका भट्टिनी से हुई। उपन्यास की कथा की दृष्टि से यह स्थल लगभग सम्पूर्ण उपन्यास का मध्यभाग है, जिस के पूर्व किशोरावस्था से लेकर युवावस्था तक बाणभट्ट की भटकन की कहानी है और बाद में निपुणिका तथा भट्टिनी की प्रेरणा से वह अपने जीवन को संघर्षों में ढाल कर अतुल वैभव का अधिकारी बनता हुआ संयम की घुटन घुटकर एक आलौकिक आदर्श की स्थापना करता है।

मध्यभाग से उपन्यास की कहानी प्रारंभ होकर कथानायक की स्मृतियों के आधार पर बड़े वेग से पीछे की ओर मुड़ती है और जब तक वह स्थानीश्वर तक नहीं पहुंच जाती, बाणभट्ट कोई न कोई अवसर निकालकर उसे पूरी करने की चेष्टा करता है, जिसमें निपुणिका भी समान रूप से योग देती है ।

आत्मकथा में विश्वसनीयता लाने के लिए लेखक ने मिस कैथराइन नासक एक ईसाई महिला की परिकल्पना की है कि कैसे उस महिला को क्षोण की पैदल-यात्रा में कुछ सामग्री प्राप्त हुई, जो वह काशी जाते समय लेखक को दे जाती है । लेखक ने कथा को और भी विश्वसनीय बनाने के लिए लिखा है कि उसी सामग्री का उन्होंने हिंदी रूपांतर किया है । पुस्तक पर लिखा था, 'अथ बाणभट्ट की आत्मकथा लिख्यते ।' दो वर्ष बाद लेखक बाणभट्ट के ग्रंथों से मिलाकर कथा की प्रामाणिकता की परीक्षा करता है । समसामयिक ढंग से इसे नये ढंग से सम्पादित करता है और कहता है कि सारी कथा दीदी की दी हुई पांडुलिपि का अनुवाद है और फुटनोट में जो पुस्तकों के हवाले दिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुये हैं, वे मेरे हैं ।'' कथा ही असल में महत्वपूर्ण है, टिप्पणियां तो उस की प्रामाणिकता की सबूत हैं (बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० 19) मिस कैथराइन की कल्पना द्विवेदी जी की मौलिक प्रतिभा की परिचायक है, फुटनोटों के कारण कथा में और भी विश्वसनीयता आ जाती है, जो आत्मकथात्मक शैली की प्राण है।[2] ऐसी विश्वसनीय परिकल्पनाओं की उद्भावना इससे पहले जैनेन्द्र 'त्यागपत्र' में कर चुके हैं और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इतिहासाश्रित कथानक चुनकर इस शैली के उपन्यास की विश्वसनीयता को और भी बढ़ा दिया है, चाहे कैथराइन की कल्पना द्विवेदी जी की स्वभावगत गप्प ही रही हो।

यह उपन्यास आत्मकथा है ; आत्मकथा में लेखक के अंतर की प्रतिक्रिया को प्रधानता मिलती है। बाण अपने हृदय-कूप में झाँक कर अपना सूक्ष्म-विश्लेषण करता है, उस कूप में प्रवृत्ति की ककड़ी गिरने पर भावनाओं की लहरों पर लहरें उठती हैं वृत्ताकार। हृदय-केन्द्र में से भावना की लहर फूटकर, फैलकर अनुभूति के किनारे पर जा लगती हैं और प्रत्येक लहर के साथ आत्मदर्शी का रूप उभरता और निखरता है। बाण सोचता है 'सचमुच ही क्या वह जीवन अभिनय है? यह पत्र-पत्र का बंधन, श्वास-प्रश्वास का दमन अभिनय ही तो है। इसी से आभास होता है कि यह द्विवेदी जी का अपना आत्मदर्शन है। विद्वानों ने तो कहा है कि यह आत्मकथा नहीं है। यह रचना तथ्यात्मक नहीं बल्कि कल्पना संभूत भावमूलक है।[3] इस में रस-योजना का प्रयत्न, लक्ष्य की प्रेरणा, घटनाओं का साहित्यिक व्यवस्थित रूप, चरित्र-चित्रण में भावात्मकता, वर्तमान समस्याओं का अनैतिहासिक रूप तथा उपसंहार और कथामुख का प्रयोग इसे आत्मकथा की सीमा से बाहर खींचकर, आत्मकथात्मक शैली के उपन्यास की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर देता है। यह एक कलात्मक जीवनी है, जिस में "मैं", द्विवेदी जी नहीं, बाणभट्ट है। इसमें द्विवेदी जी के व्यक्तिगत विचार, दर्शन, आदर्श यदा-कदा बाणभट्ट के माध्यम से प्रस्तुत हुए हैं, लेकिन इतिहासाश्रित दृष्टिगत होते हुए भी द्विवेदी जी के अपने और आधुनिक हैं और यही वह कसौटी है, जहां यह उपन्यास खरा उतरा है। अन्यथा यह न विशुद्ध उपन्यास है, न जीवनी, न आत्मकथा। लेकिन आधुनिक मनोवैज्ञानिक पद्धतियों के समयोग से इसकी शैली और भी तीव्र एवं पैनी हो गई है। इसकी कालावधि छः सात दिनों की है और बीच में तीन मास का अंतराल है।[4] इस दृष्टि से पाश्चात्य साहित्यकारों का प्रभाव भी माना जा सकता है, जैसे इस छोटी अवधि का प्रयोग वर्जीनिया वुल्फ और हेनरी जेम्स आदि उपन्यासकारों ने किया है, यही नहीं इस में दो परस्पर विरोधी दिशाओं में पड़ने वाले प्रेम को भी एक सूत्र कर दिया है। जैसे वासवदत्ता के रूप में शेक्सपीयर के ओथेलो की भांति निपुणिका का अभिनय भी वास्तविक था।

बिम्ब ही रूढ़ अर्थ में प्रतीक बन जाते हैं। शायद महावाराह का प्रयोग ऐसे ही प्रौढ़-प्रतीक रूप में हुआ है। सम्पूर्ण उपन्यास में धरती स्वरूप नारी अपनी परिस्थितियों में महावाराह की प्रतीक्षा कर रही है। नरक में पड़ी धरती का उद्धार नरक में जाकर महावाराह ने किया था, इसी प्रकार नारी-उद्धार के लिये पुरुष को सामने आना ही होगा। सम्पूर्ण उपन्यास का तंत्र इसी भावना से आप्लावित है। अतः महावाराह उपन्यास में प्रयुक्त प्रौढ़ प्रतीक है और यही उपन्यास का केन्द्रवर्ती मिथक भी है, अन्यथा स्मृत बिंबों से तो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' भरी पड़ी है स्वयं द्विवेदी जी ने उपसंहार में संकेत किया है—। कादम्बरी शैली के साथ उस की शैली में ऊपर से बहुत साम्य दिखता है। आंखों का प्राधान्य इस में भी अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक है रूप का, रंग का, सौन्दर्य का इस में जम कर वर्णन किया गया है। फिर कादम्बरी में प्रेम के जिन विकारों का, अनुभावों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का, अयत्नज अलंकारों का प्राचुर्य है उन के स्थान में कथा में मानस-विकारों का लज्जा का अविहत्था का, जड़िमा का अधिक प्राचुर्य है, इस प्रकार द्विवेदी जी ने इस में यथासमय दृष्टि-परक, श्रवण-परक, स्पर्श-परक, और मानसिक बिम्बों का समुचित प्रयोग किया है।[5]

कथानक के प्रारंभ और अन्त की सूत्रबद्धता का कौशल मध्यभाग में भी स्थिर रहा है। यह आत्मकथा आत्मकथात्मक पद्धति में विकसित हुई है। आत्मकथा का आख्याता इतिहास शैली के लेखक की तरह सर्वज्ञता के दावे से नहीं लिखता, अतएव स्वाभाविकता, यथाथिता के लिए स्थान-स्थान पर उसके सीमा-सूचक कथन मिलते रहते हैं जैसे मुझे इस बात का रहस्य बाद में मालूम हुआ (पृ०304) मेरा क्षोभ मेरे चेहरे पर जरूर प्रतिभासित हुआ होगा (पृ०7-8) मुझे सभी मंत्र याद नहीं हैं पर भाव उनके बड़े ही मनोरम थे (पृ०80-81)

'आत्मकथा' पर डायरी शैली का भी प्रभाव है जो सर्वथा युगीन है। द्विवेदी जी ने कथावस्तु के विन्यास के संवध में लिखा है 'कथा को ध्यान से पढ़ने वाला प्रत्येक सहृदय अनुभव करेगा कि कथा-लेखक जिस समय कथा लिखना शुरू करता है, उस समय उसे समूची घटना ज्ञात नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि डायरी शैली की तरह जैसे-जैसे घटनाएँ अग्रसर होती रही हैं, वैसे-वैसे लेखक उन्हें लिपिबद्ध करता जा रहा है। जहाँ उसके भावावेग की गति तीव्र होती है, वहां वह जम कर लिखता है, परन्तु जहां दुःख का आवेग बढ़ जाता है, वहां उस की लेखनी शिथिल हो जाती है। अंतिम उच्छ्वास में भी वह जैसे अपने में ही डूबा रहा है। संस्कृत साहित्य में यह शैली एक दम अपरिचित है, मुझे यह बात संदेह-जनक प्रतीत हुई (पृ०305)इस से इसकी निजता, शैली की सांकेतिका, और हार्दिकता और भी बढ़ गई है। यही नहीं इसके नियोजित संवाद, शंका-समाधान के लिए प्रश्नोत्तर, गद्यगीत, और पत्रों आदि ने इस शै[ली] को और भी समृद्ध किया है। (पृ०6,94-100,17[illegible] 180, 201, 265, 267 बाणभट्ट की आत्मकथा)

आत्मकथात्मक शैली में लिखे इस उपन्यास की अप[नी] न्यूनताएँ भी हैं जो ललित एवं विस्तृत वाक्य-विन्या[स] लम्बी वर्णनावली, अनावश्यक प्रसंगों का जमघट ज[ैसे] फागुन की पूर्णिमा, काव्यकुब्ज प्रमत्त मदनोत्सव इत्या[दि] का सांगोपांग वर्णन आदि के कारण आ गई है। इन[के] संयोगों के चमत्कारों की सृष्टि भी तार्किक, स्वाभावि[क] और एवं सार्थक नहीं लगती। जैसे निपुणिका भी गं[गा] में कूदी थी, पर महामाया भैरवी का आकस्मिक प्रवे[श] और वज्र तीर्थ के मन्दिर में पुनः सब का मिलन तथा निपुणिका का उन्माद-पूर्ण रसात्मक नृत्य आदि। यद्यपि कुछ-एक घटनाओं की संगति बिठाने का प्रयत्न किया गया है लेकिन सभी का औचित्य बिठाना कठिन हो गया है।

इस के अतिरिक्त जहां इसकी आलंकारि[क] उत्प्रेक्षात्मक भाषा, शैली का घनत्व, शब्दावली की चित्रमयता, रहस्यमयता इसके सौन्दर्य-वर्द्धन में सहायक हुई है, वहां पग-पग पर अप्रचलित शब्दों के प्रयोगों, एवं उक्तियों के कारण पाठकों के रसोद्रेक में बाधा भी कम नहीं पड़ी है! जैसे प्रच्छद पट (चादर) सिकट करण्ड[क] (मोमबत्ती की पिटारी) तिरष्करणी (परदा) दीर्घिका (तालाब) अशुकांत (आंचल) इत्यादि।[6] इन की भाषा का महा मर्मज्ञ भी एक बार सिर-पकड़ कर बैठ जाता है। इस कृति को पढ़ने के लिए संस्कृत का प्रकांड पंडित होना अनिवार्य है और यही इसकी औपन्यासिक कमजोरी के रूप में उजागर होती है। अन्यथा इसे आजके बड़े-बड़े आत्मकथात्मक शैली के कथाकारों की कृतियों का शीर्ष कहा जा सकता है। जैनेन्द्र के उपन्यास त्यागपत्र को इस शैली का मील-पत्थर माना जा सकता है। 'त्यागपत्र' की कथा संक्षिप्त, प्रवाहमयी, संवेदनात्मक, लघु एवं प्रभाव-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाली है। इसके बाद शेखर एक जीवनी, रमेश बक्षी के लगभग सभी उपन्यास (अठारह सूरज के पौधे, चलता हुआ लावा, खुलेआम, वैशाखियों वाली इमारत, हम तिनके) नरेश मेहता के धूमकेतु : एक श्रुति, नदी यशस्वी है, डूबते मस्तूल, कमलेश्वर के डाक बंगला, तीसरा आदमी इत्यादि आत्मकथात्मक शैली की उपलब्धियों में भी इसे शीर्ष-स्थान पर रखा जा सकता है जो आत्मकथात्मक शैली के असंख्य असंभव तत्वों को अपने में समाहित किये हुए भी एक सफलतम आत्मकथात्मक शैली का उपन्यास है।

निष्कर्ष रूप में अपने औपचारिक कलेवर में भी यह आधुनिक युग का महाकाव्य कहला सकता है क्योंकि यह अपने में महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षणों को समाहित किए हुए है, जैसे महत्त-नायक, रसयोजना, प्रकृति वर्णन, इतिहास-प्रसिद्ध कथानक, गीतमयी भाषा इत्यादि। आत्मकथात्मक शैली के उपन्यास में ऐसी महाकाव्यीय विशिष्टताओं के समुच्चय के रूप में शायद यह पहला उपन्यास है, इसीलिए शायद इसे नलिन विलोचन शर्मा ने साहित्यिक परकाय प्रवेश, श्री देवराज उपाध्याय ने अतीत का पुनर्निर्माण और श्री भगवत शरण उपाध्याय ने निरन्ध्र इतिहास कहा है।[7]

---

1. सिंह, त्रिभुवन, हिंदी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग, वाराणसी : हिंदी प्रचारक संस्थान प्र. स. 1973.
2. सक्सेना, उषा, हिंदी उपन्यासों का शिल्पगत विकास, इलाहाबाद : साहित्य प्रकाशन, प्र. स. 1972
3. सिंहल, शशिभूषण, हिंदी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ, आगरा : प्र. स. 1970
4. सुभद्रा, हिंदी उपन्यास परम्परा और प्रयोग, दिल्ली : अलंकार प्रकाशन प्र. स. 1974
5. हरदयाल, बाणभट्ट की आत्मकथा, आधुनिक हिंदी उपन्यास, सं. नरेन्द्र मोहन पृ. 112
6. चुघ, सत्यपाल, प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में शिल्पविधि, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन प्र. स. 1968
7. त्रिपाठी, विश्वनाथ, आलोचना (1972) लेख, हजारी प्रसाद द्विवेदी की रचनाभूमि पृ. 81

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा पी० एच० डी० के स्वीकृत शोध-विषय
अप्रैल 1979 से मार्च 1980 तक

संख्या	शोधार्थी का नाम	विषय
.	श्याम सुन्दर	संत कवि दयाल दास : व्यक्तित्व और कृतित्व
.	प्रतिभा नैन्सी	मोहन राकेश के पात्रों का समाज-मनोवैज्ञानिक अध्ययन
.	श्रीमती सुदर्शन सेठ	भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य में ग्राम-चेतना
.	प्रमिला शुक्ला	कवि जयशंकर प्रसाद की रचना-प्रक्रिया
.	कृष्ण कुमार मौदगिल	चौरासी वैष्णवन की वार्ता—एक सांस्कृतिक अध्ययन
.	जगदीश चन्द्र शर्मा	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में विद्रोह
.	श्रीमती देवेच्छा	पचासोत्तरी हिन्दी कहानी: तीसरे आदमी की अवधारणा एवं स्वरूप (प्रमुख कहानी लेखिकाओं के संदर्भ में)
.	अमर सिंह वधान	समकालीन हिन्दी कहानी और सचेतना दृष्टि
9.	रामजीदास शर्मा	पंजाब की हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों में मानव-मूल्यों का अध्ययन (छठी से दसवीं तक)
.	वीणा रानी	आधुनिकता के संदर्भ में पौराणिक नाटक
.	जीत सिंह	नाट्य एवं रंग-प्रतीक : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाट्य साहित्य के संदर्भ में (1950-75)
.	श्रीमती ऊषा रानी गुप्ता	भारत-विभाजन के संदर्भ में हिन्दी कथा-साहित्य का अध्ययन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीसवाँ अंक, मार्च १९८०

मूल्य : पाँच रुपया

प्रकाशक तथा वितरक
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

डॉ० धर्मपाल मैनी द्वारा सम्पादित और अकाल प्रिंटमैटिक्स, एस. सी. ओ. 138,
सैक्टर 24, चण्डीगढ़ द्वारा मुद्रित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब यूनिवर्सिटी चण्डीगढ़

प्रेमचन्द विशेषांक

परिशोध

ज्योतिर्गमय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

सम्पादक

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० धर्मपाल मैनी

सह सम्पादक

डा० वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता

डा० यश गुलाटी

क्रम

सम्पादकीय

गरिमामय उपन्यासकार प्रेमचन्द 1 डॉ० धर्मपाल मैनी

शोध निबन्ध

कथाकार प्रेमचन्द की मूल संवेदनाएं 3 डा० शशिभूषण सिंहल

उपन्यासकार प्रेमचन्द का समकालीन बोध 14 डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

चिट्ठियां बोलती हैं 20 डा० शैलेश ज़ैदी

प्रेमचन्द : युगचेतना का सन्दर्भ 39 डा० नरेन्द्र मोहन

प्रेमचन्द की यथार्थ चेतना 44 डा० रामदरश मिश्र

प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया 51 डा० गंगा प्रसाद विमल

समकालीन लेखन और प्रेमचन्द का विरसा—कहानी का संदर्भ 60 डा० भगवान दास वर्मा

प्रेमन्चद की नाट्य प्रतिभा 63 डा० दुर्गा दीक्षित

गोदान के प्रेरणा-स्रोत 69 डा० कमल किशोर गोयनका

प्रेमचन्द के उपन्यासों में अस्तित्ववाद और निर्वैयक्तिकता के संकेत 72 डा० विनय

प्रेमचन्द की कहानियों में नैतिक मूल्यों का संघर्ष 76 डा० कीर्ति केसर

प्रेमचन्द की उपन्यास-यात्रा 85 डा० यश गुलाटी

गोदान की दो पाण्डुलिपियां 107 डा० जाफ़र रज़ा

प्रेमचन्द का साहित्यिक व्यक्तित्व : एक पुनर्मूल्यांकन 112 डा० एन. ई. विश्वनाथ अय्यर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गरिमामय उपन्यासकार प्रेमचन्द

'सहज अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति' को उत्कृष्ट साहित्य की कसौटी माना जा सकता है। मुझे लगता है यह कसौटी शाश्वत और समसामयिक—दोनों ही प्रकार के साहित्य एवं मूल्यों को अपने में संजोए हुए है, अतः शाश्वत भी स्वीकार की जा सकती है। कोई भी कृति देश और काल की सीमाओं को लांघ कर यदि इस कसौटी पर खरी उतरती है, तो उसमें अवश्य 'कुछ' है—ऐसा 'कुछ' जो उसे कभी मरने नहीं देता है—अमर कर देता है। और अगर कहीं वह व्यापक जन-समाज की चेतना को जगाकर युग-युग तक उसे प्रभावित भी करती चलती है, तो वह कृति निश्चय ही 'महान्' की श्रेणी में भी आ जाती है और मुझे लगता है कम से कम प्रेमचन्द का 'गोदान' इस श्रेणी में अवश्य आ जाता है।

आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व जब मैंने पहली बार गोदान पढ़ा था, तभी उसके कुछ अंशों ने मुझे इतना प्रभावित किया था कि जीवन की इस यात्रा में उन्हें कभी भुला नहीं सका। इतना ही नहीं सच तो यह है कि उनमें अन्तर्हित सत्य एवं उसके अभिव्यक्ति-कौशल से अभिभूत मैं सदा ही उन्हें उद्धृत भी करता आया हूं। अच्छा साहित्य वही ता है, जो सहृदय पर ऐसी अमिट छाप छोड़ जाये, जो सशक्त प्रभाव के रूप में उसका संस्कार ही बन जाये। जिन सत्यों को प्रेमचन्द ने अपनी 'सहज अनुभूति' में अवतरित पाया, वे जीवंत-जीवन के शाश्वत मानवीय मूल्यों से प्रायः सम्बन्धित हैं और यथार्थ के कालुष्य-पूर्ण वातावरण ने उन्हें इतना धवलित कर दिया है कि वे अपनी अमिट ज्योति से न केवल प्रेमचंद के अंतर्मन को ही आलोकित कर सके, अपितु उनकी कृति एवं 'कलात्मक अभिव्यक्ति' के माध्यम से सम-सामयिक जन-मानस में भी बहुत गहराई तक घर कर गए। जहाँ तक मुझे याद है, 'मरजाद' का रक्षक होरी—अपनी सीमा, शक्ति और सामर्थ्य का उल्लंघन कर, अर्थाभाव में—अनुनय, विनय कर उधार लेकर, आवेशपूर्णा, स्पष्टवादिनी धनिया से चोरी, झोली में रुपये लेकर दारोगा को देने का प्रयत्न करता है। और आक्रोश-विह्वला धनिया—जिसने अपनी अन्तः प्रज्ञा (सिक्स्थ सैंस) से ही सारी स्थिति को भाँप लिया है, ऐसे अवसर को हाथ से कैसे जाने दे सकती है? झपट्टा मारकर वह उस राशि को बिखेर देती है—और बिखेर देती है सभी के दुर्बल व्यक्तित्व की अनैतिक चेतना को। दारोगा ही क्या, गाँव के वे सभी तथा-कथित उच्च-अधिकारी एवं चौधरी—जो होरी को इस मनः स्थिति तक लाए थे—धनिया की यह चपेट न सह सके—और बिखर गए। तब प्रेमचंद ने कहा है—'सत्य की एक चिंगारी असत्य के पहाड़ को भस्म कर देने के लिए पर्याप्त है।' है न घोर यथार्थ के माध्यम से शाश्वत सत्य की अनुभूति-परायण कलात्मक अभिव्यक्ति! यही प्रेमचंद की गरिमा का मूलाधार है। सत्य कथ्य का प्राण है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो सुन्दर उसका देह - जो दोनों शिव लोक-कल्याण की चेतना के माध्यम से जुड़कर अभिव्यक्ति पा सके हैं—इस प्रकार प्रेमचंद में अनायास ही सत्य, शिव और सुन्दर का संयोजन हुआ है। इसमें महत्त्व-पूर्ण है 'अनायास' ही। अंत तक आते-आते उनके जीवन के गत्यात्मक, विशद, व्यापक एवं वैविध्यपूर्ण अनुभवों ने जहां प्रेमचंद की सम्वेदना को अति समृद्ध कर दिया था, वहां सतत प्रवाहशील लेखनी ने भी उनकी भाषा को माँजकर ग्राम्य होते हुए भी साहित्यिक तथा शैली को पात्रानकूल, सरल, सरस एवं प्रवाहपूर्ण होते हुए भी सशक्त बना दिया था। इन्हें ही मैं प्रेमचंद की गरिमा के आधार-बिन्दु समझता हूँ।

आलोचक उन्हें प्रथम कोटि का उपन्यासकार मानें या न? मुझे इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। क्योंकि ऐसे आलोचक भूल गए हैं कि जिन कसौटियों पर वे प्रेमचंद के उपन्यासकार को कसते हैं, वे कसौटियाँ ही समय की मार पर खरी नहीं उतरतीं—यहाँ तो कसौटियों की आधार-भूमि प्रस्तुत करने वाली कृति स्वतः है। अतः उसे तो उसी पर कसा जा सकता है। समाज के विषाक्त यथार्थ के माध्यम से महज अनुभूत सत्य को ऐसी प्रभावोत्पादक कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करना और अनायास ही जन-मानस को निरंतर अभिभूत कर अप्रत्यक्षतः शाश्वत संदेश छोड़ जाना—किसी ही महिमामय प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार की गरिमा हो सकती है। और प्रेमचंद ऐसी ही प्रतिभा के धनी अमर कलाकार हैं। जब-जब उन्हें पढ़ा है, यही अनुभव किया है। उसका प्रेरक लेखक आज भी जीवित है, नई पीढ़ी भी इसे भुला नहीं सकी—भुला नहीं सकती, भुला नहीं सकेगी—क्या उसकी गरिमा की यही कसौटी पर्याप्त नहीं है!

धन्य है तुम्हारी लेखनी उपन्यास-सम्राट्!

धर्मपाल मैनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथाकार प्रेमचन्द की मूल संवेदनाएँ

डॉ० शशिभूषण सिंहल
आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक

हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ

कलाकार अपनी मूल संवेदना को जीवन के विविध प्रकरणों में ढालकर रचना का रूप देता है। हिन्दी के सुविख्यात कथाकार मुंशी प्रेमचन्द की कला इस दृष्टि से विचारणीय है। उनकी कला की मूल संवेदना करुणा और व्यंग्य है। करुणा, उनके मन में, पीड़ितों के प्रति है और व्यंग्य पीड़कों के प्रति। इस संवेदना से वे दुनिया को सहज बनाना चाहते हैं, उसके अभाव को दूर करना चाहते हैं। अभाव को दूर करने के बाद भाव की स्थिति आती है; फिर वह मानव-सम्बन्धों को प्रेम-भाव से भरने का प्रयत्न करते हैं। प्रेमचन्द की इन तीनों संवेदनाओं, क्रमशः करुणा, व्यंग्य तथा प्रेम के स्वरूप तथा उनके कथा-साहित्य में इनकी अभिव्यक्ति का, सोदाहरण किन्तु सूत्र-रूप में, यहाँ विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रेमचंद में करुणा

मानव-जीवन में पग-पग पर दुःख है और उसकी चरम परिणति मृत्यु है। इस नैसर्गिक पीड़ा के अतिरिक्त मनुष्य ने अपने अहं एवं स्वार्थ के कारण जीवन को और भी दूभर बना लिया है। ऐसे दुःखी प्राणी को कलाकार प्रेमचन्द ने सहज संवेदना दी है। मन की उदारता का सूचक रुदन, उनकी दृष्टि में, आत्मकेन्द्रित हास्य से कहीं बढ़कर है। वे लिखते हैं—'रुदन में कितना उल्लास, कितनी शान्ति, कितना बल है। जो कभी एकान्त में बैठकर किसी की स्मृति, किसी के वियोग में सिसक-सिसक कर और बिलख-बिलख कर नहीं रोया, वह जीवन के ऐसे सुख से वंचित है, जिस पर सैंकड़ों हँसियाँ न्योछावर हैं। उस मीठी वेदना का आनन्द उन्हीं से पूछो जिन्होंने यह आनन्द प्राप्त किया है।' (गबन-परि० 35) इसीलिए प्रेमचन्द के साहित्य का मूल स्वर करुणा का है। गहन करुणा को तीखी व्यंजना देने के लिए वे व्यंग्य का आश्रय लेते हैं। ये दोनों स्वर उनकी रचनाओं में समवेत हैं। करुणा के तल में, जीवन की विषमताओं को व्यंजित करता हुआ व्यंग्य मन्द-मन्द प्रतिध्वनित होता चलता है।

प्रेमचन्द के कथा-जगत् में पीड़ित-मात्र के प्रति संवेदनशीलता है। पीड़ितों के दुःख-दर्द पर कातर हो उसे बाँट लेने की प्रेरणा उनकी रचनाएँ देती हैं। उनकी संवेदना के दो स्तर हैं—वह गहन रूप में 'करुणा' तथा संयत रूप में 'सहानुभूति' है। पहले हम करुणा पर विचार करेंगे। जब दूसरों का दुःख परायापन दूर करके, उन्हें हमारे समीप लाता है, उस समय उस दुःख को दूर करने की तीव्र कामना हमारे मन में जगती है। परदुःख की मर्मानुभूति तथा दुःख को दूर करने का संकल्प ही, करुणा है। दुःखी व्यक्ति जितना निर्दोष और निरीह है और उसका दुःख जितना अनुभवगम्य है, हमारी करुणा उस पर उतनी अधिक होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पंजाब विश्वविद्यालय

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विपन्न किसान

पीड़ित वर्ग में प्रेमचन्द ने कृषिप्रधान देश भारत के आर्थिक ढाँचे के मूलाधार किसान की शोचनीय दशा का विराट् चित्र प्रस्तुत किया है। किसान मध्ययुग में शासकों तथा आक्रामकों के पैरों तले रौंदा जाता रहा है। प्रेमचन्द-साहित्य में उसका स्वरूप इस प्रकार है: 'राजा अंग्रेज हैं और उनका प्रतिनिधि ज़मींदार किसानों का 'अन्नदाता' है। खेतों में मर-खपकर पैदा किया हुआ अन्न उसे भेंट कर, बचे-खुचे से अधपेट जीने वाला किसान हो गया है उसकी रियाया। सरकारी, ग़ैर-सरकारी कर्मचारी दोनों के बिचौलिये बन गये हैं। ये सब परजीवी अनेक हाथ-पैरों से किसान का शोषण कर अपना उल्लू सीधा करने में लगे हुए हैं। किसानों का तिल-तिल कर, रक्त चूसने वाली जोंक जैसी एक अन्य शक्ति है महाजन। महाजनी दलदल में एक बार पैर रख देने पर किसान ऋणग्रस्तता से कभी छुटकारा नहीं पाता। अन्ततः वह अपने इहलोक और 'परलोक' दोनों का सुख गँवाकर मर जाता है। (विशेष द्रष्टव्य—कहानी 'ढाई सेर गेहूं' तथा उपन्यास 'प्रेमाश्रम' एवं 'गोदान')

किसानों का जीवन कोरी दासता का है। गाँव में इस वर्ग का एक भी आदमी नहीं है, जिसकी रोनी सूरत न हो। भविष्य, अन्धकार के समान उनके सामने है। उनकी सारी चेतनाएँ शिथिल हो गयी हैं। वे पतन की चरम सीमा पर पहुंच गये हैं, जब मनुष्य लज्जा और सम्मान को भी भूल जाता है। ('गोदान') किसान दमित होते-होते, पक्के भाग्यवादी और पस्त-हिम्मत हो गये हैं। उनमें शिक्षा और जागृति का सर्वथा अभाव है। वे निरीहता के कारण आधिदैविक अन्धविश्वासों से ग्रस्त हैं। वे शक्ति मात्र से पीड़ित रहने के कारण अभ्यासवश उस 'अज्ञात' के प्रति भी भय-भावना से समर्पित हैं। ('वरदान')

प्रेमचन्द ने अनेक कहानियों तथा वरदान, प्रेमाश्रम, कायाकल्प और कर्मभूमि, उपन्यासों में किसी न किसी प्रकार किसान-जीवन का करुण चित्र प्रस्तुत किया है। किन्तु 'गोदान' में प्रथम बार उन्होंने भारतीय किसान को व्यक्ति के रूप में निकट से देखा है। 'गोदान' का होरी भारतीय किसान का प्रतिनिधि, जातीय पात्र है। अपनी सहज दुर्बलता, कष्टों और मार्मिक पीड़ाओं के कारण वह पाठकों की गहन संवेदना का विषय बन अविस्मरणीय हो गया है। समाज-प्रदत्त विपत्ति और आन्तरिक दुर्बलता के दुश्चक्र में पड़कर होरी जीविका और मनःशान्ति ही नहीं खोता, वरन् अन्तिम अवलम्बन 'मर्यादा' और 'धर्म' से भी हाथ धो बैठता है। 'गोदान' में प्रेमचन्द की किसान-जीवन की दारुण दशा के प्रति करुणा की चरम अभिव्यक्ति हुई है। उनकी करुण भावना के तल में गहरे अध्ययन और गम्भीर चिन्तन के तत्त्व स्थायी रूप से विद्यमान हैं। उस सामयिक चित्रण में शाश्वत मानव-संवेदना का सर्वत्र, सदैव दर्शन सुलभ है।

दुःखिनी नारी—वर्ग रूप में, किसान के अतिरिक्त प्रेमचन्द्र की करुणा नारी को प्राप्त हुई है। प्रबल पुरुष की पाशव स्वार्थ-वृत्ति का दुष्फल नारी युगों से भोगती आयी है। नारी की दयनीय दशा का 'प्रतिज्ञा' (पूर्णा), 'सेवा-सदन' (सुमन), 'निर्मला' (निर्मला) 'ग़बन' (रतन) 'कर्मभूमि' (मुन्नी, नैना) तथा 'गोदान' (भुनिया, सिलिया, गोविन्दी) में अधिक चित्रण है। विवाह-सम्बन्ध में पुरुष दहेज प्राप्त करना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है। यदि कन्या का पिता विवशता के कारण यह कर चुकाने में असमर्थ है, तो दण्ड-स्वरूप लड़की को पति रूप में, आयु, स्थिति, बुद्धि की दृष्टि से बेमेल पुरुष को अपनाना पड़ता है। 'ग़बन' में युवती रतन का वृद्ध पति के साथ दाम्पत्य जीवन शून्य है। पति की मृत्यु से, वह सहारा भी छिन जाने पर वह कानूनन पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी नहीं है। प्रत्युत्तर में जो अवमानना उसे प्राप्त हुई है वह पाठक को द्रवित कर देती है।

'सेवासदन' में दहेज और अनमेल विवाह वेश्या-वृत्ति तथा वेश्या-सुधार रूपी कार्य के कारण बन कर आए हैं। वहाँ नारी की गहन अन्तर्वेद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का यथोचित चित्रण नहीं हो पाया है। इस दृष्टि से 'निर्मला' उल्लेखनीय है। निर्मला का दहेज के अभाव में अनमेल विवाह दुहाजू, अधेड़, शक्की तोताराम से होता है। पूरा उपन्यास विषादयुक्त है। निर्मला की विषम पति-प्राप्ति की पीड़ा, घर के बच्चों के निर्ममतापूर्वक एक-एक करके मिट जाने और परिवार-मात्र के उजड़ जाने से घनीभूत हो गयी है। कथा की अनेक घटनाएँ संयोगाश्रित होने पर भी, उसमें व्याप्त गहन करुणा पाठक के मर्म को छू जाती हैं। 'निर्मला' प्रेमचन्द का करुणतम उपन्यास है।

दुराशा और दारुण प्रसंग--निरन्तर असफलताओं की चोटें खाकर यथार्थवादी प्रेमचन्द को जीवन में आशा का आश्वासन कम मिला है। दुराशा उन्हें भविष्य के प्रति कम आश्वस्त होने देती है। 'होनी' के भय से उनकी कथाओं के विकास तथा पात्रों के मन में आशंका समाई रहती है। यह बात तुलना से अधिक स्पष्ट होगी। नाटककार जयशंकर प्रसाद के पात्र नियति की डोरी पकड़कर आश्वस्त भाव से कर्म-कूप में कूदते हैं। भविष्य के प्रति वे दार्शनिक भाव से तटस्थ हैं। उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा के पात्र अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति, कर्म-द्वारा करके, निश्चिन्त हैं; फलस्वरूप सफलता या असफलता कुछ भी मिले; उनमें भविष्य के लिए उत्साह और निर्द्वन्द्वता है। प्रेमचन्द के पात्र आशा-दुराशा में खटते-पिसते मानो जर्जर हो गये हैं। उन्होंने अनुभव किया है—'अपने मन कछु और है, कर्ता के कछु और!' वे आशंकित हो, जीवन की परिणति हताशा और मृत्यु में अनुभव करते हैं। वे धड़कते हृदय, क्रूर नियति को झेलने आगे बढ़ते हैं और जीवन की चिर-संचित अभिलाषाएँ मृत्यु के एक धक्के से चूर हो बिखर जाती हैं। सुवामा को पति की तीर्थ-यात्रा के समय चिर विछोह का एकाएक बोध हो जाता है। (वरदान) निर्मला का अच्छे घर में विवाह निश्चित हुआ हैं, किन्तु उसके रोम-रोम मे अज्ञात भय का संचार हो गया है। (निर्मला) सोफ़िया को विवाह से पहले भावी विनाश का मन में सन्देह है (रंगभूमि)। राजा विशालसिंह को नाती के अभिषेक से पूर्व भावी विनाश का निश्चय है। उसके अनुसार, "(ईश्वर को) अपने ही रचे हुए प्राणियों को सताने में आनन्द मिलता है।" (कायाकल्प)।

पीड़ित पात्रों के प्रति करुण भावना को गहन करने के लिए भी प्रेमचन्द उनके विछोह, कष्ट तथा मृत्यु के प्रसंग आयोजित करते हैं। 'निर्मला' जैसे लघुकाय उपन्यास में ही लगातार छः मृत्युएँ होती हैं। प्रेमचन्द की कथाओं में उल्लेखनीय मरने वाले पात्रों की सूची पर्याप्त दीर्घ है।

सहानुभूति—कहा जा चुका है, प्रेमचन्द की संवेदना के दो स्तर हैं, करुणा और सहानुभूति। पीड़ितों के प्रति उनमें गहन करुण भाव है। करुणा की अनुभूति में प्रगाढ़ता है, हम उसमें सहभागी, संलग्न और सक्रिय रहते हैं। प्रेमचन्द साथ ही, पीड़क या सुखी वर्ग को मानव के नाते देखने-जानने में उपेक्षा नहीं बरतते। जो पीड़क है, वह अन्ततः मनुष्य है। वह भी अपने स्वभाव या परिस्थितिजन्य दबाव के कारण भीतर-भीतर पीड़ा भोग रहा है। उसकी पीड़ा को प्रेमचन्द पाठक के सामने लाना नहीं भूलते और उसे सहानुभूति प्रदान करते हैं। यदि करुणा में प्रगाढ़ता है, तो सहानुभूति में अन्य के क्लेश का परिज्ञान-मात्र है। यह परिज्ञान सक्रिय और प्रगाढ़ नहीं है, ठण्डा और तटस्थ है। द्रष्टा सोचता है, दूसरा व्यक्ति 'करुण पात्र' की भाँति निर्दोष और निरीह न सही, तो भी मनुष्य है, उसे भी कहीं कुछ चुभ रहा है। उसके प्रति उपेक्षा धारण कर निर्मम नहीं हुआ जा सकता। उसके अनजाने दुःखद रहस्यों को वह रुचिपूर्वक देखता है। इस प्रकार की सहानुभूति कहानियों की अपेक्षा प्रेमचन्द के उपन्यासों में अधिक द्रष्टव्य है। उनके पीड़क पात्र 'टाइप'-मात्र नहीं हैं। वे बुरे ही बुरे न बने रहकर, अपनी मनोव्यथा से पाठक को समीप ले आते हैं। वे आत्मावलोकन के क्षणों में पारदर्शी हो उठते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचन्द का चोटी का खल-पात्र ज्ञानशंकर (प्रेमाश्रम) स्वार्थवश सभी पर अत्याचार करता है। फिर भी वह महत्त्वाकांक्षा, ईर्ष्या, द्वेष, आदि के कारण विषम पीड़ा भोगता दिखाया गया है। अन्त में असफल मनोरथ आत्मघात करते समय वह फूट पड़ता है—"हा वैभव लालसा! तेरी बलिवेदी पर मैंने क्या नहीं चढ़ाया? ..मनुष्य कितना दीन, कितना परवश है! भावी कितनी प्रबल, कितनी कठोर! ..मरना तो नहीं चाहता, पर जीऊँ कैसे?" उपन्यासकार ने 'मानव-चरित्र न बिल्कुल श्यामल होता है न बिल्कुल श्वेत। वह अपनी परिस्थितियों का खिलौना मात्र है।' कहकर, उसे सहानुभूति ही दी है। कायाकल्प की विलासिनी रानी देवप्रिया और हवस का पुतला निर्मम राजा विशालसिंह ये दोनों सब कुछ पाकर भी भीतर से कितने रीते और हाहाकार लिए हुए हैं। 'ग़बन' के वकील ने बीमारी-बुढ़ापे में युवती रतन से विवाह कर स्वार्थ वृत्ति का परिचय दिया है। मरणासन्न दशा में उसकी दुर्बल विकलता पर हम पसीज उठते हैं। वह मृत जवान बेटे को स्वप्न में देखकर उसे पुकारता है और वास्तव जीवन के बोध में लौटकर लजाकर मुस्कराता है। उस मुस्कान में हृदयबेधी दैन्य है। प्रेमचन्द का कथन 'जीवन एक दीर्घ पश्चात्ताप के सिवा और क्या है।' इस प्रसंग में बड़ा सटीक है। 'गोदान' में अन्नदाता किसान मर-खप कर भी विपन्न है, किन्तु परजीवी ज़मींदार रायसाहब बिना कुछ किये सम्पन्न है। पीड़ित तो दुःखी है ही, पीड़क भी सुखी नहीं है। पीड़क अपने ही बुने परिस्थिति के विषम जाल में फँसकर तड़फड़ा रहा है। उसकी दीन विकलता इस वाक्य में मुखर हो उठी है—"जीवन की ट्रेजेडी और इसके सिवा क्या है कि आपकी आत्मा जो काम करना नहीं चाहती, वही आपको करना पड़े।"

करुणा-योजना—अन्त में प्रेमचन्द की करुणा-योजना विवेचनीय है। वे असहाय, अबोध को अधिक करुणा देते हैं। 'गृहदाह' कहानी में लिखते हैं—'मातृविहीन बालक संसार का सबसे करुणाजनक प्राणी है।' कहानी में बच्चा 'नई माँ' के आने से प्रसन्न है किन्तु विमाता को 'अम्माँ' सम्बोधन तक असह्य है। तिरस्कृत होकर वही होनहार बालक एकान्तप्रिय, मैला-कुचैला, निर्बुद्धि और निस्तेज हो जाता है। यही स्थिति 'कर्मभूमि' में अमरकान्त की है। 'बूढ़ी काकी' प्रेमचन्द की करुणतम कहानी है। इसके विश्लेषण से उनकी करुणा-चित्रण विधि स्पष्ट हो जाती है—कहानी छोटी है, केवल बारह पृष्ठों की। इसके बयान में सादगी और सच्चाई है। लेखक की तटस्थता की मुद्रा है। फलतः कहानी का प्रत्येक वाक्य पाठक के हृदय को करुणा-विगलित कर देता है। सहभागी बनकर पाठक मानो आपबीती सुनता चलता है।

करुणा की पात्र बूढ़ी काकी है। असहाय, दुर्बल, हतज्ञान। भाग्य की उस पर मार है; चिरकाल की विधवा है और जवान बेटे जिसके चल बसे हैं। सम्पत्ति लेकर स्वार्थी भतीजे ने उसे ठुकरा दिया है। एक ओर उसकी असीम निरीहता और दूसरी ओर भतीजे की वज्र निष्ठुरता। विषमता से स्थिति का रंग गाढ़ा हो जाता है। वैषम्य-प्रदर्शन प्रेमचन्द का प्रिय साधन है। विषमता आगे बढ़ती है। काकी पर दोहरी मार है। उसकी भूख बढ़ गयी है, 'बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन हुआ करता है।' जिह्वा-स्वाद के सिवा कोई चेष्टा नहीं, दूसरों का ध्यान दिलाने के लिए रोने के अतिरिक्त सहारा नहीं। एक ओर भीतर के स्वभाव की विवशता है; दूसरी ओर परिस्थिति की जकड़न है। घर वाले उसे खाना नहीं देना चाहते। काकी की भूख-विह्वलता पर पाठक पहले हँसने को होता है, किन्तु निरीहता और निर्ममता की टकराहट देखकर स्तब्ध रह जाता है। घर में तिलक का उत्सव है। दुनिया राग-रंग में मस्त है और भूखी दुखिया अपने में अकेली है।

विषमता आवृत्ति-द्वारा नाटकीय हो उठती है। अभागी बूढ़ी को घर वाले एक नहीं दो बार बाहर से लाकर अँधेरी कोठरी में पटकते हैं। काकी निःशब्द पछताती भर है। पाठक का हृदय पीड़ा से लबालब है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घर के समझदारों का विवेक सो गया है पर बच्ची अत्याचार से विकल है। ईश्वर उस सरल मन में जाग रहा है। क्षुधातुर काकी को रात में झूठी पत्तलें चाटते देख गृहिणी रूपा का विवेक भय और करुणा की चोट खाकर जागता है—"परमात्मा, मेरे बच्चों पर दया करो। इस अधर्म का दण्ड मुझे मत दो नहीं तो हमारा सत्यानाश हो जायेगा।"—खाना पाने पर काकी बच्चों की तरह मार भूलकर मनोयोग से खाये जा रही है। रूपा के जागरण से पाठक को चैन पड़ता है। अन्यथा, उसका चित्त दाह से आकुल रह जाता।

पात्र की निरीहता, वर्णन की सादगी-सचाई, स्थिति की विषमता-नाटकीयता और अन्त में भाव की समुचित अभिव्यक्ति, ये सब प्रेमचन्द की प्रगाढ़ करुणा के मूल तत्त्व हैं।

प्रेमचन्द में व्यंग्य

कहा जा चुका है, प्रेमचन्द के कथा-साहित्य का मूल स्वर करुणा और व्यंग्य का है। वर्तमान जीवन की अप्रिय अवस्थाओं का अन्त करने के लिए उसमें निहित असंगतियों के प्रति प्रेमचन्द ने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है और यथासम्भव तत्सम्बन्धी हल या सुधार प्रयोग रूप में, प्रस्तुत किये हैं। समाज में जो पीड़ित हैं, उनके प्रति प्रेमचन्द ने करुणा जगाई है और जो पीड़क हैं, शोषक और पाखण्डी हैं, उन पर व्यंग्य किया है। उनकी कथाओं में जहाँ व्यंग्य प्रखर है, वहीं तल में करुणा का मन्द स्वर है और जहाँ करुणा गहन हो गयी है, वहाँ सुप्त व्यंग्य है।

व्यंग्य का अर्थ है--विषमता का प्रखर बोध। व्यंग्य-रचना में तीन पक्ष रहते हैं: जीवन की प्रस्तुत स्थिति, लेखक का कथन और निहित आशय। इन तीनों में प्रत्यक्षतः जितनी विषमता और मूलतः जितनी अन्विति रहती है, व्यंग्य उतना ही मार्मिक होता है।

व्यंग्य, विषमता का बोध व्यंजना वृत्ति द्वारा कराता है। वह कथन का संकेतितार्थ या गूढार्थ प्रस्तुत करता है। किसी ने ठीक ही कहा है—"मज़ाक करना मज़ाक नहीं है, मज़ाक करना एक कला है।" इसी तरह व्यंग्य द्वारा अपने मन्तव्य को जीवन के सन्दर्भ में अभिव्यक्ति देना कला है। व्यंग्यकार को शब्द की गागर में सागर भरकर सहजता से बात कहनी होती है। श्रेष्ठ व्यंग्य का अनकहा क्रमशः उभरकर व्यक्त होता है।

प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में व्यंग्य के विविध रूपों की उपलब्धि होती है। उनकी प्रमुख कोटियों का विवेचन किया जा रहा है।

व्यंग्य रचना—ऐसी रचना के सम्पूर्ण विधान में सूक्ष्म व्यंग्य आद्योपान्त निहित रहता है। कथाकार की असंलग्नता, वैषम्य की गहनता और पीड़ा की गहनता और पीड़ा की आर्द्रता उसे करुण व्यंग्य बना देती है। इस कोटि की विशेष उल्लेखनीय कहानियाँ शतरंज के खिलाड़ी, बाबाजी का भोग, वज्रपात, पूस की रात तथा कफ़न हैं। 'शतरंज के खिलाड़ी' में पतित सामन्तशाही के प्रतीक अभिजात खिलाड़ी अपने नवाब के बन्दी बनाये जाने पर उँगली भी नहीं हिलाते किन्तु शतरंज के वज़ीर के प्रश्न पर अनायास प्राणों की बलि दे बैठते हैं। 'वज्रपात' में नादिरशाह लुटेरा लूट में मुहम्मद शाह का प्राणप्रिय कोहनूर हीरा भी ले जाता है। वह हीरा धारण करके उसका एक-मात्र पुत्र प्राणों से हाथ धो बैठता है। कहानी का करुण व्यंग्य इस वाक्य में सिमट आया है—"हाय रे मनुष्य के मनोरथ, तेरी भित्ति कितनी अस्थिर है!" सम्पूर्ण 'गोदान' उपन्यास करुण व्यंग्य रचना है। होरी की 'गो-प्राप्ति' की अभिलाषा, अन्त में 'गोदान' की समस्या बन जाती है।

परिस्थिति-विश्लेषण-व्यंग्य—प्रेमचन्द कथा की विषम परिस्थिति का परिचय देते हुए उसके अन्तर्विरोध पर कटाक्ष करते चलते हैं। इससे पाठक की आलोचनात्मक दृष्टि जाग्रत होती है।—लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दारोगा कृष्णचन्द्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे (सेवासदन-परिच्छेद 1); महन्त रामदास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का कारोबार 'श्री बाँके बिहारी जी' के नाम पर कैसे होता है ! (सेवा-सदन-परिच्छेद 2) ; नागरिक समाज ने मुख्य स्थानों पर मीना बाज़ार सजाकर गृहस्थों को कीचड़ का कमल बनाना चाहा है। (सेवासदन-परिच्छेद 15) ; देहातों में, वर्षा के प्रारम्भ में राज-कर्मचारी रूपी कीट-पतंगों का उद्‌भव (प्रेमाश्रम-परि० 8) ; सूर्यग्रहण पर, त्रिवेणी पर धर्मार्थियों का छापा (कायाकल्प-परि० 1) ; शिक्षालय क्या जुर्मानालय हैं (कर्मभूमि-परि० 1)। इसी प्रकार विविध प्रकरणों के प्रभाव को तीखा करने के लिए एक-दो वाक्यों में व्यंग्य-टीकाएं की गयी हैं।—वैभवपूर्ण राजभवन आश्रय में आये लोगों की मनोवृत्ति का 'कायाकल्प' कर देता है। (कायाकल्प-परि० 34); रमानाथ के मित्र परस्पर कपड़े पहनकर सहकारिता का बिल्कुल नया उपयोग करते हैं। (ग़बन-परि० 2) ; इसी प्रकार स्वार्थ-सेवियों के सम्बन्ध में 'प्रेमाश्रम' का अन्तिम वाक्य है। गाँव के निरापद, सुखी जीवन का चित्र देते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है—'स्वार्थ-सेवी, माया के फन्दे में फँसे हुए मनुष्यों को यही शान्ति, यह सुख, यह आनन्द, यह आत्मोल्लास कहाँ नसीब !'

व्यंग्य-सूक्ति—प्रेमचन्द कथा के बीच-बीच में सूक्ति-रूप में जीवन सम्बन्धी अनुभवों का निष्कर्ष कहते चलते हैं। उनके कथा-साहित्य में सूक्ति-सागर है। इन सूक्तियों में भी व्यंग्य के दर्शन होते हैं। ऐसा व्यंग्य दार्शनिक तटस्थता से, स्थिति का अन्तर्विरोध जताता है।—'ईर्ष्या की व्यापकता ही साम्यवाद की सर्वप्रियता का कारण है।' 'लज्जा अत्यन्त निर्लज्ज होती है।' (रंगभूमि)। व्यंग्यसूक्तियों का भाष्य भी किया गया है। 'संसार में कपड़े से ज्यादा बेवफ़ा और कोई वस्तु नहीं होती।' इस उक्ति का मुंशी वज्रधर के प्रसंग में विश्लेषण अठारह पंक्तियों में है। (कायाकल्प-परि० 16)।

व्यंग्य-चित्र—प्रेमचन्द अनुदार, शोषक वर्ग के पात्रों पर व्यंग्य करते समय उनके मत, वचन तथा कर्म की विसंगतियों को उभारकर हास्यास्पद रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे उनकी कलई खोलने के साथ उनकी दुर्गति कराके तथा उन पर हँस कर पाठकों की न्याय भावना को तुष्ट करते हैं। 'सेवासदन' में तथाकथित समाजसेवियों, बलभद्रदास, चिम्मनदास, श्यामाचरण आदि के कर्म और कथन की विषमता की हास्यास्पद स्थिति को प्रत्यक्ष किया गया है। वेश्या सुमन के 'प्रेमियों' की सुमन के हाथों दुर्गति करायी गयी है। 'प्रेमाश्रम' में सरकारी अधिकारियों, ज्ञानशंकर, गायत्री, राय कमलानन्द, डॉ० प्रियनाथ, वकील इर्फ़ानअली, सैयद ईजादहुसैन आदि के व्यंग्य-चित्र हैं। सैयद ईजाद हुसैन ने जनता से रुपये ठगने के लिए 'इत्तहादी यतीमख़ाना' का जो स्वाँग भरा है, उसका कच्चा चिट्ठा पढ़कर पाठक के चेहरे की व्यंग्य-मुस्कान बढ़कर हँसी के फव्वारे में फूट पड़ती है। 'निर्मला' में भालचन्द्र सिन्हा की कंजूसी और स्वार्थपरता दर्शनीय है। पं० मोटेराम द्वारा प्रेमचन्द ने उसकी ख़ूब खबर ली है। मुंशी तोताराम की नवपत्नी निर्मला को रिझाने के प्रयत्न पाठक को हँसाये बिना नहीं रहते। 'रंगभूमि' में सेवक-परिवार के बुज़ुर्गों पर ऐसे ही व्यंग्य हैं। और 'गोदान' में प्रेमचन्द की यह कला मँजकर बड़े सधे हुए ढंग से व्यक्त हुई है। इसमें सम्पादक ओंकारनाथ, दलाल तनखा, दरोग़ा, ग्रामीण, 'नेतागण', आदि के सटीक व्यंग्य-चित्र हैं। इन लोगों की पोल खोलकर इनकी दुर्गति भी की गयी है। यह उल्लेखनीय है कि प्रेमचन्द के व्यंग्य में कटुता की अपेक्षा, विवेचन और हास्य का पुट अधिक है। उनका उद्देश्य पात्र-विशेष की खिल्ली उड़ाना नहीं, वरन् आलोचक की भांति उससे तनिक हटकर उसकी विषमताओं का विश्लेषण करना है। विश्लेषण को तनिक सजीव और चुटीला बनाने के लिए वे व्यंग्य का आश्रय लेते हैं। इस सहृदयता-मुक्त हास्य में पाठक पात्र को शत्रु-रूप में न देखकर होली की-सी मसखरी की आत्मीयता प्रदान करता है। इन व्यंग्य-चित्रों में अतिरेक का पुट रहता है। अतिरेक पर हम हँसते-मुस्कराते हैं। फिर जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से देखते हैं, तो यह जानकर सकपका जाते हैं कि इन चित्रों की मूल रेखाएँ और कहीं की नहीं, हमारी या हम जैसों की हैं। यह व्यंग्य, यह चुटकी, हमें आत्म-विवेचन की प्रेरणा देती है।

प्रेमचन्द जिन पात्रों को आत्मीय और प्रशंसनीय समझते हैं, उनकी जीवनगत विषमताओं पर भी व्यंग्य करना नहीं भूलते। – मदनसिंह कहाँ तीर्थ-यात्रा के लिए आतुर थे, और कहाँ पोते का मुख देखते ही माया में और जकड़ गये हैं। (सेवासदन-परि० 56), अविवाहिता 'प्राणेश्वरी' लौंगी लौंडी से गृहिणी बनने पर बाहर से स्थूल और मन से कोमल है। (कायाकल्प—परि० 4)।

प्रेमचन्द कहीं-कहीं कटु यथार्थ के बोझ से छूटकर मुक्त हास्य की स्थिति उभारते हैं।—सूरदास और जगधर की कुश्ती (रंगभूमि—परि० 11); झिनकू के पण्डित-छद्मवेश में 'तोंदल' न होने के प्रश्न पर ऊहा-पोह, और बाद में पर्दा-फाश होने पर उसका फ़जीता (कायाकल्प—परि०19) ऐसे व्यंग्य चित्रों में बेडौल-पन और परिहास तो है, किन्तु निर्मम ठिठोली का स्वर नहीं है।

व्यंग्य कथन—पात्रों के संवादों में व्यंग्य-विनोद से लेकर व्यंग्य-बाण तक हैं। 'कर्मभूमि' में रूढ़िवादी सेठ समरकान्त और सलीम साथ स्वच्छ भोजन करने बैठते हैं। सलीम चुटकी लेता है—"अब तो आप मुसलमान हो गये।" उत्तर है—"मैं मुसलमान नहीं हुआ। तुम हिन्दू हो गये।" साधु गजानन्द विवाह के अवसर पर वेश्या-नृत्य प्रेमियों की भर्त्सना कर उन्हें 'संसार-नृत्यशाला' में रुचि लेने का उद्बोधन कराता है। (सेवासदन-परि०33) दहेज के अभाव में निर्मला का विवाह छूटने पर 'लालची, दग़ाबाज़ों' के घर सम्बन्ध न होने की स्थिति पर अबोध छोटी बहन सन्तोष व्यक्त करती है। (निर्मला—परि०4) मरते समय निर्मला की, पुत्री को कुपात्र के गले मढ़ने की अपेक्षा, उसे मार डालने की कामना, (निर्मला—परि० 27) भी इसी प्रकार का व्यंग्य-कथन है।

पात्र भावावेश में करारे व्यंग्य-बाणों से प्रतिद्वन्द्वी को आच्छादित कर देते हैं —आदर्श-च्युत प्रेमी विनय के दुष्कर्मों के कुढ़ी हुई सोफ़िया उसकी विधिवत् 'आरती' उतारती है (रंगभूमि —परि०30) क्रोधोन्मत्त ताहिर अली अहसान-फ़रामोश भाई माहिर अली पर कटु व्यंग्योक्तियों की विषम बौछार करता है, और उसके चले जाने पर माहिर अली की खिसियाहट-भरी बड़बड़ाहट तथा मित्रों की ठकुरसुहाती समवेदना का प्रसंग पठनीय है (रंगभूमि—परि०47)।

शोषक पात्र कष्ट या लज्जा से पीड़ित होते हैं किन्तु अपनी राह नहीं छोड़ सकते हैं। वे आत्मालोचन करते समय अपने ऊपर व्यंग्य करते हैं और उस व्यंग्य की ओट में दुर्बलताओं को छिपाते भर हैं।—दीवान प्रजा-हित करने में असमर्थता व्यक्त करते हुए रियासत को 'हरमसरा' का लम्बा रूपक देकर अपने वर्ग पर भांति-भांति के व्यंग्य-बाण छोड़ता है। (रंगभूमि-परि० 17)।

राय कमलानन्द आत्मसेवी, मनमौजी ताल्लुकेदार है। वह अपने वर्ग के साथ स्वार्थ-रक्षण के लिए व्यंग्य में श्रमजीवियों तथा औद्योगीकरण को अस्वीकार करता है। काउन्सिल का सदस्य बनने पर विदेशी सरकार की अनीति का विरोध करने की अपेक्षा अपनी विवशताओं पर व्यंग्य करके तसल्ली करता है। (प्रेमाश्रम-परि०12 तथा 42) इसी प्रकार राय साहब अमरपाल सिंह असामी होरी के सामने अपने वैभव के खोखलेपन पर व्यंग्य-बाणों की भरमार कर देता है। (गोदान-परि०2) अभी राय साहब ग्लानि और सहृदयता की साक्षात् मूर्ति था, किन्तु बेगारों का, भोजन पाये बिना काम करने का इनकार सुनते ही वह झल्लाकर उन्हें 'ठीक करने' उठ जाता है। इस विडम्बना को उपन्यासकार ने केवल एक वाक्य में सूक्ष्म व्यंजना दी है—"होरी ने मन में सोचा, अभी यह कैसी-कैसी नीति और धरम की बातें कर रहे थे और एकाएक इतने गरम हो गये!" इस सहज वाक्य से पिछले तीन पृष्ठों का पूरा प्रकरण नया अर्थ ग्रहण कर लेता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचन्द के दोहरे व्यंग्य का यह उल्लेखनीय उदाहरण है।

प्रेमचन्द की व्यंग्य-वृत्ति और मुहावरा प्रयोग— प्रेमचन्द की व्यंग्यात्मकता के प्रसंग में उनकी मुहावरा-प्रयोग-कला विचारणीय है। मुहावरे में व्यंग्य को व्यक्त करने की विलक्षण क्षमता होती है। इसीलिए प्रेमचन्द व्यंग्य-बाणों में इनका जी भरकर प्रयोग करते हैं। प्राय: शारीरिक चेष्टाओं, अस्पष्ट ध्वनियों, कहानी और कहावतों अथवा भाषा के कतिपय विलक्षण प्रयोगों के अनुकरण या आधार पर निर्मित और अभिधेयार्थ से भिन्न, कोई विशेष अर्थ देने वाले, किसी भाषा के गढ़े हुए रूढ़ वाक्य, अथवा वाक्यांश को मुहावरा कहते हैं। हमारे अधिकांश मुहावरों की उत्पत्ति का श्रेय ग़रीब किसानों, मज़दूरों तथा अशिक्षित जनता को है। इनकी उत्पत्ति बहुधा भावावेग के कारण होती है। और इनमें मानव-जीवन के साधारण व्यापारों के चित्र सन्निहित रहते हैं। मुहावरों में अतिशयोक्ति का तत्त्व रहता है। इनके प्रयोग के साथ या समय, वक्ता अपने सुख-दुःख को बढ़ा-चढ़ाकर कहता है। उस क्षण, उसकी विवेक-शक्ति क्षीण हो जाती है। और बाल-बुद्धि सजग होकर उसके सम्पूर्ण मस्तिष्क पर अपना अधिकार जमा लेती है। किसी भी भाषा के मुहावरों में स्नेह, प्रेम सौहार्दपूर्ण वार्त्तालाप से सम्बन्धित मुहावरे कम होते हैं, जबकि उत्तेजना, निन्दा अथवा व्यंग्य करने वाले मुहावरों की सर्वत्र भरमार होती है। (द्रष्टव्य, 'मुहावरा-मीमांसा' डॉ० ओमप्रकाश गुप्त; 1960 ई०; पटना)।

'व्यंग्यकथन' शीर्षक के अन्तर्गत व्यंग्य-बाणों के उदाहरणों में प्रेमचन्द का मुहावरों का प्रयोग-कौशल देखा जा सकता है। प्रत्येक बाण को नुकीला और फुर्तीला संलग्न मुहावरा बनाता है? मुहावरे की सान पर चढ़ा व्यंग्य-बाण हृदय बेधकर रख देता है। 'गोदान' में परजीवी धूर्त तंखा का शब्द-चित्र प्रेमचन्द की व्यंग्य और मुहावरा कला के समन्वय का उत्कृष्ट उदाहरण है—'मिस्टर तंखा दाँव-पेंच के आदमी थे, सौदा पटाने में, मुआमला सुलझाने में, अड़ंगा ल[गाने] में, बालू से तेल निकालने में, गला दबाने में, झाड़कर निकल जाने में बड़े सिद्धहस्त। कहिए रे[त में] नाव चला दें, पत्थर पर दूब उगा दें।' इन दो वाक्यों [में] नौ मुहावरे हैं वरन् यों कहना उचित होगा [कि] मुहावरों से ही निर्मित ये व्यंग्य वाक्य हैं। [...] उपन्यास में तंखा के काइयाँपन और दुर्गति का प्र[संग] मानो उक्त शब्द-चित्र की सटीक व्याख्या है।

नामकरण-व्यंग्य और नाटकीय व्यंग्य— प्रेमच[न्द] कहीं-कहीं पात्रों के नामकरण में व्यंग्य किया [है]। 'पूस की रात' का नायक हलकू शरीर से भारी [...] 'गोदान' में दरिद्र होरी की पुत्रियों के नाम सोना [और] रूपा हैं। बात यहीं समाप्त नहीं होती। रूपा, [...] या चांदी का मान बड़ा है या सोना का, इस प्रश्न [पर] एक पृष्ठ का पात्रों में रोचक व्यंग्य-विनोद हो[ता है] (परि०3)। आगे चलकर संयोगवश सोना और [रूपा] अच्छे घरों में ब्याही जाती हैं। उनकी स्थिति ना[म के] अनुरूप हो जाती है। मानो, व्यंग्य नियति के [...] अन्तत: परास्त होकर स्वयं व्यंग्य का विषय [बन] जाता है। ऐसे ही होरी पुत्र गोबर है, यथानाम [...] बुद्धि, किन्तु बाद में वह चलता-पुर्जा हो जाता [है]। वैसे 'गोदान' उपन्यास का नाम ही गूढ़ व्यंग्य [...] है।

इसी प्रसंग में नाटकीय व्यंग्य की बात [आ] जाती है। नाटकीय व्यंग्य में स्थिति की विप[रीतता] रहती है। पात्रों को भविष्य या वास्तविक[ता के] अज्ञान के कारण जो स्थिति दीखती है, वह आगे [चल]कर कुछ की कुछ सिद्ध होती है। यों ही, या भाव[ावेग] में कहा गया कथन' अन्त में अनजाने में सत्य [सिद्ध] होता है।—'गोदान' में नाटकीय व्यंग्यों का प[्रचुर] प्रयोग हुआ है। प्रारम्भ में कहा गया होरी का [...] —"साठ तक पहुंचने की नौबत न आने पा[एगी] धनिया!" अन्त में उसके जीवन का करुण नाट[कीय] व्यंग्य सिद्ध होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचन्द और प्रेम

प्रेम का अर्थ है—प्रगाढ़ आत्मीयता, जो प्रिय पर निछावर होने की कामना जगाती है। यह प्रेमी और प्रिय का द्वैत भाव दूर कर उन्हें अभिन्न बनाती है। विश्व-प्रचेतना विविध प्राणियों का रूप भरकर अनेक नाम धारण किये हुए है। ये असंख्य नाम-रूपधारी प्राणी पृथक् अस्तित्व अनुभव कर, उसके रक्षण के लिए परस्पर टकराते रहते हैं। फिर भी, दृष्टिगोचर होने वाली इस अनेकता के मूल में एकता भी कहीं विद्यमान है। वही प्राणियों के अहं को कभी-कभी शिथिल कर, उनके हृदयों को निकट लाकर उन्हें प्रगाढ़ बनाती है। यह प्रगाढ़ता, यह प्रेम, वास्तव में, अनेक दीख पड़ने वाली विश्वचेतना की सहज परिणति है। इसीलिए अगणित विकर्षणों के मध्य, अवसर पाते ही, मनुष्य में प्रेम की सहचरी कोमलता स्वतः जाग उठती है। प्रेमचन्द 'शंखनाद' कहानी में कहते हैं—'जिस तरह पत्थर और पानी में आग छिपी रहती है' उसी तरह मनुष्य के हृदय में भी—चाहे वह कैसा ही क्रूर और कठोर क्यों न हो—उत्कृष्ट और कोमल भाव छिपे रहते हैं।' इस कोमल भाव को, प्रेम को, प्रेमचन्द का कलाकार कथाओं में उद्घाटित और पुष्ट करने में निरन्तर रत रहता है।

प्रेम का क्षेत्र बहुत व्यापक है। प्रेमचन्द ने 'कायाकल्प' में एक पात्र से कहलाया है—"प्रेम हृदय के समस्त सद्भावों का शान्त, स्थिर, उद्गारहीन समावेश है। उसमें दया और क्षमा, श्रद्धा और वात्सल्य, सहानुभूति और सम्मान, अनुराग और विराग, अनुग्रह और उपकार सभी मिले होते हैं।" प्रेम मनुष्य में उदात्त तत्त्व जगाता है और 'स्व' का 'पर' के लिए विसर्जन करने को तत्पर रहता है। किसी वस्तु को पाने-मात्र की, उसके वशीकरण की इच्छा प्रेम से सर्वथा भिन्न है। वे 'प्रेमाश्रम' में लिखते हैं—'इस इच्छा और प्रेम में बड़ा भेद है, इच्छा अपनी ओर खींचती है, प्रेम स्वयं खिंच जाता है। इच्छा में ममत्व है, प्रेम में आत्म-समपर्ण।'

प्रेमचन्द ने प्रेम की खोज जीवन के सभी क्षेत्रों और सभी प्राणियों में की है। यदि हम अबोध कहे जाने वाले प्राणियों को ही लें, तो देखते हैं कि 'दो बैलों की कथा' कहानी में पशु बैल भी स्वामी के प्यार को पहचानते हैं। पराये घर बलपूर्वक रखे जाने और वहां स्नेह न पाने पर वे भांति-भांति के कष्ट सहन कर, अन्त में मालिक के घर पहुंचकर, आश्रय पाकर ही दम लेते हैं। कहानी में पशु-मनोविज्ञान का मनुष्यवत् विवेचन मार्मिकता से हुआ है। बैलों का आत्मसम्मान, विद्रोह, बन्धुत्व और स्नेह का भाव प्रेम के साथ जुड़कर पाठक के मन को बांध लेता है।

'पूस की रात' में प्रचण्ड शीत के कष्टों में कुत्ता जबरा मालिक के साथ है। मालिक किसान हलकू खेत की रखवाली करते समय निर्मम शोषक मानव-समाज की चोट खाया हुआ असह्य सर्दी झेल रहा है। मनुष्य उसका साथी नहीं है; मन की बातें वह केवल दुःख के साथी जबरा से कर पाता है। सर्दी से घबराकर वह उसे गोद में सुला लेता है। उस आत्मीय की दुर्गन्ध भरी देह से चिपटकर उसे निराला सुख मिलता है। और 'जबरा शायद समझ रहा था कि सुख का आगार स्वर्ग यहां है।'

प्रगाढ़ प्रेम किसी बन्धन की सीमा को नहीं मानता। 'कामना-तरु' में प्रेमी-प्रेयसी का अमर प्रेम है। वे मृत्यु के बाद भी चिड़िया-चिरौटे के प्रेमी युगल के रूप में नया जन्म लेते हैं। कहानी की यह अतिभौतिक कल्पना प्रेमचन्द की इस मान्यता की पुष्टि करती है।

बच्चा अबोध प्राणी है। उसकी कच्ची बुद्धि होती है किन्तु मन की वाणी वह तथाकथित बुद्धिमानों से अधिक सुन पाता है। 'महातीर्थ' में नन्हा बच्चा अपनी दाई के स्नेह से बंधा हुआ है। बच्चे की मां के दुर्व्यवहार के कारण दाई विवश, नौकरी छोड़ तीर्थ-यात्रा के लिए सन्नद्ध होती है। इधर बच्चा उसके वियोग में हुड़ककर मरणासन्न हो जाता है। खबर पाने पर दाई तीर्थ-यात्रा छोड़ बच्चे को गले लगाकर,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेम के उस 'महातीर्थ' पर पहुंचती है।—'गोदान' में दुर्बल मां भुनिया के दूध न होने के कारण नवजात शिशु बिलखता है। वात्सल्य के आवेग में, प्रौढ़ा स्त्री चुहिया की छाती में उसके लिए अकस्मात् दूध आने की अलौकिक घटना घटती है।

प्रेमचन्द ने वात्सल्य की मनोरम झांकियां भी प्रस्तुत की हैं। 'कर्मभूमि' में कुछ मास का नितान्त अबोध शिशु बाबा की मूंछें पकड़कर खींच लेता है और बाबा भी उसे 'कसकर'एक घूँसा' जमाते हैं। पिता के धमकाने पर बच्चा उलटे उसकी नाक पकड़कर निगल जाने की कोशिश करता है। पत्नी पति से हँसकर कहती है—"पहले अपनी नाक बचाओ,फिर बाप की मूंछें बचाना।" - यह बाल-लीला का संक्षिप्त प्रसंग सारे परिवार को प्रफुल्ल आत्मीयता से भिगो देता है।—विपन्न अबोध बालक हामिद ईदगाह के मेले में साथियों से अलग खिलौनों-खानों का लालच जब्त कर, अपनी तीन पैसों की पूंजी से दादी के लिए चिमटा ले आता है, क्योंकि उनकी उँगलियां तवे से जल जाती थीं। ('ईदगाह' कहानी) बच्चे हामिद ने समझदार बूढ़े की भूमिका निभाई थी और बुढ़िया दादी उसकी भावना से द्रवित हो बालिका की भांति रो रही थी।—'कज़ाकी' में बालक की स्नेहमय चपरासी के प्रति अक्षुण्ण ममता है। 'प्रेरणा' में अध्यापक का निश्छल स्नेह पाकर शरारती लड़का भी सुधरकर उन्नत होता है।

स्त्री-पुरुष में परस्पर प्रबल आकर्षण-भाव होता है। यह शरीर के स्तर से उठकर मन का अटूट सम्बन्ध बन जाने पर प्रेम का रूप धारण कर लेता है। प्रेमचन्द ने कहानी-उपन्यासों में अनेक प्रेम-कथाएँ सँजोई हैं। उन कथाओं में पात्रों के तन की सीमाओं से ऊपर उठकर उनके मन को छू पाने का भरसक प्रयत्न है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रेमचन्द उन्हें विषम परिस्थितियों की अग्नि-परीक्षा से गुज़ारना आवश्यक समझते हैं। प्रेम का परिणाम विवाह हो सकता है, किन्तु प्रेमचन्द की कामना है कि किसी भी विवाह का परिणाम पति-पत्नी का प्रेम होना चाहिए। विवाह की चरम परिणति प्रेम में ही है। (द्रष्टव्य—शान्ता तथा देसाई लेडियों का संवाद: 'सेवासदन'—परिच्छेद 42)—विवाह का लक्ष्य सन्तानोत्पत्ति या जीवन सुविधाएँ जुटाना-मात्र नहीं है; वह वास्तव में पति-पत्नी के आत्मभाव के विकास का साधन है। प्रेम प्रदर्शन नहीं चाहता। यदि वह बाहर जताया जायेगा तो मन के भीतर नहीं रह पायेगा। "प्रेम का अंकुर रूप में है।, पर उसको पल्लवित और पुष्पित करना सेवा ही का काम है।" ('दो सखियां' कहानी)

इन कथाओं में कोई बाधा आकर प्रेम के स्वरूप को निखारती है: 'वरदान' में विरजन और प्रताप में मूक प्रेम है। विरजन का विवाह अन्यत्र हो जाने पर दोनों अन्ततः त्याग-विराग का मार्ग अपनाते हैं। 'प्रेमाश्रम' में श्रद्धा का पति में अनन्य भक्तिभाव है। वह पति की समुद्रपार विदेश-यात्रा के कारण उसका प्रायश्चित अनिवार्य समझकर उससे दूर रहती है। वर्षों के दीर्घ अन्तर्मंथन के उपरान्त वह 'धर्मपालन' का भ्रम त्याग, सदाशयी पति के चरणों में सिर रख देती है। 'कायाकल्प' में रानी देवप्रिय प्रेम में वासना की अधिकता के कारण दण्डस्वरूप पति-सहित अनेक जन्म लेती है। वह वासना से निष्कलुष होने और अगले जन्म में पति को प्राप्त करने की प्रतीक्षा करती है। 'गोदान' में प्रबुद्ध, अभिजातवर्गीय मालती मेहता की प्रेम-कथा स्त्री-पुरुष के आकर्षण-विकर्षण की शाश्वत कथा है। मालती मेहता से कहती है—"मैं प्रेम को सन्देह से ऊपर समझती हूं। वह देह की वस्तु नहीं, आत्मा की वस्तु है।... ..उसके मन्दिर में तुम परीक्षक बनकर नहीं, उपासक बनकर ही वरदान पा सकते हो।" नारी-पुरुष की यह अन्तर्यात्रा ऊर्ध्वगामी होने के कारण शारीरिक, पारिवारिक गठबन्धनों के पड़ावों पर ही न थमकर आत्म-विकास के उच्चतम शिखरों को छूने लगती है। (द्रष्टव्य,अन्य प्रेम-कथाएं 'रंगभूमि' में विनय-सोफ़िया, 'कायाकल्प' में चक्रधर मनोरमा, हरिसेवक-लौंगी, 'कर्मभूमि' में अमरकान्त सकीना आदि)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचन्द ने गृहस्थ-जीवन में संघर्षों के बीच पति-पत्नी के पलते पुष्ट प्रेम को भी चित्रित किया है। 'गोदान' में होरी-धनिया अभावों से जूझते, झींकते-झगड़ते हुए भी भीतर ही भीतर, परस्पर अधिक कोमल और समर्पित होते जाते हैं। इसी प्रकार परिवार और सम्मिलित परिवार में प्रेम-भाव पर प्रेमचन्द ने बल दिया है। उनके प्रिय पात्रों में पारिवारिक जीवन की अक्षुण्णता के प्रति परम अनुराग है। वे पात्र किसी क़ीमत पर भी इस आत्मीयता को भंग नहीं होने देते। इसके भंग होने पर उनका दिल टूट जाता है। 'अलग्योझा' में विमाता के अत्याचार सहकर भी रग्घू, उसके विधवा होने पर उसकी तथा सौतेले भाई-बहनों की प्राणपण से रक्षा करता है। पत्नी के दुराग्रह के कारण अलग्योझा हो जाने पर वह दुःख में जीवन तक खो देता है। उसकी टेक सौतेला भाई भी बाद में निभाता है। 'प्रेमाश्रम' में लाला प्रभाशंकर का कुटुम्ब-प्रेम भी दर्शनीय है।

घर के प्रसंग में घर का स्वामित्व भी आता है प्रेम को संग लेकर। व्यक्ति घर में दूसरों के आश्रित रहकर अपने व्यक्तित्व की सार्थकता अनुभव कम कर पाता है; स्वामित्व प्राप्त होने पर उसे नये उत्साह एवं उत्तरदायित्व का बोध होता है। 'स्वामिनी' कहानी में ससुर से घर का स्वामित्व मिल जाने पर रामप्यारी वैधव्य को भूल जाती है। उस पर ममत्व का नशा छा जाता है। 'स्वामित्व' के कवच पर धौंस, ताने, धमकी— किसी का असर नहीं होता। उसकी स्वामिनी-कल्पना इन आघातों से और भी स्वस्थ होती है कि वह गृहस्थी की संचालिका है। सभी अपने-अपने दुःख उसी के सामने रोते हैं, पर जो कुछ वह करती है, वही होता है; इतना उसे प्रसन्न करने के लिए काफ़ी है।

देश-प्रेम की प्रेमचन्द-साहित्य में अनेक विधियों से अभिव्यक्ति हुई है। उसके आगे व्यक्ति के स्वार्थ बौने हो जाते हैं। 'यह मेरी मातृभूमि है' का भारतीय नायक अमरीका बस गया था। उसका सम्पूर्ण सम्पन्न परिवार वहीं है। फिर भी जीवन के अन्तिम छोर पर पहुंचकर उसकी मातृभूमि-दर्शन की बलवती इच्छा उसे भारत खींच लाती है। गंगा के समीप उसे अनुभव होता है—"हां अब मैं अपने देश में हूं। यह मेरी प्यारी मातृभूमि है। ये लोग मेरे भाई हैं और गंगा मेरी माता है।" वह गंगा के किनारे कुटी में अकेला बस जाता है।

मनस्वी व्यक्तियों को प्राणों से अधिक अपना मान प्यारा होता है। आन के लिए वे बड़े-से-बड़े कष्ट हँसकर उठा लेते हैं। सारन्धा ('रानी सारन्धा' कहानी) रण में पीठ दिखाकर लौट आये भाई की भर्त्सना कर उसे तत्काल युद्ध-भूमि में लौटने की प्रेरणा देती है। पूरी कहानी में उसकी आन की बान की क्रमशः छः घटनाएँ हैं। अन्त में वह पति सहित शत्रुओं से घिर जाने पर पति के और स्वयं अपने प्राण लेकर गौरव की रक्षा करती है। आन पर प्राण देने वाले व्यावहारिक दृष्टि से असफल रहते हैं, परन्तु प्रेमचन्द की दृष्टि में उनका अपूर्व आदर-भाव है। वे लिखते हैं —'अगर अनुभवशील सेनापति राष्ट्रों की नींव डालता है, तो आन पर जान देने वाला, मुँह न मोड़ने वाला सिपाही राष्ट्र के भाव को उच्च करता है।'

प्रेम निर्वैयक्तिक होकर समष्टि में व्याप्त होने पर कर्त्तव्य-प्रेम या समाज-सेवा का रूप धारण कर लेता है। कर्तव्य-प्रेम पर जीवन निछावर करने वालों का प्रेमचन्द ने बड़े चाव से चित्रण किया है। अमृतराय (प्रतिज्ञा)' पद्मसिंह (सेवासदन), प्रेमशंकर (प्रेमाश्रम) सूरदास, विनय (रंगभूमि), चक्रधर (कायाकल्प), अमरकान्त, शान्तिकुमार (कर्मभूमि), मेहता (गोदान), आदि को ऐसी ही कोई-न-कोई धुन है, जिसमें रमकर वे जीवन को सार्थक बनाते हैं।

कर्तव्य-प्रेम के लिए ईमानदार इंजीनियर को स्वार्थी लोगों से दण्ड मिलता है; फिर भी वह अविचलित है। ('सज्जनता का दण्ड' कहानी) कर्तव्यनिष्ठ दारोगा ईमानदारी के आगे बड़े से बड़े प्रलोभनों को ठुकराकर नौकरी तक खो बैठता है।, किन्तु उसी के हाथों प्रताड़ित वैभवशाली व्यक्ति उसकी ईमानदारी पर मुग्ध हो जाता है। ('नमक का दारोगा' कहानी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'
आचार्य, हिन्दी विभाग
उदयपुर विश्वविद्यालय
उदयपुर

उपन्यासकार प्रेमचंद का समकालीन बोध

प्रेमचंद का रचना-संसार पराधीन भारत की विषम परिस्थितियों का सजीव चित्र है। बीसवीं शताब्दी के लगभग तृतीयांश का भारत उनकी कहानियों और उपन्यासों में शताब्दियों के लिए अमर हो गया है। हिन्दी में उनके समान ऐसा अन्य साहित्यकार अभी तक पैदा नहीं हुआ, जो समकालीन जीवन को निरन्तर अपनी रचनाओं में स्थान देता हुआ अपनी कला-साधना को पूर्णता प्रदान करे। प्रेमचंद ने भारत के अतीत और वर्तमान को बहुत गहराई से समझकर भविष्य-दर्शन के लिए अपनी प्रतिभा और प्रज्ञा का रचनात्मक प्रयोग किया था। उनके उपन्यासों में इस प्रयोग-सामर्थ्य का चरमोत्कर्ष दिखाई देता है। यदि कोई व्यक्ति बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पराधीन भारत का सही स्वरूप देखना चाहे, उसके मानस की हलचलों, आवेशों, विद्रोही स्वरों तथा शक्तियों से साक्षात्कार करना चाहे, तो उसे प्रेमचंद के उपन्यास पढ़ने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

भारत का मूल स्वरूप ग्रामों से बना है। इसीलिए उसे शस्य-श्यामला भारतमाता कहा जाता है। सुदूर अतीत में इस देश का ग्रामों के कारण ही महत्त्व था। धीरे-धीरे शस्य-श्यामला धरती माता की छाती पर शहरों का जंगल उगा, बढ़ा, बढ़ता गया और अब भी बढ़ता जा रहा है। इन शहरों में जो कुछ है, वह वास्तविक भारत नहीं है। शोषण, अत्याचार, बलात्कार, भीड़-भाड़, शोर-गुल, छल-कपट और चरम कोटि की अनैतिकता—यह सब उस भारत-वृक्ष के पुष्प-... नहीं हैं, जिसे ऋषि-मुनियों ने अपने नैतिक जी... के अमृत से और कृषकों ने अपने श्रम-जन्य स्वेद-क... से सींचा था। शहरों में बढ़ने वाला, अधिकांश ... जीवन बाहर से आरोपित हुआ है। प्रेमचंद के उपन्या... समकालीन जीवन की साक्षी में हमें उस ग्रामीण भा... की सही तस्वीर दिखाते हैं, जो अब भी अप... परम्परागत मूल से जुड़ा हुआ है और यह भी बता... हैं, कि उस की काया पर सहस्राधिक वर्षों ... पराधीनता ने कितनी कीचड़ और दुर्गन्ध छोड़ी ... तथा कितने श्वान और गिद्ध उसे नोंच-नोंच कर ख... के लिए इकट्ठे कर दिए हैं।

भारत पराधीन क्यों हुआ—इस प्रश्न के उ... से प्रेमचंद अपने औपन्यासिक चित्रों की रेखाएं आ... करते हैं। उनका प्रारम्भिक उपन्यास 'रूठी रानी' ... अत्यन्त सामान्य कृति है, किन्तु यही उनकी वह क... कृति भी है, जिसमें वीर और देश-भक्त क्षत्रियों ... आपसी फूट, ईर्ष्या-द्वेष आदि के कारण पराधीनता ... अन्धकार भारत में प्रवेश करता हुआ दिखाई देता है ... यह अन्धकार चारों ओर इतना घना छा गया है कि ... हटाना-मिटाना कोई सरल काम नहीं। प्रेमचंद ... अन्धकार के नीचे छटपटाते, कसमसाते और उ... बाहर निकलने के लिए अपनी शक्तियों को तौ... दरिद्र गांव की इतनी अधिक तस्वीरें खींचते हैं त... इतने गहरे रंग उभारते हैं कि गुलामी से दबा-...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत अपनी पूरी दीप्ति और कान्ति के साथ नए प्रकाश में जागने के लिए प्रतिबद्ध एवं कटिबद्ध हो उठता है। वरदान, प्रतिज्ञा, सेवासदन, प्रेमाश्रम, निर्मला, कायाकल्प, रंगभूमि, ग़बन, कर्मभूमि, गोदान, और मंगलसूत्र इन सब उपन्यासों से भारत के समकालीन जीवन के प्रति प्रेमचंद की गहरी आस्था और उसे अपने रचना-संसार में उतारने की अधीरता-तत्परता झलकती है। कुछ आलोचक यह आरोप लगाते हैं कि प्रेमचंद का अनुभव बहुत संकीर्ण था और वे समकालीन नगर-जीवन के प्रति प्रबुद्ध नहीं थे, इसलिए वे अपनी औपन्यासिक प्रतिभा का उपयोग केवल ग्रामीण जीवन के चित्रण में ही करते रहे। वस्तुतः यह आरोप निराधार है। प्रेमचंद का बनारस और बम्बई – जैसे नगरों के जीवन से गहरा साक्षात्कार हुआ था। वे नगर-जीवन के अनुभवों से शून्य नहीं थे, किन्तु वे उसे भारतीय समाज की अनुभूतियों का सही केन्द्र नहीं मानते थे। आज के समान ही उस समय भी नगरों में आयातित जीवन वृद्धि पा रहा था। यह सही है कि गांव से भी लोग भाग-भाग कर नगरों में पहुंचे हैं—उस समय भी और आज भी पहुंच रहे हैं, किन्तु उनकी ज़िन्दगी में कोई धनात्मक परिवर्तन नहीं आया है। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में जिस भारत को स्थान दिया, उसमें शरीर पर उगे कुष्ट के दाग़ों की तरह नगर तब भी बढ़ रहे थे और आज भी बढ़ रहे हैं। सही मानव का जन्म और पोषण तो तब भी गांव में ही होता था और आज भी हो रहा है, नगर में तो तब भी मानव आत्म-साक्षात्कार खोकर विदेशी बुद्धि-विलास ओढ़ रहा था और आज भी इस क्रिया में कमी नहीं आई है। ऐसे मानवत्व-हीन नगर-मानव के चित्रण को लक्ष्य बनाकर प्रेमचंद उपन्यास नहीं लिखना चाहते थे, क्योंकि उससे भारत की सही तस्वीर कदापि नहीं बन सकती थी।

'रूठी रानी' में प्रेमचंद ने जब जैसलमेर के रावल की पुत्री 'उमादे' को नायिका के रूप में प्रस्तुत किया, तब शायद वे यह नहीं सोचते होंगे कि यह उपन्यास उनके किन औपन्यासिक उद्देश्यों की भूमिका बनने जा रहा है। उमादे (उमादेवी) से विवाह करने के लिए उत्सुक मारवाड़ के राजा मालदेव की हत्या का षड्यंत्र रचने वाले रावल के छल-कपट में कायरता की जो दुर्गन्ध थी, वह संकेत मात्र है उन कारणों का जिनसे भारत पराधीन हुआ। किन्तु इसी संदर्भ में प्रेमचंद ने उस पराधीनता से मुक्ति के लिए अनिवार्य निष्कपट संगठन और शौर्य-पूर्ण बलिदान की भावना का महत्व भी अनुभव करा दिया है।

'वरदान' में प्रेमचंद देश-भक्ति की इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सचेष्ट होते हैं। इस उपन्यास के प्रथम परिच्छेद में ही नारी 'सुवामा' देवी के मंदिर में जाकर यह प्रार्थना करती है कि हे देवी! मुझे ऐसा पुत्र दो जो देश की सेवा में अपना जीवन समर्पित कर दे। इस प्रार्थना के पीछे भारत का समस्त अतीत खड़ा हुआ है—अनुभूति से, विचार से, व्यवहार से। वह आस्था जागृत है, जो शताब्दियों से आज तक भारत का प्राण-तत्व रही है। प्रेमचंद दिखाते हैं कि सुवामा को अपनी प्रार्थना के फल-स्वरूप पुत्र मिला। उसका नाम प्रताप रखा जाता है। वह बालक अपने पिता मुंशी शालिग्राम के साधु-संत-समागम वाले पवित्र परिवार में पलता है। जहां एक ओर इस परिवार में मानवीय नैतिकता और सदाचार है, वहां दूसरी ओर वे सामाजिक विषमताएं और पीड़ाएं भी उसे घेरे हुए हैं, जो पराधीनता की उपज हैं। असमय पर शालिग्राम की मृत्यु, परिवार पर कर्ज़ का भार और उसे चुकाने के लिए किए गए प्रयत्नों में आधा मकान किराए पर उठाने की विवशता तथा उस विवशता के बाद नई परिस्थिति में प्रताप और किराएदार की पुत्री विरजन का प्रेम परन्तु दोनों का विवाह-सूत्र में न बँध पाना आदि ऐसी परिस्थितियाँ सामने आती हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप अन्त में प्रताप संन्यासी बन कर देश की सेवा में शेष जीवन व्यतीत कर देता है और उसकी पत्नी बनने की इच्छुक दूसरी युवती माधवी भी उसके साथ अविवाहित रह कर देश-सेवा का व्रत ले लेती है। शिल्प की दृष्टि से भले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही यह उपन्यास अस्वाभाविक प्रतीत हो, कठपुतली पात्रों का जमघट लगे, किन्तु जिस उद्देश्य से इसकी रचना की गई है, वह बहुत स्पष्टता से चित्रित हुआ है। नारी-प्रेम की कथा के माध्यम से देश-सेवा की कथा कहने के पीछे प्रेमचंद की यह दृष्टि छिपी है कि नारी-प्रेम पर जो विजय प्राप्त कर ले वही देश-सेवा कर सकता है।

'प्रतिज्ञा' उपन्यास में देश-सेवा के एक विशेष क्षेत्र की तत्कालीन महत्व-पूर्ण समस्या को चुना गया है। देश-भक्ति का प्रमाण केवल अंगरेज़ों के विरुद्ध सत्याग्रह करना या अन्य प्रकार के आन्दोलन छेड़ना ही नहीं था, बल्कि देश की विभिन्न समस्याओं को सुलझाना उसके समान ही महत्वपूर्ण था। इस उपन्यास में विधवा-समस्या पर विचार करके देश की एक भयंकर बुराई को मिटाने पर बल दिया गया है। प्रेमा की बड़ी बहिन की मृत्यु के पश्चात् उसके जीजा अमृतराय से उसके विवाह का निश्चय होता है, जो उसके दूसरे प्रेमी दाननाथ को बुरा लगता है, किन्तु अमृतराय एक दिन विधवा-विवाह सम्बन्धी भाषण सुनकर विधवाओं की सेवा में लग जाता है। वह प्रेमा से विवाह नहीं करता। तब प्रेमा का विवाह दाननाथ से हो जाता है। प्रेमा की एक सहेली पूर्णा विधवा हो जाती है, जिसे अमृतराय द्वारा संचालित विधवाश्रम में शरण लेनी पड़ती है। इस प्रकार यह उपन्यास देश की तत्कालीन एक बहुत बड़ी सामाजिक समस्या का चित्रण ही नहीं करता, बल्कि विधवाश्रम के रूप में उसका समाधान भी प्रस्तुत करता है। ऐसे समाधान उस समय तत्कालीन राजनीति को भी नई दिशा देने का कार्य कर रहे थे। महात्मा गांधी—जैसे नेताओं ने आश्रम स्थापित करने की प्रेरणा इसी प्रकार के रचनात्मक साहित्य से प्राप्त की होगी। यह सही है कि इस उपन्यास के पात्र पर्याप्त अस्वाभाविक आचरण करते हैं, किन्तु उनके पीछे समकालीन जीवन को अतीत के रस से सींच कर आदर्शों के सहारे नया स्वरूप प्रदान करना ही प्रेमचंद का मुख्य लक्ष्य रहा है।

'सेवा-सदन' उपन्यास देश-सेवा के क्षेत्र [illegible] 'प्रतिज्ञा' के आगे की एक नई कड़ी का काम करता है [illegible] स्त्री की दयनीय स्थिति को लक्ष्य बना कर लिखे ग[illegible] इस उपन्यास में आर्थिक कठिनाइयों और सामाजि[illegible] बन्धनों पर प्रकाश डाला गया है तथा अभिजात [illegible] के आडम्बरों को अनावृत किया गया है। समकाली[illegible] शासन की बुराइयों की भी इस उपन्यास में उपे[illegible] नहीं की गई। कृष्णचंद्र थानेदार है। ईमानदार हो[illegible] के कारण वह सदा निर्धन बना रहता है। जब उस[illegible] पुत्री 'सुमन' शादी-योग्य होती है, तब धन का अभा[illegible] उसे रिश्वत लेने के लिए बाध्य कर देता है। कि[illegible] रिश्वत लेने की कला में निपुण न होने के कारण [illegible] पाँच वर्षों को सज़ा भोगने को बाध्य होता है। सुम[illegible] की शादी अत्यन्त निर्धन व्यक्ति के साथ हो जा[illegible] है। फलतः वह भांति-भांति के कष्ट स[illegible] लगती है। प्रेमचन्द ने समकालीन समाज [illegible] अनैतिक चित्रों के बीच ईमानदार व्य[illegible] (थानेदार) और निर्दोष युवती (सुमन) की कहानी [illegible] जो रेखाएं उभारी हैं, वे उनकी स्पष्ट और सं[illegible] दृष्टि का प्रमाण हैं। एक ओर बेईमान मह[illegible] जागीरदार और साहूकार श्रम से कोसों दूर रह[illegible] अपने अनैतिक उपायों से विलास का जीवन व्य[illegible] करते हैं, गुण्डे पाल कर निर्धन श्रमिकों को भां[illegible] भांति की ताड़नाएं देते हैं और दुर्व्यसनों के स[illegible] अधिकारियों से भी अत्याचार कराते हैं, दूसरी [illegible] निर्धन शिक्षित व्यक्ति श्रम और नैतिकता के पक्ष[illegible] होने के कारण जानवरों-जैसा जीवन व्यतीत [illegible] को बाध्य होते हैं। 'सुमन' जैसी गृह-वधुएं भूखे [illegible] रह कर दिन भर काम करती और ताड़नाएं स[illegible] हैं, किन्तु 'भोली' जैसी वेश्याएं ठाठ और सम्मान[illegible] जीवन व्यतीत करती हैं। सुमन का पति ही उ[illegible] पवित्रता की झूठी बदनामी उड़ाकर अपवित्रता [illegible] बदल देने की भूल करता है। प्रेमचंद ने विधवा[illegible] उपेक्षिताओं और वेश्याओं के प्रति समाज की तत्का[illegible] व्यवस्था और पुरुष के दृष्टि-दोषों को एक व्य[illegible] फलक पर उभारा है। यह ठीक है कि परिवर्तन[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्वान् प्रेमचंद के समाधानों से सहमत नहीं हो सकते, किन्तु प्रेमचंद का युग ही ऐसा था जिसमें सामाजिक बुराइयों और व्यवस्थाओं को एकदम बदल देना संभव नहीं था। उस समय देश की सारी शक्ति अंगरेजों का शासन समाप्त करने में लगी हुई थी। प्रेमचंद उन परिस्थितियों में भी समाज की विषमताओं के प्रति जागरूक थे और मानववादी समाधान प्रस्तुत करके समस्या-ग्रस्त नारी को मुक्ति का मार्ग दिखा रहे थे।

'प्रेमाश्रम' की रचना के समय प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिका से समस्त विश्व त्रस्त हो चुका था। रूस की राज्य-क्रान्ति ने सर्वहारा की विजय का मार्ग खोला था। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में बाहरी दृष्टि से गतिरोध आ गया था, किन्तु भीतर-ही-भीतर मुक्ति की कामना एक ज्वालामुखी के विस्फोट की भूमिका तैयार करने लगी थी। इस पृष्ठभूमि पर प्रेमचंद ने एक संयुक्त परिवार के विघटन की कहानी के माध्यम से ज़मींदारी प्रथा के दोषों और परिणामों का विस्तृत सामाजिक फलक पर अनेक रंगों में चित्रांकन किया है। संपत्ति चाहे चल हो या अचल, व्यक्तियों को किस सीमा तक भ्रष्ट कर देती है, यह दिखाने के लिए प्रेमचंद ने ज्ञानशंकर का चरित्र खड़ा किया है। वह अपने परिवार में ही अनैतिकता का आचरण नहीं करता, बल्कि ससुराल के वातावरण को भी विषाक्त बनाता है। अपने एक मात्र साले की मृत्यु पर उसका प्रसन्न होना, विधवा साली गायत्री के साथ कृष्ण-लीला करके उसे अपने प्रेम में फंसाने का यत्न करना—आदि कार्यों के पीछे मूलतः संपत्ति-प्राप्ति का लालच ही निहित है। अपने भाई प्रेमशंकर की अमेरिका से वापसी भी उसे खलती है और वह उसे बदनाम करके अपने गांव से भगाना चाहता है। व्यक्तित्व के विघटन और नैतिक पतन की एक लंबी कहानी ज्ञानशंकर के इर्द-गिर्द घूमती है। प्रेमचंद का समकालीन ज़मींदार कितना पतित, बेईमान, भ्रष्ट और धन-लोलुप था, उसका प्रामाणिक चित्रण प्रेमाश्रम में किया गया है। लखनपुर के किसानों पर होने वाले अत्याचार तथा सरकारी कर्मचारियों, सूदखोरों और महाजनों द्वारा किये गये विभिन्न प्रकार के शोषण इस उपन्यास में सजीव हो उठे हैं। खेतों में पैदावार दिनों-दिन कम होती जा रही है, किन्तु लगान बढ़ाने के लिए ज्ञानशंकर के प्रयास बराबर चल रहे हैं। प्रेमचंद प्रेमशंकर और बलराज के माध्यम से समकालीन रूसी क्रांति और गांधीवादी सुधार की वैचारिक पृष्ठभूमि उपचार के रूप में प्रस्तुत करते हैं। गांवों में नारी-सम्मान और स्वाभिमान की भावनाएं ग़रीबी में भी जीवित रहती हैं और इन भावनाओं की रक्षा के लिए निर्धन ग्रामीण किसी भी सीमा तक जा सकते हैं। अत्यधिक सहनशील मनोहर अपनी पत्नी के अपमान पर इतना क्षुब्ध हो उठता है कि ज्ञानशंकर के कारिंदा गौस खां की हत्या कर देता है और फिर नैतिकता का बोध जागृत होने पर थाने में जाकर अपना अपराध भी स्वीकार कर लेता है। इसी संदर्भ में प्रेमचंद ने पुलिस के अत्याचारों का भी जीता-जागता चित्र अंकित किया है। प्रेमशंकर ने अमेरिका में जो उच्च शिक्षा प्राप्त की है, उसका प्रभाव उसके विचार और जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई देता है, जिसके परिणाम-स्वरूप वह दरिद्र एवं दुर्दशा-ग्रस्त किसानों की सेवा के लिए 'प्रेमाश्रम' की स्थापना करता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्रेमचंद के सामने ग्रामों का दुःखी, दरिद्र और अत्याचार-पीड़ित जो समाज था, उसकी मुक्ति के लिए तब तक आश्रमों के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं था, जब तक देश को अंग्रेजों की राजनैतिक दासता से मुक्ति न मिल जाती। सामंती व्यवस्था के माध्यम से ही अंग्रेज भारत में अपने शासन की नींव मजबूत बनाये हुए थे। इस व्यवस्था को तोड़ने के लिए प्रेमचंद के सामने केवल सुधारवादी मार्ग ही था।

'निर्मला' उपन्यास में प्रेमचंद ने समकालीन ग्रामीण जीवन की एक दूसरी बुराई की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। दहेज के अभाव में लड़कियों का विवाह न तो अनुकूल वर के साथ हो पाता है और न अनुकूल घर में। पिता उदयभानु की अचानक मृत्यु हो जाने पर दहेज के अभाव में निर्मला का विवाह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बूढ़े वकील तोताराम के साथ होता है, जिनके निर्मला से भी बड़े पुत्र हैं। प्रेमचंद निर्मला को भारतीय ग्रामीण कन्या के सभी गुणों से युक्त दिखलाते हैं। वह तोताराम के परिवार में सब प्रकार से संतुलन बनाये रखना चाहती है, किन्तु फिर भी उसे सुख नहीं मिलता। हमारे समाज की इस दयनीय स्थिति में पड़ी ग्रामीण नारी का रक्षक और सहारा धरती आकाश में कहीं कोई दिखाई नहीं देता। "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते" वाले देश में हज़ार वर्षों की गुलामी ने नारी को किस दुर्दशा में पहुंचा दिया है और पुरुष का कितना चारित्रिक पतन हो गया है, यह प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में पूरे मानवीय विवेक के साथ चित्रित किया है।

'कायाकल्प' में चक्रधर की उच्च शिक्षा और मनोरमा से उसका प्रेम मात्र औपन्यासिक आकर्षण के लिए उस कथा का आधार बनते हैं, जिसमें किसानों की लूट-खसोट के कुछ अन्य नये चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। राजकीय अधिकारी और कर्मचारी अत्याचारियों के रूप में सामने आते हैं। चक्रधर को प्रेमचंद ने अहिंसावादी समाज-सेवक की भूमिका में प्रस्तुत किया है, जो मजिस्ट्रेट को बचाने का प्रयत्न करता हुआ भी मज़दूरों को भड़काने के झूठे आरोप में जेल भेज दिया जाता है। इसी संदर्भ में शासक के नैतिक पतन, सांप्रदायिक दंगे और छुआछूत की परिस्थितियाँ सामने आती हैं, जिनका प्रेमचंद के समकालीन जीवन से सीधा सम्बन्ध है।

'रंगभूमि' में तत्कालीन पूंजीवाद के प्रसार और पुरानी मान्यताओं के विघटन के चित्र प्रस्तुत हुए हैं। इस उपन्यास का मुख्य पात्र सूरदास एक गांव का भिखारी है। गांव में उसके पूर्वजों की कुछ ज़मीन है, जो पशुओं के लिए चरागाह का काम करती है। एक ईसाई पूंजीपति अच्छे दामों पर सूरदास की ज़मीन खरीदना चाहता है, लेकिन भिखारी होते हुए भी सूरदास गांव के हित को ध्यान में रखकर अपनी ज़मीन नहीं बेचता। गांव को केन्द्र बनाकर लिखे गए इस उपन्यास में भी सांप्रदायिक तनाव और उसके समाधान के चित्र मिलते हैं। लेकिन मूल समस्या पूंजीवाद के विस्तार की ही दिखाई देती है। प्रेमच[ंद] के युग में औद्योगिक पूंजीवाद का प्रसार इतनी ते[ज़ी] से हो रहा था कि गांव भी उसकी चपेट में आते [जा] रहे थे। प्रेमचंद इस आक्रमण के प्रति सजग थे। उन्होंने बहुत सावधानी के साथ पूंजीवादी प्रपंचों [का] इस उपन्यास में चित्रण किया है। शहरों के बढ़ते [हुए] प्रभाव के कारण जीवन में भ्रष्टाचार अनेक रूपों [में] पनपने लगा था। जो लोग शहरों के प्रति आकर्षि[त] थे, वे भी धीरे-धीरे निराश और नास्तिक होते [जा] रहे थे।

उस समय अंग्रेजों ने एक ऐसा मध्यवर्ग पैदा [कर] दिया था, जो शासन की सेवा करता हुआ भी दुः[खी] और पीड़ित था, जिसके लिए एक ओर शा[सन] उत्तरदायी था ही, किन्तु दूसरी ओर सामाजि[क] बुराईयां भी उसका कारण थीं। 'गबन' उपन्[यास] में इन स्थितियों को विस्तार से उभारा [गया] है। मध्य वर्ग के नौकर-पेशा लोग वेतन से काम [न] चल पाने पर छोटी-छोटी रिश्वतें लेते हैं और [फिर] कई दृष्टियों से अपराधी बनते हैं। प्रेमचंद 'गबन' [में] मध्यवर्गीय पात्रों के साथ-साथ क्रांतिकारियों आदि [के] प्रसंग भी नियोजित करते हैं, जिससे देशभक्ति [के] राजनैतिक संदर्भ टूटने नहीं पाते और पुलिस [के] अत्याचार तथा समाज के भ्रष्टाचार की कहानी [भी] हो जाती है।

'कर्मभूमि' में समकालीन राजनैतिक [और] आर्थिक स्थितियां विस्तार से चित्रित हुई हैं। [यह] उपन्यास का कथानक शहर से उभरता है [और] गांधीवादी जीवन-दर्शन की पृष्ठभूमि में पात्र खड़े [किए] जाते हैं। प्रेमचंद के अंतिम जीवन के समय दे[श में] गांधी जी का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ चुका था [जो] इस उपन्यास में भी दिखाई देता है। व्यापार [और] उद्योगों का विस्तार भी इस उपन्यास में अपनी भू[मिका] दिखाता है, लेकिन प्रेमचंद जी यहां भी ग्राम-सेवा [को] नहीं भूले हैं। अमरकांत धन-संचय और विलास[ी] जीवन का विरोध करता हुआ एक नये जीवन [का] सूत्रपात की घोषणा करता है। यह नया जीवन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चमारों के गांवों में जाकर निवास करना और उनके उद्धार के लिए आन्दोलन चलाना। निश्चय ही प्रेमचंद के युग में अछूतोद्धार का एक बहुत बड़ा कार्यक्रम गांधी जी के नेतृत्व में चल रहा था, जिसे प्रेमचंद ने 'कर्मभूमि' में सजीव बनाकर प्रस्तुत किया है। किसानों की बिगड़ती हुई आर्थिक दशा और उसके सुधार के लिए अमरकांत के नेतृत्व में लगान-बंदी का आन्दोलन प्रेमचंद-युग की राजनैतिक चेतना के प्रतीक हैं।

'गोदान' में प्रेमचंद गांव की धुरी को और मज़बूती से पकड़ते हैं। गोबर, सोना और रूपा-तीन संतानों का पिता होरी अपनी पत्नी धनिया के साथ विपदाओं से भरा हुआ गांव का जीवन बड़ी आस्था के साथ व्यतीत करता है। गाय पालकर अपने जीवन को, थोड़ी सी ज़मीन के सहारे, सुख से काट देना ही उसका एक मात्र लक्ष्य है। किन्तु वह इस लक्ष्य तक कभी नहीं पहुंच पाता। गाय ख़रीदने से लड़की की शादी करने तक वह बराबर कर्ज़ से दबता जाता है और ज़मींदार तथा सरकारी कर्मचारियों द्वारा उसके सभी कल्पित सुख, महत्त्वाकांक्षाएं, स्वाभिमानी विचार और आशाओं से भरे हुए इरादे ऐसे ही चुन-चुन कर खा लिये जाते हैं, जैसे किसी की लाश को श्वान, कौए और गिद्ध नोंच डालते हैं। निराश और टूटा हुआ होरी अपनी छोटी लड़की रूपा का विवाह रुपये लेकर एक बूढ़े आदमी से करता है और जब फिर भी ग़रीबी दूर नहीं होती, तो किसान से मज़दूर बन जाता है। अंत में बीमार पड़ता है और अपनी 'गोदान' की इच्छा सवा रुपये में पूरी कराता है। इस प्रकार प्रेमचंद किसान की टूटती हुई आशाओं और आकांक्षाओं का एक ऐसा महाकाव्य प्रस्तुत करते हैं, जो उनके समकालीन बोध की सही गवाही देता है।

'मंगलसूत्र' उपन्यास में एक लेखक की दुर्दशा का चित्र अधूरा रह गया है, क्योंकि प्रेमचंद इस उपन्यास को पूर्ण करने से पूर्व ही स्वर्गवासी हो गए थे। अत: इस अधूरे उपन्यास से अपने युग के साहित्य-कार की जिस दुर्दशा का बोध कराना चाहते थे, उसे पूरा विस्तार नहीं मिल सका। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि प्रेमचद जी अपने युग के साहित्यकारों के जीवन के प्रति भी पर्याप्त जागरूक थे।

इस प्रकार 'रूठीरानी' से 'मंगलसूत्र' तक की औपन्यासिक यात्रा में प्रेमचंद निरन्तर भारत के समकालीन स्वरूप को विविध आयामों में प्रस्तुत करने में तल्लीन रहे हैं। ग्राम-जीवन को मूलाधार मानकर इन्होंने पराधीन मानव की स्वाधीनता का जो स्वप्न देखा है, वह केवल राजनैतिक मुक्ति तक सीमित नहीं है। अतीत के संस्कारों में जीवित भारतीय जन-जीवन की आत्मा को उन्होंने उसके समग्र ग्रामीण परिवेश के साथ मुक्ति की आकांक्षा से उद्वेलित दिखलाया है। अपने समूचे आचरण में भारत का जन-समाज ग्रामों के उस सुदृढ़ आधार पर खड़ा है, जिसे अंगरेज़ों के शोषण-चक्र ने भयंकर आंधी बन कर झकझोर रखा है, फिर भी उसके भीतर मुक्ति की कामना का एक ज्वालामुखी निर्बाध सुलग रहा है। निश्चय ही प्रेमचंद के समकालीन बोध की दिशाएं बहुत स्पष्ट और सोद्देश्य हैं। वे जिस वस्तु जगत् को घेरती हैं, उसकी प्रासंगिकता आज भी समाप्त नहीं हुई है, क्योंकि प्रेमचंद ने मानव-मुक्ति का जो स्वप्न देखा था उसका केवल राजनैतिक पक्ष ही अभी तक पूरा हुआ है, शेष क्षेत्रों का शोषण-उत्पीड़न अभी भी उतनी ही भयंकरता से जीवित है, जितनी भयंकरता से प्रेमचंद के युग में जीवित था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० शैलेश जैदी
एम०ए०,पी-एच०डी०, डी०लिट०
हिन्दी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय
अलीगढ़

'चिट्ठियाँ बोलती हैं'

(चिट्ठी-पत्री के प्रकाश में 'प्रेमचन्द : घर और परिवार')

'तारीखे-पैदाइश—संवत् 1937। बाप का नाम मुंशी अजाएब लाल। सुकूनत मौज़ा मढ़वा लमही, मुत्तसिल पाण्डेपुर बनारस। .....वालिद का इंतक़ाल पन्द्रह साल की उम्र में हो गया। वालिदा सातवें साल गुज़र चुकी थीं।[1] यह है प्रेमचन्द के जीवन का वह ब्यौरा जो उन्होंने 17 जुलाई 1926 की चिट्ठी में निगम को लिखकर भेजा था।

वैसे तो प्रेमचन्द की निगम के साथ प्रारम्भ से ही बड़ी अंतरंगता थी। 1903 ई० में निगम ने **ज़माना** उर्दू मासिक निकालना शुरु कर दिया था और कानपुर पहुंचने से पहले प्रेमचन्द (धनपतराय) और निगम के बीच चिट्ठियां दौड़ने लगी थीं। कानपुर वे मई 1905 में आ गये थे। जहां वे पहली बार ठहरे भी थे निगम ही की हवेली में। इस मैत्री के पीछे एक ओर तो सजातीय होने की भावना थी, दूसरे आर्यसमाज की ओर दोनों का झुकाव भी इस नैकट्य के लिए प्रेरित कर रहा था। जो भी हो 17 जुलाई 1926 तक इक्कीस वर्ष की मुद्दत तो हो ही चुकी थी। आखिर इतने समय तक निगम को प्रेमचन्द के 'हालात' जानने की आवश्यकता क्यों नहीं पड़ी? **ज़माना** का जुब्ली नम्बर निकालने में भी अभी दो वर्ष की देर थी। फिर प्रेमचन्द का यह परिचय **ज़माना** के किसी अंक में छपा भी न... मेरे विचार में इस समय तक निगम की पैनी ... ने यह देख लिया था कि उनका यह मित्र नि... रूप से अपने समय का हिन्दी-उर्दू का श्रे... कथाकार माना जायेगा। स्पष्ट है कि प्रेमचन्द... इससे अधिक प्रामाणिक जन्म संवत् और मि... कहाँ सकता है। और फिर जब प्रेमचन्द के वि... डॉ० कमर रईस ने अच्छी तरह ठोक बजाकर जन्म तिथि को परख लिया हो, तो यह प्रमाण भी पक्का हो जाता है। वे लिखते हैं—'उनकी ... पत्री की एक नक्ल उनके वरसा के पास मह... जिससे तसदीक़ कर ली गई है।'[2] वरसा की बात ... ही शिवरानी देवी, श्रीपतराय और अमृतरा... नामों का ध्यान आ जाता है। किन्तु इनमें से ... ने भी जन्म पत्री की कोई चर्चा नहीं की है ... अमृतराय ने जन्मतिथि 'सावन बदी 10 संवत् ... शनिवार 31 जुलाई सन् 1880 ई०' कुछ इस ... लिखी है[3] जैसे लिखते समय जन्म-पत्री उनके साम... हो। पर यह भी एक विचित्र बात है कि प्रेमच... कोई जब कुछ छेड़ देता है तो वे अपनी आयु ... में कुछ बढ़ा-चढ़ाकर ही बातें करते हैं। शायद ... कराने से कुछ रोब अधिक पड़ता हो। 1893 ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रेमचन्द के विरोध में एक लेख छपा—**प्रेमचन्द की प्रेमलीला**। वैसे तो यह एक ऐसा समय था जब ऊपर चारों ओर से कीचा उछाली जा रही थी। किन्तु इस लेख का उत्तर देना जरुरी था। इसलिए और तमाम बातों के साथ **समालोचक** के शरद अंक में उन्होंने यह भी लिखा—'यह अभागा कल का लौंडा नहीं, पूरा खुर्राट है। तीन साल **और** हों तो पूरे पचास हो जाये।'[4] हिसाब लगाने पर जन्मतिथि 1936 वि० बैठती है। यानी मान्य तिथि से एक वर्ष पूर्व। और अब जनवरी 1934 में निगम को लिखी गयी चिट्ठी की यह पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं- 'जो काम चालीस की उम्र में होना चाहिए था वह अब पचपनसाले में हो रहा है।'[5] जबकि अभी 54 वर्ष पूरे होने में भी छै महीने की देर है। यहाँ भी जन्मसंवत् 1937 वि० नहीं निकलता। इसी प्रकार दिसम्बर 1933 ई० में लिखते हैं—'लेखक को अपने पचपनसाला जीवन में ऐसा कोई ब्राह्मण नहीं मिला जिसने इस पाखण्ड आचरण को घृणा की दृष्टि से न देखा हो।'[6] इस समय प्रेमचन्द की आयु कुल बावन वर्ष पांच महीने की होती है। किन्तु उनके लिखने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे पचपन वर्ष पूरे कर चुके हों। इस हिसाब से उनका जन्म, संवत् 1935 विक्रमी में होना चाहिए। एक अन्य स्थान पर 14 जुलाई 1919 ई० के पत्र में इम्तियाज़ अली ताज को लिखते हैं—'बेशक मेरा सिन चालीस साल है, (**चिट्ठी-पत्री**, भाग 2, पृ०102)। इस आधार पर भी प्रेमचन्द की जन्मतिथि 1879 ई० होनी चाहिए। किन्तु यह एक कथाकार की लेखनी का बहाव है। जोश में जो जी चाहे लिख जाये। कौन पूछने जाता है उससे !

अब माता और पिता के निधन की बात लीजिए। प्रेमचन्द की जन्मतिथि 31 जुलाई 1880 ई० मानने पर भी उनके पिता का निधन कम से कम उस समय नहीं हुआ जब वे 15 वर्ष के थे। प्रेमचन्द ही की सूचनानुसार उनके विवाह के साल भर बाद उनके पिता परलोक सिधारे।[7] वैसे तो प्रेमचन्द का विवाह उस समय हुआ जब वे 16वें वर्ष में प्रवेश कर चुके थे और नवीं की परीक्षा देने वाले थे। इस प्रसंग में डॉ० कमर रईस का एक रोचक वक्तव्य उद्धृत करना असंगत न होगा। लिखते हैं। 'इस वक्त उनकी उम्र पंद्रह साल की थी कि 1896 ई० में उनके वालिद ने उनकी शादी कर दी।[8] पूछिए भला कि 1896 ई० में धनपतराय पंद्रह वर्ष के किस प्रकार थे ? दिलचस्प बात है कि अमृतराय भी पंद्रह वर्ष की अवस्था में विवाह होने की बात लिखते हैं[9] जबकि उन्हें भी इस तथ्य से इन्कार नहीं कि विवाह के एक वर्ष बाद ही अजायब लाल का निधन हुआ। उन्हीं के शब्दों में—'नवाब नवीं में थे जब उनका ब्याह हुआ। अगले साल यानि 1897 में उन्हें मैट्रिक का इम्तहान देना था। लेकिन उसी साल पिता बीमार पड़े और इस दुनियां से उठ गये।[10] बात साफ हो जाती है कि पिता के निधन के समय प्रेमचन्द का सत्रहवाँ वर्ष चल रहा था।

अब रह गई माँ के निधन की बात। अमृतराय के अनुसार पहली पत्नी के निधन के दो वर्ष बाद अजायब लाल ने दूसरा विवाह किया। उस समय धनपत आठवीं जमाअत में पढ़ते थे।[11] यदि अमृतराय की बात मान ली जाये तो 1894 ई० में धनपत आठवीं में थे और दो वर्ष घटा देने पर 1892 ई० में अर्थात जिस समय धनपत 12 वर्ष के थे, माँ के निधन की बात सामने आती है। जबकि वही अमृतराय यह भी लिखते हैं—'पत्नी के मरने के कुछ ही दिन बाद मुंशी अजायब लाल बीमार पड़े। ठीक होने भी न पाये थे कि तबादले का हुक्म आया। नयी जगह, सूने घर में नवाब को ले जाना पागलपन होता, इसलिए नबाब को फिर लमही में ही रखने की ठहरी।[12] मतलब यह कि छठी कक्षा से प्रेमचन्द का नाम कटवा कर उन्हें लहमी में डाल दिया गया. इन गोल-मोल बातों से अमृतराय की लिखी हुई जीवनी एक भटकाव की स्थिति में डाल देती है और कोई निश्चित तथ्य सामने नहीं आता। इन्द्रनाथ मदान को प्रेमचन्द ने लिखा था—मैं आठ साल का था तभी मेरी माँ नहीं रहीं।[13] हो सकता है अपनी माँ के निधन के समय अपनी उम्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटाकर बताने में प्रेमचन्द के मन में अधिक सहानुभूति प्राप्त करने की बात रही हो। इतना तो निश्चित है कि अजायब लाल का दूसरा विवाह 1892 ई० के लगभग हुआ। और उनकी प्रकृति को देखते हुए यह बात किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं की जा सकती कि वे पहली पत्नी के निधन के बाद चार वर्ष तक अकेले रहे। अमृतराय ने भी दो वर्ष बाद दूसरी शादी करने की बात स्वीकार की है! फलस्वरुप माँ के निधन के समय प्रेमचन्द की अवस्था दस वर्ष के लगभग स्वीकार की जानी चाहिए। सात वर्ष के तो वे किसी प्रकार भी नहीं हो सकते। अभिप्राय यह है कि प्रेमचन्द द्वारा निगम को दी गयी सभी सूचनाएँ प्रश्न चिह्नों से जुड़ी हुई हैं।

प्रेमचन्द लमही के एक बड़े से मकान में जन्मे थे। 'लमही' इसलिए कि 'मढ़वा' शब्द तो अब घिसते-घिसते दम तोड़ चुका है। और 'बड़े से मकान' की बात यूँ आयी कि प्रेमचन्द ने दयानरायन निगम को स्वयं सूचना दी थी—'ईश्वर की कृपा से मकान भी सारे गाँव के लिए ईर्ष्या का पात्र।' फिर मकान के कमरों की चर्चा इसका बड़कपन और भी उजागर कर देती है—'किसी में बैल बंधता है, किसी में उपले जमा हैं, कहीं अनाज का ढेर है, किसी में जाँत, चक्की, ओखली, मूसली जुलूस फ़र्मा हैं।[14] कितना संपन्न है यह मकान! यह ठीक है कि इसमें निगम की हवेली जैसा आनन्द नहीं है, न वहाँ जैसी सफ़ाई, न खस की टट्टी, न पंखे की हवा। गांव ही का तो मकान ठहरा। सारे गांव का सिरमौर है यह क्या कम है?

कायस्थों में दो विवाह करने का आम प्रचलन था। पिताजी पहले ही रास्ता हमवार कर चुके थे। फिर प्रेमचन्द कैसे पीछे रह जाते। लिखने को तो उन्होंने निगम को बड़े ही धड़िल्ले से लिख दिया—'अधबीच में छोड़ने वाले और होंगे। यहां तो जब एक बार बाँह पकड़ी, तो ज़िन्दगी पार लगा दी।'[15] किन्तु मेंहदावल तहसील के रमवापुर गाँव वाली पत्नी के साथ ऐसा नहीं हुआ। 7 सितम्बर 1934 को इन्द्रनाथ मदान के प्रश्नों का उत्तर देते हुए प्रेमचन्द ने लिखा—'मेरी पहली स्त्री का देहा... 1904 में हुआ, वह एक अभागी स्त्री थी, तनिक सुदर्शन नहीं और यद्यपि मैं उससे सन्तुष्ट नहीं था, भी बिना शिकवा-शिकायत निभाये चल रहा था। किन्तु यह तो एक मनगढ़त कहानी भर है। अ... बात तो निगम को जून 1906 ई० के पत्र में ... शब्दों में लिखी गई—'अपनी बीती किस से कहूं। औरतों ने एक दूसरे को जली कटी सुनाई। ह... मखदूमा (स्वामिनी) ने जल-भुनकर गले में ... लगायी। माँ ने आधी रात को भांपा, दौड़ीं, उ... रिहा किया। ...बीबी सहिबा ने अब ज़िद ... कि यहाँ न रहूंगी। मैके जाऊँगी। ......वह रो-धो... चली गयीं। मैंने पहुंचाना भी पसन्द न किया।... मैं उनसे पहले ही खुश न था, अब तो सूरत... बेज़ार हूं।'[17]

रह गयी तनिक भी सुदर्शन न होने की बा... प्रेमचन्द ने यह शिकायत शिवरानी देवी से भी ... थी। शिवरानी देवी जो उनकी दूसरी पत्नी थी, ... बकौल प्रेमचन्द बाल विधवा थीं।[18] उनमें साहि... अभिरुचि थी, कभी-कभी कहानियाँ भी लिखती ... निडर, साहसी, समझौता न करने वाली, सीधी-स... स्त्री थीं।[19] इतना ढेर सार गुण था उनमें। फिर ... प्रेमचन्द की शिकायत पर मौन किस प्रकार रहतीं। उ... सच्चाई, साहस, और निडरपन को ठेस न पहुं... प्रेमचन्द बोले—'उमर में वह मुझसे ज्यादा ... मैंने उनकी सूरत देखी, तो मेरा खून सूख गया... शिवरानी देवी ने बस्ती के निवासकाल में उन्हें कहीं... कहीं देखा ज़रूर था। तुरन्त बोल पड़ीं—ठीक ... थीं। 'कितना विश्वास था इस उत्तर में। फिर इ... ही नहीं उन्होंने यह भी कहा—'आप दावे के ... कह सकते हैं कि आप का अपना चरित्र अच्छा ... ख़ामोश![20] कितनी सख्त लताड़ थी यह। स्पष्ट ... है कि प्रेमचन्द ने चरित्र पर भी कुछ छींटे कसे थे। ... शिवरानी देवी का बिफ़र पड़ना स्वाभाविक था।

मदान ने प्रेमचन्द से उनके प्रणय की बात पूछी थी और प्रेमचन्द यह लिखकर कि कुछ ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोटे-छोटे मामले थे जैसे कि सबके होते हैं, पर मैं उन्हें प्रेम नहीं कह सकता[21]—साफ़ निकल गये थे। किन्तु जीवन के अन्तिम क्षणों में उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया था कि वे शिवरानी देवी से विवाह करते समय और उसके बाद भी काफ़ी दिनों तक एक औरत को रखे हुए थे।[22] इस स्वीकारोक्ति को जी चाहे तो प्रेमचन्द की ईमानदारी कह लीजिए। पर शिवरानी देवी भी कितनी गम्भीर थीं कि इस रहस्य से बहुत पहले से परिचित होते हुए भी उन्होंने इसे छेड़ना कभी उचित नहीं समझा। पहली पत्नी पर भी यह बात शायद खुल गई थी। अभी तो गले में फंदा लगा लेने के अतिरिक्त उसे कोई अन्य मार्ग नहीं सूझा।

वह मैके चली गई और प्रेमचन्द उसे पहुंचाने नहीं गये। यहाँ तक तो जो होना था हो गया। पर अब विमाता के साथ छब्बीस वर्षीय प्रेमचन्द का अकेले रहना खतरे से खाली नही था। दोनों को लेकर घर परिवार में खूब-खूब क़िस्से गढ़े जा सकते थे। और यह कोई नई बात भी नहीं थी। कौलेश्वर लाल की युवती विधवा को लेकर रिश्ते के एक भतीजे के साथ उसके सम्बन्धों की कथा इसी परिवार में उड़ाई जा चुकी थी। इसलिए अभी पहली पत्नी को गये हुए आठ दस दिन ही हुए थे कि विमाता की ओर से दूसरे विवाह की छेड़-छाड़ शुरू हो गई और पत्नी के हसीन होने की चर्चा सुनकर प्रेमचन्द का मन भी भुरभुराने लगा—'वालिदा (विमाता) की तरफ़ से ज़िद है कि ब्याह रचे और ज़रूर रचे। अब कहता हूं मैं मुफ़लिस हूं, कंगाल हूं, खाने को मयस्सर नहीं, तो वालिदा साहबा कहती हैं, तुम अपनी रज़ामन्दी ज़ाहिर करो तुमसे एक कौड़ी न मांगी जाएगी। सुनता हूं, बीबी हसीन है, बाशऊर है, जेब से खर्चे बगैर मिली जाती है फिर तबीयत क्यों न भुरभुराये और गुदगुदी क्यों न पैदा हो।[23]

कहते हैं कि दूध की जली बिल्ली छाछ भी फूंक कर पीती है। विमाता के लगाये हुए रिश्ते पर एक विवाह करके प्रेमचन्द देख चुके थे। अब तबीयत लाख भुरभुराये और 'हसीन बीबी' की कल्पना से मन में भले ही लड्डू फूटें, किन्तु कोई भी क़दम बगैर सोचे समझे नहीं उठाना है। इसलिए—'इस बारे में अभी फिर मश्‍विरा करने की ज़रूरत बाकी है।'

घर वालों को कोई सूचना दिये बिना,[24] 1906 ई० के फागुन में प्रेमचन्द ने चुपके से शिवरानी देवी से विवाह कर लिया। किन्तु यह भी कैसी विडंबना है। फिर वही लफड़ा, वही रंगढ़ंग। आभूषणों के लिए बीबी जान की ज़िद। 1912 ई० में प्रेमचन्द ने निगम को सूचित किया—'बीबीजान की वर्षों की ज़िद पर रफ़ा शिकायत के लिए एक कड़ा बनवाया जिस का सदमा अब तक न भूला'[25] खर्चे बगैर हसीन और बाशर पत्नी पा जाने का स्वप्न देखने वाले के लिए कड़े के लिए रुपये खर्च करना किसी सदमे से कम किस प्रकार होता। विवाह को कई वर्ष हो गये और न बाल न बच्चा। रामसरन को जब सन्तान का सुख मिला तो औपचारिक रूप से खुशी की अभिव्यक्ति तो कर दी। किन्तु अपनी हवस को दबा न सके। 22 मार्च 1913 ई० को निगम को एक चिठ्ठी में लिखा—'मिस्टर सरन के घर में बच्चा पैदा हुआ है। खुशी की बात है ईश्वर उसे जिन्दा रखे। मेरी न पूछिए। अहबाब फलें-फूलें। मेरी खुशी के लिए इतना काफ़ी है। ज्यादा की ज़रूरत नहीं। उन्हीं के बच्चों को प्यार करके अपनी हवस मिटा लूंगा।[26] कितनी हसरत और कितनी निराशा है इन पंक्तियों में। जैसे चिठ्ठी के शब्द अपने अभागेपन की कहानी सुना रहे हों। मित्रों के बच्चों को प्यार करके प्रेमचन्द ने अपनी हवस मिटाई या नहीं किन्तु 'जलवएं ईसार' के मुन्शी शालिग्राम ने मुंशी प्रेमचन्द की यह खाहिश पूरी कर दी—'मुंशी जी को स्वभावत: बच्चों से बहुत प्रेम था। मुहल्ले भर के बच्चे उनके प्रेमवारी से अभिसिंचित होते रहते थे।[27]

यह बात उस समय की है जब शिवरानी देवी के पैर भारी थे। किन्तु लक्षण बता रहे थे कि पुत्री का जन्म होने वाला है। अभी तो डेढ़ महीने बाद 4 मई 1913 को फिर निगम को सूचित करते हैं—'बेगम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहिबा यहीं तशरीफ़ रखती हैं और ग़ालिबन दुख़्तरे-नेक अख्तर की आमद है ।[28]

प्रेमचन्द ने अपनी इस शुभ नक्षत्रों वाली सुपुत्री का नाम कमला रखा । इन दिनों मीरज़ापुर में महताब राय के विवाह की बातचीत चल रही थी । जिसकी सूचना 4 मई 1913 की चिट्ठी में प्रेमचन्द ने निगम को इस प्रकार दी—'आज छोटक (महताबराय) के क़दवाँ मीरज़ापुर से आने वाले हैं ।[29] किन्तु इन क़द्रदानों के साथ मामला पक्का न हो सका । एक महीने बाद 3 जून 1913 ई० को प्रेमचन्द ने लिखा—'छोटक की शादी डिसमिस हो गई । बहुत अच्छा हुआ । अभी दो-तीन साल तक यह काम क़ब्ल अज़ वक़्त था ।[30] प्रेमचन्द का स्वास्थ्य इधर काफ़ी ख़राब चल रहा था । इसी चिट्ठी में वे निगम को सूचित करते हैं कि वे छुट्टी की दरखास्त दे चुके हैं और संभव है 15 जून 1913 से उन्हें छुट्टी मिल जाये । उन का स्वास्थ्य कितना गिर चुका है इस का अनुमान इन शब्दों से किया जा सकता है—'आप मुझे देखें तो ग़ालिबन पहचान न सकेंगे । हाज़िमे में फ़ितूर आ गया है । ज़ोफ़ दिन-दिन बढ़ता जाता है ।[31] और फिर चार दिन बाद लिखते हैं—'मैं अपनी हालत ख़राब होने के बाइस बिल्कुल अपाहिज़ हो गया हूं ।......मेदा ज़रा सही हो जाये तो फिर कुछ काम करूँ । कानपुर मेरे प्रोग्राम में शामिल है । और ग़ालिबन बनारस जाने से क़ब्ल अगर आप मेरी रिहाइस (रहने) का कोई इंतज़ाम कर सकें, तो मैं कानपुर ही में अपना मुआलिजा (इलाज) कराऊँ । क्यों बनारस जाऊँ । क्योंकि अब शादी तो होनी नहीं, ख़ामखाह की दर्दसरी ।[32]

प्रेमचन्द को अवकाश भी मिला और वे कानपुर भी गये । मगर वहाँ रहकर ढंग से इलाज कराने की बात आयी-गयी हो गई । तीन महीने का अवकाश इधर-उधर की बातों में निकल गया । 14 सितम्बर की शाम तक हमीरपुर पहुंचना ज़रूरी था । इसलिए निगम के खिन्न होने की चिन्ता किये बिना प्रेमचन्द हमीरपुर पहुंच गये—'हमीरपुर में ऐसे वक्त पहुंचा जब मेरी रुख्सत ख़त्म होने में सिर्फ चौबीस घण्टे की देर थी । 14 सितम्बर की शाम को ख़त्म होने वाली थी । मैं 13 की शाम को चला ।[33]

प्रेमचन्द अच्छी तरह जानते थे कि 'सेहत बड़ी चीज़ है, जिसने इसकी कद्र न की उसके लिए बजुज़ रोने के और सर धुनने के और कोई इलाज़ नहीं है ।[34] किन्तु सब कुछ जानते हुए भी इसी स्थिति में जुलाई 1914 तक का समय हमीरपुर में कट गया । अगस्त में बस्ती के लिए प्रस्थान किया । परिवार साथ न जा सका । नयी-नयी जगह थी । इसलिए अपने तनहा जाने की सूचना निगम को देना न भूले ।—मैं इस वक्त यहाँ से तनहा जाता हूं ।[35] नया-नया इंतजाम न किसी से जान न पहचान । फिर तंगदस्ती क्यों न हो—'नये-नये इंतजाम की वजह से मैं यहाँ तंगदस्त हो गया । चारपाइयाँ बनवानी पड़ीं 'अभी जानवर नहीं लिया मगर उसके लिए दिन-रात फिक्र है । सैनाटोजन का इस्तेमाल कर रहा हूं जो शायद यह शीशी ख़त्म हो जाने पर मुश्किल से मिल सकेगी ।'[36] किन्तु इस सैनाटोजन के प्रभाव से भी प्रेमचन्द के स्वास्थ्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ । दो महीने बाद निगम को सूचित किया—'सारी दुनियाँ को सैनाटोजन फ़ायदा करती है, मुझे इससे भी कुछ न हुआ । आ... चार पाँच मील हवा खाने की सलाह दी है । उस... तामील कर रहा हूं । पाँच दिन से लगातार तीन-चार मील घूमता हूं । उम्मीद कि तबीयत टिचन होगी ।'...

बस्ती आने पर प्रेमचन्द निश्चय नहीं कर ... थे कि वे डुमरियागंज में निवास करें अथवा बस्ती ... रहें । उन्हीं के शब्दों में—'अभी तक यह नहीं ... कर सका कि डुमरियागंज में क़थाम करूँ या ब... में । चाची बस्ती के लिए वोट देती हैं ताकि छो... की आमद-रफ्त में दिक़्क़त न हो ।[38]

स्वास्थ्य के 'टिचन' हो जाने का प्रेमचन्द ... भरसक प्रयत्न किया । जनवरी 1915 में छः म...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की छुट्टी लेकर कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस सभी जगह इलाज कराया। किन्तु कोई विशेष लाभ न हुआ। 19 मार्च 1915 को अन्त में थकहार कर पांडेपुर चले गये। वहां से एक दिन बाद निगम को चिट्ठी लिखी—मैं कल यहां पहुंच गया और हस्बे दस्तूर जैसे था वैसे हूं।'[39] फिर करीबन दो सप्ताह बाद लिखते हैं—मुझे यहां आये क़रीबन दो हफ्ते हुए।.... मेरी तबीय बदस्तूर है। आजकल कोई दवा इस्तेमाल नहीं करता हूं। सैर और एहतियात पर ही दारोमदार रखा है।[40]

पांडेपुर से कुछ ठीक-ठाक होकर प्रेमचन्द फिर बस्ती में आ गये। यहाँ आ कर प्रेमचन्द ने अपनी आर्थिक स्थिति की निगम को 10 अगस्त 1915 ई० की चिट्ठी में विस्तृत सूचना दी। उन्होंने लिखा—'मेरे पास इन छै माह की रुखसत के बाद इस वक़्त कुल आठ सौ रुपये हैं। तीन सौ रुपये मैंने तीन असामियों को अठारह फ़ीसदी सूद पर कर्ज दे दिये हैं (चि०प० भाग 1, पृ० 45)। अब प्रेमचन्द को पढ़ने और परीक्षा पास करने का भी शौक हुआ। दो अक्तूबर 1915 को लिखा—'इससाल तो किताबें मंगवा ली हैं। छोटक साथ हैं। इन्हें छोड़ भी नहीं सकता। यही फैसला होता है कि एक बार फिर तालिबइल्मी के उम्मीदोबीम (आशा-निराशा) का मज़ा ले लूं।'[41] और फिर 16 दिसम्बर 1915 को इस परीक्षा की बाबत लिखते हैं—'मैं एफ़० ए० का इम्तहान देने मार्च में कहीं न कहीं जाऊँगा। इससाल तैयार हूं, बनारस, इलाहाबाद और कानपुर और लखनऊ—चारों में बनारस तकलीफ देह है। कानपुर में खाने-पीने की तकलीफ़, लखनऊ में जाये क़याम कालेज से दूर, इलाहाबाद सुभीता है। वर्ना कानपुर में चैन से रहता। बहरहाल गर्मी की तातील में ज्यादा नहीं तो 15 दिन तक सोहबत रहेगी।'[42]

मई का महीना भी आ गया किन्तु निगम की सोहबत का मौका न मिला। 13 मई 1916 की चिट्ठी में निगम को सूचित्त किया—आज बनारस जाता हूं। मेरे एक साले साहब की शादी 8 जून को है। इसलिए मैंने यह बेहतर समझा है कि जून ही में बनारस से चलूं और आपसे मुलाकात करता हुआ शादी में शरीक होने के बाद 15 तक बनारस वापस चला आऊँ।'[43] किन्तु मई में बनारस न जा सके। हाँ बस्ती के जीवन से तंग आकर तबादले की दरख़ास्त अवश्य दे दी। कानपुर आने की बड़ी इच्छा थी। ख़याल था कि वहाँ आकर शायद कुछ शांति मिले। 22 मई 1916 को निगम को लिखा—'काश मैं किसी तरह तब्दील होकर कानपुर आ सकता। तबादले की दरख़ास्त तो दी है मगर मालूम नहीं कहाँ फेंका जाऊँ।'[44] निगम चाहते थे कि प्रेमचन्द कानपुर आ जाये। प्रेमचन्द को कानपुर जाने में ख़स की टट्टी और पंखे का विशेष मोह भी था। किन्तु घरेलू जीवन की जिम्मेदारियां इतनी छूट कब देती हैं। उत्तर में निगम को लिखा—'मेरे आने की बात यों है। मैं तो आज ही रवाना हो जाता मगर 27 मई को फ़ैज़ाबाद से एक लाला साहब छोटक की शादी के मुतल्लिक कुछ तज़किरा करने के लिए आयेंगे। फिर मुझे धर्म-पत्नी जी के साथ ससुराल जाना है। ग़ालिबन 4 या 5 जून को जाऊँगा। अगर यह झमेले न होते, तो बराहे रास्त कानपुर आता। टट्टी और पंखे तो ख़ैरियत से होंगे।'[45]

प्रेमचन्द का तबादला हो गया। किन्तु कानपुर के बजाय गोरखपुर भेजे गये। अगस्त की 18 तारीख को वे गोरखपुर पहुंचे और अभी सामान भी नहीं ठीक कर पाये थे कि रात में श्रीपतराय का जन्म हुआ। गोया एक पुरानी इच्छा थी जो आज पूरी हो गई। अभी आठ महीना पहले वे निगम को बस्ती से 16 दिसम्बर 1915 के पत्र में लिख चुके थे—चाची बनारस, बाकी तीन आदमी यहाँ। बाल बच्चे न हुए न उम्मीद न आरजू।[46]' लेकिन सच्ची बात यह है कि कुछ-कुछ उम्मीद बंधने के बाद ही यह बात लिखी गयी थी। रह गयी बात 'आरज़ू' की। वह तो शायद बहुत गहराई से मन में बैठी हुई थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोरखपुर प्रेमचन्द के लिए नया नहीं था । किन्तु बचपन के गोरखपुर में और वर्तमान गोरखपुर में बहुत अन्तर था । तब प्रेमचन्द केवल धनपत थे और वह धनपत आश्रित रहते हुए भी स्वतंत्र था, स्वच्छन्द था, उन्मुक्त था । बीड़ी सिगरेट पी सकता था, गन्दी औरतों में बैठकर उनकी रोचक बातचीत सुन सकता था, कटी हुई पतंगों के पीछे दौड़ सकता था, चाची के हंसी मजाक में हिस्सा बटा सकता था' हुक्के गुड़गुड़ा-गुड़गुड़ा कर तिलिस्मे होशरुबा की चिस्कियां ले सकता था, मामाजी और चमारिन की प्रेम लीला का आनन्द उठा सकता था और इसी प्रकार के ढेर सारे काम कर सकता था । किन्तु अब प्रेमचन्द स्वतंत्र होते हुए भी पाबन्द थे । प्रारंभिक चार महीने यहां किस प्रकार बीते इसकी कोई सूचना नहीं मिलती । निगम को इस बीच चिट्ठियां अवश्य लिखी गई होंगी, किन्तु इस अर्से की एक भी चिट्ठी उपलब्ध नहीं है । गोरखपुर से पहली चिट्ठी 11 दिसम्बर 1916 को लिखी गई । गरीबी का रोना । कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए किराया न जुटा पाने का शिकवा ।[47] जबकि एक कहानी का पारिश्रमिक गोरखपुर से लखनऊ आने-जाने भर के लिए काफी था । फिर गोरखपुर में वेतन भी बढ़कर साठ रुपये हो गया था । और आगे चलकर वार्डन होने तथा 'फ़र्स्ट एड' की एक माह की ट्रेनिंग कर लेने पर तीस रुपये की और भी वृद्धि हो गयी थी ।

अमृतराय की सूचना के मुताबिक गोरखपुर में श्रीपतिराय के जन्म के बाद शिवरानी देवी बहुत बीमार हो गयीं थीं और प्रेमचन्द ने घर का सारा काम —बच्चों को सुलाना-जगाना, नहलाना-धुलाना, खिलाना-पिलाना 'सभी कुछ अपने ऊपर ओढ़ लिया था ।[48] किन्तु इस बात की पुष्टि प्रेमचन्द की किसी चिट्ठी से नहीं होती । 11 दिसम्बर 1916 वाली चिट्ठी से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि प्रेमचन्द ने इस अर्से मे कई पत्रिकाओं के लिए लिखा जिनमें से एक का पारिश्रमिक भी उन्हें मिल गया था । स्पष्ट है कि कई पत्रिकाओं में लिखने के लिए पर्याप्त समय अपेक्षित होता है । स्कूल की ज़िम्मेदारियों और घर का सारा बोझ उठाने वाला व्यक्ति कई पत्रिकाओं में नहीं लिख सकता ।

जनवरी 1917 के दूसरे सप्ताह में निगम ने प्रेमचन्द को मुबारकबाद का पत्र भेजा जिसकी स्वीकृति प्रेमचन्द ने 15 जनवरी के पत्र में इस प्रकार दी—मुबारकबादिओं के लिए तहे दिल से शुक्रिया मेरी जानिब से भी वही दुआएँ क़ुबूल फ़रमाईए। मुबारकबाद किस बात की दी गई थी, कुछ पता नहीं चलता अमृतराय ने श्रीपति की जन्मतिथि यदि 18 अगस्त 1916 न लिखी होती, तो यह भी सोचा जा सकता था कि यह बधाई पुत्र-जन्म की दी गई है । चिट्ठी का स्वर भी कुछ ऐसा ही है । खैर !

ठीक नौ दिन बाद 24 जनवरी 1917 को प्रेमचन्द ने अपने 'सुसर साहब के सख्त बीमार होने की सूचना दी और बताया कि वे फरवरी में इलाहाबाद जा रहे हैं' (चिट्ठी-पत्री, 1, पृष्ठ 58) ।' फिर 20 फरवरी को उन्होंने सूचित किया कि वे 19 को इलाहाबाद पहुंच गये । वहाँ उन्हें 15 मार्च तक रहना पड़ा (चि०प० 1, पृ० 58) । 16 मार्च को वे गोरखपुर पहुंच गये । किन्तु लगभग तीन महीने बाद जून 1917 के प्रथम सप्ताह में उन्हें फिर ससुराल जाना पड़ा । उन्होंने 8 जून को निगम को लिखा— 'मैं' यहाँ बुरा आ फंसा । वाकई अब बीमार हो रहे हैं । अब देखूं किस तरीख तक पिण्ड छूटता है (चि० प० 1, पृ० 62) । 30 जून को पिण्ड छुड़ाकर वे गोरखपुर पहुंच गये । 5 जुलाई को धन्नू को ब्रान्कोईटिस हो गया । डाक्टर की दवा करनी पड़ी तब कहीं जाकर अच्छा हुआ ।

प्रेमचन्द के मित्र निगम की लाटरी में विशेष रुचि थी । जुलाई 1917 में जब लाटरी का नतीजा निकला और असफलता हाथ लगी, तो प्रेमचन्द उनपर गहरी चोट करना नहीं भूले—'लाटरी ने फिर धोखा खाया, इसका अफ़सोस रहा । ठाकुर जी की भक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किस उम्मीद पर की जाये !...उम्मीद कि आपके यहां लाटरी की मायूसी के आलावा और सब खेरियत होगी।' (चि० प० 1, पृ० 64)।

अगस्त में फसली बुखार का दौर-दौरा था। प्रेमचन्द का घर भी न बच सका। 22 अगस्त 1917 की चिठ्ठी में उन्होंने निगम को लिखा--'यहां आजकल फ़सली बुखार की शिकायत है। घर के दो आदमी बीमार हैं[50]।' अक्तूबर में सीतापुर जाने का विचार था किन्तु स्कूल देर से बन्द होने के कारण प्रोग्राम रद्द करना पड़ा।[51]

महताबराय 1915 ई० में परीक्षा में असफल हो गये थे और प्रेमचन्द ने उनका नाम स्कूल लिविंग लिखा दिया था।[52] किन्तु वहाँ भी जब उन्हें सफलता नहीं मिली, तो उन्हें टाइप सीखने के लिए लखनऊ भेज दिया गया। मार्च 1917 में जब वे टाइप सीख कर लौटे, तो प्रेमचन्द के सामने उनकी नौकरी की समस्या थी। उन्होंने निगम को लिखा—महताबराय लखनऊ से टाइप सीखकर आ गये हैं। आप इन्हें वहाँ किसी मिल या फर्म में इंट्रोड्यूस करा सकते हैं। अगर ऐसा हो सकता है तो मुझपर खास इनायत होगी।[53] किन्तु निगम की 'इनायत' नहीं हुई और महताबराय को दूसरी सुफ़ारशों से बस्ती में 30 रुपये माहवार पर अस्थायी रूप से टाइपिस्ट की नौकरी मिल गयी जहाँ उन्होंने जुलाई 1918 तक काम किया। मई 1918 के अन्तिम सप्ताह में उनकी शादी भी कर दी गई थी। यह ज़माना प्रेमचन्द के लिए बड़ी ही परेशानियों का था। स्वयं उन्हीं से सुनिए— 'क्या करूँ ऐसी परीशानियों में था कि कानपुर आने का मौका ही न मिला। 11 मई को यहां से चला, 27 को बरात के साथ गया, 30 को वापस आया, 11 को कलकत्ते गया। 20 को वहाँ से वापस आया। फिर मकान की मरम्मत में फंसा।...जब से आया हूं आँखें उठी हुई हैं।'[54] बी० ए० पास करने की धुन अलग थी। किस्सों कहानियों में डिग्रियों की हमेशा खिल्ली उड़ाते रहे किन्तु व्यावहारिक जीवन में अच्छी तरह जानते थे कि बी० ए० किये बिना कोई अच्छी नौकरी नहीं मिल सकती।

जुलाई-अगस्त-सितम्बर में बारिश बिल्कुल नहीं हुई। कहत पड़ गया। बीमारियों ने धावा बोला। 27 अक्तूबर 1918 को निगम को लिखा—'अखबारों में तो कानपुर की कैफ़ियत देख-देखकर जी काँप उठता है। परमात्मा आप लोगों की रक्षा करे। मैं भी यहां बहुत परीशान रहा। मेरे सिवा सारा घर पड़ा हुआ था। खाना तक अपने हाथों से बनाना पड़ता था। अभी तक कुछ-कुछ कसर बाकी है। सबको खांसी आ रही है।'[55]

बी० ए० की परीक्षा की तैयारीयां जोरों पर थीं। सफलता का विश्वास भी था। अप्रैल 1919 में परीक्षा होनी थी। तीन-चार महीना पहले से लेख कहानी आदि लिखना बन्द कर दिया। 7 फरवरी 1919 को निगम को लिखा—'मैं अप्रैल में इलाहाबाद से लौटते हुए कानपुर आने की कोशिश करूँगा और गर्मियों में तो बइत्मीनान मुलाकात होगी।'[56] फिर 19 मार्च को अपने इलाहाबाद जाने की सूचना दी -- 'मैं 1 को इलाहाबाद जा रहा हूं। मेरा पता यह होगा—बाबू कृपा शंकर वकील, कटरा, इलाहाबाद।'[57] किन्तु इलाहाबाद से कानपुर जाने का अवकाश न मिल सका—'मुझे यहाँ से 16 की शाम को फुरसत मिलेगी और 17 को मुझे गोरखपुर पहुंचना लाज़मी है इसलिए मैं अबकी बार कानपुर न आ सकूंगा।'[58] इलाहाबाद जाते समय परिवार को भी साथ ले गये और वहीं बच्चों को नानिहाल में छोड़ दिया था। 18 अप्रैल को गोरखपुर पहुंचे तो घर में अकेले ही थे। 19 अप्रैल को निगम को लिखा 'कल गोरखपुर पहुंच गया।...मेरे लड़के बाले तो आजकल नाना साहब के यहां हैं।'[59] दो एक-दिन गोरखपुर में रहकर वे स्वयं भी नाना साहब के यहां चले गये जहाँ शायद एक दिन से अधिक नहीं रुके और 24 अप्रैल को उन्होंने निगम को अपने लौट आने को सूचना दी। किन्तु परिवार अभी भी इलाहाबाद ही में था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहली मई से स्कूल दो महीने के लिए बन्द हो गया। 3 मई को मुन्शी जी लाला तेजनारायन लाल की शादी में रामपुर चले गये और 18 मई तक वहीं रहे। 25 मई को निगम को रामपुर (आजमगढ़) से चिट्ठी लिखी—'18 को यहां से चलने का कस्द है। इस दरमियान में मुझ पर कई सानहे गुज़रे। मेरी हमशीरा साहबा (बहन) का 4 मई को इन्तकाल हो गया। मेरे एक नौजवान साले का 5 मई को। इसलिए मिर्जापुर में दो-चार दिन रहकर इलाहाबाद होता हुआ आखिर मई तक कानपुर पहुंचूंगा।'[60] और फिर इधर-उधर फिरते-फिराते 30 जून 1919 को पूरे दो माह की छुट्टी समाप्त करके गोरखपुर पहुंचे। उसी दिन ताज को चिट्ठी लिखी—'आज दो माह के बाद यहाँ आया हूं। ...दो महीने तो इधर-उधर आवारा फिरता रहा, दो महीने इम्तहान की नजर हुए मगर मेहनत ठिकाने लगी।'[61] अन्तिम वाक्य बी० ए० की डिग्री नाम के साथ जुड़ जाने का संकेत देता है।

जुलाई के तीसरे सप्ताह में पत्नी और बच्चे भी इलाहाबाद से आ गये। पत्नी काफी भारी-भरकम होकर आयी थीं। परिवार में एक की गिनती और जुड़ने वाली थी। 5 सितम्बर को प्रेमचन्द ने गोरखपुर से निगम को लिखा—'नौ-आमद के इन्तजार में तीन औरतें यहां मुकीम हैं और वह हज़रत हैं कि आने का नाम ही नही लेते।'[62] जैसे पहले से पता हो कि इस बार भी बेटा ही पैदा होगा। हुआ भी ऐसा ही और प्रेमचन्द ने उसका नाक मुन्नू रखा। किन्तु यह मुन्नू अधिक दिनों तक साथ रहने के लिए नहीं आया था। अभी एक वर्ष भी पूरा नहीं हो पाया था कि 5 जुलाई 1920 को प्रेमचन्द ने इसके निधन की दुखद सूचना दी—'आज रात को मुझपर एक सानिहा गुज़रा। गरीब मुन्नू मेरा छोटा बच्चा इलाहाबाद से आ कर चेचक में मुब्तिला हो गया था। उसने नौ दिन तक गरीब को घुला-घुलाकर आखिर जान ही लेकर छोड़ा।'[63] और फिर तेईस दिन बाद ताज को लिखा—'अभी तक इस ग़म से निजात नहीं हुई। सब्र तो गया मगर याद बाकी है और शायद ताज़ीस्त रहेगी। यह भी अच्छा ही हुआ कि मुन्नू प्रेमचन्द के साथ हरद्वार, कनखल, ऋषिकेश, देहरादून, दिल्ली आगरा आदि घूम-घामकर लौटने के बाद बीमार पड़ा अन्यथा यदि उनकी अनुपस्थिति में यही घटना घटती तो शायद उसका दुःख और भी गहरा होता। दिनों प्रेमचन्द का स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं था। देहरादून से 6 जून 1920 ई० को प्रेमचन्द ने 'ताज' को लिखा था—'मेरी तबीयत दौराने-सफ़र मेंज्याद 'मुज़महिल' हो गई है। आया था हरिद्वार की आबो हवा से कुछ फ़ायदा होगा, लेकिन नतीजा इसका उलटा हुआ। पेचिश ने, जिससे पुरानी दोस्ती है, बहुत दिक कर रखा है।'[65] स्वास्थ्य और बच्चे की मृत्यु ने प्रेमचन्द को तोड़कर रख दिया। 12 अगस्त 1920 को निगम को लिखा—'अब तक मेरी सेहत इस काबिल नहीं हुई कि कुछ लिखने का काम कर सकूं। इसी चिट्ठी में यह भी लिखा—ईश्वर के साथ अहबाब भी मुझ से रूठ जायेंगे। यद्यपि घर में इन दिनों काफ़ी चहल पहल थी मामाजी और महताबराय का परिवार वहीं आ गया था किन्तु 'सेहत और 'सोजे-तिनहाँ' (आन्तरिक पीड़ा) ने ऐसा मजबूर कर रखा है'[67] कि कुछ करने में मन नहीं लगता। 'सेहत कुछ करने ही नहीं देती।' और यह 'सेहत' पूरे वर्ष छेड़-छाड़ करती रही। इसी हालत में एम० ए० करने का स्वप्न देखा जाने लगा, किन्तु यह साकार न हो सका।

'ताज' ने प्रेमचन्द की सूरत-शक्ल जानने की इच्छा व्यक्त की। कुछ धुंधली लकीरें अपनी कल्पना से बनायीं भी जिन्हें देखकर प्रेमचन्द को ताज से अपने आध्यात्मिक सम्बन्ध का गुमान हुआ। प्रेमचन्द ने उन्हें लिखा—'शक्लो-शबाहत के मुतअल्लिक आपने जो क़यास किया है उससे रुहानी तअल्लुक का गुमान और भी पुख्ता हो जाता है।...बंद कालर का कोट और सीधा पाजामा पहनता हूं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पगड़ी बांधता हूं।'[68] और फिर एक दूसरी चिट्ठी में —'जी हाँ नवाबराय मैं ही था। ..बाबू दयानरायन के मशविरे से यह नाम (प्रेमचन्द) तजवीज़ कर लिया।'[69]

25 फरवरी 1921 को नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया। 25 को निगम को इसकी सूचना दी—'मैं कल सरकारी मुलाज़मत से सुबुकदोश हो गया।' किन्तु सम्पति का मोह बना हुआ था—'अभी तक मैं दौलत की तरफ से मुस्तग़नी (विरक्त) नहीं हूं। और मैं ज़ाती तौर पर हो भी जाऊँ लेकिन मेरी बीवी को यकीन हो जाये कि अब इसी तरह उसकी जिन्दगी बसर होगी तो वह मुझे हरगिज़ मुआफ़ न करेगी।'[70] यह चिट्ठी महादेव प्रसाद पोदार के गाँव से लिखी गई थी। शिवरानी जैसी राष्ट्रभक्त एवं समाज सेविका पत्नी के सम्बन्ध में प्रेमचन्द की यह बात कहां तक सच है, इसका निर्णय तो प्रेमचन्द ही कर सकते थे। शिवरानी देवी से प्रेमचन्द की बेरोजगारी के जमाने में भी कभी शिकायत का एक शब्द भी होंठों पर आने नहीं दिया।

मार्च के पहले सप्ताह में प्रेमचन्द पर ज्वर का हमला हुआ।[71] 19 मार्च को वे गोरखपुर से बनारस चले गये। वहाँ से उन्होंने होली के बाद कानपुर जाने की योजना बनाई—'मैं यहां 29 तरीख़ को आ गया और घर पर मुकीम हूं। होली के दो एक दिन बाद कानपुर आने का क़स्द करता हूं।'[72] किन्तु कानपुर जाना न हुआ। 5 अप्रैल को निगम को लिखा 'मैं नादिम हूं कि अब तक कानपुर नहीं आ सका।' इसीके साथ यह भी लिखना न भूले – दो एक दिन में जरूर आ जाऊँगा।' और फिर 14 मई की चिट्ठी में यही बात दोहरा दी—'मेरा आना आप मुक़द्दम (निश्चित) समझें।' और फिर 27 मई को यह दिलासा भी टूट गया —'अभी कानपुर न आ सकूंगा।' किन्तु बाईस तेईस दिन बाद 19 जून 1921 की चिट्ठी में लिखते हैं—'कल सब तैयारियां कर चुका था। इक्का तब मंगवा लिया था, लेकिन शाम को छोटक (महताबराय) नाना साहब का ख़त लाये कि मैं सोमवार को तुमसे मिलने आ रहा हूं। इसलिए तूअन व करहन (मजबूरी में) रुकना पड़ा।...पहले इरादा था कि अयाल को इलाहाबाद छोड़ दूं और कानपुर में मकान तय करके लिवा लाऊँ। अब आप फ़रमाते हैं कि मकान भी रोक लिया है। यह मुश्किल भी आसान हो गई। अब मय अयाल के कानपुर आऊँगा।... हाँ अगर आते ही आते मकान न मिला तो फिर मुझे आपके घर को ख़ानए-बेतकल्लुफ़ बनाना पड़ेगा। दो-एक दिन मस्तूराम (स्त्रियों) को भी एक दतक़ानी (देहाती) औरत की मेहमाँनवाज़ी करनी पड़ेगी।'[73] इस प्रकार 23 जून 1921 ई० को वे कानपुर पहुंच गये, जहाँ अक्तूबर में बन्नू (अमृतराय) का जन्म हुआ।

16 वर्ष पहले के और आजके कानपुर में बड़ा अन्तर था अन्तर इस लिए था कि उस समय धनपतराय एक साधारण से मुदर्रिस थे, साधारण से लेखक थे, प्रतिष्ठा और सम्मान मित्र-मंडली तक सीमित था, भीतर दबाहुआ हिन्दी लेखक केवल उर्दू की चौहद्दियों में गुमथा, युवावस्था की चुहल, हँसी-मजाक, यारों के जलसे, चहचहे-क़हक़हे – क्या नहीं था उस समय? किन्तु उस समय का 'बंबूक़' अब एक जाना-माना लेखक था, मारवाड़ी विद्यालय का हैडमास्टर था, अवस्था भी चालीस से ऊपर हो चुकी थी और फिर 'नाथ' और 'पिगहा' भी साथ था।

1921 के समाप्त होते-होते जहां वह साहित्य के जीनों पर निरन्तर ऊपर चढ़ता जा रहा था, वहीं एक दिन अपने ही मकान के जीने से वह नीचे गिर पड़ा। 28 दिसम्बर को निगम को इस घटना की सूचना इस प्रकार दी—'जिस दिन आपके यहाँ से आया उसी दिन रात को जीने से नीचे गिर पड़ा। दोनों अंगूठों में सख्त चोट आई और एक घुटनी भी फूट गई। कमर में भी चोट लगी। इस वजह से घर में मुक़ैयद (क़ैद) हूं।'[74] और फिर 22 फ़रवरी को प्रेमचन्द हैडमास्टरी से इस्तीफ़ा देकर बनारस लौट आये—'मैंने आज इस्तीफा दे दिया। बहुत तंग आ गया था।'[75]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनारस आने के दो तीन महीने बाद लमही वाले मकान के बनवाने का चक्कर भी शुरू हुआ। 31 मई 1922 की चिट्ठी में निगम को सूचित किया —'मेरा मकान बन रहा है।' फिर 19 जून को लिखा 'घर की तामीर में ऐसा मसरूफ़ हूं कि कोई किस्सा लिखने का मौका न पा सका।' आठ दिन बाद 24 जून को लिखते हैं—'अभी तक तकरीबन दो हजार सर्फ हो चुके हैं और प्लास्टरिंग फर्श वगैरह का काम बाकी है।' इसी चिट्ठी में यह भी लिखा—नाना-वाना से मुतलक उम्मीद नहीं। बड़े शातिर निकले।' फिर 7 जुलाई को सूचना दी—'मकान तैयार हो जाता है तो घर ही रहूंगा और लौट जाया करूँगा। अब परदेश का कस्द नहीं।'

सितम्बर 1922 में लखनऊ जाने की बात आयी, तो निगम को 9 सितम्बर की चिट्ठी में लिखा —'कोशिश करूँगा कि 12 को लखनऊ आऊँ। यकीनन आऊँगा। लेकिन ठहरने का ठिकाना कहाँ होगा ? सब पहले से तय कर दीजिएगा।' फिर 1 अक्तूबर को एक नया पचड़ा शुरु हो गया—'नाना साहब तशरीफ़ लाये हैं। उनके खान्दान में खानगी जंग शुरु हो गयी। भाई बन्दों से उनकी तनहा खोरी न बर्दाश्त हो सकी अब बटवारे का मसला दर्पेश है। मेरे मकान में हुल्लड़ हो रहा है।'

मकान अभी पूरी तरह नहीं बन पाया था। यद्यपि 17 फरवरी 1923 को प्रेमचन्द ने लिखा था —'मेरा मकान तैयार हो गया, होली से उसे आबाद भी कर दिया जायेगा।' किन्तु छै महीने बाद, 18 जुलाई की चिट्ठी से इस तथ्य की पुष्टि नहीं होती। लिखते हैं—'मेरा मकान भी तो अभी पूरा नहीं हुआ। सिर्फ गुजर करने के काबिल हो गया है। अभी एक हजार और लगें तो मुकम्मल हो।' फिर 10 मई 1924 की चिट्ठी में निगम को सूचित किया—मकान अब एक करीने का बन गया। अब इसकी हैसियत मकान की हो गयी। किन्तु अभी मकान के बनने का सिलसिला समाप्त नहीं हुआ। 8 जुलाई 1924 को लिखते हैं—इधर मकान की तकमील हो रही है। गालिबन अगस्त के आ[खिर] तक मुकम्मल हो जाएगा।

8 मार्च 1924 ई० को बन्नू की बह[न का] जन्म हुआ था और प्रेमचन्द की सन्तान में दो लड़कियां और दो लड़के हो गये थे। कुल तीन महीने ही बीतने पाये थे कि ईश्वर को प्यारी हो गयी। 5 जून 1924 [की] चिट्ठी में प्रेमचन्द ने निगम को लिखा—'मेरी लड़की जो आठ मार्च को पैदा हुई थी 28 [मई] से दस्त और बुखार में मुब्तला है। मैं [समझा] था खारिजी शिकायत है, रफ़ा हो जायेगी। शिकायत बढ़ती गयी यहां तक 3 तारीख को हालत इतनी अबतर हो गयी कि घर में [लोगों ने] रोना-पीटना भी शुरू कर दिया। मगर कु[छ] उसको जरा सा इफ़ाका हुआ। तब से अब [तक] वह मुर्दा है न ज़िन्दा है, आंखें बन्द कि[ये] रहती है और रोया करती है। होमोयोपैथि[क] दवाएँ दे रहा हूं मगर अभी तक कोई दवा [कारगर] नहीं हुई।' फिर आठ दिन बाद निगम को 1[3 जून] 1924 की चिट्ठी में सूचित किया—'यहां [...] को लड़की रुखसत हो गयी। उसकी जा[...] तस्वीर अभी तक आँखों में फिर रही है। [...] परमात्मा सद्गति दें।'

1925 ई० की गर्मियों में सोलन [...] बात निकली। यद्यपि इससे पहले मुंशी जी [...] ऋषिकेश, कनखल आदि अकेले ही गये [...] अब परिवार को छोड़कर तफ़रीह कर[ना] नहीं लगा। और 'कुनबे भर को लेकर जाना [...] था। फलस्वरूप इस प्रसंग में उन्होंने और [...] लिखते हुए अन्त में यह टुकड़ा और जोड़[ा] 'यहीं पड़ा रहूंगा। खस का एक पर्दा और [...] पैसे का रोजाना बर्फ मौसम की तकली[फ़ के लिये] काफ़ी है।' फिर 8 जुलाई को उन्होंने [...] सूचित किया। मैं एतवार को कानपुर [...] अगस्त के आग़ाज में यहां से बनारस जाने [...] है। किन्तु अगस्त का पहला सप्ताह भी [...]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वे लखनऊ से बनारस न जा सके । 5 अगस्त 1925 को उन्होंने निगम को लिखा—मैं यहां से 4 को बनारस जाने वाला था लेकिन कई बुजूह से इरादा मुल्तवी कर देना पड़ा । पांच दिन बाद 10 अगस्त को महताबराय को चिट्ठी लिखी—'मैंने यहां से चलने की इंतज़ारी में धोबी को कपड़े देना बन्द कर दिये, आटा बाज़ार से मंगवाता हूं कि ज्यादा पिस जायेगा तो क्या होगा । कई दिन से चारपाई पर हूं । पैर में फ़ोड़ा निकल आया है । कल नश्तर दिलाया है । उठ बैठ नहीं सकता ।" दो दिन बाद 12 अगस्त को निगम को लिखा '5 तारीख़ से पैर में कचक पड़ गयी । चार दिन सख्त दर्द, जलन और टीस थी । पाँचवें दिन डॉक्टर से नश्तर लिया । दाहिने पाँव की आधी एड़ी का चमड़ा काट दिया गया । अब दो दिन से तकलीफ़ तो बहुत कम है लेकिन उठने बैठने का काम करने से माज़ूर हूं ।' फिर 22 अगस्त 1925 को सूचित किया—'अब ज़ख्म पुर हो गया मगर अभी तक चलने फिरने से माज़ूर हूं ।' और आठ दिन बाद—'मैं तो अब लंगड़ा-लंगड़ाकर चल रहा हूं ।'

1926 ई० में प्रेमचन्द की लमही में संभवतः कोई मन्दिर बनवाने की योजना थी । अप्रैल 1926 में महताबराय को चिट्ठी लिखी तो अन्य बातों के साथ इस मन्दिर का भी प्रसंग आ गया—'मन्दिर में हाथ लगा दिया होता तो वह दस रुपये भी तुम्हारे सूद के मद में जाते ।' खैर अब तो उसे किसी तरह पूरा करना है । आज सहदेव से पचास फुट चूने के लिए कहूंगा ।'[76] यह चिट्ठी बनारस से ही लिखी गई थी । सितम्बर 1925 में प्रेमचन्द लमही आ गये थे और वहीं रहकर अपना प्रेस चला रहे थे । मार्च 1926 में उन्होंने निगम को लिखा था—'अभी तक शहर में मुक़ीम होने की सूरत नहीं निकली । अब जून के बाद ही मकान लूंगा । लड़के की ख्वान्दगी (पढ़ाई) का सवाल न होता, तो मैं रोजाना आया जाया करता ।

निगम प्रेमचन्द को बराबर कानपुर आने की दावत देते रहते थे । 17 जुलाई 1926 को प्रेमचन्द ने उन्हें लिखा—'आप बराबर मुझे बुलाते हैं । एक हफ्ते बनारस की हवा खाइए । मैं बहुत जल्द आऊँगा । मौका लगा तो हफ्ते-अशरे में आप मुझे कानपुर में देखेंगे ।' किन्तु कानपुर जाना न हुआ । 27 जनवरी 1927 को प्रेमचन्द ने लिखा 'आपसे बरसों से मुलाकात की नौबत नहीं आयी । इत्तफ़ाक़ाते-ज़माना और क्या ।' किन्तु यह संयोग आगे जारी न रह सका । 15 फरवरी 1927 को प्रेमचन्द लखनऊ पहुंच गये और वह भी माधुरी के संपादक की हैसियत से । निगम उन दिनों पटना गये हुए थे । 21 फ़रवरी को प्रेमचन्द ने लिखा—'आप आ जायें (पटना से) तो एक रोज़ के लिए आऊँ । मुलाक़ात का जी चाहता है ।' और फिर एक दिन प्रेमचन्द कानपुर आ धमके । लखनऊ वापस आने पर 14 मार्च 1927 को चिट्ठी लिखी —'अपनी ऐनक भूल आया । बवापसी डाक भेजिए । अंधा हो रहा हूं । 16 फरवरी को बनारस चला जाऊँगा ।' अभी तक परिवार बनारस ही में था । 25 अप्रैल 1927 को लिखा—बच्चे ग़ालबन 15 मई तक आयेंगे ।'

1927 के समाप्त होते-होते लड़की के विवाह की भी चिन्ता हुई । 12 जनवरी 1928 की चिट्ठी में निगम को लिखा—'इस साल अगर कोई लड़का ठीक हो जाये तो अगले साल शादी कर दूं ।' संयोग ऐसा बना कि लड़का तलाश करने में बहुत देर नहीं लगी । वैसे तो प्रेमचन्द ने कई एक लड़के देखे और नापसन्द कर दिये किन्तु अन्त में एक लड़का जँच गया और मामला बन गया । 21 फरवरी 1929 को निगम को सूचित किया—'आपको यह सुनकर मसर्रत होगी कि बेटी की शादी जिला सागर के एक मुतमव्विल (संपन्न) खानदान में तय हो गयी है । वह लोग यहां आये थे और कल वापस गये हैं । दो चार रोज में मैं बरच्छे की रस्म अदा करने जाऊँगा । लड़का बी० ए० में पढ़ता है । जायदाद माकूल है ।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचन्द इन दिनों हिवेट रोड पर रहते थे । अगस्त 1929 तक वे वहीं रहे । फिर दो सितम्बर उन्होंने निगम को मकान बदलने की सूचना दी—'अब मैं अमीनुद्दौला पार्क में रहता हूं।' इसी चिट्ठी में घरेलू परीशानियों की चर्चा करते हुए लिखा—'घर में तीन मरीज़ हो गये। धन्नू की वाल्दा के दाँतों में दर्द और बुखार, बेटी की उंगली में फुंसी जो बिसहरी कहलाती है और निहायत दर्द पैदा करने वाली होती है, और धन्नू की मम्मी को बुखार और पेचिस। कल बेटी की उंगली चिरवा दी । अब दर्द कम है। धन्नू की माँ के दाँतों का दर्द अभी बदस्तूर है । हाँ बुखार बन्द हुआ । अब दाँत निकलवा देने की सलाह है। धन्नू की मामी का बुखार भी साबिक बदस्तूर है।'

इस बीच कमला का विवाह हो चुका था। प्रेमचन्द ने मई के पहले सप्ताह में दो महीने की छुट्टी ले ली थी और विवाह की तैयारियां में जुट गये थे । विवाह की बातचीत से लेकर बात पक्की होने तक मुंशी भवानी प्रसाद के बेटे वासुदेव प्रसाद के सिलसिले में प्रेमचन्द और दशरथ लाल के बीच चिट्ठियां दौड़ती रहीं। अमृतराय ने एकाध चिट्ठी के कुछ अंश क़लम का सिपाही (पृ० 434-35) में उद्धृत भी किये हैं । किन्तु इस प्रसंग की कोई भी चिट्ठी अमृतराय द्वारा किये गए संकलन में नहीं है । खैर! बेटी का विवाह हुआ, धूम-धाम से हुआ । लमही में बरात आयी और एक बड़ी ज़िम्मेदारी प्रेमचन्द के सिर से उतर गयी।

फरवरी 1930 में तीन चार दिनों के लिए समधिन साहिबा अपने दामाद के साथ प्रेमचन्द के घर आयी (चि० प० 1, पृ० 176-77) । और सम्बन्धों में मधुरता बढ़ती गयी । 12 जुलाई को प्रेमचन्द ने दामाद के बी० ए० करने की सूचना निगम को देते हुए आगे पढ़ाई जारी रखने की चर्चा की—'मेरे सनइनला इससाल बी० ए० पास हुए हैं । वह कानून और एम० ए० दोनों एक साथ लेना चाहते हैं ताकि दो साल में निकल जायें । क्या ऐ कानपुर में मुमकिन है ?' यह चिट्ठी अमीनुद्दौला पा वाले मकान से लिखी गयी थी। यह इलाका राजनीति गतिविधियों को देखते हुए काफी खतरनाक हो ग था । पत्नी जी सक्रिय रूप से राजनीति में कूद प थीं। फलस्वरूप प्रेमचन्द ने यह इलाका छोड़ दि और मुहल्ला गनेश गंज के बीस नम्बर के मकान चले आये—'मैं आजकल गनेश गंज न० 20 रहता हूं' (25 जुलाई 1930) । किन्तु जो होना हुआ। पिकेटिंग के जुर्म में शिवरानी देवी 10 नवम्ब को गिरफ्तार हो गयीं । प्रेमचन्द ने 12 को निग को लिखा—'मैं चार पाँच रोज के लिए बाहर गया हु था। उस वक़्त घर पर मौजूद न था। वहाँ से आ यह वाकया सुना । दूसरे दिन उनसे जेल में मुलाका हुई। सजा तो हो ही जायेगी मगर देखिए कि महीनों की होती है ।' और यह सज़ा पूरे दो मही की हुई। (चि० प० 2, पृ० 10)।

1931 में पैरों में रथ के पहिए लग गये अप्रैल के दूसरे सप्ताह में लाहौर गये । विचार कि वापसी में दिल्ली में रुकेंगे । जैनेन्द्र को इस सिल सिले में चिट्ठी भी लिख दी थी। किन्तु दिल्ली रुक न हुआ । 13 अप्रैल को जैनेन्द्र को लिखा—' लाहौर गया, पर आप दिल्ली न थे इसलिए मैं सी लौट आया ।' मई की 12 तारीख को लखनऊ बनारस पहुंचे। पहली जून को महताबराय को चि में घरेलु दुखड़ा सुनाने बैठ गये—'धन्नू और बन् बेटी के साथ पन्द्रह को सागर के लिए रवानां हुए 16 को इलाहाबाद पहुंचकर बन्नू को पेचिश ह गयी। मुझे तार मिला । 19 को हम और बन्नू की वाल्दा यहां से इलाहाबाद गये । बन्नू की हाल खराब थी । खून के दस्त आ रहे थे । 27 तक व रहना पड़ा । 27 को हम बन्नू के साथ घर लौ आये । 6 जून को यहां (बनारस) से इलाहाबा होते हुए सोरम जाने का इरादा है । 11 को मु लखनऊ पहुंचना है ।' 12 नवम्बर को निगम क

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखा—'मैं तो दिल्ली चला गया था । वहां दस ग्यारह दिन लग गये । दीवाली को लौटा ।' फिर 25 नवम्बर को सद्‌गुरु शरण अवस्थी को सूचना दी—'जरा पटना चला गया था । यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों के एक उत्सव में बुलावा था ।'

जनवरी 1932 में प्रेमचन्द को एक फोड़ा निकल आया । यह कुछ ठीक हो रहा था कि 9 जनवरी को मेरे बड़े भाई बाबू बलदेव लाल चल बसे । 13 जनवरी की चिटठी में प्रेमचन्द ने निगम को लिखा —'कई दिन तक एक फोड़े ने तकलीफ़ दी । अब वह अच्छा हो रहा है । 9 जनवरी को मेरे बड़े भाई साहब बाबू बलदेव लाल का कुलंज से इंतकाल हो गया । घर में दो बच्चे हैं, बेवा, भाई की बेवा और एक बेवा बहन । 19 को दसवां है । मैं 16 या 17 को जा रहा हूं ।' प्रेमचन्द दसवें में गये किन्तु बिल्कुल उस ढंग से जैसे कोई दूर का सम्बन्धी जाता है ।

बनारस से लौटने के बाद फोड़ों ने शायद घर देख लिया । एक के बाद एक । और यह सिलसिला एक महीने तक चलता रहा । 25 फरवरी को निगम को चिट्ठी लिखी तो चिट्ठी इन्हीं परीशानियों की चर्चा से शुरु हुई —'इधर मैं भी शिकायत में मुब्तला रहा । चार फोड़े लगातार निकले । इनसे नजात न हो पायी थी कि दाँतों में दर्द हुआ । दाँत से फ़ुर्सत मिली तो पेट में दर्द शुरु हुआ और दिन के बाद अब मामूली ख़ुराक पर आया हूं । एक महीना खराब हो गया ।' इसी चिट्ठी में—'मैं अप्रैल में बनारस चला जाऊँगा ।'

अप्रैल में निगम ने एक शादी का निमंत्रण भेजा । उत्तर में 10 अप्रैल को प्रेमचन्द ने लिखा—'मैं ज़रूर आऊँगा । मगर तनहा । बेटी को गये आज एक हफ्ता हो गया । अपनी मौसी के यहां इलाहाबाद गयी है । उसकी माँ और धन्नू कल वहीं जा रहे हैं । एक शादी है । मैं छोटे बच्चे के साथ यहाँ 4 मई तक रहूंगा । उसे भी लेता आऊँगा ।' और फिर 13 मई को निगम को सूचित किया—'मैं आज बनारस जा रहा हूं ।' किन्तु बनारस का अर्थ था लमही । कारण यह है कि 17 जून तक वे शहर में मकान नहीं ले सके थे—'अभी तक तो देहात में हूं मगर जल्द शहर में रहूंगा । मकान ठीक कर रहा हूं ।' अगस्त में मकान ठीक हो गया । 15 अगस्त 1932 को जैनेन्द्र को लिखा—'अब मैं शहर में रह रहा हूं । लड़के पढ़ने जाते हैं । मैं भी प्रेस में घड़ी आध-घड़ी के लिए चला आता हूं ।'

22 अक्तूबर को इलाहाबाद गये तो पता चला कि निगम भी एक दिन पहले आये थे । 25 को उन्हें चिट्ठी लिखी —'परसों यहाँ आया और मालूम हुआ कि आप भी एक दिन पहले तशरीफ़ लाये थे । क्या कहूं मुलाकात न हुई । बहुत सी बातें करनी थीं । यहाँ से बनारस आप तशरीफ़ ले जाते हैं मगर गरीब खाने की तरफ मुख़ातिब नहीं होते ।' ऊपर-ऊपर लौट जाने की कहानी जब एक बार फिर दोहराई गयी और उसी के साथ कानपुर आने का आग्रह भी किया गया तो 7 दिसम्बर 1932 की चिट्ठी में प्रेमचन्द ने लिखा—'उस दिन मैंने दो बजे तक हुज़ूर का इन्तज़ार किया लेकिन समझ गया कि कहीं धर लिये गये । आप मुझे बुला रहे हैं । मैं यही सोच रहा हूं कि बड़े दिन में आ जाऊँ ।' किन्तु जाने की बात आयी-गयी हो गयी ।

फरवरी 1933 में जैनेन्द्र बनारस आये । जाते समय अपना तौलिया भूल गये । मार्च में तीन-चार दिनों के लिए इलाहाबाद जाना हुआ वापसी पर 4 मार्च को जैनेन्द्र को चिट्ठी लिखी । 'तीन-चार िन इलाहाबाद रहा और वहाँ तुम्हारी ख़ूब चर्चा रही ।.. तुम अपना तौलिया यहां छोड़ गये जिससे लंदा देह पोंछता है ।'

मई में कमला के यहां बेटा हुआ और प्रेमचन्द नाना बन गये । किन्तु यह दिन बड़ी ही चिन्ताओं में बीते । 9 मई को जैनेन्द्र को चिट्ठी लिखी—'मैं सागर गया था । कल शाम को लौटा हूं । बेटी के बालक हुआ । पर चौथे दिन उसे ज्वर आ गया और प्रसूत ज्वर के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्षण मालूम हुए। यहां तार आया। हम दोनों प्राणी भागे हुए गये। मैं तो लौट आया, तुम्हारी भाभी अभी वहीं है।' फिर 27 मई को—'धन्नू की अम्मां अभी वहीं है। एक खत से मालूम होता है हालत अच्छी है, दूसरा पत्र आकर चिन्ता में डाल देता।'

अभी बेटी ठीक भी नहीं होने पायी थी और परिवार के लोग सागर ही में थे कि प्रेमचन्द स्वयं बीमार हो गये। 15 जून 1933 ई० को रामचन्द्र टण्डन को लिखा 'मेरी तबीयत इस बीच ठीक नहीं रहती है और इस समय भी कुछ विशेष अच्छी नहीं है। ..एक तो जीर्ण रोग, तिस पर दाँत का दर्द।' किन्तु जैनेन्द्र से यह परीशानियां कुछ और खुलकर बयान की गयीं। 17 जुलाई 1933 के पत्र में —'मैं तो इधर बहुत परीशान रहा। बेटी ... मरते-मरते बची। अभी तक अध मरी सी है। बच्चा (दिलीप) भी किसी तरह बच गया। आज बीस दिन हुए यहां आ गई है। उसकी मां भी दो महीने उसके साथ रही। मैं अकेला रह गया था। बीमार पड़ा। दाँतों ने कष्ट दिया। महीनों उसमें लग गये। दस्त आये और अभी तक कुछ-न कुछ शिकायत बाकी है। दांतों के दर्द से भी गला नहीं छूटा।' फिर 1 अगस्त को लिखा—'इधर मैं भी स्वस्थ नहीं हूं, लेकिन काम किये जाता हूं।'

कमला कई महीने बनारस में ही रही। दिसम्बर में वासुदेव (दामाद) उसे लेने भी आए किन्तु प्रेमचन्द ने विदा न किया। 9 जनवरी 1934 को इस सूचना के साथ लड़कों के बारे में निगम को लिखा—'बड़े साहबज़ादे अबकी एफ० ए० का इम्तहान दे रहे हैं, लेकिन औसत दर्जे में है। ज़हानत की कोई खास अलामत नज़र नहीं आती। छोटा ज़्यादा ज़हीन है मगर अभी आठवीं में है।'

फरवरी के प्रारम्भ में बंबई जाना पड़ा। कुछ फ़िल्मी मामले की बातें करनी थीं। जैनेन्द्र को 14 फरवरी को इसकी सूचना दी—'बारह दिन बंबई में रहा। प्रेमी जी से मिला। उनके यहां भोजन किया। बेचारे बहुत बीमार थे।' किन्तु अस्ल मामले को गोल कर गए।

अप्रैल के पहले सप्ताह में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में शिरकत के लिए दिल्ली गए। तीन-चार दिन वहां चहल-पहल रही। वापसी में अलीगढ़ में भी रुके और खूब-खूब दावतें उड़ायीं। 16 अप्रैल को जैनेन्द्र को लिखा—'अलीगढ़ में दावतें खाने के सिवाए कुछ न हुआ। . उन लोगों ने जिस तरह मेरा स्वागत किया, उससे मेरा चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। ...मैंने पुलाव और गोश्त खाया उन्हीं के दस्तरखान पर और यहां आकर दो-तीन दिन चूरन खाना पड़ा।'

जून की पहली तारीख को बंबई पहुंचे। साल भर वहां रहना था। 15 जून को जैनेन्द्र को लिखा—'1 को आ गया। मकान ले लिया। खाना मैं होटल में खाता हूं और पड़ा हूं। जुलाई में घर के लोग, धन्नू को छोड़कर आ जायेंगे। साल भर किसी तरह काटूंगा। आगे देखी जायेगी।' और फिर 3 अगस्त को जैनेन्द्र को सूचित किया—'मैं 23 को बनारस गया था। 31 को वापस आया। बेटी और उसकी माँ को लेता आया। लड़कों को प्रयाग कायस्थ पाठशाला में भरती करा दिया।' किन्तु बंबई का जीवन कुछ पसन्द नहीं आया—'सात बजे उठता हूं। साढ़े आठ पर घूम कर आता हूं। नाश्ता करता हूं। नौ बजे अखबार पढ़ता हूं। कभी घंटा भर कभी इससे ज्यादा समय लग जाता है। कभी कोई मिलने आ जाता है। ग्यारह बज जाता है। नहा-खाकर स्टूडियो जाता हूं। कुछ काम हुआ तो किया नहीं उपन्यास पढ़ा। पाँच बजे लौटता हूं। हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं को उलटता पलटता हूं। चिट्ठी-पत्र लिखता हूं, खाता हूं और सो जाता हूं। यही दिनचर्या है।' इस मशीनी जिन्दगी से कौन तंग नहीं आ जायेगा। फलस्वरूप 28 नबम्बर 1934 को जैनेन्द्र को लिखा—'यह साल तो पूरा करना ही है। . यहां से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूंगा। वहाँ धन नहीं है मगर संतोष अवश्य है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिसम्बर में हिन्दी प्रचार सभा ने दीक्षांत-भाषण देने के लिए बुलाया। प्रेमचन्द वहां गये और साथ ही साथ मैसूर बंगलौर की भी सैर की। 7 फरवरी 1935 को जैनेन्द्र को लिखा—'मद्रास गया था, वहां से मैसूर और बंगलौर भी गया। ...मेरा जीवन यहां भी वैसा ही है जैसा काशी में था। न किसी से दोस्ती न किसी से मुलाक़ात। मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक।' किन्तु अप्रैल आते-आते इस मस्जिद को भी खुदा हाफिज़ कहना पड़ा। 11 अप्रैल को निगम को सागर से चिट्ठी लिखी—'मैंने 4 अप्रैल को बंबई को खैरबाद कह दिया और सी० पी० के अज़ला की सैर करता हुआ 10 को सागर आ गया। यहाँ से निकल कर बनारस चला जाऊँगा और देवी जी को वहाँ पहुंचाकर 17 को इन्दौर साहित्य सम्मेलन के जलसे में शरीक होने के लिए रवाना हो जाऊँगा।' किन्तु परिस्थितियां ऐसी बनीं कि इन्दौर जाना न हो सका। 4 मई को प्रयाग से जैनेन्द्र को लिखा—'कुछ तो प्रेमी जी के न आने और कुछ नातेदारियों में जाकर मिलने-मिलाने के कारण सारा प्रोग्राम भ्रष्ट हो गया। अब धन्नू को चेचक निकल आयी है और 27 से वे पड़े हुए हैं। हम भी उसके साथ हैं। यात्रा करने के लायक हो जाये तो 7 को यहां से उसे लेकर चले जायें।' फिर दस दिन बाद जैनेन्द्र को 14 मई को सूचित किया—'इधर धन्नू को चेचक निकली थी। उन्हें प्रयाग से यहां लाये। यहां बन्नू को भी निकल आयी और छै दिन से यह पड़ा हुआ है।' निगम के नाम 4 मई की चिट्ठी में एक टुकड़ा और जोड़ दिया—'मैंने फ़ैसला कर लिया है कि जुलाई से इलाहाबाद में ही रहूं।'

जून के अन्त में एक-दो दिन के लिए लखनऊ जाना हुआ। वापस लौटकर बम्बई जाना था। 30 जून को निगम को लिखा 'अभी कल लखनऊ गया था। .....और क्या लिखूं। इलाहाबाद आने पर मुलाक़ात की सूरतें आसान हो जायेंगी। ...कल बंबई जा रहा हूं। एक महीने में लौटूंगा।' इस दौड़-धूप ने तोड़ कर रख दिया। अन्त में 10 अप्रैल 1936 को लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ और उधर ही से 11 को लाहौर में आर्यभाषा सम्मेलन की अध्यक्षता करने गये। लाहौर से वापसी पर निगम को 15 अप्रैल को लिखा—'हाँ मुझे भी आपसे न मिलने का अफ़सोस रहा। भागा इसलिए कि मेरे पास एक रिटर्न टिकट था।' आगरे से—मंगल को नौ बजे रात तक बनारस पहुंचना जरूरी था।' किन्तु अब शायद बहुत थक चुके थे। नतीजा सामने था। 5 अगस्त को लखनऊ से निगम को यह चिट्ठी लिखी—'आपको तअज्जुब होगा, मैं लखनऊ कैसे आ गया। बात यह है कि कोई डेढ़ दो महीने से मुझे वरमे-जिगर की शिकायत हो गयी है। दो बार मुंह से सेरों खून निकल गया है। बनारस में इलाज से कोई फ़ायदा न देखकर 2 को यहां आ गया और डॉ० हरगोविन्द सहाय के ज़ेरे-इलाज हूं। पाखाना, पेशाब, खून वग़ैरा की जांच हो चुकी है। मगर अभी कई दाँत तोड़े जायेंगे, तब डॉक्टर साहब मर्ज़ की तशख़ीस करेंगे और इलाज शुरू होगा। घुलकर आधा रह गया हूं। ज़र्द। न कुछ खा सकता हूं न हज़्म होता है। एक बार मुश्किल से हार्लिक्स खा लेता हूं। मास्टर कृपाशंकर साहब का मेहमान हूं। मगर यह मकान बहुत मुख़्तसर है और आजकल में कोई दूसरा मकान ले लूंगा।' किन्तु मकान के छोटे बड़े होने से होता भी क्या है। लखनऊ से निराश लौटना पड़ा और फिर बनारस में दवा होने लगी। 16 सितम्बर 1936 को वीरेश्वर सिंह को लिखा—'मैं तो अब बेहद कमजोर हो गया हूं। उठ-बैठ नहीं सकता। लेकिन मर्ज़ घट रहा है डाक्टर का कहना है कि 15 दिन में मर्ज़ बिल्कुल घट जायेगा।'

डाक्टर ने शायद ठीक ही कहा था। बस कुछ दिन जोड़ने की भूल हुई थी उससे। 8 अक्तूबर 1936 को मर्ज़ सचमुच बिल्कुल घट गया और मरीज़ को पूर्ण शान्ति मिल गयी। हां इतना अवश्य हुआ कि मरीज के लहू से शिवरानी देवी का आंचल और पैरों के नीचे की धरती लाल हो गयी।

1. प्रेमचन्द, चिट्ठी-पत्री, 1, पृ० 161
2. डॉ० क़मर रईस, प्रेमचन्द का तनक़ीदी मुतालेआ, सर सैयद बुक डिपो, अलीगढ़ 1963 ई० (द्वितीय संस्करण), पृ० 35

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. अमृतराय, प्रेमचन्द : क़लम का सिपाही, 1962, पृ० 11
4. प्रेमचन्द, विविध प्रसंग, भाग 3, पृ० 72
5. वही, चिट्ठी-पत्री, भाग 1, पृ०208
6. वही, विविध प्रसंग, भाग 3, पृ० 58
7. **जमाना**, उर्दू मासिक, कानपुर, संपादक : दयानरायन निगम, प्रेमचन्द नम्बर, पृ० 3
8. डॉ० क़मर रईस, **प्रेमचन्द का तनक़ीदी मतालेआ**, पृ० 45
9. अमृतराय, प्रेमचन्द: क़लम का सिपाही, पृ०33
10. वही, पृ० 35-36
11. अमृतराय, प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० 24 तथा 26
12. वही, पृ० 24
13. प्रेमचन्द, चि० प०, भाग 2, पृ० 234
14. वही, भाग 1, पृ० 4
15. वही
16. वही, भाग 2, पृ० 235
17. प्रेमचन्द, चिट्ठी पत्री, 1, पृ० 3
18. **हम खुर्मा व हमसवाब** (1904 ई०) लिखते समय प्रेमचन्द की दृष्टि में प्रत्येक विधवा का विवाह हो सकता था। उन की इस धारणा के पीछे उनकी 'जवानी की उम्र' कार्य कर रही थी (देखिए सीतामऊ के राजकुमार रघुवीर सिंह के नाम प्रेमचन्द का पत्र)। संभव है उस समय उनकी रुचि इस प्रकार की किसी विधवा में ही रही हो। बाद में वे केवल बाल विधवा-विवाह के ही पक्षपाती थे। इसलिए उन्होंने **प्रेमा** की कथा को महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के साथ **प्रतिज्ञा** में प्रस्तुत किया जिससे हिन्दू नारी आदर्श से गिरने न पाये।
19. प्रेमचन्द, चि० प० 2, पृ० 235
20. शिवरानी प्रेमचन्द, प्रेमचन्द : घर में, पृ० 7
21. प्रेमचन्द, चि० प०,2, पृ० 235
22. शिवरानी प्रेमचन्द, प्रेमचन्द : घर में, पृ० 264
23. प्रेमचन्द चिट्ठी-पत्री, 1, पृ० 3। (अमृतराय की यह धारणा निराधार है कि प्रेमचन्द 'को सुन्दरी की तलाश न थी (कलम का सिपाही, पृ० 79)
24. शिवरानी देवी ने इस प्रसंग में स्पष्ट शब्दों में लिखा है—'घर वालों को इस विवाह की खबर भी नहीं दी (प्रेमचन्द : घर में पृ० 11)। अमृतराय का विचार है कि महताबराय विवाह में शरीक थे (क़लम का सिपाही, पृ० 79)।
25. प्रेमचन्द, चि० प० 1, पृ० 12
26. वही, पृ० 20। अमृतराय ने क़लम का सिपाही में पृ० 126 पर इसे 1914 का पत्र बताया है। फलस्वरूप उन्हें प्रेमचन्द की इस निराशा के पीछे शरीर के अशक्त होते चले जाने की निराशा दीखती है। उन्हें इस में सन्तान लालसा से उत्पन्न नैराश्य इसलिए नहीं झलकता कि उनके शब्दों में 'अब से आठ-दस महीने पहले 1913 में उनकी दूसरी बेटी कमला का जन्म हो चुका था। जब कि तथ्य यह है कि इस पत्र के लगभग डेढ़ महीने बाद मई 1913 में कमला का जन्म हुआ था। फिर अमृतराय ने स्वयं चिट्ठी-पत्री में इसे 1913 का पत्र माना है।
27. प्रेमचन्द, **वरदान**, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, 1965, पृ० 7।
28. प्रेमचन्द, चि० प०, 1, पृ० 22
29. वही
30. वही, पृ० 32
    अमृतराय ने इस चिट्ठी की तारीख 3 जून 1914 लिखी है जो किसी प्रकार भी ठीक नहीं है। चिट्ठी जून 1913 की है। 6 मार्च 1913 को प्रेमचन्द ने लिखा था—'प्रेम के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क़िस्से 21 आपके यहां छप गये हैं। 2 **हमदर्द** के यहां है (चि० प० 1, पृ० 19)। इस पत्र में उसी चर्चा को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं — प्रेम-पचीसी की तसहीह जारी है। अनक़रीबुल इख़तताम (समाप्तप्राय) है। तब तक **हमदर्द** में भी दोनों क़िस्से छपे जाते हैं।

31. वही, पृ० 31
32. वही, पृ० 22
33. शैलेश ज़ैदी, **प्रेमचन्द की उपन्यास यात्रा : नवमूल्यांकन**, पृ० 532। चिट्ठी का यह अंश अमृतराय द्वारा संकलित **चिट्ठी-पत्री** में नहीं छपा है।
34. प्रेमचन्द चि० प० 1, पृ० 37
35. वही, पृ० 38

    अमृतराय ने इसे 1915 के आरम्भ की चिट्ठी के रूप में मान्यता दी है। किन्तु यह पत्र अगस्त 1914 का है।
36. प्रेमचन्द, चि० प०, भाग 1, पृ० 36
37. वही, पृ० 37
38. वही, पृ० 36
39. वही, पृ० 39
40. वही, पृ० 40
41. वही, पृ० 48
42. वही, पृ० 52
43. वही, पृ० 55
44. वही, पृ० 30

    अमृतराय ने इसे 1914 ई० का पत्र मानने की भूल की है जबकि प्रेमचन्द ने स्पष्ट शब्दों में इस पत्र में **सरे पुरगुरूर** शीर्षक कहानी ज़माना में भेजने की बात लिखी है। यह कहानी **ज़माना** के अगस्त 1916 के अंक में छपी थी। फलस्वरूप अमृतराय जीवनी लिखते समय इस पत्र को ऐसे स्थल पर उद्धृत कर जाते हैं जिससे सब कुछ भ्रष्ट होकर रह जाता है। (देखिए—क़लम का सिपाही, पृ० 130)
45. वही, पृ० 31
46. वही, पृ० 52
47. प्रेमचन्द, चिट्ठी-पत्री 1, पृ० 56
48. अमृतराय, कलम का सिपाही, पृ० 158
49. प्रेमचन्द, चि० प० 1, पृ० 57
50. प्रेमचन्द, चिट्ठी-पत्री, पृ० 72

    अमृतराय ने इसे 1818 की चिट्ठी माना है किन्तु इसमें कहानियों का जो हिसाब लिखा गया है उसे चिट्ठी संख्या 64 तथा 68 से मिलाने पर यह उसी क्रम की अर्थात् 1917 की ही चिट्ठी सिद्ध होती है। फिर इसमें प्रेम पचीसी के लखनऊ में छपवाने की बात लिखी गयी है जिसकी चर्चा उन्होंने फिर उन्नीस दिन बाद 11 सितम्बर 1917 की चिट्ठी में की है। स्पष्ट है कि यह 1917 की ही चिट्ठी है।
51. वही, पृ० 66
52. वही, पृ० 45
53. वही, पृ० 61
54. वही, पृ० 70
55. वही, पृ० 75
56. वही, पृ० 80
57. वही, पृ० 81
58. वही
59. वही, पृ० 82
60. वही, पृ० 84
61. वही, भाग 2, पृ० 102
62. वही, भाग 1, पृ० 86
63. वही, पृ० 102
64. वही, भाग 2, पृ० 116
65. वही, पृ० 114
66. वही, भाग 1, पृ० 102

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

67. वही, भाग 2, पृ० 116-17
68. वही, पृ० 102
69. वही, पृ० 121-22
70. वही, भाग 1, पृ० 113
71. प्रेमचन्द, चिट्ठी-पत्री, भाग 1, पृ० 113
72. वही, पृ० 114
73. वही, पृ० 116-17
74. वही, पृ० 118
75. वही, पृ० 119
76. प्रेमचन्द, चिट्ठी-पत्री—2, पृ० 151. चिट्ठी पर कोई तिथि नहीं है किन्तु उसे पढ़ने से स्पष्ट सकेत मिलता है कि यह अप्रैल 1926 की चिट्ठी है। इस प्रसंग में देखिए—शैलेश जैदी, प्रेमचन्द की उपन्यास यात्रा : नव-मूल्याँकन, पृ० 87

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० नरेन्द्र मोहन
के 55, कीर्तिनगर
नयी दिल्ली

प्रेमचन्द :युगचेतना का संदर्भ

साहित्यिक कृति में युगचेतना के प्रतिफलन की बात दो रूपों में की जाती है—एक, युग-विशेष की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के प्रामाणिक चित्रण के रूप में, दूसरी परिस्थितिजन्य चेतना का बोध कराने और उसे अभिव्यक्त करने के रूप में। पहला, युग-चेतना का सतही और स्थूल रूप है और दूसरा युगचेतना के सघन और गहन अर्थ-स्तर को उद्घाटित करने की क्षमता से युक्त है। दरअसल, साहित्यिक कृति में इन दोनों ही रूपों द्वारा युगचेतना का फलक तैयार होता है। परिस्थिति के संदर्भ के बिना युगचेतना की बात हवाई सी लगती है और युगचेतना के बिना परिस्थिति ढाँचा-मात्र। प्रासंगिक और प्रामाणिक वही कृति बनती है जिसमें युग तथा परिवेश की धारणा ही नहीं, परिकल्पना भी मौजूद हो। प्रेमचन्द की कृतियों और उनके विचारों के अध्ययन से उन का युग अपनी पूरी विविधता में, अपने विरोधाभासों और अन्तर्विरोधों सहित सामने आ जाता है।

इसमें सन्देद नहीं कि प्रेमचन्द की अपने समय के प्रति गहरी सम्बद्धता थी। वे अपने ज़माने के दुःख-दर्द के प्रति जागरूक और संवेदनशील थे। कोई भी घटना और स्थिति उनके सृजनशील मन पर गहरी छाप छोड़ जाती थी। वे अपनी मानसिक चेतना पर युगचेतना के दबाव को बड़ी गहराई से अनुभव करते थे। अपने समय की शायद ही ऐसी कोई घटना हो जिस से वे प्रभावित-आलोड़ित न हुए हों। रचना-कर्म को समय-संदर्भ में रख कर देखने की प्रेमचन्द की प्रवृत्ति उन की खास अपनी है। इस प्रवृत्ति द्वारा उन्हें निस्संदेह, रचनात्मक स्फूर्ति प्राप्त हुई।

प्रेमचन्द के कृति-व्यक्तित्व के निर्माण में युगीन परिस्थितियों का बहुत बड़ा हाथ है। परिस्थिति को जानने-समझने की ललक उन में हमेशा रही। परिस्थिति में परिवर्तन हो जाने से उनके व्यक्तित्व में भी परिवर्तन होता गया। इस संदर्भ में वे अपनी प्रतिक्रियाओं, रुझानों और दृष्टिकोणों को निर्धारित करते रहे और बदलते रहे। अपने लेखन के प्रारम्भिक दिनों में वे बड़ी तीव्रता से राष्ट्रीय परिस्थितियों का अध्ययन और आकलन कर रहे थे और राष्ट्रीय-सामाजिक समस्याओं को समझने की कोशिश कर रहे थे। अमृतराय ने उन की प्रारम्भिक मानसिक बनावट की ओर इन शब्दों में संकेत किया है। 'राष्ट्रीयता की चेतना में एक नया ज्वार आ रहा था और उसे नये ज्वार को जिन लोगों ने अपने खून की गर्मी और रवानी में सब से पहले महसूस किया,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हीं में एक मुंशी जी थे ।[1] दरअसल अपने समय की प्रत्येक धड़कन को प्रेमचन्द ने अपने खून में बजता हुआ महसूस किया था —महसूस ही नहीं किया था, समझा और पहचाना भी था । उन का कृति-व्यक्तित्व, (साहित्य और चिन्तन भी) परिस्थिति और समय की सापेक्षता में उभरा है । इन तीनों की टकराहटों को उन के कथा-साहित्य में देखा जा सकता है । यह बात उन की युगबोध की पहचान को ही प्रमाणित नहीं करती, उन की रचनात्मक क्षमता के विशिष्ट गुण को भी उजागर करती है । पर इस का अर्थ यह न लिया जाए कि वे अपने समय में बन्द थे या परिस्थिति से परे देखने में अक्षम थे । जिन लोगों ने उन की कृतियों का बारीकी से अध्ययन किया है, वे इस भ्रम के शिकार नहीं होंगे । उनकी कृतियां अपने युग की परिस्थितियों का महज़ चित्रण नहीं करती हैं । उन्हें उस समय के माहौल की प्रतिध्वनियां या दृश्य-विधान कह कर भी टाला नहीं जा सकता । परिस्थिति-चित्रण या समय की अनुगूंजें उनके कृति-व्यक्तित्व का हिस्सा बन कर अभिव्यक्त हुई है । समय और परिस्थिति का प्रमाण प्रेमचन्द की रचनाओं की आत्मीयता, विश्वसनीयता और व्यापक संवेदनीयता का आधार बना है और इसीलिए उनके कथा-संसार का मेरुदंड भी है ।

प्रेमचन्द ने अपने समय की राजनीति का गहरा अध्ययन किया था —अध्ययन ही नहीं किया था, उसमें सक्रिय भाग भी लिया था । इसीलिए शायद राजनीति में गांधी-युग और साहित्य में प्रेमचन्द युग लगभग समान और एक-रूप मान लिए जाते हैं । यह सही है कि अपने लेखन के अन्तिम दौर में पहुंचकर प्रेमचन्द का गांधीवाद से मोह-भंग हो गया था किन्तु उन्होंने एक लम्बी यात्रा गांधीवादी धारणाओं, विचारों और कार्य-पद्धतियों के आधार पर ही तय की थी । उन की कहानियों और उपन्यासों के अधिकतर पात्र गांधी-युग का प्रतिनिधित्व करते दिखते हैं । यह प्रतिनिधित्व हर जगह सपाट ढंग का ही हो, ऐसा नहीं है । वह एक हद तक आलोचनात्मक भी है - खास तौर से ऐसी कहानियों और उपन्यासों में जहां उन्होंने गांधीवाद की असंगतियों और अन्तर्विरोधों को खोला है ।

प्रेमचन्द का समय विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों, प्रवृत्तियों और विचारों के अजब द्वन्द्व, संघर्ष और संघात का था । प्रबल से प्रबल विचार या विचारधारा को जब व्यवहार या आचरण में लाये जाने की कोशिश की जाती तो उस की असंगतियां उभर कर सामने आने लगती थीं । प्रेमचन्द एक लम्बे समय तक गांधीजी से, गाँधीवादी विचारधारा से प्रभावित रहे, उसके प्रवक्ता और पक्षधर रहे । पर गांधीवादी विचारधारा की आचरणगत असंगतियों को वे बखूबी जानते थे । 'रंगभूमि' में सूरदास जहाँ गांधीवादी विचारधारा के प्रतिनिधि के रूप में अंकित है वहां विनयसिंह इस विचारधारा से सहमति के बावजूद विसंगतियों से भरा चरित्र है । अहिंसा में सूरदास की आस्था जहां अटूट और अडिग है वहां विनयसिंह के लिए अहिंसा उद्देश्य-पूर्ति का साधन भर है । तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति में अहिंसा सम्बन्धी ये दोनों स्थितियां अस्वाभाविक नहीं कही जा सकतीं ।

प्रेमचन्द ब्रिटिश सरकार के प्रति असहयोग और प्रतिरोध के पक्षपाती थे । इनके बल पर कोई बहुत बड़ी क्रांति या परिवर्तन संभव होगा, ऐसा भ्रम उन्हें नहीं था । हाँ, इनके द्वारा जनता में राजनैतिक जागृति पैदा की जा सकती है और ब्रिटिश सरकार को नैतिक दृष्टि से पराजित किया जा सकता है, इसमें उन का विश्वास था (देखिये, विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 183) । 'कर्मभूमि' में ब्रिटिश शासन-व्यवस्था के विरुद्ध सक्रिय प्रतिरोध की तीव्र भावना जिस रूप में व्यक्त हुई है, वह उस समय के अनुरूप ही है । उस समय सविनय अवज्ञा आन्दोलन के कारण जिस व्यापक राष्ट्रीय चेतना का प्रसार हुआ था, प्रेमचन्द द्वारा किया गया समस्याओं का चित्रण-निरूपण भी उस चेतना को ही पुष्ट करता है । शोषित-दलित किसान की समस्या, अछूत समस्या, दीन-हीन लोगों को बसाने की समस्या — ये सभी प्रकारान्तर से सरकार का प्रतिरोध करने वाले आन्दोलन बनते गये । किसानों की दयनीय हालत को लेकर आन्दोलन किया गया हो, या लगानबंदी को लेकर, ये आन्दोलन प्रशासनिक सत्ता के लिए चुनौती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनते गये थे और उनसे राष्ट्रीय मुक्ति का मार्ग खुला था। 'कर्मभूमि' में चित्रित-वर्णित सभी समस्याएँ ब्रिटिश शासन की अवज्ञा से सम्बद्ध हैं या व्यापक जन-शक्ति के लिए आवश्यक आधार निर्मित करती हैं। इस अर्थ में यह उपन्यास अपने समय का प्रामाणिक साक्ष्य उपस्थित करता है।

प्रेमचन्द की अनेक कहानियों—'चकमा', 'दु:साहस', 'आदर्श 'विरोध', 'लाग डाट' पर उस समय चल रहे असहयोग आन्दोलन की छाप देखी जा सकती है। यह सही है कि यह छाप सामयिक और चलताऊ ढंग की है। सामयिक चेतना यहां राजनीतिक-बोध या रचनात्मक बोध में तब्दील नहीं हुई है। कुछ अन्य कहानियां हैं जिन में ऐसा संभव हो सका है जैसे 'समर-यात्रा' कहानी में। इसमें सामयिक हलचल, घटना या प्रसंग को राजनैतिक बोध के धरातल पर रचनात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है।

प्रेमचन्द साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का दिलोजान से विरोध करते थे। इसे वे राष्ट्रीय चेतना और स्वराज्य प्राप्ति के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा मानते थे। अंग्रेज़ सरकार द्वारा किये गये नौकरियों के साम्प्रदायिक आधार का विरोध उन्होंने डट कर किया था क्योंकि वे इसे अंग्रेज़ी शासन द्वारा साम्प्रदायिकता भड़काने और राष्ट्रीय भावना को शिथिल करने की एक चाल मानते थे। प्रेमचन्द जानते थे कि नौकरियों के साम्प्रदायिक आधार द्वारा दोनों (हिन्दुओं और मुसलमानों) के बीच स्थायी मतभेद और विरोध की नींव पड़ेगी, (देखिये : विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 433)। अपने समय में प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक परिस्थितियों का जो विकट और भयानक रूप देखा था, उस का विश्लेषण उन्होंने अपने कई उपन्यासों और कहानियों में किया है। 'कायाकल्प' में पं० यशोदानन्दन और ख्वाजा महमूद के माध्यम से साम्प्रदायिक स्थिति का बड़ा पैना विश्लेषण किया गया है। आगरा के साम्प्रदायिक दंगों में यशोदानन्दन की मृत्यु हो गयी। उसके घर में आग लगा दी गई। अहिल्या को ख्वाजा का पुत्र भगा ले गया। अहिल्या ने अपहरणकर्ता की हत्या कर दी। इस घातक प्रवृत्ति का विश्लेषण उन्होंने अपनी कहानियों में भी किया है।

प्रेमचन्द राजनीतिक बदलाव की भूमिका तैयार करने में विश्वास करते थे और ऐसा उन्होंने अपने साहित्य द्वारा करने का प्रयत्न भी किया। पर इसके लिए वे आतंककारी प्रवृत्ति के पक्ष में नहीं थे। उनके समय में आतंककारी प्रवृत्ति अक्सर सिर उठाती थी पर उसे कुचल दिया जाता था। 'रंगभूमि' में इस की ओर संकेत है। इस उपन्यास में वीरपालसिंह तथा उसके साथियों को क्रांतिकारियों का दल कहा गया है। वीरपालसिंह का चरित्र जिस रूप में चित्रित किया गया है, उससे लगता है कि प्रेमचन्द क्रांतिकारियों और आतंकवादियों की गतिविधियों के समर्थक नहीं थे क्योंकि वे मानते थे कि इससे ब्रिटिश सरकार को दमन-चक्र चलाने का मौका मिलता है जिससे अहिंसक मुक्ति-आन्दोलन पिछड़ जाता है। दिसम्बर 1932 में उन्होंने लिखा भी था : 'हम आतंकवाद के कभी समर्थक नहीं रहे और हमारा सिद्धांत है कि आतंकवाद से देश की बहुत बड़ी हानि हो रही है' (विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 542)। उन्हें लगता था आतंक की नीति स्वाधीनता-आन्दोलन को विफल कर सकती है। शायद उनकी धारणा रही होगी कि युद्ध भावुक होकर नहीं, सोच-समझ कर लड़ा जा सकता है इसलिए सामाजिक धरातल पर सुधारवादी क्रांतिकारिता का परिचय तो वे देते हैं पर राजनीतिक अर्थ-संदर्भ में क्रांति का नहीं। वे सुधार भाव से सामाजिक बदल के विचार तक आ गये थे।

युग-जीवन की चेतना का चित्रण राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक कई स्तरों पर प्रेमचन्द के उपन्यासों तथा कहानियों में हुआ है। उनके कथा-साहित्य में तत्कालीन समाज की अनेक समस्याओं और स्थितियों का बोध कराया गया है। उदाहरण के तौर पर दहेज के कारण जो सामाजिक विकृति पैदा हुई उसका चित्रण उनके कई उपन्यासों में देखा जा सकता है। 'सेवासदन' और 'गोदान' में दो युगों का अन्तर स्पष्ट ही है। 'सेवासदन' की सुमन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहां तत्कालीन सामाजिक स्थितियों के कारण वेश्या बनने के लिए बाध्य होती है वहां बदले हुए युगीन संदर्भ में 'गोदान' की गोविन्दी के लिए ऐसी कोई बाध्यता नहीं है। वह स्वाभिमान पूर्वक स्वतंत्र जीवन-यापन में समर्थ है। प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों में उस समय की धार्मिक और सांस्कृतिक स्थितियों का चित्रण मिलता है। हां, यह बात जरूर है कि 'गोदान' में यह चित्रण सोच के धरातल पर ही नहीं, संवेदना के धरातल पर भी व्यक्त हुआ है। होरी धर्मभीरु ही नहीं, समाजभीरु भी है। 'मरजाद' निभाने के चक्कर में उस की मरजाद ही नहीं रहती और वह किसान से मज़दूर हो कर दम तोड़ देता है। धार्मिक और सांस्कृतिक संस्कारों और विश्वासों से लोगों के दृष्टिकोण और व्यवहार कैसे संचालित और नियंत्रित होते हैं और अपने समय के समाज का सामाजिक और वर्गीय पद्धतियों का उनके माध्यम से करुण और त्रासद अहसास जगता है, इसे 'गोदान' द्वारा समझा जा सकता है। प्रेमचन्द की कहानियां में भी धर्म के नाम पर चल रहे शोषण चक्र का निरूपण हुआ है। अछूतों की दयनीय दशा को उद्घाटित करने वाली उन की कुछ कहानियां हैं—'दूध का दाम', 'मन्दिर', 'ठाकुर का कुआं', 'सद्गति' आदि।

प्रेमचन्द के लगभग सभी उपन्यासों और कहानियों में किसानों की आर्थिक विपन्नता की स्थितियां और तज्जनित पीड़ा और करुणा व्यक्त हुई है। 'वे साल में तीन सौ साठ दिन आधे पेट खाकर रहते थे, जाड़े में पुआल में घुस कर रातें काटते थे (कर्मभूमि) 'वे बेबसी में जीते और बेबसी में मरते थे, (कर्मभूमि)। ज़मींदारों, कारिन्दों और महाजनों द्वारा शोषित-पीड़ित इन लोगों की स्थिति दारुण ही नहीं, दयनीय भी है। वे रोटियों के लिए मोहताज हो जाते हैं। उन के पास 'तन ढकने के लिए चीथड़े तक नहीं और बीमारी में एक पैसे की दवा का भी बन्दोबस्त नहीं कर सकते' (कर्मभूमि)। 'गोदान' में यह स्थिति और भी भयानक और विकट है। 'धनिया का यह कथन बिचारे किसान पर आर्थिक स्थितियों की मार को कितने मार्मिक ढंग से उजागर करता है। 'अपने विवाहित जीवन के इन बीस वर्षों में उसे अच्छी तरह अनुभव हो गया था कि चाहे कितनी ही कतर-ब्योंत करो, कितना ही पेट-तन काटो, चाहे एक-एक कौड़ी को दांत से पकड़ो, मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है' (गोदान)। महाजनों द्वारा शोषित होरी किसान से कैसे मज़दूर बन जाता है, इसे प्रेमचन्द ने सामाजिक और वर्गीय अवस्थाओं की गहरी छानबीन करके, मार्मिक और करुण ढंग से व्यक्त किया है। कृषि की आर्थिक दुर्दशा के चित्र और उसके मज़दूर बनते जाने की मजबूरी प्रेमचन्द की 'पूस की रात' और 'कफ़न' कहानियों में भी देखी जा सकती हैं। हल्कू खेतों में काम करता है, मज़दूरी करता है, तो भी पेट नहीं भर पाता। 'हल्कू पक्का इरादा करके उठा और दो-तीन कदम चला पर एकाएक हवा का ऐसा ठंडा, चुभने वाला, बिच्छू के डंक सा झोंका लगा कि वह फिर बुझते हुए अलाव के पास जा बैठा और राख को कुरेद कर अपनी ठंडी देह को गरमाने लगा' (मानसरोवर, भाग-1, पृ० 162)। इसी कहानी में एक स्थल पर मुन्नी की खीझ व्यक्त हुई है जो आर्थिक स्थिति की विभीषिका को सामने खड़ा कर देती है। मुन्नी सोचती है। 'न जाने कितनी बाकी है जो किसी तरह चुकने ही नहीं पाती'। 'कफ़न' कहानी में भी ऐसी दारुण आर्थिक स्थिति का निरूपण हुआ है जो व्यवहार और आचरण को विसंगत बना देती है। यह कहानी तत्कालीन युगीन संदर्भों को बड़ी बेबाकी और निर्ममता से उघाड़ देती है तथा उन का गहरा यथार्थ एहसास उपजाती है। इस कहानी के माधव और घीसू की मनोवृत्ति उन के आसपास मंडराने वाली भयावह और क्रूर स्थितियों की देन है। घीसू को, 'यह तसकीन तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है तो कम-से-कम उसे किसानों की सी जी-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती और उस की सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फ़ायदा तो नहीं उठाते' (प्रेमचन्द की श्रेष्ठ कहानियां, पृ० 12)।

[illegible] में सामन्तवाद के ह्रास और पूंजीवाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विकास की जैसी स्थिति थी, उस का वैसा ही चित्रण प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों में मिलता है। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में इस प्रक्रिया को खोलने वाले ऐतिहासिक तथ्य मौजूद हैं। उन की एक कहानी 'डामूल का कैदी' में भी मज़दूर-पूंजीपति संघर्ष का चित्रण हुआ है (मानसरोवर, भाग 3, पृ॰ 234) पर इस ढंग के चित्रण-निरूपण प्रेमचन्द के उपन्यासों-कहानियों में कम ही हैं।

प्रेमचन्द का कथा-साहित्य ज़माने की रफ़्तार के साथ-साथ, समय की नब्ज़ को टटोलते हुए, जीवन स्थितियों की समानान्तरता में रचित है। कई स्थलों पर लगता है वे अपने समय की परिस्थितियों और संदर्भों तथा उन से उत्पन्न प्रतिक्रियों को औपन्यासिक फलक पर 'रेकार्ड' भर कर रहे हों। इस अर्थ में उन की कृतियां राष्ट्रीय आन्दोलन के क्रमबद्ध इतिहास की कलात्मक साक्षी देती प्रतीत होती हैं।

प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में प्रतिफलित उस समय की परिस्थिति और समय किसी तरह का भावुक बयान नहीं है बल्कि वह ठोस ऐतिहासिक प्रक्रिया का हिस्सा है। यह कथा साहित्य युगीन चेतना को ऐतिहासिक चेतना से सम्बद्ध कर के उस का विचारपूर्ण कलात्मक और प्रामाणिक बोध कराने वाला है।

1. प्रेमचन्द : कलम का सिपाही पृ॰ 80

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० रामदरश मिश्र
रीडर, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रेमचन्द की यथार्थ चेतना

ग्राम-परिवेश और चेतना

प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में तत्कालीन भारतीय जीवन के विविध परिवेश उद्घाटित हुए हैं किन्तु इनमें प्रमुख हैं ग्राम-परिवेश। ग्राम-परिवेश भारतीय जीवन का सर्वाधिक व्यापक और महत्वपूर्ण परिवेश हैं क्योंकि कृषि-प्रधान भारत की अधिसंख्य जनता गांवों में ही रहती थी और रहती है। इसलिए भारतीय जीवन के यथार्थ की पहचान प्रमुखतः उसके ग्राम-परिवेश में ही हो सकती है। प्रेमचन्द में भारतीय जीवन का सच्चा दर्द बहता था और वह गांव के जीवन के समस्त दुख-दर्द के द्रष्टा ही नहीं भोक्ता भी थे इसलिए उनके कथा-साहित्य में तत्कालीन ग्रामपरिवेश अपने सारे बाहरी विस्तार और आंतरिक जटिलताओं तथा गहराइयों के साथ उद्घाटित हुआ है।

ग्राम परिवेश में विविध आयाम हैं। एक ओर उसकी अपार प्राकृतिक छटा है तो दूसरी ओर उसकी अफाट गरीबी और अभाव जन्य असुन्दरता है। एक ओर वहां के पर्वों, त्योहारों, मेलों-हटियों में बहता हुआ सामूहिक उल्लास है तो दूसरी ओर व्यक्तिगत स्तरों पर व्यक्तियों के आर्थिक अभाव की उदासीनताएँ हैं। एक ओर जमींदारों, महाजनों, व्यापारियों आदि का काईयापन और षड्यंत्र है तो दूसरी ओर भोले-भाले किसानों का सीधापन और सरल विश्वास है। एक ओर धूर्त पंडितों और पुरोहितों का ईश्वर और धर्म के नाम पर किसानों को लूटते रहने का षड्यन्त्र है तो दूसरी ओर अपढ़ और रूढ़िवादी किसानों की ईश्वर और धर्म के प्रति अटूट आस्था के फलस्वरूप लुटते रहने की प्रवृत्ति। एक ओर परोपजीवी धनी वर्ग है तो दूसरी ओर गरीबी में पिसता श्रमजीवी वर्ग। और इस श्रमजीवी वर्ग को चूसने के लिए शासन, ज़मींदार, पूंजीपति, महाजन, पुरोहित, धर्म सभी के मिले-जुले षड्यन्त्र हैं। प्रेमचन्द ने इस ग्राम परिवेश के समग्र रूप को बहुत संश्लिष्ट ढंग से 'गोदान' में उभारा है। 'गोदान' के अतिरिक्त 'कर्मभूमि', 'प्रेमाश्रम' तथा आंशिक रूप से 'रंगभूमि' में भी उभारा है। उपन्यासों के अतिरिक्त 'पूस की रात', 'कफ़न', 'ईदगाह', 'मंत्र', 'बूढ़ी काकी', 'पंच परमेश्वर', 'नमक का दारोगा', 'बड़े घर की बेटी', 'गृह दाह' आदि कहानियों में ग्राम परिवेश के विविध स्तर चित्रित हुए हैं। 'गोदान' तो ग्रामजीवन का औपन्यासिक महाकाव्य ही है। इसके माध्यम से तत्कालीन ग्राम परिवेश को और प्रेमचन्द की उस परिवेशगत पहचान को समझा जा सकता है।

प्रेमचन्द समकालीन भारतीय जीवन में आये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए संक्रमण को पहचानते थे । सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के अनेक स्तरों पर लक्षित होने वाले संक्रमण के दबाव की पहचान उन्हें थी । 'गोदान में' इन्होंने केन्द्र में रखा गांव के अभावग्रस्त किसान को। इसलिए इस उपन्यास में 'गांवों का समूचा बाहरी और भीतरी परिवेश मूर्त हो उठा । बाहरी परिवेश में प्रकृति है, गांव का बाहरी स्वरूप के और भीतरी परिवेश में गांव के व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध, अभाव और उल्लास की संवेदनाएँ, संघर्ष की अटूट प्रक्रिया, रिस-रिस कर टूटते हुए मूल्य तथा पर्त दर पर्त उभरती हुई यातनाएँ हैं । भारतीय किसान की जीविका खेती है । इस खेती-जीवी किसान को चारों ओर से शोषक शक्तियां घेरे हुए हैं । किसान का सीधा सम्बन्ध ज़मींदार से था । ज़मींदार किसान और सरकार के बीच माध्यम था । जमींदार किसान से इतना ज्यादा पैसा वसूल करता था कि वह स्वयं भी ठाठ-बाट से रह सके और विदेशी सरकार को माल-गुज़ारी भी दे सके किन्तु सरकारी अहलकार भी प्रायः किसानों के पास आया ही करते थे और तरह-तरह से उन्हें परेशान करते थे । किसानों का शोषण करने वाली और अप-शक्तियां भी विद्यमान थीं । महाजनी सभ्यता का वृहद् रूप शहरों में था मगर वह छोटे-छोटे साहूकारों और ऋण-दाताओं के रूप में देहातों में भी विराजमान था । छोटे छोटे बनिये और सूदखोर महाजन किसानों को कर्ज़ के जाल में उलझाते थे उनके घर-द्वार नीलाम कराते थे और उनके अनाज खलियान में से तोलवा लेते थे । इसके अतिरिक्त धर्म भी उनका शोषण कर रहा था । किसान अपनी अशिक्षा और अज्ञता के कारण सबका ज़ुल्म सहते हुए भी चुप थे । अंध-विश्वासों और धार्मिक रूढ़ियों से ग्रस्त रहने के कारण वे सहिष्णु बन गये थे और हर ज़ुल्म को अपना कर्मफल मान कर चुपचाप सह लेते थे । कर्मफल के नाम पर वे ज़मींदार, शासन, पंडित, पुरोहित, महाजन तथा शोषक धर्म सबको ओढ़े हुए थे तथा जान-लेवा सामाजिक प्रथाओं को भी ढो रहे थे । 'गोदान' में पंडित दातादीन जीवन भर तो होरी का खून चूसता ही है, उसके मरने के बाद भी गोदान के नाम पर उसकी रही सही कमाई चूस लेता लेता है । किसान अपनी पीड़ाओं से परेशान होकर मजूर होते जा रहे थे । गोदान का गोबर इसी दिशा की ओर संकेत करता है । 'पूस की रात' कहानी का हल्कू भी मजूरी के जीवन को किसान जीवन से अच्छा कह कर खेत चरे जाने पर एक राहत की सांस लेता है । प्रेमचन्द ने भारतीय किसान को बहुत विश्वस्त रूप से उभारा है किन्तु यह किसान कोई ठहरा हुआ किसान नहीं है । वह नये युग-संदर्भ में बदल रहा है । इस बदलाव की पहचान भी 'गोदान' में बहुत गहराई से व्यंजित हुई है । ऊपर कहा गया है कि किसान मज़दूर होने की प्रक्रिया में आ गया था । किसान की एक यह नयी पीढ़ी अधिक निश्चिंत, निर्भीक समझदार, उग्र और धर्म के आतंक से मुक्त होती जा रही थी । वह आर्थिक सम्बन्धों को अधिक सफ़ाई से समझती थी । वह अपने अधिकारों को अधिक समझती थी तथा शोषकों के शोषण को दया, सहायता के रूप में न लेकर शोषण के रूप में ही लेती थी । गोबर का व्यवहार इस सत्य को उजागर करता है । संयुक्त परिवारों में टूटन भी आरम्भ हो गयी थी । इस टूटन के पीछे कहीं तो मज़दूर बन कर शहर जाते हुए किसान का अपनी पत्नी को साथ ले जाना था, कहीं धीरे-धीरे उभरती हुई आर्थिक चेतना-जन्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता का भाव था, कहीं अहंकार की टकराहट और कलह था । 'बड़े घर की बेटी' में अहंकार की चोट से ही घर टूटते-टूटते बचा है ।

प्रेमचन्द ने अपनी ग्राम मूलक कहानियों और उपन्यासों में न केवल वर्गीय और पारिवारिक स्थितियों की विसंगति की पहचान की है वरन् व्यक्तियों की संवेदनात्मक और धारणात्मक विसंगतियों या अन्त-र्विरोधों को भी परखा है । इसलिए उनके किसान पात्र भोले-भाले होकर भी कम या अधिक मात्रा में संश्लिष्ट हैं । उनके भीतर मानव-सुलभ ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ और क्रूरता भी है तथा प्रेम, त्याग और कोमलता भी । दोनों के द्वन्द्व से ये पात्र ग्रस्त होते चलते हैं । इसलिए इन पात्रों के प्रति सभी सहानुभूति के बावजूद प्रेमचन्द इन्हें ग्राम परिवेश के जीवंत पात्र बनाए रखते हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में ग्राम परिवेश, अपने आन्तरिक और बाह्य, वर्गीय, पारिवारिक और व्यक्तिगत आर्थिक सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक यथार्थ की समग्रता में उभरता है।

ग्राम-परिवेश की समझ का ही नाम ग्राम-चेतना है। चेतना शब्द में गांव के लोगों की चेतना भी आती है और गांव के समग्र यथार्थ के प्रति लेखक की समझ भी। गाँव के लोगों की चेतना ग्राम-परिवेश के आंतरिक स्वरूप के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाती है इसलिए यहां चेतना से अभिप्राय—ग्राम जीवन के समग्र यथार्थ के प्रति लेखक की चेतना या समझ से लिया जा रहा है। वास्तव में प्रेमचन्द की ग्राम चेतना उनकी समग्र जीवन चेतना का ही एक अंश है। प्रेमचन्द को अपने समय-यथार्थ की गहरी पहचान थी—अर्थात् उनकी चेतना को यथार्थ-चेतना कहा जा सकता है। यथार्थ-चेतना का एक बहुत सतही आयाम है घटनाओं, प्रसंगों दृश्यों, व्यापारों और खान-पान आदि की यथातथ्य पहचान। इससे गहरा आयाम है अनेक वर्गों, परिवारों, व्यक्तियों आदि के पारस्परिक सम्बन्धों और संवेदनाओं के तनाव की पहचान। इससे भी गहरा आयाम है उस केन्द्र-बिन्दु की पहचान जो इन समस्त सम्बन्धों, संवेदनाओं और मूल्यों के बदलाव का कारण बन रहा है और जिसके कारण बाहर बहुत कुछ घटित हो रहा है। यदि हम सूक्ष्मता से विश्लेषण करें तो पायेंगे कि वर्तमान काल का सारा जीवन मूल्य और सम्बन्ध अर्थ पर ठहरा हुआ है। प्राचीन काल का भारतीय जीवन-मूल्य धर्म पर आधारित था। भले ही मध्यकाल में उसका रूप विकृत हो गया था और धर्म के नाम पर पापाचार होने लगे थे। आधुनिक काल में वैज्ञानिक भौतिकवादी चेतना के जागने पर तथा महाजनी सभ्यता के अस्तित्व में आने पर धर्म जीवन-मूल्यों का निर्णायक नहीं रहा। भौतिकवादी दृष्टि में जीवन मूल्यों का निर्माता अर्थ है, धर्म, दान, शील, सत्य-निष्ठा संयुक्त पारिवारिक जीवन की निःस्वार्थ एकता आदि के स्थान पर महाजनी पंजा मज़बूत होता जा रहा था जिसमें प्रेम, न्याय, भ्रातृभाव, पारिवारिक स्नेह, सभी को धन की तुला पर तोला जाने लगा था। प्रेमचन्द एक कलाकार के नाते अर्थ-केन्द्रित इस यथार्थ को उस की पूरी जटिलता और गहराई के साथ पहचानते थे, उन्होंने अपने शहर और गाँव दोनों से सम्बन्धित कथा-साहित्य में इस यथार्थ को उद्घाटित किया है, उनकी सर्जक चेतना हमेशा इसके प्रति सजग रही है किन्तु वे सर्वत्र कलाकार की निस्संगता का निर्वाह नहीं कर सके हैं। उनका समाज सुधारक मन यह देख रहा था कि अर्थमूला महाजनी सभ्यता मनुष्य को भौतिक सुख और समृद्धि की प्राप्ति के लिए उकसा कर उसे जानवर बना रही है। मनुष्यों का एक वर्ग ऊपर-ऊपर से समृद्ध होता हुआ भीतर से रिक्त, दरिद्र और हीन होता गया तथा किसान-मजदूर और निम्न मध्यवर्ग आर्थिक रिक्तता के दबाव में अनेक प्रकार के अमानवीय पीड़न, अपमान और अभाव सहने के लिए अभिशप्त हुआ। इसीलिए प्रेमचन्द यथार्थ के चित्रकार होने के साथ—साथ आदर्श के द्रष्टा भी हैं। उनकी सर्जक चेतना में यथार्थ और आदर्श दोनों ही मिल जाते हैं। आदर्श का द्रष्टा होने के नाते वे सेवा, त्याग, सहानुभूति, प्रेम सत्याचरण जैसे अपने भारतीय मूल्यों से जुड़ जाते हैं। उनकी दृष्टि में इन विशेषताओं के अभाव में मानव की समस्त भौतिक जय-यात्रा ही असफल हो जाएगी। ग्राम चेतना प्रेमचन्द की समस्त जीवन चेतना का ही एक अंग है। 'गोदान' लें या 'कफन' ,पूस की रात', 'बूढ़ी काकी', 'पंच परमेश्वर', ईदगाह', 'मंत्र' आदि में सर्वत्र जीवन संघर्ष के मूल में आर्थिक विषमता दिखाई पड़ेगी और (गोदान, कफ़न और पूस की रात को छोड़ कर) आर्थिक विषमता की पीड़ा में से उभरती हुई एक मानवीय सदाशयता लक्षित होगी जो कहानी की सारी अर्थ जन्य क्रूरता को मूल्य-मूलक औदात्य में बदल देगी। कभी तो यह अर्थ-चेतना वर्गों की विषमताओं के बीच तनी होती है' कभी एक ही परिवार में अपना प्रभाव दिखाती है। 'कफ़न' कहानी में ये दोनों ही स्तर दिखाई पड़ते हैं। निम्न वर्ग के माधव और घीसू कोई काम नहीं करते क्योंकि जानते हैं कि काम करने पर भी उनके वर्ग के तमाम लोग भूखों मरते हैं और काम न करने वाले उच्च वर्ग के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग ऐश करते हैं। इसलिए ये बाप-बेटे भूखों मरने लगते हैं तब पेट भरने के लिए या तो चोरी करते हैं या कोई न कोइ फरेब रचते हैं। पारिवारिक स्तर पर भी बाप-बेटे पर अर्थ के प्रभाव का दबाव लक्षित होता है। दोनों चुराये हुए आलू भून कर खा रहे हैं भीतर बेटे की पत्नी प्रसव से मर रही है। बाप-बेटे में से कोई भी उसे देखने इस डर से नहीं जा रहा है कि दूसरा सारा आलू खा जायेगा। भूख के ऊपर सारे पारिवारिक सम्बन्ध निछावर हो गये हैं। 'कफ़न' से मिलने वाले पैसे से वे मिठाई खाते हैं और शराब पीते हैं और इस प्रकार से सारी परंपरित सामाजिक मर्यादा को भूख के बिन्दु पर खड़े होकर चुनौती देते हैं। 'पंच परमेश्वर' में जुम्मन मियाँ और खाला में, जुम्मन और अलगू में, अलगू और साहु में अर्थ को लेकर ही सम्बन्ध बिगड़ते हैं। 'बूढ़ी काकी' में अर्थ के ही आधार पर बूढ़ी काकी की दुर्दशा होती है। 'गोदान' में अर्थ अनेक स्तरों पर सामाजिक और पारिवारिक सम्बन्धों को बनाता बिगाड़ता है किन्तु जैसा पहले कहा गया है—अधिकांश उपन्यासों और कहानियों में एक आदर्श की स्थापना कर दी जाती है।

प्रेमचन्द की ग्राम चेतना का एक और महत्वपूर्ण पहलू द्रष्टव्य है। वे यह मानते हैं कि महाजनी सभ्यता में जो जितना ही अधिक सम्पन्न है, सफ़ेदपोश है, शिक्षित है, अपने को सभ्य कहता है वह भीतर से उतना ही अधिक जड़, दरिद्र और अमानवीय है इसके विपरीत ऊपर-ऊपर से जाहिल गंवार, असंपन्न, गंदा दीखने वाला व्यक्ति ,भीतर से अधिक मानवीय मूल्य सम्पन्न है। गांव के अधिकांश व्यक्ति दरिद्र हैं, अपढ़ हैं, गन्दे हैं, बुरी आदतों के शिकार हैं, मूर्ख हैं किन्तु उनमें त्याग है, प्रेम है, सहानुभूति है, करुणा है। 'मंत्र' कहानी में डा० चड्ढा गरीब किसान के बेटे की दवा नहीं करते क्योंकि उन्हें खेलने जाना है; उसका बेटा मर जाता है किन्तु जब चड्ढा के बेटे को सांप काटता है तब वह किसान केवल यह समाचार सुन कर अपने से लड़ता हुआ रात के समय हाज़िर होता है और चड्ढा के मृतप्राय: बेटे को मंत्र से जिन्दा कर अपनी मानवीय महत्ता का परिचय देता है।

गांव के इन अनंत अभिशप्त, अभागे और संघर्षशील व्यक्तियों के भीतर की सदाशयता की पहचान और उद्घाटन करने के बावजूद प्रेमचन्द इन पात्रों को सरल रेखा के रूप में अंकित नहीं करते। छोटे-छोटे स्वार्थों, ईर्ष्या, द्वेष, भय, प्रतिस्पर्द्धा, काम, क्रोध, मद, लोभ आदि से संक्रांत इनके मन की जटिलता का उद्घाटन करके इन्हें जटिल पात्र के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। यह अवश्य है कि प्रेमचन्द इन की इन कुप्रवृत्तियों को इनका सहज धर्म न मान कर परिस्थितियों से प्रभावित धर्म मानते हैं। इसलिए जहां अनुकूल परिस्थिति इन पर चोट करती है इनकी सदाशयता का सहज धर्म जाग्रत हो उठता है। इनके उपन्यासों और कहानियों के किसी भी पात्र को ले कर इसकी परीक्षा की जा सकती है। वह होरी हो या हीरा हो, या भोला हो, या पंचपरमेश्वर का अलगू चौधरी या जुम्मन हो, या 'बूढ़ी काकी' की रूप या बूढ़ा काकी हो सर्वत्र एक अन्तर्संघर्ष दिखाई पड़ता है।

औद्योगिक चेतना

आधुनिक युग विज्ञान युग है। विज्ञान की मूल प्रवृत्ति है आविष्कार। विज्ञान ने नये-नये यंत्रों का आविष्कार किया, भौतिक सत्य और शक्ति के नये-नये आयामों का उद्घाटन किया तथा प्रकृति की शक्तियों का भरपूर दोहन किया। इसीलिए यह युग मशीन युग और शक्ति युग (ऐज आफ़ पावर) भी कहा जाता है। मशीनों के आविष्कार ने बड़े बड़े उद्योग-धंधों को जन्म दिया। औद्योगीकरण ने न केवल हमारे अर्थ-तंत्र को प्रभावित किया वरन् उसने हमारे सामाजिक सम्बन्धों, जीवन-पद्धतियों, चिंतन और अनुभव को भी अनेक स्तरों पर प्रभावित किया। इससे पूंजीपति और मजदूर दो नये वर्गों का जन्म हुआ। इनमें एक नये सम्बन्ध का जन्म हुआ, अर्थ का स्रोत कल-कारखाने हो गये। सामाजिक जीवन में अनेक बाहरी-भीतरी परिवर्तन हुए। जीवन में एक गति आ गई, रहन-सहन का स्तर ऊँचा हुआ, नयी प्रवृत्तियों के आ जाने से कृषि में भी क्रान्ति हुई पारिवारिक जीवन में बदलाव आया। परिवार के सम्बन्धों में अनेक भले-बुरे प्रभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्षित हुए। पति-पत्नी, मां-बाप और सन्तान, भाई-भाई, आदि के सम्बन्ध अत्यधिक संवेगशून्य होते गये। औद्योगीकरण के कारण जहां एक ओर उद्योग-धंधों में अनेक मज़दूरों की खपत होने लगी, वहीं दूसरी ओर मशीनों ने श्रम का स्थान लेकर नौकरी और रोज़गार के अवसर भी कम कर दिये। एक ओर जहां औद्योगीकरण ने मानव को अनेक सुख-सुविधाओं से लाद दिया वहीं उसके भीतर यांत्रिकता पैदा कर उसे निरन्तर अमानवीय करता गया। एक ओर जीवन के विकास के लिए रचनात्मक उपकरण निर्मित करता गया तो दूसरी ओर विनाश के सामान भी गढ़ता गया। सामान ही नहीं गढ़ता गया, सुख-सुविधा की भयानक लिप्सा पैदा कर विनाशक प्रतिस्पर्द्धा की मानसिकता भी उत्पन्न करता गया। जो भी हो औद्योगीकरण वर्तमान जीवन की एक अपरिहार्य अनिवार्यता बन गया जो अपनी सीमाओं के बावजूद मानव समाज के विकास में अप्रतिम योगदान देने में समर्थ हुआ है।

प्रेमचन्द के कथा-साहित्य के मूल में मुख्यतः कृषि संदर्भित गांव का सामाजिक जीवन है। उन्होंने 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि, और 'गोदान' जैसे महत्वपूर्ण उपन्यासों तथा 'पूस की रात', 'कफ़न', 'बूढ़ी काकी', 'पंच परमेश्वर' आदि महत्वपूर्ण कहानियों में इसी जीवन के अन्तर्विरोध और तनाव को चित्रित किया है किन्तु 'रंगभूमि' उपन्यास में औद्योगीकरण से सम्बंधित समस्याओं को उठाया है। बनारस शहर के उपान्त में स्थित पांडेपुर गाँव में कई जातियों और पेशों के लोग रहते हैं। यह गाँव मूलतः कृषि-संस्कृति का गांव है। इस गाँव में सूरदास की दस बीघे की एक ज़मीन है। इसमें जानसेवक चमड़े का कारखाना खोलना चाहते हैं और इसी से उस गाँव में एक उथल-पुथल मच जाती है। बहुत घात-प्रतिघात के पश्चात् वह जमीन जान सेवक को कारखाने के लिए मिल जाती है। कारखाना बनना शुरू हो जाता है। कारखाने के मज़दूरों के लिए क्वार्टर बनाने का प्रश्न आता है तो फिर पाँडेपुर गाँव को खाली कराने का प्रयास प्रारंभ होता है और थोड़ा बहुत मुआवज़ा देकर गाँव खाली करा लिया जाता है। सूरदास अपना झोंपड़ा खाली नहीं करता। उसे लेकर बड़ा खून-खराबा होता है। अंत में वह भी गोली लगने से मर जाता है। और पूरा गाँव मज़दूरों के लिए खाली हो जाता है। औद्योगीकरण से सम्बन्धित कथा का यह स्थूल रूप है। इस कथा में अनेक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और साँस्कृतिक सम्बन्ध तथा मूल्य उद्घाटित होते हैं। यह तो कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द का गाँधीवादी संस्कार निष्कर्षतः औद्योगीकरण के पक्ष में बहुत नहीं दीखता किन्तु इस निष्कर्ष तक पहुंचने की उनकी प्रक्रिया कलात्मक है अर्थात् औद्योगीकरण के रूप को वे सरल-सपाट ढंग से प्रस्तुत नहीं करते उसे उसके अन्तर्विरोधों, गुण-दोषों के तनावों के साथ घटनाओं में घटित करते हुए उपस्थित करते हैं। जानसेवक का चमड़े का कारखाना खोलने का प्रयास अनेक राजनीतिक घटनाओं को जन्म देता है या राजनीतिक घटनाओं से जुड़ जाता है। सत्ता पूंजीवाद की सहायक होती है। पूंजीवाद सारे सम्बन्धों को पैसे के सन्दर्भ में ही देखता है। जानसेवक परिवार कलक्टर मिस्टर क्लार्क से सोफ़िया की शादी कर सत्ता का पक्ष प्राप्त करना चाहता है। क्लार्क सत्ता के प्रतिनिधि होने के कारण प्रजा के किसी भी मूल्य पर औद्योगीकरण का समर्थन ही करते किन्तु वे व्यक्ति भी हैं—सोफ़िया के प्रेमी। इसलिए सोफ़िया के कहने पर म्युनिसपिलिटी के इस आदेश को बदल देते हैं कि सूरदास की भूमि जानसेवक को कारखाने के लिए दी जाए। इससे क्लार्क के व्यक्तित्व में एक जीवंतता तो आती ही है, कथा में भी एक गहराई और तनाव आ जाता है। किन्तु क्लार्क कुल मिला कर सत्ता के वफ़ादार प्रतिनिधि हैं इसलिए सोफ़िया से निराश होकर पूरे मन से पूंजीवाद के बचाव के लिए प्रजा का दमन करते हैं विद्रोह के प्रतीक सूरदास को गोली मार कर समाप्त कर देते हैं। उद्योगपति कारखाने के बचाव के लिए किसी का भी साथ ले सकता है और किसी का भी साथ छोड़ सकता है। जान सेवक के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपना उद्योग ही सब कुछ है, क्लार्क से निराश होकर राजा महेंद्र से जा मिलते हैं, कुंवर साहब को भी फांसते हैं और फिर क्लार्क से जुड़ जाते हैं, अपनी पुत्री सोफ़िया और पुत्र प्रभुसेवक की और उनके मानवीय धर्म की उपेक्षा करते हैं। वे कोई भी हथकंडा अपना सकते हैं। प्रेमचन्द ने यह भी दिखाया है कि वैसे तो पूंजीवाद सामंतवाद का विरोधी है किन्तु सामान्य प्रजा के विरोध के लिए दोनों एक हो जाते हैं। महेन्द्र सामंत वर्ग के चरित्र के प्रतिनिधि हैं। वे अपनी सारी सामंती उदारता, नैतिकता, कर्म-निष्ठा का डंका पीटते हुए भी पूंजीवाद का साथ देते हैं, प्रजा-द्रोह करते हैं। पूंजीवाद की सहायता के क्रम में अपनी असंगतियों के शिकंजे में कसते चले जाते हैं और अन्त में खलनायक के रूप में शेष रह जाते हैं जिसकी चरम परिणति मृत्यु है।

औद्योगीकरण का आर्थिक पक्ष देश के हित से जुड़ता हुआ दिखाई पड़ता है। यह प्रचार किया जाता है कि औद्योगीकरण से देश की समृद्धि बढ़ेगी। देश की समृद्धि के क्रम में चन्द लोगों की असुविधा का विचार नहीं किया जा सकता। इसलिए सरकार भी उद्योग-धंधों के उपयुक्त ज़मीन किसी से भी छीन सकती है। शुरू में ही जानसेवक सूरदास की ज़मीन लेने के लिए अपना तर्क रखता है—'यहां एक कारखाना खोलूंगा जिससे देश और जाति की उन्नति होगी, गरीबों का उपकार होगा, हज़ारों आदमियों की रोटियां चलेंगी। इसका भी यश तुम्हीं को होगा। प्रेमचन्द कारखाने से होने वाले आर्थिक लाभ को पहचानते थे। जानसेवक के उपर्युक्त सूत्र को जैसे खोलते हुए राजा साहब सूरदास से कहते हैं,...'सोचो तो, इस कारखाने से लोगों को फ़ायदा होगा। हजारों मज़दूर स्त्री, बाबू मुंशी, लुहार, बढ़ई आकर आबाद हो जायेंगे, एक अच्छी बस्ती हो जायेगी, बनियों की नई-नई दुकानें खुल जायेंगी, आसपास के किसानों को अपनी शाक-भाजी लेकर शहर न जाना पड़ेगा, यहीं खरे दाम मिल जायेंगे। कुंजड़े, खटिक, ग्वाले, धोबी, दरज़ी सभी को लाभ होगा। इस प्रकार के आर्थिक लाभ की चर्चा अन्यत्र कई स्थलों पर आयी है। प्रेमचन्द इस लाभ को पहचानते हुए भी इसे सामाजिक सांस्कृतिक सम्बन्धों और मूल्यों के विरोध में खड़ा कर देते हैं तथा उजड़े हुए लोगों की यातना का मानवीय पक्ष भी सामने लाते हैं। पांडेपुर के लोग अपने-अपने घरों से निकाल दिये जाते हैं। वे अपने स्वतंत्र व्यवसाय छोड़ने के लिए अभिशप्त हो जाते हैं, व्यवसाय के साथ-साथ उनकी स्वतंत्र मानसिकता भी छिन जायेगी। जब लम्बा चौड़ा घर ही नहीं रहा तो बजरंगी गाय-भैंस कैसे पाल सकता है। उसे मजबूरन मज़दूर बनना पड़ेगा। तभी तो वह कहता है –'मैं तो सोचता हूं जानवरों को बेच डालूं और यहीं-पुतली घर में मजूरी करूं। जगधर भी यही सोचता है। इस प्रकार अपने-अपने स्वतंत्र पेशों को लेकर गांव के ये लोग जिस स्वतंत्रता का अनुभव कर रहे थे, उसे इस औद्योगीकरण ने छीन लिया।

किन्तु प्रेमचन्द की दृष्टि में सबसे अधिक दुखद और आपत्तिजनक प्रभाव पड़ा है सामाजिक-सांस्कृतिक सम्बन्धों और मूल्यों पर। उपन्यास के प्रारम्भ में गांव वालों के बीच छोटे-मोटे मतभेदों के बावजूद एक एकता लक्षित होती है। किन्तु उद्योगपति जानसेवक का चरण पड़ते ही उस गांव की एकता छिन्न-भिन्न होने लगती है। कभी आतंक से, कभी लालच से गांव वाले आपस में बंट जाते हैं कुछ सूरदास के साथ होकर इस बात का समर्थन करते हैं कि सूर की ज़मीन कारखाने के लिए नहीं दी जानी चाहिए, कुछ इसका विरोध करते हैं। यह द्वन्द्व उठता-गिरता हुआ अन्त तक चलता है और गांव के सामाजिक सम्बन्धों और सौमनस्य को तोड़ता रहता है किन्तु इससे भी भयानक परिणाम यह होता है कि पारिवारिक सम्बन्धों में दरार पैदा हो जाती है। इसकी वजह यह है कि औद्योगीकरण अपने साथ ऐसे लुभावने चारे लेकर आता है जो गांव में रहने वाली स्वतंत्रता और भोगोन्मुख नयी पीढ़ी को करप्ट करते हैं। गांव में एक नैतिक मर्यादा होती है, कारखाने में न जाने कहां-कहां के लोग आते हैं, उन्हें अपने गांव की नैतिक मर्यादा का भय नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता और खुल कर हँसी-मज़ाक, जुआ-शराब, नाच-गान चलता है—बिगड़ैल पेशेवर औरतों का भी वहां आना-जाना रहता है; इसलिए पासवर्ती गांव के किसान लड़कों का इस ओर झुकना स्वाभाविक हो जाता है और उनमें पारिवारिक नियंत्रण के प्रति एक रोष पैदा होने लगता है। गंवई मूल्य-मर्यादा के प्रति उच्छृंखलता उगने लगती है और अलग मनमौजी जीवन बिताने की कामना घर करने लगती है। मिठुआ, विद्याधर और घीसू कारखाने के वातावरण से प्रभावित होकर एक ओर सुभागी से इश्क लड़ाना चाहते हैं, दूसरी ओर अपने-अपने अभिभावकों की भी उपेक्षा करने लगते हैं। मिठुआ तो सूरदास से एकदम फिरंट हो गया है और उसके क्रिया-कर्म का भी दायित्व स्वीकारने से इनकार कर देता है। नैतिक मूल्यों को तोड़ने में मज़दूरों का बहुत बड़ा हाथ है। पास के गांव में इनकी आवाजाही होती है। ये अश्लील गाने गाते हैं, औरतों को छेड़ते हैं। सूरदास औद्योगीकरण के इस पक्ष की ओर संकेत करता हुआ राजा महेन्द्र से कहता है— 'जहां यहां रौनक बढ़ेगी वहां ताड़ी-शराब का भी प्रचार बढ़ जायेगा, कसबियां भी तो आकर बस जायेंगी, परदेसी आदमी हमारी बहू-बेटियां को घूरेंगे, कितना अधरम होगा। देहात के किसान अपना काम छोड़ कर मजूरी के लालच में यहां दौड़ेंगे, यहां बुरी-बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरण अपने गांव में फैलाएँगे। देहाती लड़कियां, बहुएं मजूरी करने जायेंगी और पैसे के लोभ में अपना धर्म बिगाड़ेंगी। सूरदास द्वारा दिया गया यह संकेत बाद में चल कर घटित होता हुआ दिखाई पड़ता है।

प्रेमचन्द की यह विशेषता है कि वे अपने समय के यथार्थ को उसकी पूरी संश्लिष्टता में पहचानते हैं, चित्रित करते हैं किन्तु उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया भी ज़ाहिर कर देते हैं। प्रेमचन्द यथार्थ की पूरी पहचान उभारते हुए भी अपने लेखकीय हस्तक्षेप में उसके समग्र प्रभाव को धुंधलाते हैं। औद्योगीकरण के स्वरूप और प्रभाव का जो चित्र 'रंगभूमि' में है वह अपनी जगह बहुत सही है किन्तु वह पूर्ण नहीं है। एक तो 'रंगभूमि' उपन्यास देश की अनेक समस्याओं को उभारता है और औद्योगीकरण की समस्या उनमें से एक है। वह उन समस्याओं से जुड़ने की प्रक्रिया में अपना जितना स्वरूप उभार सकती थी उभारा है। दूसरे प्रेमचन्द की नैतिक दृष्टि (जो उनके लेखक की रचना-दृष्टि से कुछ अलग हट कर है) हस्तक्षेप करती है और उसकी (औद्योगीकरण) उपलब्धियों की अपेक्षा सीमाओं पर अधिक फ़ोकस डालती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० गंगा प्रसाद विमल
हिन्दी विभाग
ज़ाकिर हुसैन कालेज
दिल्ली

प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया

प्रेमचन्द भारत के उन बड़े लेखकों में से एक हैं जिन के बारे में जानने की इच्छा न सिर्फ़ शोधार्थियों के बीच जीवित है अपितु एक सामान्य संवेदनशील पाठक भी अपनी शताब्दी के इस महान् लेखक के बारे में बहुत कुछ जानने की इच्छा रखता है। प्रेमचंद और उनकी रचनाओं के बारे में इस किस्म की दिलचस्पी भारत और भारत के बाहर भी बहुत पनपी है। इसके बहुत से कारण हैं। सबसे बड़ा कारण है कि प्रेमचन्द की रचनाओं में स्वाधीनता संग्राम के दौर की भारतीय मानसिकता के ऐतिहासिक सूत्र छिपे पड़े हैं।

साहित्यकलाओं के माध्यम से जातीय बोध की खोज करने वालों के लिए ऐसे साहित्य की बहुत अधिक ज़रूरत होती है। प्रेमचन्द ने विशाल मात्रा में साहित्य रचना की है—वह स्वाधीनता संग्राम के दौर के एक लेखक-सिपाही थे। उनके लेखन की दृष्टि, साहित्य का प्रयोजन पारदर्शी ढंग से स्पष्ट है। उन्होंने जिस भाषा का इस्तेमाल किया है, उसमें खास किस्म की सरलता है, किसी अतिरिक्त ढंग से भारत के सांस्कृतिक परिवेश को व्यक्त करने की कोशिश प्रेमचन्द में नहीं मिलेगी।

अपने जीवनकाल में प्रेमचन्द इतने लोकप्रिय कथाकार थे कि वह एक किस्म की किंवदन्ती बन गए थे। प्रेमचन्द की लोकप्रियता का कारण था उनकी कथाओं में उस जागरुकता के दर्शन जिसके साथ अपनी आत्मा का जुड़ाव एक गुलाम जाति को महसूस होता था। आज के अर्थों में सस्ती और रोचक लिखने की कला द्वारा प्राप्त लोकप्रियता वह नहीं थी। उस लोकप्रियता में दायित्वबोध था—और यही कारण था कि प्रेमचन्द एक ओर जहां कथा रचनाओं द्वारा भारतीय जनचेतना को उसका असली चेहरा दिखाने, उन्हें झकझोरने की कोशिश में लगे थे वहां दूसरी ओर अपने निबन्धों द्वारा उन्होंने सामयिक सवालों पर महत्वपूर्ण टिप्पणियां की हैं।

प्रेमचन्द ने कितना कुछ और क्या-क्या लिखा है—यह आज भी किसी जागरूक लेखक के लिए अनुकरणीय हो सकता है। 'महाजनी सभ्यता' हो या 'हिन्दु मुस्लिम एकता'—बम्बई में मज़दूरों की हड़ताल या बरेली में हरिजन सभा—प्रेमचन्द के निबन्ध और उनकी टिप्पणियां हैरत में डालती हैं कि वे कितनी गहराई से मनुष्य की पीड़ा समझते थे, कितनी तीव्रता से भारत की स्वतंत्रता के बारे में सोचते थे। ऐसे बड़े लेखक की रचनाओं में या वक्तव्यों में न कहीं कोई कटुता है, न कठमुल्लापन और न किसी किस्म का दंभ। वे कैसे लिखते थे, उनकी रचनाओं की प्रेरणा क्या थी—उनके समग्र सोच-विचार में 'सृजन' की क्या अनिवार्यताएं थीं—ये सवाल उनके संदर्भ में पहले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी उठे थे, उनका विश्लेषण भी हुआ है लेकिन वे सवाल आज भी प्रेमचन्द की रचनाओं, उनके जीवनी-परक विवरणों में अपने उत्तर तलाश करते हैं।

प्रेमचन्द की रचना-विधि, समग्र प्रभाव के रूप में एक सक्रिय कार्यकर्ता की 'जीवन-विधि' की तरह लगती है। उसमें कोई छिपाव नहीं होता। वह एक खुली किताब की मानिंद होता है। अतः वादाग्रही लेखकों की तरह का छद्म या रहस्य उनमें नहीं खोजा जा सकता। इसीलिए प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया को लेकर किसी प्रकार के रहस्यपूर्ण अनुमानों की ज़रूरत ही नहीं दीखती। प्रेमचन्द अत्यन्त सहज भाव से लिखते थे—ठीक जैसे वे 'हँस' की तैयारी में लगे होते थे। वे अपनी 'रचना' की पूरी तैयारी करते थे। उनकी प्रथम पाण्डुलिपियां जिन लोगों ने देखी हैं—वे जानते हैं कि लिखने से पूर्व सम्पूर्ण कथा का मानचित्र वह तैयार करते थे। घटना क्रमानुसार प्रारूप तैयार कर वह उसे लिखना आरम्भ करते थे और बीच-बीच में पर्याप्त संशोधन भी करते जाते थे। स्वाधीनता के दौर में जिस प्रकार स्वयंसेवी संस्थाओं, राजनीतिक दलों के सदस्य तैयारी करते थे प्रेमचन्द भी पूरी तैयारी के साथ उस दौर में लिखने के द्वारा अपना हिस्सा बँटाते थे। आप उनके पात्रों की बातचीत, उनके रवैये और उनकी स्थितियों में सर्वत्र एक लक्ष्यकामी जागरूकता पाएंगे क्योंकि प्रेमचन्द पात्रों को 'तैनात' स्थिति में रखते थे।

प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया को समझने के लिए उनके समय के भारतीय समाज को जानना और उस की पड़ताल बहुत ज़रूरी है क्योंकि प्रेमचन्द को रचनात्मक प्रेरणाएं इसी समाज से प्राप्त होती हैं। दिन-रात यही फ़िक्र उनके मन पर किसी काली घटा की तरह छायी रहती है......आदमी के हाथों आदमी का खून बहे यह कुछ कम भयानक बात नहीं है छोटी छोटी बातें तीव्र अनुगूंज की तरह प्रेमचन्द को मथतीं थीं यानी कर्त्तव्य है लेख लिखकर, किस्से लिखकर, नाटक लिखकर, उपन्यास लिखकर यानी जितनी तरह से अपनी बात लोगों तक पहुंचायी जा सकती हो, उन सब तरीकों से उसको पहुंचाना है। यह चुप बैठने का वक्त नहीं है। उनके समय का भारतीय समाज गुलामी और ग़रीबी की दुहरी मार से बेचैन था, उसमें स्वार्थान्ध उच्चवर्ग, साम्प्रदायिकता और शोषण जैसी बीमारियां इस तरह से अन्दर तक धँसी हुई थीं कि उनका विवरण कथाओं या निबन्धों में देना प्रेमचन्द के लिए एक अनिवार्य चीज़ थी।

देखा जाए तो प्रेमचन्द की रचनाओं की पहली और अन्तिम प्रेरणा 'भारतीय समाज' ही था—जिसके यथार्थ को प्रेमचन्द अपनी कथाओं का आधार बना रहे थे। पाखण्ड, धूर्तता या सहज ग्रामीण ईमानदारी मनुष्यता के छोटे-छोटे बिम्ब—ये किसी प्रकार के रहस्यानुभव से प्राप्त बिम्ब नहीं है, अपितु जीवन-संघर्ष से उपजे, जीवन की तात्कालिक विफलताओं से अर्जित सत्य हैं। यही सामाजिक अनुप्रेरणाएँ प्रेमचन्द की 'सर्जना' के दबाव भी हैं। शिवरानी प्रेमचन्द ने प्रेमचन्द की बीमारी के प्रसंग वाले संस्मरण में लिखा है—

रात को जब मैं सो जाती तो धीरे से उठकर कलम-दवात उठा लाते। जाड़ों के दिन थे, चारपाई पर रज़ाई ओढ़े लिखने लगते।......मैं देख पाती तो झल्ला उठती—क्या अभी बीमारी कुछ कम है जो और किसी बीमारी की चाह है?

—नहीं मैं लिख कहां रहा था, देखता था पीछे का लिखा हुआ.....

—इसी तरह गोरखपुर में बीमारी जड़ पकड़ गई लिखने के कारण, अब फिर वैसा ही करने पर तुले हुए हैं।

—कहां तुमने कलम ही तोड़कर फेंक दी थी।

प्रेमचन्द की रचना-विधि में एक विशेष गुण है जिसे सरलता कहा जाता है—वास्तव में यह गुण प्रेमचन्द की रचनात्मकता का गुण है और इस के सूत्र ग्रामीण इकाइयों में, आडम्बरों से दूर गरीब आदमी के चरित्र में पाये जा सकते हैं। यदि हम कहें कि प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया की यह मूल भित्ति है,—तो मानना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ेगा कि प्रेमचन्द रचना के अनुभावन और उसके व्यक्त करने के दौर में सीधे उस सामाजिक स्थिति से, उसकी तमाम बारीकियों से अपना सम्बन्ध कायम कर लेते हैं। उपन्यासों, कहानियों, गद्य-टिप्पणियों में प्रेमचन्द ने भारतीय समाज के विविध चित्र प्रस्तुत किए हैं–भारतीय समाज की विषमताओं, उसके आडम्बरों, उनकी कमियों का भरपूर चित्रण प्रेमचन्द ने किया है। वे सामाजिक अन्तर्विरोधों को अभिव्यक्त करते हुए सांकेतिक रूप से उन वर्गों, शक्तियों की तरफ़ भी कहीं न कहीं यह लक्षित करते हैं कि हमारे समाज के वर्तमान, वर्तमान के इस विरूप चेहरे की निर्मिति कौन-कौन सी चीजें करती हैं।

अपना रचनात्मकता में यह अतिरिक्त सजगता-प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया की पड़ताल के लिए एक ऐसा बिन्दु है जिसे कमोबेश 'वैज्ञानिक आधार' कहा जा सकता है।

प्रेमचन्द ने जो कुछ लिखा—वह हैरत में डालने वाला है–उसे इतनी स्पष्टता, निर्भीकता और सजगता से कहा है यह खुद कम आश्चर्य की चीज़ नहीं है। 'कायाकल्प' हो या 'गोदान' या 'रंगभूमि' भारतीय समाज के विशुद्ध, मार्मिक और विश्वसनीयता से भरे दृश्य प्रस्तुत करने का कार्य एक 'मिशनरी' जैसा काम था।

उनके लिखने का क्रम जैसे वह सतत प्रक्रिया हो–अमृतराय ने लिखा है 'उधर ..पीठ फिरती और इधर चश्मा मुंशी जी की नाक पर और होल्डर हाथ में पहुंच जाता और अधूरा वाक्य जिस जगह पर घंटे-डेढ़ घंटे पहले छूट गया था वहीं से फिर उठा लिया जाता और क़लम खरखर, खरखर चलने लगता जैसे कोई व्याघात न पड़ा हो।'

लेखक प्रेमचन्द 'ग़रीबी' के बीच के आदमी थे। ये ग़रीब परिवार से आये थे। ग़रीबी से उनका नजदीकी परिचय था। वे इसीलिए जब ग्रामीण किसानों का या मजदूरों का चित्रांकन करते हैं तो वे उन परिस्थितियों के संकेत छोड़ते जाते हैं जो इसके लिए उत्तरदायी हैं। जब पढ़-लिखकर प्रेमचन्द सरकारी नौकरी में आए तब उन्होंने अपनी रचनाओं में 'नौकरशाही' के बारे में सच्ची बातें व्यक्त कीं। अर्थात् उन दोनों समाजों का घनिष्ठ परिचय प्राप्त करने के बाद उन्होंने उन पर कलम चलाई थी। 'उत्तरदायित्व' से भरा हुआ उनका निजी जीवन, उनके 'रचना-व्यक्तित्व' के सामने बड़ा नहीं है। उन्होंने जिस भी वर्ग के बारे में लिखा अपने 'व्यक्तित्व' की 'गरिमा' के अनुकूल लिखा। आरम्भिक कहानियों में यह सच्चाई उभरती है। उन्होंने 'स्कूल जीवन' की कथाओं में अपने अनुभव दिए हैं—इस की पुष्टि मन्मथनाथ गुप्त और अमृतराय आदि के ग्रन्थ करते हैं, जिनमें प्रेमचन्द के निजी जीवन के 'शेडस' मिलते हैं। अपनी ग़रीबी को निर्वैयक्तिक स्तरों पर लाकर प्रेमचन्द ने 'भारत की ग़रीबी' का वर्णन किया है। जैसा हम पहले मान चुके हैं प्रेमचन्द के जीवन (निजी जीवन) प्रसंगों का महत्व उनके रचना-व्यक्तित्व के सामने अर्थहीन पड़ जाता है। यह 'निर्वैयक्तिकता' उनके रचना-व्यक्तित्व का एक दूसरा पक्ष है। वे ग़रीब थे, उसका उन्हें परिचय था। और उस निजी अनुभव का उन्होंने बड़ा धरातल प्रस्तुत किया था। यह लेखक की अनेक 'अच्छाइयों' का प्रतिफलन कहा जा सकता है किन्तु शुद्ध सामाजिक अर्थों में यह उनके निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व की दायित्ववादी स्थिति को स्पष्ट करता है। प्रेमचन्द के रचना-व्यक्तित्व में प्रेमचन्द की निजी ग़रीबी और उत्तरदायित्वपूर्णता उतनी ज्यादा नहीं उभरती जितनी कि 'हिंदुस्तान के ग़रीबों' की गरीबी का चित्र उभरता है। इस दृष्टि से अपने समय के यथार्थ को चित्रित करने की 'विलक्षणता' प्रेमचन्द में विद्यमान थी। भारतीय गरीबों के प्रति सहानुभूति प्रेमचन्द के करुणामय हृदय की सहानुभूति नहीं है, अपितु वह संघर्ष की समरूपता या समानता के वर्गों की पारस्परिक सद्भावना है जो प्रेमचन्द में मिलती है। इसका स्पष्ट अर्थ यह भी है कि प्रेमचन्द का रचना-व्यक्ति मानवीय गुणों से पूर्ण था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचंद की कृतियां उनके व्यक्तित्व का स्वयं साक्ष्य जरूर हैं किन्तु वे प्रेमचंद का हुबहू चित्र या दर्पणवत् बिम्ब नहीं है। प्रेमचंद के रचना-व्यक्तित्व के मोटे-मोटे 'कण्टूर' उसमें मिलते हैं। वह प्रेमचंद का ही व्यक्तित्व नहीं, किसी भी ईमानदार, समझौतावादी प्रवृत्ति-विरोधी लेखक का हो सकता है। इसलिए यह कहना कि प्रेमचंद की रचनाओं में प्रेमचंद या उसके परिचित केन्द्रीय कथा-व्यक्तित्वों की ही जीवनी झलकती है, सत्य नहीं है। प्रेमचंद की रचानाएं किसी भी आदमी की जीवनी हो सकती हैं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक सन्दर्भों की समानता में वह हर किसी आदमी की जीवनी हो सकती हैं। एक तो उन रचनाओं में आत्म-मन्थन है, उनमें मनुष्य और मनुष्यता के अन्वेषण की प्रक्रियाएँ मिलती हैं। प्रेमचंद के 'रचना-व्यक्तित्व,में अन्वेषण का यह पक्ष मानवीय आधारों पर स्पष्टता पाता है। इतना तो साफ़ ही है कि प्रेमचंद का 'रचना-व्यक्ति' एक उदार लेखक का व्यक्तित्व है, उसकी कला अपनी सहजता में आकर्षक है तथा वह 'व्यक्तित्व' रचनाओं के नये अर्थों को समझने का एक सोपान बन जाती है।

संघर्षमय जीवन का जो रूप प्रेमचंद में मिलता है, वह रूप उनके समकालीन लेखकों में नहीं मिलता। यह भी एक कारण है कि वे अपने समकालीनों से बिलकुल अलग, 'स्वतंत्र रचना-व्यक्तित्व' के रूप में उभरे व्यक्तित्व हैं। व्यक्तित्व का बनावटी रूप उनमें नहीं है। देखा जाए तो प्रेमचंद के 'कृति-व्यक्तित्व' की भी अपनी ही दिशा है। वह एक परम्परा के रूप में विकसित होकर 'यशपाल' और रेणु की कथाकृतियों में परिलिक्षित होती है। यशपाल के 'झूठा सच' के नायक की तरह के संघर्ष, पराजय, आदि के तत्व प्रेमचंद के उपन्यासों में मिल जाते हैं। 'कथानायकों, और 'खलनायकों' की परम्परा को पुष्ट करने में प्रेमचंद के कृति-व्यक्तित्व की कई ऐसी समानताएँ हैं, जो विकसित रूपों में विद्यमान हैं। प्रेमचंद की विकसित परम्परा, कथारूपों की परम्पराओं के रूप में, केवल 'रूढ़ि' के रूप में आगे नहीं आई है, वह 'सृजन परम्परा' के रूप में विकसित हुई है। प्रेमचंद के बाद के युवा लेखकों ने, जिन्होंने प्रगतिवादी लेखकों के समान अपनी दृष्टि का विकास किया है, कथा-परम्परा को विकास देने के साथ-साथ मानवीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उस अन्तहीन संघर्ष को कलात्मक आधार दिया है।

प्रेमचंद की कहानियों और उपन्यासों में बहुधा ऐसे स्थल भी मिलते हैं, जहां प्रेमचंद 'मूल्य-संसार' का विरोध करते हैं। 'गबन' में रमानाथ का प्रसंग खोखले विरोध' का स्वर बनता है। उसकी अवसरवादी प्रवृति के खोखलेपन के लिए जिस स्पष्टता की अनिवार्यता होनी चाहिए, वह वहां मिलती है। ऐसे ही अन्य अवसरों पर अपने उद्देश्यवादी दृष्टिकोण की सिद्धि के अतिरिक्त जो दृष्टि उभरती है वह यथार्थवादी तो है ही, अपने अव्यक्त रूप में वह समय की चुनौतियों का स्वीकार भी है। समय की चुनौती यही है कि एक ऐसा वर्ग भी जिसे संघर्ष के लिए तत्पर रहना चाहिए, अक़सर अवसरवादी साबित हो जाता है। तब चुनौतियों के सामने खड़े होकर विवेकहीन मनुष्य को अपने ही 'वर्गों' से भी लड़ना पड़ता है। हम देखेंगे कि प्रेमचंद व्यक्ति रूप में अपने ही 'वर्ग' के प्रबुद्ध समाज से भी लड़े हैं तथा कृतियों में उनके 'व्यक्तित्व' की यह विवेकशील लड़ाई, अलग ढंग से प्रेमचंद की तस्वीर को सामने रखती है।

अपने समय के 'जन-समाज' को प्रत्येक लेखक तरह-तरह से रचनाओं का आधार बनाता है। 'जन-समाज' का चित्र स्थिरीकृत 'बिन्दु' की तरह समान होता है। परन्तु रचनाओं में वह 'जन-समाज' जब आता है तो प्रत्येक लेखक की रचनाओं में वह भिन्न रूपों में आता है। दरअसल समर्थ लेखक की पहचान इसी से होती है कि उसकी रचनाओं में 'जन-समाज' कैसे चित्रित हुआ है। प्रेमचंद समर्थ लेखक थे कि नहीं— यह तो सिद्ध हो ही सकता है किन्तु प्रेमचन्द का रचना-व्यक्तित्व वह समर्थता प्रक्षेपित करता भी है कि नहीं, इसका भी अनुमान इस आधार पर किया जा सकता है। जैसा हम जानते हैं, प्रेमचंद महान् लेखक नहीं थे, चाहे उनके रचना-संसार का 'प्रभा-मण्डल'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० गंगा प्रसाद विमल
हिन्दी विभाग
ज़ाकिर हुसैन कालेज
दिल्ली

प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया

प्रेमचन्द भारत के उन बड़े लेखकों में से एक हैं जिन के बारे में जानने की इच्छा न सिर्फ़ शोधार्थियों के बीच जीवित है अपितु एक सामान्य संवेदनशील पाठक भी अपनी शताब्दी के इस महान् लेखक के बारे में बहुत कुछ जानने की इच्छा रखता है। प्रेमचंद और उनकी रचनाओं के बारे में इस किस्म की दिलचस्पी भारत और भारत के बाहर भी बहुत पनपी है। इसके बहुत से कारण हैं। सबसे बड़ा कारण है कि प्रेमचन्द की रचनाओं में स्वाधीनता संग्राम के दौर की भारतीय मानसिकता के ऐतिहासिक सूत्र छिपे पड़े हैं।

साहित्यकलाओं के माध्यम से जातीय बोध की खोज करने वालों के लिए ऐसे साहित्य की बहुत अधिक ज़रूरत होती है। प्रेमचन्द ने विशाल मात्रा में साहित्य रचना की है—वह स्वाधीनता संग्राम के दौर के एक लेखक-सिपाही थे। उनके लेखन की दृष्टि, साहित्य का प्रयोजन पारदर्शी ढंग से स्पष्ट है। उन्होंने जिस भाषा का इस्तेमाल किया है, उसमें खास किस्म की सरलता है, किसी अतिरिक्त ढंग से भारत के सांस्कृतिक परिवेश को व्यक्त करने की कोशिश प्रेमचन्द में नहीं मिलेगी।

अपने जीवनकाल में प्रेमचन्द इतने लोकप्रिय कथाकार थे कि वह एक किस्म की किंवदन्ती बन गए थे। प्रेमचन्द की लोकप्रियता का कारण था उनकी कथाओं में उस जागरूकता के दर्शन जिसके साथ अपनी आत्मा का जुड़ाव एक गुलाम जाति को महसूस होता था। आज के अर्थों में सस्ती और रोचक लिखने की कला द्वारा प्राप्त लोकप्रियता वह नहीं थी। उस लोकप्रियता में दायित्वबोध था—और यही कारण था कि प्रेमचन्द एक ओर जहां कथा रचनाओं द्वारा भारतीय जनचेतना को उसका असली चेहरा दिखाने, उन्हें झकझोरने की कोशिश में लगे थे वहां दूसरी ओर अपने निबन्धों द्वारा उन्होंने सामयिक सवालों पर महत्वपूर्ण टिप्पणियां की हैं।

प्रेमचन्द ने कितना कुछ और क्या-क्या लिखा है—यह आज भी किसी जागरूक लेखक के लिए अनुकरणीय हो सकता है। 'महाजनी सभ्यता' हो या 'हिन्दु मुस्लिम एकता'—बम्बई में मजदूरों की हड़ताल या बरेली में हरिजन सभा—प्रेमचन्द के निबन्ध और उनकी टिप्पणियां हैरत में डालती हैं कि वे कितनी गहराई से मनुष्य की पीड़ा समझते थे, कितनी तीव्रता से भारत की स्वतंत्रता के बारे में सोचते थे। ऐसे बड़े लेखक की रचनाओं में या वक्तव्यों में न कहीं कोई कटुता है, न कठमुल्लापन और न किसी किस्म का दंभ। वे कैसे लिखते थे, उनकी रचनाओं की प्रेरणा क्या थी—उनके समग्र सोच-विचार में 'सृजन' की क्या अनिवार्यता थी, ये सवाल उनके संदर्भ में पहले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी उठे थे, उनका विश्लेषण भी हुआ है लेकिन वे सवाल आज भी प्रेमचन्द की रचनाओं, उनके जीवनी-परक विवरणों में अपने उत्तर तलाश करते हैं।

प्रेमचन्द की रचना-विधि, समग्र प्रभाव के रूप में एक सक्रिय कार्यकर्ता की 'जीवन-विधि' की तरह लगती है। उसमें कोई छिपाव नहीं होता। वह एक खुली किताब की मानिंद होता है। अतः वादाग्रही लेखकों की तरह का छद्म या रहस्य उनमें नहीं खोजा जा सकता। इसीलिए प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया को लेकर किसी प्रकार के रहस्यपूर्ण अनुमानों की ज़रूरत ही नहीं दीखती। प्रेमचन्द अत्यन्त सहज भाव से लिखते थे—ठीक जैसे वे 'हँस' की तैयारी में लगे होते थे। वे अपनी 'रचना' की पूरी तैयारी करते थे। उनकी प्रथम पाण्डुलिपियां जिन लोगों ने देखी हैं—वे जानते हैं कि लिखने से पूर्व सम्पूर्ण कथा का मानचित्र वह तैयार करते थे। घटना क्रमानुसार प्रारूप तैयार कर वह उसे लिखना आरम्भ करते थे और बीच-बीच में पर्याप्त संशोधन भी करते जाते थे। स्वाधीनता के दौर में जिस प्रकार स्वयंसेवी संस्थाओं, राजनीतिक दलों के सदस्य तैयारी करते थे प्रेमचन्द भी पूरी तैयारी के साथ उस दौर में लिखने के द्वारा अपना हिस्सा बँटाते थे। आप उनके पात्रों की बातचीत, उनके रवैये और उनकी स्थितियों में सर्वत्र एक लक्ष्यकामी जागरूकता पाएंगे क्योंकि प्रेमचन्द पात्रों को 'तैनात' स्थिति में रखते थे।

प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया को समझने के लिए उनके समय के भारतीय समाज को जानना और उस की पड़ताल बहुत जरूरी है क्योंकि प्रेमचन्द को रचनात्मक प्रेरणाएं इसी समाज से प्राप्त होती हैं। दिन-रात यही फ़िक्र उनके मन पर किसी काली घटा की तरह छायी रहती है......आदमी के हाथों आदमी का खून बहे यह कुछ कम भयानक बात नही है छोटी छोटी बातें तीव्र अनुगूंज की तरह प्रेमचन्द को मथतीं थीं यानी कर्त्तव्य है लेख लिखकर, किस्से लिखकर, नाटक लिखकर, उपन्यास लिखकर यानी जितनी तरह से अपनी बात लोगों तक पहुंचायी जा सकती हो, उन सब तरीकों से उसको पहुंचाना है। यह चुप बैठने का वक्त नहीं है। उनके समय का भारतीय समाज ग़ुलामी और ग़रीबी की दुहरी मार से बेचैन था, उसमें स्वार्थान्ध उच्चवर्ग, साम्प्रदायिकता और शोषण जैसी बीमारियां इस तरह से अन्दर तक धँसी हुई थीं कि उनका विवरण कथाओं या निबन्धों में देना प्रेमचन्द के लिए एक अनिवार्य चीज़ थी।

देखा जाए तो प्रेमचन्द की रचनाओं की पहली और अन्तिम प्रेरणा 'भारतीय समाज' ही था—जिसके यथार्थ को प्रेमचन्द अपनी कथाओं का आधार बना रहे थे। पाखण्ड, धूर्तता या सहज ग्रामीण ईमानदारी मनुष्यता के छोटे-छोटे बिम्ब—ये किसी प्रकार के रहस्यानुभव से प्राप्त बिम्ब नहीं है, अपितु जीवन-संघर्ष से उपजे, जीवन की तात्कालिक विफलताओं से अर्जित सत्य हैं। यही सामाजिक अनुप्रेरणाएँ प्रेमचन्द की 'सर्जना' के दबाव भी हैं। शिवरानी प्रेमचन्द ने प्रेमचन्द की बीमारी के प्रसंग वाले संस्मरण में लिखा है—

रात को जब मैं सो जाती तो धीरे से उठकर कलम-दवात उठा लाते। जाड़ों के दिन थे, चारपाई पर रज़ाई ओढ़े लिखने लगते।......मैं देख पाती तो झल्ला उठती—क्या अभी बीमारी कुछ कम है जो और किसी बीमारी की चाह है?

—नहीं मैं लिख कहां रहा था, देखता था पीछे का लिखा हुआ.....

—इसी तरह गोरखपुर में बीमारी जड़ पकड़ गई लिखने के कारण, अब फिर वैसा ही करने पर तुले हुए हैं।

—कहां तुमने कलम ही तोड़कर फेंक दी थी।

प्रेमचन्द की रचना-विधि में एक विशेष गुण है जिसे सरलता कहा जाता है—वास्तव में यह गुण प्रेमचन्द की रचनात्मकता का गुण है और इस के सूत्र ग्रामीण इकाइयों में, आडम्बरों से दूर गरीब आदमी के चरित्र में पाये जा सकते हैं। यदि हम कहें कि प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया की यह मूल भित्ति है—तो मानना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ेगा कि प्रेमचन्द रचना के अनुभावन और उसके व्यक्त करने के दौर में सीधे उस सामाजिक स्थिति से, उसकी तमाम 'बारीकियों से अपना सम्बन्ध कायम कर लेते हैं। उपन्यासों, कहानियों, गद्य-टिप्पणियों में प्रेमचन्द ने भारतीय समाज के विविध चित्र प्रस्तुत किए हैं – भारतीय समाज की विषमताओं, उसके आडम्बरों, उनकी कमियों का भरपूर चित्रण प्रेमचन्द ने किया है। वे सामाजिक अन्तर्विरोधों को अभिव्यक्त करते हुए सांकेतिक रूप से उन वर्गों, शक्तियों की तरफ़ भी कहीं न कहीं यह लक्षित करते हैं कि हमारे समाज के वर्तमान, वर्तमान के इस विरूप चेहरे की निर्मिति कौन-कौन सी चीजें करती हैं।

अपना रचनात्मकता में यह अतिरिक्त सजगता-प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया की पड़ताल के लिए एक ऐसा बिन्दु है जिसे कमोबेश 'वैज्ञानिक आधार' कहा जा सकता है।

प्रेमचन्द ने जो कुछ लिखा—वह हैरत में डालने वाला है – उसे इतनी स्पष्टता, निर्भीकता और सजगता से कहा है यह खुद कम आश्चर्य की चीज़ नहीं है। 'कायाकल्प' हो या 'गोदान' या 'रंगभूमि' भारतीय समाज के विशुद्ध, मार्मिक और विश्वसनीयता से भरे दृश्य प्रस्तुत करने का कार्य एक 'मिशनरी' जैसा काम था।

उनके लिखने का क्रम जैसे वह सतत प्रक्रिया हो –अमृतराय ने लिखा है 'उधर ..पीठ फिरती और इधर चश्मा मुंशी जी की नाक पर और होल्डर हाथ में पहुंच जाता और अधूरा वाक्य जिस जगह पर घंटे-डेढ़ घंटे पहले छूट गया था वहीं से फिर उठा लिया जाता और क़लम खरखर, खरखर चलने लगता जैसे कोई व्याघात न पड़ा हो।'

लेखक प्रेमचन्द 'ग़रीबी' के बीच के आदमी थे। ये ग़रीब परिवार से आये थे। ग़रीबी से उनका नज़दीकी परिचय था। वे इसीलिए जब ग्रामीण किसानों का या मज़दूरों का चित्रांकन करते हैं तो वे उन परिस्थितियों के संकेत छोड़ते जाते हैं जो इसके लिए उत्तरदायी हैं। जब पढ़-लिखकर प्रेमचन्द सरकारी नौकरी में आए तब उन्होंने अपनी रचनाओं में 'नौकरशाही' के बारे में सच्ची बातें व्यक्त कीं। अर्थात् उन दोनों समाजों का घनिष्ठ परिचय प्राप्त करने के बाद उन्होंने उन पर कलम चलाई थी। 'उत्तरदायित्व' से भरा हुआ उनका निजी जीवन, उनके 'रचना-व्यक्तित्व' के सामने बड़ा नहीं है। उन्होंने जिस भी वर्ग के बारे में लिखा अपने 'व्यक्तित्व' की 'गरिमा' के अनुकूल लिखा। आरम्भिक कहानियों में यह सच्चाई उभरती है। उन्होंने 'स्कूल जीवन' की कथाओं में अपने अनुभव दिए हैं—इस की पुष्टि मन्मथनाथ गुप्त और अमृतराय आदि के ग्रन्थ करते हैं, जिनमें प्रेमचन्द के निजी जीवन के 'शेडस' मिलते हैं। अपनी ग़रीबी को निर्वैयक्तिक स्तरों पर लाकर प्रेमचन्द ने 'भारत की ग़रीबी' का वर्णन किया है। जैसा हम पहले मान चुके हैं प्रेमचन्द के जीवन (निजी जीवन) प्रसंगों का महत्व उनके रचना-व्यक्तित्व के सामने अर्थहीन पड़ जाता है। यह 'निर्वैयक्तिकता' उनके रचना-व्यक्तित्व का एक दूसरा पक्ष है। वे ग़रीब थे, उसका उन्हें परिचय था। अपने उस निजी अनुभव का उन्होंने बड़ा धरातल प्रस्तुत किया था। यह लेखक की अनेक 'अच्छाइयों' का प्रतिफलन कहा जा सकता है किन्तु शुद्ध सामाजिक अर्थों में यह उनके निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व की दायित्ववादी स्थिति को स्पष्ट करता है। प्रेमचन्द के रचना-व्यक्तित्व में प्रेमचन्द की निजी ग़रीबी और उत्तरदायित्वपूर्णता उतनी ज्यादा नहीं उभरती जितनी कि 'हिंदुस्तान के ग़रीबों' की गरीबी का चित्र उभरता है। इस दृष्टि से अपने समय के यथार्थ को चित्रित करने की 'विलक्षणता' प्रेमचन्द में विद्यमान थी। भारतीय गरीबों के प्रति सहानुभूति प्रेमचन्द के करुणामय हृदय की सहानुभूति नहीं है, अपितु वह संघर्ष की समरूपता या समानता के वर्गों की पारस्परिक सद्भावना है जो प्रेमचन्द में मिलती है। इसका स्पष्ट अर्थ यह भी है कि प्रेमचन्द का रचना-व्यक्ति मानवीय गुणों से पूर्ण था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचंद की कृतियां उनके व्यक्तित्व का स्वयं साक्ष्य जरूर हैं किन्तु वे प्रेमचंद का हुबहू चित्र या दर्पणवत् बिम्ब नहीं है। प्रेमचंद के रचना-व्यक्तित्व के मोटे-मोटे 'कण्टूर' उसमें मिलते हैं। वह प्रेमचंद का ही व्यक्तित्व नहीं, किसी भी ईमानदार, समझौतावादी प्रवृत्ति-विरोधी लेखक का हो सकता है। इसलिए यह कहना कि प्रेमचंद की रचनाओं में प्रेमचंद या उसके परिचित केन्द्रीय कथा-व्यक्तित्वों की ही जीवनी झलकती है, सत्य नहीं है। प्रेमचंद की रचानाएं किसी भी आदमी की जीवनी हो सकती हैं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक सन्दर्भों की समानता में वह हर किसी आदमी की जीवनी हो सकती हैं। एक तो उन रचनाओं में आत्म-मन्थन है, उनमें मनुष्य और मनुष्यता के अन्वेषण की प्रक्रियाएँ मिलती हैं। प्रेमचंद के 'रचना-व्यक्तित्व,में अन्वेषण का यह पक्ष मानवीय आधारों पर स्पष्टता पाता है। इतना तो साफ़ ही है कि प्रेमचंद का 'रचना-व्यक्ति' एक उदार लेखक का व्यक्तित्व है, उसकी कला अपनी सहजता में आकर्षक है तथा वह 'व्यक्तित्व' रचनाओं के नये अर्थों को समझने का एक सोपान बन जाती है।

संघर्षमय जीवन का जो रूप प्रेमचंद में मिलता है, वह रूप उनके समकालीन लेखकों में नहीं मिलता। यह भी एक कारण है कि वे अपने समकालीनों से बिलकुल अलग, 'स्वतंत्र रचना-व्यक्तित्व' के रूप में उभरे व्यक्तित्व हैं। व्यक्तित्व का बनावटी रूप उनमें नहीं है। देखा जाए तो प्रेमचंद के 'कृति-व्यक्तित्व' की भी अपनी ही दिशा है। वह एक परम्परा के रूप में विकसित होकर 'यशपाल' और रेणु की कथाकृतियों में परिलिक्षित होती है। यशपाल के 'झूठा सच' के नायक की तरह के संघर्ष, पराजय, आदि के तत्व प्रेमचंद के उपन्यासों में मिल जाते हैं। 'कथानायकों, और 'खलनायकों' की परम्परा को पुष्ट करने में प्रेमचंद के कृति-व्यक्तित्व की कई ऐसी समानताएँ हैं, जो विकसित रूपों में विद्यमान हैं। प्रेमचंद की विकसित परम्परा, कथारूपों की परम्पराओं के रूप में, केवल 'रूढ़ि' के रूप में आगे नहीं आई है, वह 'सृजन परम्परा' के रूप में विकसित हुई है। प्रेमचंद के बाद के युवा लेखकों ने, जिन्होंने प्रगतिवादी लेखकों के समान अपनी दृष्टि का विकास किया है, कथा-परम्परा को विकास देने के साथ-साथ मानवीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उस अन्तहीन संघर्ष को कलात्मक आधार दिया है।

प्रेमचंद की कहानियों और उपन्यासों में बहुधा ऐसे स्थल भी मिलते हैं, जहां प्रेमचंद 'मूल्य-संसार' का विरोध करते हैं। 'ग़बन' में रमानाथ का प्रसंग खोखले विरोध' का स्वर बनता है। उसकी अवसरवादी प्रवृत्ति के खोखलेपन के लिए जिस स्पष्टता की अनिवार्यता होनी चाहिए, वह वहां मिलती है। ऐसे ही अन्य अवसरों पर अपने उद्देश्यवादी दृष्टिकोण की सिद्धि के अतिरिक्त जो दृष्टि उभरती है वह यथार्थवादी तो है ही, अपने अव्यक्त रूप में वह समय की चुनौतियों का स्वीकार भी है। समय की चुनौती यही है कि एक ऐसा वर्ग भी जिसे संघर्ष के लिए तत्पर रहना चाहिए, अक़सर अवसरवादी साबित हो जाता है। तब चुनौतियों के सामने खड़े होकर विवेकहीन मनुष्य को अपने ही 'वर्गों' से भी लड़ना पड़ता है। हम देखेंगे कि प्रेमचंद व्यक्ति रूप में अपने ही 'वर्ग' के प्रबुद्ध समाज से भी लड़े हैं तथा कृतियों में उनके 'व्यक्तित्व' की यह विवेकशील लड़ाई, अलग ढंग से प्रेमचंद की तस्वीर को सामने रखती है।

अपने समय के 'जन-समाज' को प्रत्येक लेखक तरह-तरह से रचनाओं का आधार बनाता है। 'जन-समाज' का चित्र स्थिरीकृत 'विन्दु' की तरह समान होता है। परन्तु रचनाओं में वह 'जन-समाज' जब आता है तो प्रत्येक लेखक की रचनाओं में वह भिन्न रूपों में आता है। दरअसल समर्थ लेखक की पहचान इसी से होती है कि उसकी रचनाओं में 'जन-समाज' कैसे चित्रित हुआ है। प्रेमचंद समर्थ लेखक थे कि नहीं— यह तो सिद्ध हो ही सकता है किन्तु प्रेमचंद का रचना-व्यक्तित्व वह समर्थता प्रक्षेपित करता भी है कि नहीं, इसका भी अनुमान इस आधार पर किया जा सकता है। जैसा हम जानते हैं, प्रेमचंद महान् लेखक नहीं थे, चाहे उनके रचना-संसार का 'प्रभा-मण्डल'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'क्लासिकल बोध' (शास्त्रीय बोध) से कहीं-न-कहीं जुड़ा हुआ था। इसके बावजूद भी वे महान् लेखक नहीं थे। रचनाओं के फैले हुऐ 'स्पेन' पर देखा जाए तो महानता व्यंजित करने वाला व्यक्तित्व उनका नहीं। उनकी 'समर्थता' के बारे में भी सन्देह होता है, क्योंकि 'रचना-व्यक्तित्व' की समर्थता केवल 'यथार्थांकन' की समर्थता नहीं है, बल्कि अपने समय के दृश्य-संसार, दृश्य जन-समाज को समय के प्रतीक में ढालकर सौन्दर्य का मानक स्थापित करना समर्थता का लक्षण है। प्रेमचन्द की कहानियाँ लें या उपन्यास या उनके गद्य-निबन्ध, बहुत कम स्थलों पर प्रेमचन्द में, 'रचनात्मकता के स्तर' पर सौन्दर्य के मानक स्थापित करने जैसी कोई कोशिश उभरी है। परन्तु वे अन्य स्तरों पर, अन्य कोणों से समर्थ लेखक हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है। उनके रचना-व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए हम उन आधारों की ओर संकेत भी कर चुके हैं। पहले 'यथार्थांकन' को उनकी कलादृष्टि मानते हुए उनके रचना-व्यक्तित्व की समर्थता की भी चर्चा की जा चुकी है, किन्तु वह 'कला-दृष्टि' सौन्दर्य-दृष्टि का कोई मानक है, इस पर निर्णय नहीं लिया जा सकता।

अपनी वैचारिक प्रतिबद्ध, जीवन-दृष्टि द्वारा प्रेमचन्द ने एक निर्मम आलोचना-दृष्टि अवश्य रचनाओं में प्रक्षेपित की थी, किन्तु वह 'इतिहास-बोध' के कौन से अनुक्रम में ली जाए, यह भी अनिर्णीत है। उनके रचना-व्यक्तित्व का यह हिस्सा—कि उनकी जीवन-दृष्टि, जो उन्हें यथार्थवादी रचनाकार के रूप में प्रस्तुत करती है, किस वैचारिक क्षितिज की दृष्टि है—अनेक तरह के विरोधाभासों से भरा हुआ है। अगर वह शुद्धतः मार्क्सवादी चेतना है तो उसमें कहीं भी किसी स्तर पर प्रतिगामी-परम्पराबद्ध मूल्य-संसार से समझौता नहीं होना चाहिए, अगर वह गाँधीवादी चेतना है तो उसके मूल में यथार्थ की जगह 'आत्म-शुद्धि' का प्रचारक भाव वर्तमान रहना चाहिए। यह विरोधाभास भी उनके रचना-व्यक्तित्व की एकरूपता पर प्रश्नचिह्न लगाता है। सुविधा के लिए यह माना जा सकता है कि उदारतावादी मानववाद ही उनकी मूल चेतना रही। परन्तु यह मान लेने पर भी 'विरोधाभास' का आरोप मन्द नहीं पड़ जाता। इसी कारण प्रेमचन्द की रचनाओं में 'जीवन की असंगतियाँ' यथार्थ का पक्ष बनकर भी कला की असंगतियाँ बन गई हैं। प्रेमचन्द के कृति-व्यक्तित्व को दोष-युक्त मानने जैसा सामान्यीकृत निर्णय भी नहीं लिया जा सकता, क्योंकि अभी इस सारे प्रकरण में परीक्षण की अनेक संभावनाएं हैं। सातवें दशक में भी प्रेमचन्द केवल अतीत बनकर 'अर्थहीन' नहीं हो जाते, शायद यही कारण है कि प्रेमचन्द के 'रचना-व्यक्तित्व' की संभावनाएं अभी भी विचार की चुनौतियाँ बनी हुई हैं। अतः समर्थ रचना-व्यक्तित्व का सन्देह लिए हुए भी प्रेमचन्द का रचना-व्यक्तित्व अपनी संभावनाओं की बजा चुनौती बना हुआ है—यह उस रचना-व्यक्तित्व के जड़ न होने का उदाहरण है। परवर्ती लेखकों में परम्परा के रूप में प्रवाहित होने का 'तथ्य' भी प्रेमचन्द के रचना-व्यक्तित्व की संभावनाओं को पुष्ट करता है। मनुष्य के जिस रूप को प्रेमचन्द ने अपनी खुली कलम से चित्रित किया था, उसे कच्चा माल आज हम बेशक मान लें लेकिन धीरे-धीरे जिस रूप में परवर्ती रचनाओं में अपनी समग्र कलात्मक गहराइयों के साथ रचनाओं में मनुष्य का चित्र स्थापित हुआ है उसका मूल प्रेमचन्द की रचनाएं ही हैं।

अपने समय के राजनैतिक क्षितिज में से मध्य-वर्ग का चुनाव प्रेमचन्द ने किसी औपन्यासिक कर्म की पूर्ति जैसे भाव के लिए नहीं किया था. अपितु वह अपने लिए एक ऐसी अनिवार्यता का बिन्दु था, जहां से वे अतीत से छुटकारा पाने के साथ-साथ वर्तमान के साथ जुड़े रहने का भाव भी पाते थे। मध्यवर्ग वह मंच था, जिसमें खुद प्रेमचंद जैसे निम्न मध्यवर्गीय लेखक भी थे, साथ ही वह वर्ग प्रेमचंद के 'रचना-व्यक्तित्व' के रागबोध के स्तर का भी वर्ग था। उन्होंने अपने रागबोध की आत्मीयता का प्रचार उसी मंच से किया जिससे वे खुद सम्बन्धित थे। उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्यवर्ग की अनेक स्थितियों का पर्दाफ़ाश किया, साम्प्रदायिक तनाव को ज़िन्दा रखने वाली शक्तियों का पर्दाफ़ाश किया और अपने उस ग़ुस्से को भी व्यक्त किया जो देशीय क्षितिज पर हो रही घटनाओं के कारण उभरता था। प्रेमचंद के वे 'व्यक्तिगत दस्तावेज़' जो चिट्ठियों के रूप में सुरक्षित हैं, इसके प्रमाण हैं। यहाँ हम उनके विस्तार में नहीं जाएंगे, सिर्फ़ यह देखेंगे कि 'मध्यवर्ग' की ईमानदारी, समझौतेवादी प्रवृत्ति, पैसे की अन्यतम लालसा, पदवस्थाओं के प्रति लोलुप दृष्टि—क्या स्वयं प्रेमचंद के विरोध का केन्द्र नहीं बनती? सच्चाई यह है कि इनमें से कई स्थितियों में पहले प्रेमचंद ख़ुद भी थे। उनसे मुक्ति पाने के बाद प्रेमचंद ने उनकी 'उपयोगिता' को उस बड़े षड्यंत्र के साथ जोड़ दिया था जो आज़ादी प्राप्त करने के प्रयासों में बाधक था। मध्यवर्ग की वर्गीय चेतना का कोई अच्छा पात्र 'प्रेमचंद' के मुकाबले का नहीं है। उनकी रचनाएँ असंख्य पात्रों की उपस्थिति देती हैं, किन्तु स्वयं प्रेमचंद का रचना-व्यक्तित्व एक 'प्रामाणिक पात्र' के रूप में उभरता है।

प्रेमचंद के 'रचना-व्यक्तित्व' का एक हिस्सा 'प्रचारक-व्यक्तित्व' का भी है। अनेक लोगों द्वारा वह हिस्सा प्रमुख मान लिया गया है, जबकि सच्चाई यह नहीं है। 'प्रचारक' रूप उनके व्यक्तित्व में गांधी के प्रभाव के फलस्वरूप आया। परन्तु वे उन स्थलों पर प्रचारक नहीं हैं जहां वे मध्यवर्ग की स्थितियों का यथार्थांकन करते हैं, वैचारिक प्रतिबद्धता की निष्ठा दिखाते हैं। यही नहीं 'वातावरण' में विश्वसनीयता लाने के लिए वे मानव-स्वभाव में कभी 'आदर्शवादी' आस्था के पक्ष भी दिखा देते हैं तो वहां वे प्रचारक नहीं रह जाते। उपन्यासों में प्रेमचंद ने समस्याओं के समाधान के लिए 'आश्रम-व्यवस्था' की जो परिकल्पना दी है, वह उनके सुधारवादी प्रचारक रूप का प्रमाण है किन्तु पूरी तरह से प्रेमचंद के प्रचारक-व्यक्तित्व के वे अंश भी प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि कहा जा सकता है कि 'आश्रम-व्यवस्था' की अविश्वसनीय स्थिति का चित्रण कर प्रेमचंद उसी स्थिति में उस की अनुपयोगिता का आधार भी दे देते हैं। प्रेमचंद इन अंशों के अलावा भी 'प्रगतिवादी विचार' के प्रचा[र] हैं, इसके लिए उनकी कथाओं से वे पात्र लिये [जा] सकते हैं जो समाजवाद के प्रवक्ता हैं। कहना चाहि[ए] कि प्रेमचंद के व्यक्तित्व में 'प्रचारक' का हिस्सा है किन्तु वह उनके 'रचना-व्यक्तित्व' के 'मानवीय' [पक्ष] की तुलना में बहुत कमज़ोर, अविश्वसनीय और [...] अथवा बनावटी लगता है। इस बनावटीपन से [...] जहां-जहां समसामयिक जीवन 'कच्चे माल' की [...] औपन्यासिक शिल्प के रूप में सांकेतिक बन आया [है] वहां वह 'काव्यमय' लगता है।

रचनाओं में कला, विचार, जीवन [आदि] सम्बन्धी जो धारणाएँ स्पष्ट होती है, वे धार[णाएँ] प्रेमचंद के निजी व्यक्तित्व की उपलब्धियां हैं [जो] उन्होंने अपने 'समय' से संघर्ष करते हुए प्राप्त की [हैं।] आरम्भिक रचनाओं में प्रेमचंद भी निष्क्रियतावादी [...] पलायनवादी लगते हैं, जहां वे अपनी कथाओं [...] मानवेतर कल्पना-जगत् के अति-सत्यों से सम[...] करते हैं, किन्तु आरम्भिक रचनाओं के इस पक्ष [...] कथा के आरम्भिक प्रयोग कह कर प्रेमचंद का [...] आरोप से मुक्त भी माना जा सकता है। 'पलायनवा[द...]' धारणा प्रेमचंद की कथाओं में नहीं उभरती, वह क[...] विचार किसी भी स्तर पर पुष्टि नहीं पाती, [...] इसकी जगह आरम्भ में ही वे 'सुजान भगत' [...] कहानियों या 'सेवासदन' आदि उपन्यासों में [...] होकर जीवन-संघर्ष को स्वीकारते प्रतीत होते हैं। संघर्ष और मुक्ति (आज़ादी) के लिए संघर्ष प्रे[मचंद] की वह पहली धारणा है जो उनके पूरे रचना-[...] पर छाई रहती है। 'समष्टि मंगल' और 'सम[...]' चिन्तन' प्रेमचंद की वैचारिक धारणा की सं[...] जो नये सामाजिक संस्कार को गति देती है [...] पुराने सामाजिक संस्कार की तुलना में उसे नये [...] अर्थ से परिपूर्ण करती हैं। प्रेमचंद की कथा[ओं में] अनेक स्तरों पर 'काव्यमयता' है। उसमें [...] प्रेम-प्रणय का श्रृंगारवादी रूप भी है जो मनुष्य के [...] छोटे दुःखों का गहरा अवसादपूर्ण चित्र भी है [...] [...], जाने-पहचाने चरित्रों और एक [...] वातावरण की सर्जना के प्रसंग भी साधारण [...]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूमानी चरित्र को मनोरंजन के अलावा रुचिमय 'राग-भाव' भी देते हैं। काव्यमयता के शेष उदाहरण मानव-पीड़न के उन प्रसंगों में उभरते हैं जहां कोई अबोध मज़दूर या किसान सारे आर्थिक-सामाजिक चक्र से खुद ही लड़ता है। सहज मानवीय होने या अपनी सहानुभूति समग्र जन-समाज को देने की जो गांधीवादी प्रवृत्ति है प्रेमचंद में वह तार्किक और भौतिक कोणों से रूपान्तरण पाकर प्रेमचंद के रचना-व्यक्तित्व को काव्यमय बनाती है। साधारण मनुष्य के हाव-भाव, साधारण मनुष्यों के दु:ख और साधारण मनुष्यों के हितैषी के रूप में 'प्रेमचंद' का जो चित्र बनता है, वह साधारणता का काव्य है, वह 'व्यक्तित्व' के मानवीय पक्ष का निष्पापत्व से परिपूर्ण काव्य है।

समसामयिक जीवन की जागृति के प्रसंगों का काव्य पुराने रोमांसों का नवीनीकरण लगता है। प्रेमचंद की कथाओं में समसामयिक जीवन के संघर्ष का उत्सववाची रूप मिलता है, उसमें उत्सर्ग का गरिमामय भाव भी है, तो सहज भावोन्मेष या उमंग भी है। यह उमंग, अवसाद-दु:ख और भीषण कष्टों के प्रसंगों को अपने उत्सववाची भाव से आवृत कर समष्टि-मंगल का नया 'राग-बोध' प्रसारित करती है। प्रेमचंद के रचनाकाल के समाज की जागृति के पक्षों की परिगणना की जाए तो उनकी एक लम्बी सूची बन सकती है, यह सूची सामाजिक संस्कार के बदलते हुए रूप से लेकर अपनी भाषा के प्रेम के प्रकरणों तक को समाहित कर लेती है। समसामयिक जीवन के विविध परिदृश्यों के बीच से प्रेमचंद ने जिस जीवन-पक्ष का चुनाव किया था, वह 'देश-प्रेम' के गौरव-भाव का प्रचारक भी है। प्रेमचंद इस अर्थ में प्रचारक नहीं हैं, अपितु 'देश-भक्त' हैं। उनके 'रचना-व्यक्तित्व' का यह पक्ष भी उन्हें अपने समय के 'सांस्कृतिक व्याख्याता' के रूप में स्थापित करता है।

प्रगतिशील दृष्टि के सर्जक प्रेमचंद अपने जीवन में ग़रीबी से लड़े थे। धीरे-धीरे वह लड़ाई बड़े पैमाने पर आकर उनकी रचनाओं में देश की आज़ादी की लड़ाई में रूपान्तरित हुई थी। अर्थात् यह व्यक्तित्व का एक क्रम से निर्वैयक्तिकता में रूपान्तर की प्रक्रिया है। यह रूपान्तरण प्रेमचंद के 'व्यक्तित्व,को 'सांस्कृतिक गरिमा' प्रदान करता है। प्रेमचंद ग़रीब-जन समाज से उठे थे उन्हें अपने सामाजिक परिवेश का पूरा 'अनुभव' मिला था। वैयक्तिक जीवन में पारिवारिक विसंगति, शिक्षा की कठिनाइयाँ, आर्थिक दरिद्रता, असंगठित पारिवारिक जीवन आदि के जो प्रसंग हैं वे 'सोज़े वतन' के ज़ाब्ते, असहयोग-काल में नौकरी छोड़ने, राज्याश्रय और राजसम्मान को अस्वीकारने तथा जेल-यात्रा, फ़िल्मी जीवन के कटु प्रसंगों में बड़े पैमाने पर रूपान्तरित होते हैं। साधारण-ग़रीब परिवार के, आदमी के मनोविज्ञान में और ग़रीबी से सम्बद्ध प्रेमचंद के मनोविज्ञान में थोड़ा-सा फ़र्क है। प्रेमचंद साधारण स्थितियों के 'व्यक्तिगत' प्रसंगों से उठकर बड़े संदर्भ से जुड़ने की प्रक्रिया से गुज़रते हैं जबकि कोई दूसरा आदमी अपनी ही स्थितियों की परिधि में चक्कर लगाने के लिए विवश हो जाता है। स्वाधीनता के युग में एकाधिक उदाहरण इस तरह के रूपान्तरण के भी मिलते हैं। अपने रचना-व्यक्तित्व द्वारा प्रेमचंद ने इस प्रक्रिया को भी एक सार्वजनिक आधार दिया।

प्रेमचंद ने अपनी कथाओं के द्वारा नितान्त नये समाज से परिचित नहीं कराया था, बल्कि यह कहा जाना चाहिए कि उन्होंने उन अछूते प्रसंगों से परिचित कराया था, जिनकी सामाजिक स्थिति के बारे में बहुत सारे पढ़े-लिखे लोगों को ठीक-ठीक ज्ञान नहीं था। कथा-तत्व या विचार-तत्व का नया परिचय तो उन रचनाओं की 'सम्पूर्णता' में मिलता है, किन्तु उन से भी परे सामाजिक समस्याओं का जीवन्त तनाव उनमें मिलता है। वह तनाव जिसमें एक जन-समाज रहता है, और अपने अतीत के सांस्कृतिक दबाव तथा वर्तमान जीवन के विषमतापूर्ण संगठन के बीच रहकर उनसे आगे की सोचता है—वह उन कथाओं के माध्यम से एक नये 'संस्कार' के अनुभव को भी प्रसारित करता है। जिस तरह उस 'तनाव' के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघर्ष में हर भारतीय सामाजिक लड़ने का हिस्सेदार है, कुछ-कुछ वैसा ही आभास प्रेमचंद की रचनाएँ प्रेमचंद के रचना-व्यक्तित्व की परिपुष्टि कर देती हैं। 'कर्मभूमि, या 'गोदान' में वह 'तनाव' वातावरण की सजीवता का ही लक्ष्य या उद्देश्य नहीं है, बल्कि उसके बीच से गुज़रते हुए गुलाम नागरिक की भयावह यन्त्रणा का चित्र है। वह चित्र जो प्रेमचंद का निजी व्यक्तित्व भी पुष्ट करता है और प्रेमचंद का रचना-व्यक्तित्व' भी। प्रेमचंद का 'सामाजिक परिवेश' बौद्धिक जागरण के तत्व उसी 'रचना-व्यक्तित्व' के रूप में स्पष्ट करता है। वह बौद्धिक संस्कार, जो स्पष्ट होता है, व्यक्ति का ही नहीं है बल्कि हर उस भागीदार का है जो स्वाधीनता के दिनों में अपने यथार्थ संदर्भ से नहीं कटा। इस बौद्धिक संस्कार की जड़ गांधी जी और मार्क्स के अलावा 'भारतीय जन-जीवन, से फूटती हैं, इसमें किसी मतवाद की गुंजाइश नहीं है। प्रेमचंद के समय की महत्वपूर्ण घटनाएँ, चाहे प्रथम विश्वयुद्ध हो, गांधी का आगमन, नमक सत्याग्रह, जलियांवाला काण्ड, असहयोग आन्दोलन हो या इसी तरह की कोई अन्य घटनाएँ हों वे राजनैतिक दृष्टि से भिन्न अर्थ भले ही रखती हों, मानवीय दृष्टि से उनका जो अर्थ है वह भी प्रेमचंद की रचनाओं में मिलता है। दूसरी तरह देखें तो रचनाओं में उन घटनाओं को देखने वाली दृष्टि प्रेमचंद के कृति-व्यक्तित्व की दृष्टि है। उन घटनाओं का जो भी अर्थ रचनाओं में मिलता है, वह कृति-व्यक्तित्व का अर्थ है। अर्थात् प्रेमचंद का कृति-व्यक्तित्व एक दार्शनिक की भाँति उनकी संगत व्याख्याएँ भी प्रस्तुत करता है।

प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में अपनी शताब्दी के तनावपूर्ण वर्षों के प्रभावों को खास संदर्भों में रखा था। उनकी महत्वाकांक्षाएँ बहुत छोटी-छोटी किन्तु ईमानदार आदमी की महत्वाकांक्षाएँ थीं, "कुछ किताबें लिखूंगा, कुछ अपनी किताबें छपवाऊँगा। पाँच-छ: सौ मेरी कमाई है, इसे इन्हीं कामों में सरफ़ करूँगा ौर बिल आखिर जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

लूंगा तो कोई माहवार रसाला निकालकर गुज़र करूँगा।" (क़लम का मज़दूर) उन्होंने अपनी रचनाओं पर पड़े प्रभाव को भी बहुत सीधे ढंग से स्वीकार किया था, "मुझे अभी तक इत्मीनान नहीं हुआ कि कौन-सा तर्ज़-तहरीर अख़्तियार करूँ। कभी तो बंकिम की नक़ल करता हूं, कभी आज़ाद के पीछे चलता हूं। आजकल काउँट तालसताय के क़िस्से पढ़ चुका हूं, तब से कुछ इसी रंग की तरफ़ तबीयत माइल है। "प्रेमचंद के उपन्यासों पर केवल शिल्पगत प्रभाव ही नहीं है बल्कि उनमें कथा-नियोजन के प्रभाव भी खोजे जा सकते हैं किन्तु इस आधार पर प्रेमचंद को केवल दूसरों का अनुकर्त्ता ही नहीं माना जा सकता है। प्रेमचंद की एक कहानी 'मनोवृत्ति पश्चिमी फेण्टेसी के अनुकरण पर लिखी गई है, किन्तु उसके वातावरण की सजीवता उस पर पड़े प्रभावों को गौण कर देती है।

अपने विचारों को प्रस्तुत करने में प्रेमचंद बहुत दृढ़ थे, बल्कि कहा जाए कि वे निर्मम भी थे। वैचारिक दृढ़ता की यह निर्ममता उनके 'ग्राम्य स्वभाव की सहजता की वजह से नहीं थी, बल्कि उनके स्वभाव का वह एक अंग था जिसकी अलग से व्याख्या नहीं की जा सकती। डॉ० मदान ने लिखा है कि "प्रेमचंद केवल दो तरह के विलासों में रहे थे, एक तो उनकी मुक्त हँसी और दूसरे उनकी ग़रीबी—वस्तुत: इन दो धाराओं के बीच उनकी वैचारिक दृढ़ता (खासतौर से बाद की रचनाओं में) उनके ,व्यक्तित्व' को अपने समय से अलग 'व्यक्तित्व' भी बनाती है। परन्तु वह मनुष्य की सहजता से अलग कहीं नहीं हैं।"

प्रेमचन्द का 'व्यक्तित्व' बहुत सारे अन्तर्द्वंद्वों के बीच प्रवाहमय है। जीवन की अनेक संकटपूर्ण स्थितियों से समझौता करने की बजाय उनसे संघर्ष करने का रास्ता उनके पात्र ही नहीं चुनते, स्वयं प्रेमचन्द ने वे रास्ते चुने थे। उन्होंने आरम्भ में दो भाषाओं में लिखने का संकट महसूस किया था, किन्तु बाद में 'हिन्दी' की ओर लौट आए थे। दरअसल वह ... अपनी 'अभिव्यक्ति' को बड़ा क्षेत्र देते

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए आवश्यक था। इस कोण से हम देख सकते हैं कि उन्होंने न केवल 'रचना-कार्य' का दायित्व समझा था, बल्कि उन्होंने रचनाओं को जिस जन-मानस तक पहुंचाने का विचार किया—उसकी सहज भाषा को ही उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था। शायद पहली बार अपनी भाषा की अभिव्यक्ति को केवल भाषाई आधार पर नहीं अपितु मानवीय आधार पर उन्होंने स्पष्ट किया था। प्रेमचन्द ने स्वीकार भी किया था कि 'भाषा की ग़ुलामी ही सच्ची ग़ुलामी है।' साहित्य का उद्देश्य' में उन्होंने स्पष्टता से लिखा है, "हमारी पराधीनता का सबसे अपमानजनक, सबसे व्यापक, सबसे कठोर अंग अंग्रेज़ी भाषा का प्रभुत्व है।"...इससे भी आगे वे मानते थे कि भाषा शोषण का अंग बनकर सामने आई है। शोषण के चक्र को तोड़ने के लिए भाषा के चक्र को तोड़ना ज़रूरी है। प्रेमचन्द के 'व्यक्तित्व' में इस तरह की स्पष्टता का आयाम लेखक प्रेमचन्द के 'रचना-व्यक्तित्व' को आधी शताब्दी का 'मिथक' बना दे डालता है। प्रेमचन्द का रचना-व्यक्तित्व' स्वीकृत-आधारों पर 'मिथ' नहीं है। वह केवल प्रेमचन्द का नहीं आज़ादी के दिनों के भारतीय का 'मिथ' है जो प्रेमचन्द के 'रचना-व्यक्तित्व' में प्रतिनिधित्व पाता है।

प्रेमचंद का लेखन उनकी जीवनी नहीं है। ऐसा कोई भ्रम खड़ा नहीं किया जा सकता, किन्तु प्रेमचंद का लेखन एक जन-समाज की 'कच्ची' जीवनी है। उनका कृति-व्यक्तित्व इसी आधार पर प्रतिनिधि है। उस व्यक्तित्व में 'स्वाधीनता के संघर्ष' की छाप है, उसमें सामाजिक संस्कार की प्रक्रिया की छाप भी है साथ ही उसमें बौद्धिक आधारों पर सांस्कृतिकरण की प्रक्रिया का अंकन भी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन लेखन और प्रेमचंद का विरसा–कहानी का संदर्भ

डॉ० भगवानदास वर्मा
सम्पादक 'गवाह'
गोकुलवाडी, औरंगाबाद

हिंदी में बहुत कम साहित्यकार हैं जिनकी रचनाशीलता में विकास की स्पष्ट रेखा दिखाई देती है । विकासोन्मुखी रचना-धर्मिता दोनों स्तरों पर आत्म-परीक्षणात्मक होती है—कला के और विचारों के भी । इस प्रक्रिया में प्रत्येक 'रचना' पूर्ववर्ती का परिणाम होती है, तो परवर्ती का कारण ।कारण और परिणाम दोनों प्रतिक्रियात्मक होते हैं । प्रेमचंद हिंदी के उन शीर्षस्थ रचनाकारों में से है, जिनके लिए साहित्य ख़ुद को तलाशने का ज़रिया रहा है, खुद को तलाशने की प्रक्रिया निरंतर है, इसीलिए रचनादृष्टि में विकासोन्मुखी तत्वों का वजूद अनिवार्य है । प्रेमचंद खुद को आख़र तक माँजते रहे । उनकी कहानी-यात्रा पर ग़ौर करें तो विकास की एक स्पष्ट ऊर्ध्वमुखी प्रक्रिया दिखाई पड़ेगी । भारतीय नैतिकता के परंपरागत मानवतावादी मूल्यों के प्रति अटूट आस्था से शुरू होने वाली उनकी कथायात्रा इन्हीं मूल्यों की असारता का संकेत करती हुई मानववादी धरातल पर पहुंचकर शोषण-मुक्त मानव की स्थापना का उद्घोष करती है इस संदर्भ में निम्न उद्धरण देखिए ।

(अ) "भैया जब से तुमने मेरी पंचायत की तबसे मैं तुम्हारा प्राणघातक शत्रु बन गया था । लेकिन आज मुझे ज्ञात हुआ कि पंच के पद पर बैठकर न कोई किसी का दोस्त होता है न दुश्मन ..... अब मुझे विश्वास हो गया है कि पंच की ज़ुबान से ख़ुदा बोलता है .....अलगू रोने लगे .....पानी से दोनों के दिलों की मैल धुल गई । मित्रता की मुरझाई लता फिर हरी हो गई" (पंच परमेश्वर)

(ब) "आख़रकार बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं" (बड़े घर की बेटी)

(क) "मगर यह कोई नियम तो नहीं है । तुमने राई का पर्वत बना दिया । ब्राह्मण होकर तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था । मैं तो दूंगा लेकिन तुम्हें भगवान के यहां जवाब देना पड़ेगा" (सवासेर गेहूं)

(ङ) "भाई साहब लंबे हैं ही । उछल कर उसकी डोर पकड़ ली और बेतहाशा होस्टल की ओर दौड़ पड़े और मैं पीछे-पीछे दौड़ रहा था" (बड़े भाई साहब)

(इ) मैं अब अफ़सर हूं .....अब उस का लिहाज़ पा सकता हूं साहचर्य नहीं .... वह मुझे अपना जोड़ नहीं समझता । वह बड़ा हो गया है मैं छोटा" (गुल्ली डंडा)

(ई) "हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा—"रात की ठंड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा" (पूस की रात)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(उ) "कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते जी तन ढाँकने चिथड़ा भी न मिले उसे मरने पर नया कफ़न चाहिए......कफ़न लाश के साथ जल ही तो जाता है ......भगवान तुम अंतर्यामी हो। उसे बैकुंठ ले जाना हम दोनों हृदय से आशीर्वाद दे रहे हैं आज जो भोजन मिला, वह उम्र भर नहीं मिला था" (कफ़न)

ऊपर के उद्धरणों पर सरसरी निगाह डालिए। प्रेमचन्द की कथा-यात्रा की विकासोन्मुखी प्रक्रिया स्पष्ट होगी। 'पंचपरमेश्वर' का अलगू, 'बड़े घर की बेटी' की आनंदी, 'सवा सेर गेहूं' का शंकर, 'बड़े भाई साहब' के दोनों भाई, 'गुल्ली डंडा' का अफ़सर और गया चमार, 'पूस की रात' का हल्कू और 'कफ़न' के घीसू माधव—ये चरित्र प्रेमचन्द की विकासमान सोच के मील के पत्थर हैं। 'पंच परमेश्वर'प्रेमचन्द की पहली-पहली कहानियों में से है। इस चरण पर प्रेमचंद मनुष्य के भीतर बैठे देवत्व पर पूरा-पूरा विश्वास करते हैं। यहाँ भूल-सुधार, हृदय-परिवर्तन, भावनिक आह्वान, उपदेश आदि पारंपरिक मानवीय मूल्यों की प्रेरणाएं हर पापी, कुटिल या शैतान को आदर्शवान बना सकती हैं। लेखक का विश्वास उस सामाजिक व्यवस्था पर है जिसकी विषमता की जड़ें वैज्ञानिक ज़मीन में हैं लेकिन इससे मुक्ति भारतीय आदर्शों के रास्ते चलने पर ही संभव होती है। यह सही है कि प्रेमचन्द की आदर्शवादिता उनके समकालीन कथाकार (जयशंकर प्रसाद) की तरह रोमानी नहीं थी। प्रेमचन्द के क़दम यथार्थ की ठोस ज़मीन पर ज़रूर टिके थे लेकिन यथार्थ की नंगी कटुता को वे ज्यादा तूल नहीं दे सकते थे। इसलिए सामाजिक समस्या के वैज्ञानिक कारणों को जानते हुए भी उनके वैज्ञानिक समाधान का आग्रह उन्होंने नहीं किया। इसीलिए इस पड़ाव की कहानियां भावुक मानवतावादी आदर्श मूल्यों में पली है। इन की चरित्रात्मकता इसीलिए निहायत प्रातिनिधिक और गोल-मटोल लगती है। 'पंचपरमेश्वर' का अलगू और अलगू जैसे इस चरण के अन्य चरित्र यथार्थ की संघर्ष-जन्य भूमि पर कुछ क्षणों के लिए ही चलकर आख़रकार मानवता, न्याय, प्रतिबद्धता जैसे पारंपरिक मूल्यों के सामने समर्पित हो जाते हैं। अलगू की दुनियां भलों की दुनियां हैं। यहां बुराई इस लिये की जाती है कि बुराई करने वाले का वास्ता अच्छाई से नहीं पड़ता; जब वह पड़ जाता है तो हर 'बुरा' 'अच्छा' हो जाता है 'नमक का दरोगा' 'सौत', 'मर्यादा की वेदी' 'रानी सारंधा आदि 'कहानियाँ इस दौर की हैं।

आनंदी (बड़े घर की बेटी) प्रेमचन्द की कथा-यात्रा का एक ऐसा प्रातिनिधिक चरित्र है जो अलगू की मानसिकता से कुछ आगे होते हुए भी अंततः परंपरागत भारतीय आदर्शवादिता से चिपका रहता है, वैसे आनंदी के रूप में प्रेमचंद पहली बार भारतीय नारी की स्वतंत्र व्यक्ति-चेतना को ज़ुबान देने का प्रयास करते हैं और उन भीगे भावुक पारिवारिक मूल्यों को चुनौती देते हैं, लेकिन अंत में यह देख कर कि सच्चाई को ज़्यादा तूल देने पर भारतीय परिवार का बिंब ख़तरे में पड़ जाता है, समझौता करवा लेते हैं। इस चरण पर प्रेमचंद की रचना-दृष्टि शायद उस सुधारवादी चेतना से नियंत्रित हैं जिसके तहत ग़लती के दुहराये जाने की संभावना नहीं होती, लेकिन उनका यह सोचना ग़लत साबित हुआ है, इसकी स्वीकृति आगे की कहानियों में उन्होंने खुद की है। अलगू तथा आनंदी की भावभीनी भावुक मानवतावादी दुनिया के चुंगल से निकलकर प्रेमचंद की कथायात्रा शंकर ('सवासेर गेहूँ') तक पहुंचती है। शंकर की चरित्रात्मकता का अंत आदर्शवादी मूल्यों की स्वीकृति में नहीं है, यहाँ सामाजिक समस्याओं के वैज्ञानिक कारणों के संकेत साफ़-साफ़ उभरे हैं। प्रेमचंद जान गए हैं कि भारतीय किसानों के शोषण के लिए न तो भाग्य ज़िम्मेदार है न भगवान इस के लिए उसकी अंधश्रद्धा, भावुकता और अज्ञान ज़िम्मेदार हैं। इसी लिए समस्याओं का समाधान अज्ञान को दूर करनेवाली वैज्ञानिक सूझ में होना चाहिए। इसीलिए 'सवासेर गेहूँ' का शंकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विप्र की धूर्तता को समझ जाता है, फिर भी वह विप्र के खिलाफ़ खुले विद्रोह नहीं करता, उसमें अब भी मानवतावादी मूल्यों का अंश शेष है, इस दौर की कहानियों में प्रेमचंद भावुक आदर्शवादिता और समझौतावादी सुधार-दृष्टि वाले कमज़ोर रचना-विधान को लांघ कर समस्या के वैचारिक समाधान का संकेत दे रहे हैं, यहाँ के चरित्र जिस तरह समस्या के वैज्ञानिक रहस्यों को जानते है, उनके वैज्ञानिक जवाबों को भी लेकिन सीधे भिड़ जाने की संघर्ष-शक्ति उन में नहीं है। वे अपनी नियति को टाल नहीं सकते। उनकी नियति है स्थितियों की स्वीकृति। 'माता का हृदय' 'वज्रपात' 'शंख नाद' 'आत्माराम', 'शतरंज के खिलाड़ी' इस दौर की कुछ कहानियाँ हैं, जहाँ प्रेमचंद आदर्शवादी समाधान से हटे हैं, और यथार्थ को विचार के स्तर पर ग्रहण कर चुके हैं।

'बड़े भाई साहब' 'गुल्ली डंडा', 'बूढ़ी काकी' इन रचनाओं तक आते-आते प्रेमचंद की कथायात्रा आदर्शवादी जीवन-मूल्यों की व्यर्थता को पहचान गयी है। अब झूठे आदर्शों को हठात् ओढ़ने का उनका पुराना आग्रह खत्म हो गया है। 'बड़े भाई साहब' 'गयाचमार', 'काकी'— ये वे लोग हैं जो चली आई पारंपरिक जीवन-पद्धति और उसके तहत चले आए मानवतावादी मूल्यों के सामने प्रश्न-चिह्न लगा खड़े हैं। काकी का अपने ही घर में अपमानित हो कर, और भूख प्रवृत्ति के पाशविक रूप में उभरना; 'गुल्ली डंडा' में अफ़सर और गया चमार के बीच की दूरियां समाज की सृजनात्मक शक्तियों को किस तरह सोख लेती हैं —का संकेत बड़ा मार्मिक है।

अब प्रेमचन्द रचनात्मक अन्वेषण के उस छोर पर पहुंच गये हैं, जहां उन्हें अच्छे 'मनुष्य' की तलाश है। यहां से आगे उन की कथायात्रा का चरमस्तर उभरता है, जहां पहुंचकर उन्होंने 'पूस की रात' और 'कफ़न' जैसी कहानियां लिखीं। हल्कू (पूस की रात) की दुनियां क्रूर सच्चाइयों को निर्ममता से झेलने वालों की दुनिया है। इन लोगों की आँखों पर भावुक आदर्शवादिता की पट्टियाँ नहीं हैं। ये लोग धोखा खा ही नहीं सकते। इस चरण पर प्रेमचन्द की रचना-दृष्टि के परमोच्च बिन्दु का साक्षात्कार होता है। सामाजिक विषमता की खौफ़नाक विभीषिका की अंतिम परिणिति के चरित्रात्मक प्रतीक घीसू और माधव (कफ़न) उस संपूर्ण सामंती मूल्य-ढाँचे की व्यर्थता को खोल कर रख देते हैं। विषमता के विरोध में आम आदमी का संघर्ष इस स्तर तक पहुंचते-पहुंचते पूरा भोथरा हो गया है। इस स्थिति में घीसू-माधव ही पैदा होते हैं, जो मानवी रिश्तों की तमाम नमी को सोख लेते हैं। इनमें बैठा सामाजिक पशु किसी खूंख्वार शोषक मालिक के महल में पालतू वहशी की तरह अपने पाशविक लटकों को दिग्दर्शित करने के अलावा कुछ नहीं कर सकता। बुधिया की मौत की भयंकर शांति के रूबरू माधव की भूख एक महान सच्चाई है। इस समय यही एक स्वाभाविक प्रक्रिया होनी थी, कि बुधिया मर जाए। रूढ़िग्रस्त सामाजिक मूल्य-चेतना के समानांतर रूढ़ि-मुक्त मनुष्य-चेतना का नंगा नाच दिखा कर, प्रेमचन्द उस डरावनी स्थिति का संकेत करते हैं जहां मानव विरोधी तत्वों की दाढ़ में सालिम 'इंसान' ही चबाया जा रहा है। इस चरण पर आकर प्रेमचन्द की कथा-यात्रा (रचना और विचार के स्तर पर) उस मानव-वादी चिंताधारा से प्रभावित हैं, जहां मरणधर्मा मनुष्य की बेहतरी के लिए खुद उस की सर्जना पर विश्वास किया जाता है। यही वह स्तर है, जहां प्रेमचन्द से समकालीन लेखन का रिश्ता जुड़ जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० दुर्गा दीक्षित
हिन्दी विभाग
पूणे विश्वविद्यालय पूणे

प्रेमचंद की नाट्य-प्रतिभा

उपन्यास सम्राट के अभिधान से मण्डित प्रेमचंद जी ने हिन्दी के कथात्मक साहित्य को केवल सघन सामाजिक आशयगर्भ जीवनानुभव से संपन्न नहीं किया बल्कि शिल्पसंगठन की अपूर्व क्षमताओं से नई दिशाएं प्रदान कीं। उनका समग्र कथासाहित्य जीवन के सच्चे अनुभवों का सुगठित अभिव्यक्ति रूप होने के कारण उसमें वास्तविक नाट्य स्वाभाविकतया उभरकर आया है। गोदान, ग़बन जैसे उपन्यासों का फ़िल्माया जाना इस का परिणाम है। वस्तुतः उपन्यास का शिल्प एवं गठन नाटक की अपेक्षा चित्रपट के अधिक निकट एवं अनुकूल है। फिर भी इन दोनों कृतियों के फ़िलमाये जाने की प्रक्रिया में सर्जनात्मक औपन्यासिक तत्त्व तकनीक में कहीं खोये हुए से प्रतीत होते हैं। जीवन में गहनतम प्रामाणिक अनुभवों को औपन्यासिक शिल्प के माध्यम से प्रस्तुत करने में जो अद्‌भुत सफलता प्रेमचन्द जी के मिली है वह चित्रपट रूप में क़तई नहीं आ पायी। इसकी तुलना में गोदान के नाट्यरूपान्तर, एवं प्रस्तुति का प्रयास अधिक सफल रहा। नाट्यरूपांतर, चित्रपट-रूपान्तर और प्रस्तुति का पक्ष तथा उसकी सफलता-असफलता स्वतंत्र विषय है। पर यहां उस का निर्देश केवल इसीलिए किया है कि गोदान जैसी कृति के नाट्यमूल्य का संकेत कर दें।

कथात्मक साहित्य के इस अद्वितीय प्रतिभासंपन्न साहित्यकार ने नाटक भी लिखे हैं। पर विचारणीय विषय है कि एक सफल उपन्यासकार नाटक लिखे अथवा सफल नाटककार या कवि उपन्यास लिखे तो क्या स्थिति हो सकती है। सामान्यतः विश्वसाहित्य में सर्वत्र यही देखा गया है कि महान लेखकों अथवा कवियों द्वारा जिन नाटकों की निर्मिति की गई, वे भले ही अच्छे हों, महान नहीं हो सकते। रंगमंचीय बोध, रंग-शक्तियों की सही पहचान और समकालिक रंगमंचीय प्रवृतियों एवं परम्परा से सीधे साक्षात्कार के अभाव में सफल नाटक-निर्माण में कई खतरे उत्पन्न होने की संभावना रहती है। कहा जाता है कि प्रेमचन्द जी का सर्वप्रथम साहित्यसर्जना का प्रयास एक नाट्यरूप ही था जो कभी प्रकाश में नहीं आया। परन्तु सन् 1874 में चौदह साल की अवस्था में उन्होंने एक नाटक लिखा था जिस का नाम 'होनहार बिरवान के चिकने-चिकने पात' था।[1] बाद में प्रत्यक्षतः मौलिक और अनूदित रूप में नाट्यसर्जना का मोह उन्हें रहा जो हड़ताल, न्याय, सृष्टि का आरम्भ जैसे अनूदित तथा संग्राम, कर्बला और प्रेम की वेदी जैसे मौलिक नाटकों में अभिव्यक्ति पा गया। उन की नाट्यसर्जना के सम्बन्ध में जानने पर एक प्रश्न स्वाभाविकतया उपस्थित होता है कि क्या अभिव्यक्ति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रक्रिया में नाटक विधा के लेखन में प्रेमचन्द जी को नाट्य विषयक मोह ने मात्र प्रेरित किया था, और परिणाम-स्वरूप नाट्यलेखन का प्रारम्भिक प्रयास सफल न होने पर भी, उन्होंने नाटक लिखे, साथ ही उनके समकालीन प्रथितयश नाटककार जयशंकर प्रसाद के नाट्यलेखन का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षत: प्रभाव भी इसका एक कारण हो सकता है। परन्तु ये ही दो कारण सर्वांशत: उनके नाट्यलेखन की प्रेरणा के आधारभूत कारण नहीं कहे जा सकते। संभवतः वे स्वयं मानते थे कि नाट्यलेखन उन का क्षेत्र नहीं है पर कथानक की मजबूरी के कारण नाटक लिखने पर बाध्य हुए थे। उनके दिमाग़ में जो नाट्य वस्तु उभर कर आयी उसे उपन्यास अथवा कहानी का रूप दे सकने की विवशता में उन्होंने नाटक लिखे। उन्होंने लिखा है, "मैंने कभी संजीदगी से नाटक लिखने की कोशिश नहीं की। एक-दो कथानकों की कल्पना की जो मेरे विचार में नाटक के लिए अधिक उपयोगी हो सकते थे। नाटक का महत्त्व समाप्त हो जाता है अगर उसे खेला न जाए। हिंदुस्थान के पास रंगमंच नहीं है, विशेषत: हिंदी और उर्दू के पास। रंगमंच के नाम पर मुर्दा पारसी स्टेज है, जिस के नाम से मुझे हौल होता है। इस के अलावा मैं कभी नाटक की टेकनीक और रंगमंच की कला के संदर्भ में नहीं आया। इसलिए मेरे नाटक सिर्फ़ पढ़े जाने के लिए थे।"[2] संग्राम नाटक की भूमिका में भी उन्होंने स्पष्टत: लिखा है कि "पर इस कथा का ढंग ही कुछ ऐसा था कि मैं उसे उपन्यास का रूप नहीं दे सकता था। यही इस अनाधिकार चेष्टा का मुख्य कारण है।"[3] उन के इन दोनों वक्तव्यों से संकेत मिलता है कि कथावस्तु की अभिव्यक्ति-प्रक्रिया के दौरान कहीं तो ऐसा बोध अवश्य हुआ था कि इसे कथात्मक रूप में व्यक्त नहीं किया जा सकता। ऐसे अवसर पर नाटक के अतिरिक्त अन्य विधारूप उन के पास नहीं था। तात्पर्य इष्टापत्ति के रूप में सही, अपनी अनाधिकारपूर्ण चेष्टा स्वीकार कर उन्होंने नाट्य रचनाएँ कीं। प्रथम नाटक संग्राम की भूमिका में साहित्य-क्षेत्र के अपने इस प्रथम को प्रथम और अन्तिम दुस्साहसपूर्ण पटाक्षेप मानकर तथा पाठकों से क्षमायाचना करते हुए भी आगे चल कर अन्य दो नाटकों की रचनाएँ उन्होंने की (कर्बला (1924) जिसके छ: संस्करण निकले)[4] और प्रेम की वेदी—कुल मिला कर ये तीनों नाटक प्रेमचन्द जी के व्यक्तित्व में नया आयाम जोड़ देते हैं।

संग्राम एक सामाजिक नाटक है जिस में ग्रामीण तथा नागरी सभ्य समाज का तुलनात्मक चित्रण करते हुए किसान-ज़मींदार की समस्या के परिवेश में ज़मींदारों की लोलुपता, बाह्याडंबर, निरंकुशता, पुलिस का भ्रष्टाचार, अत्याचार, लूट-खसोट, किसानों की बेबसी, ग़ुलामी, अन्यायजनक पीड़ाएं, साधुओं का पाखण्ड, ढोंगपूर्ण आचार, नारियों की संकुचितता एवं रूढ़िवादिता आदि कतिपय समस्याओं का अंकन विस्तारपूर्वक किया है। कोमलांगी राजेश्वरी पर अत्यधिक रीझे हुए सबलसिंग के अतिरिक्त अचलसिंह, केचनसिंह, ज्ञानी, चंगुलदास आदि कतिपय चरित्रों के माध्यम से यह कथा मानवजीवनान्तर्गत कतिपय परतों को उजागर करती हुई नाट्यमय प्रसंगोद्भावनाओं से सामाजिक प्रबोधन करती है। कर्बला एक ऐसे महान शहीद की जीवनगाथा है जो वस्तुत: एक बहुत बड़े संग्राम की पृष्ठभूमि पर उभरती गई है। कर्बला की कथा को मुस्लिमों के इतिहास में वही स्थान है जो हिंदुओं के लिए रामायण, महाभारत में है।[5] उर्दू-फ़ारसी साहित्य में कई धार्मिक ग्रंथों में ग्रंथित कर्बला की कहानी ऐतिहासिक और धार्मिक महत्त्व रखती है। पर साथ ही इस विषय पर किसी भी भाषा में नाटक नहीं लिखा गया। प्रेमचन्द जी ने कहा है 'हिंदु मुस्लिम वैमनस्य का कारण हमें मुस्लिम महापुरुषों के सच्चरित्रों का ज्ञान नहीं है।'[6] संभवत: इसी उद्देश्य से ऐतिहासिक धार्मिक, संस्कृति —मुद्दों को तथा मुसलमानों के बड़े महान धर्मात्मा के जीवन-चित्रण को कर्बला में नाट्यरूप दिया हो। प्रेम की वेदी जैसे समस्या नाटक में विवाह समस्या के परिप्रेक्ष्य में इसाई, हिंदू धर्म, नारी की दयनीय स्थिति, पुरुषों की कामवासनाजन्य भ्रमरवृत्ति, विवाह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रचार, धर्म, दाम्पत्य जीवन, विपरीत धर्म के व्यक्तियों में प्रेम सम्बन्ध, नारी स्वतंत्रता, कुल मर्यादा धर्म, अतंर्जातीय विवाह आदि कतिपय समस्याओं का अंकन कर नारी स्वतंत्रता विषयक विचारसूत्र तथा आदर्शवादी सांस्कृतिक मूल्य के सामंजस्य को नाट्यरूप देने का प्रयास किया है। तीनों नाटकों के तथ्यों तथा कथावस्तुओं के निर्वाह में प्रेमचन्द जी ने नाट्यविधा-रूप अधिक अनुकूल समझा था।

इन तीनों नाटकों में दो सामाजिक हैं और एक ऐतिहासिक-धार्मिक। परन्तु विचारप्रधान दृष्टिकोण उपदेशात्मकता, भावप्रधानता द्वारा प्रेमचन्द का आदर्शवादी समाजचेता का रूप सर्वत्र परिभाषित होता है। सामान्य मध्यवर्गीय जीवनचेतना का साक्षात्कार कथा के माध्यम से करने में तीनों नाटक अत्यन्त सफल हुए हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि तीनों नाटकों में कथावस्तु के प्रतिपादन के अत्यधिक मोह को किसी प्रकार लेखक संवरण नहीं कर सके हैं। राजेश्वरी-सबलसिंह के कथासूत्र में भाईयों के परस्पर संघर्ष तथा एक नारी पर तीन पुरुषों के लुब्ध होने की कथा (संग्राम) हुसैनी के आत्मबलिदान की व्यथा (कर्बला) और जेनी के प्रेम-वेदी पर समर्पण की गाथा में जहां एक ओर प्रेमचन्द जी के विचारसूत्र एवं चिन्तधारा में विद्यमान समकालीन युगबोध से जन्मे चेतनकण अंकित हैं, वहां दूसरी ओर इन कथासूत्रों को, अपने कथ्यों को विभिन्न पात्रों तथा नाटकीय प्रसंगों के द्वारा रूपायित करते समय नाट्य विधा के प्रति प्रेमचन्द की भिज्ञता एवं भान व्यक्त हुआ है। पूर्वोक्त वक्तव्यों के अतिरिक्त प्रेमचन्द जी ने संग्राम और कर्बला की भूमिकाओं में नाट्य विषयक अपने ज्ञान का सहजतया संकेत दिया है। नाटक के पाठ्य और दृश्य रूप के प्रति वे सजग हैं। ऐतिहासिक नाटक की रचनायें ऐतिहासिकता की प्रतिबद्धता, कल्पना की छूट एवं पात्रों प्रसंगों की उद्भावना को वे मानते हैं।[7] अपने भीतर के साहित्यकार की क्षमताओं एवं शक्तियों का सही बोध उन्हें है। नाटक के लिए कवित्वशक्ति और संगीत का ज्ञान होने की आवश्यकता को मानते हुए उन्होंने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि मैं इन दोनों गुणों से साधारणतः वंचित हूं।[8] उनका यह कहना कि हमने हिन्दी में यह ड्रामा लिखने का साहस किया है। अपनी खताओं की माफ़ी मांगकर पाठकों-समालोचकों द्वारा दिया जाने वाला दण्ड शिरोधार्य है। उनकी विनीतता एवं उदारता के साथ नाट्यविषयक सम्यक् ज्ञान को संकेतित करता है। कर्बला के निर्माण के पूर्व त्रासदी के सबंध में शास्त्रीय ज्ञान उन्हें है।

अतः स्पष्ट है कि सावधानी एवं सतर्कता पूर्ण दृष्टि से पूर्वनिश्चित निर्णय के उपरान्त उन्होंने नाट्यविधा को अपनाया। पर तीनों नाटक पढ़ने पर एक विशेष बात सामने आती है कि जहाँ संग्राम नाटक राजेश्वरी संग्रामसिंह-हलधरसानी की कथा रह जाता है, वहाँ कर्बला के मैदान में जंग और हुसैनी की आत्मबलिदान की गाथा कर्बला में व्यक्त होती है। जेनी की कथा आद्यंत कथात्मक प्रवाह में अभिव्यक्ति पाती है। नाटक में कतिपय स्थल संकेतों, निर्देशों तथा विवरणादि के आधार पर कथावस्तु को संभालने तथा निर्वाह करने का यथासंभव प्रयास करने पर भी प्रेमचंद जी के भीतर का कथात्मक साहित्यकार नाटक विधारूप की सीमाओं को पूर्णतः निभा नहीं सकता और तीनों नाटकों में अधिकांशतः कथा कहने के मोह एवं अत्यधिक प्रयास परिलक्षित होता है।

वस्तुतः नाटक में अभीष्ट कथा कहना मात्र क़तई नहीं होता। बल्कि चरित्रों के संवादों एवं कार्य-व्यापारों के माध्यम से जीवनानुभव को रंगमंच पर प्रत्यक्षतः प्रस्तुत करने का वह माध्यम होता है। परिणामतः नाटक में निवेदन, वर्णन, विवरण आदि के द्वारा प्रसंग-घटना के घटित होने की सूचनाओं के लिए स्थान नहीं होता। प्रत्यक्ष घटित होते हुए नाट्य-प्रसंगों की वर्तमानकालिक बोधपूर्ण प्रस्तुति की अपेक्षा होती हैं। नाटकान्तर्गत, प्रत्येक दृश्य-प्रसंग-पात्रादि के द्वारा अनुभव की एक-एक पर्त खोलते जाने में नाटककार का कौशल रहता है। इस परीक्षा में मूलतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथात्मक साहित्यकार की नब्ज़ वाले प्रेमचंद बड़ी कठिनाई में फँसते जाते पाये जाते हैं। उनके भीतर का यह कथात्मक सर्जक' नाट्य-विधारूप का ज्ञान रखने के बावजूद प्रत्यक्ष रचना-प्रक्रिया में अपना अस्तित्व भुला नहीं सकता। लेखकीय प्रत्यक्ष उपस्थिति से सर्वथा रहित इस विधारूप का इस्तेमाल अत्यंत सावधानी तथा सतर्कता से करते हुए भी कहीं न कहीं फिसलते जाते हैं। नाटककार की सीमाओं का भान रखकर तथा किसी सीमा तक उसे निभाने पर भी तीनों नाटक कथा कहने लगते हैं। तीनों नाटकों में कोष्ठक में दिए गए संकेतों-निर्देशों की अधिक मात्रा भी इसी विवशता का द्योतक हैं। कर्बला की लगभग बीस पृष्ठों तक की प्रदीर्घ भूमिका में समग्र कथा विस्तार पूर्वक बताकर आगे चलकर उसी को नाट्य-विधा के साँचे में ढालने का प्रयास प्रतीत होता है। प्रतीत होता है कि संग्राम और कर्बला दोनो नाटक भी कथात्मक पद्धति से आसानी से,कहे जा सकते थे। प्रेम की वेदी में अन्य दो नाटकों की तुलना में अपेक्षा-कृत कम प्रसंगों की योजना की गई हैं। पर पात्रों की संख्या कम है। एकांक में समाप्त होने वाला यह नाटक नारीजीवन, विवाह और प्रेम के इर्दगिर्द कितनी ही समस्याएं उठाता हुआ अन्ततः आदर्श प्रेम की विजय दिखाता है। मिसेज गार्डन, विलियम, योगीराज, उमा आदि पात्रों के होते हुए भी कथावस्तु जेनी के आसपास रेंगती प्रेम की वेदी पर सर्मपित हो जाती है। कर्बला के अन्तर्गत पात्रों की भरमार प्रेमचन्द जी के लिए आवश्यक हो गई। हुसैनी के बलिदान द्वारा त्रासद प्रभाव के लिए पात्रों की उद्भावना विशेष महत्वपूर्ण है। कर्बला के प्रसंग मे ऐसे कतिपय दृश्य, उत्कट, एवं मार्मिक प्रसंगों के नायट्मय होने पर भी रंगमंचीय भान कहीं छूटता सा नज़र आता है। रणभूमि के प्रयत्क्ष समर प्रसंग, फौजें, लड़ाइयाँ इनका संदर्भ तो अटल था पर सारी कथावस्तु को केवल नाटक विधा के खाके में बंद कर बिठाने के प्रयास में बहुत खीचा-तानी करनी पड़ी है। इन स्थितियों के परिणामस्वरूप प्रेमचन्द के नाटकीय चरित्र, क्रियाशील (active) कम बनते हैं, मुखर अधिक। वे निवेदन वे ढर्रे पर बोलने लगते हैं। उनके भीतर का उपन्यासकार पूर्णतः परदे के पीछे न जा सकने के कारण स्वयं पात्रों के रूप में उपस्थित हो जाता है। परिणामतः पात्र संबोधित रूप में क्रिया-प्रतिक्रियात्मक संवादों के माध्यम से प्रसंग-घटना एवं कथासूत्र का बोध न देते हुए लम्बे-लम्बे भाषण झाड़ने लगते हैं। घटित घटनाओं की सूचनाएं, निवेदन, वर्ण-नादि कहने लगते हैं। स्वगतों का भरपूर आश्रय लेते हैं। संग्राम के पाँचवें अंक के प्रथम दृश्य में हलधर का वक्तव्य द्रष्टव्य है।[9] (मन में) दोनों भाई कैसे टूट कर गले मिलते हैं। कोई नहीं जानता कि बड़े आदमियों में भाई-भाई में इतना प्रेम होता हैं। दोनों के आँसू न थमते थे। बड़ी कुशल हुई कि मैं मौके से पहुंच गया वरना वंश का अंत हो जाता। वस्तुतः हलधर के द्वारा मन में कहे गये इस पूर्ण दृश्य को किसी प्रसंग के माध्यम से मंच पर प्रस्तुत करना नाटक विधा के अधिक अनुकूल होता और वह नाटक-दृश्य में अधिक उत्कट, वास्तविक एवं प्रभावी होता। पर प्रेमचन्द ऐसा न करते हुए कतिपय चरित्रों के भाषणों के दौरान निवेदनात्मक शैली अपनाते हुए आरंभिक अंश मन के, तत्पश्चात् प्रकट रूप में अंश रख देते हैं। स्वगतों की भरमार इसी का परिणाम है।

भीतर के कथात्मक साहित्यकार को अपनी अनुभूति को कथ्य और कथावस्तु को कथात्मक तरीके से समेटते हुए और नाटकीय रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास में उन्हें कई अंकों, दृश्यों में विभाजित करना पड़ा है। परिणामतः अपने नाटकों में पाँच-पाँच अंकों में विभाजित कर उन में दस-दस दृश्यों की योजना उन्हें करना पड़ी है। संग्राम के पाँच अंकों में कुल सैंतीस और कर्बला के पाँच अंकों में कुल बयालीस दृश्यों की योजना करना इसी का परिणाम हैं। प्रेम की वेदी जैसे एकांक नाटक में भी सात दृश्यों की आयोजना है। अंकों और दृश्यों की संख्या तक ही यह समस्या नहीं रहती बल्कि उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रंगमंचीय सीमाओं एवं संभावनाओं के सहित निर्वाह पर भी प्रश्नचिह्न लग जाता है। दरबार, मस्जिद, मकान, तालाब, गली, रेगिस्तान, बग़ीचा, घोड़ों का गिरना, रणभूमि, लश्कर, प्रत्यक्ष युद्ध-स्थली, गांव जैसे कई स्थानों पर बदलते दृश्यों का काम एक ही नाटक में बराबर रहता है और साथ ही सुबह नौ से लेकर मध्यरात्रि तक समय परिवर्तित होते जाते हैं। 'संग्राम' नाटक के आरम्भिक दृश्य-संकेत देखिए—प्रभात का समय सूर्य की सुनहरी किरणे खेतों और वृक्षों पर पड़ रही हैं। वृक्ष-पुंजों के पक्षियों का कलख हो रहा है। वसंत ऋतु है। नई-नई कोंपलें निकल रही हैं। कहीं-कहीं सरसों भी फूल रही हैं। शीतविन्दु पौधों पर चमक रहे हैं।[10] उपन्यासकार की प्रतिभा से जानते यह वातावरण एवं दृश्य चित्रपट के कैमरे तो अंकित कर सकता हैं पर मंच पर प्रस्तुत करना संभव नहीं। उसी नाटक में तीन डाकुओं के सहित कंचन को नाव पर बिठा कर गाते हुए जाने का दृश्य मंच पर कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है ?[11]

नाट्य लेखन में शिल्पसंगठन के तंत्र तथा यंत्र की अवगतता के अभाव के बावजूद प्रेमचन्द ने संगीत तत्व की संयोजना, शेरो-शायरी, ग़ज़ल-गीत पद-रचना उन की कवित्व-शक्ति का परिचय दे देती है। स्वयं में कवित्व शक्ति का अभाव होना स्वीकार करते हुए भी उन के संग्राम और कर्बला के नाट्य-गीतों की दाद देनी पड़ती है। रोमांटिक गीत, शेर, ग़ज़ल, भजन, सामूहिक गीत आदि विभिन्न प्रकारों के भावनोत्कट गीतों का निर्मिति एवं उचित स्थानों पर प्रयोग में प्रेमचन्द ने कमाल कर दिया है। संग्राम में बूढ़ा सलोना के कतिपय गीत हैं। एक भावमधुर भक्ति-गीत देखिए—

मुझे लगन लगी प्रभु पावन की
रानी पावन की, धर लावन की।।
छोट काज आन लाज जगत की
निस दिन ध्यान लगावन की।।,
झिलमिल कारी जो निहारी
जैसे विजली सावन की
मुझे लगन लगी प्रभुपावन की।।[13]

अब्बास का हुसैनी के अंतिम क्षण गाया गीत हृदय को छू लेता।[12]

ग़श आता है हमें प्यास के मारे
उलफ़त हमें ले आई है फिर पास तुम्हारे।

इन सूखे हुए होंठों से होंठों को मिला के,
कुछ मशक में पानी हो, तो भाई पिलादे।

लेटे हुए हो रेत में क्यों मुंह को छिपाए,
गाफ़िल हो बिरादर तुम्हें किस तरह जगाए,

खुश हूंगा मैं, आगे जो अलग ले के बढ़ोगे,
क्या भाई के पीछे न नमाज़ आज पढ़ोगे।

रंगमंच के प्रति चिंता होते हुए भी उस का सम्यक् बोध एवं साक्षात् परिचय के अभाव के साथ ही, नाट्य लेखन के लिए आवश्यकतम से सीधे सम्बन्धित न होने के कारण रंगमंचीय दृष्टिकोण को वे नाट्य लेखन में निभा न सके हालाँकि लेखन के पूर्व रंगमंच का ख्याल तो उन्हें था। नाटकों की भूमिकाओं में स्पष्टतः संकेत दिया हैं कि रंगमंच पर खेला तो जा सकता है। हाँ इस के मैनेजर को कहीं-कहीं काट-छाँट करना पड़ेगा। मेरे लिए नाटक लिखना कम दुस्साहस का काम न था। उसे स्टेज के योग्य बनाने की धृष्टता असभ्य होगी।" संग्राम और प्रेम की वेदी का जहाँ तक सम्बंध हैं यह उक्ति सही हैं परन्तु कर्बला की भूमिका में उन्होंने लिखा हैं कि नाटक मैंने खेले जाने के लिए नहीं लिखा। मगर विश्वास है कि यदि इसे खेलना चाहें तो थोड़ी बहुत काट-छाँट से खेल सकते हैं।" वस्तुतः यही कथन समस्या पैदा करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1 प्रेमचन्द जीवन और कृतित्व, पृ. 33

2 पत्र भाग 2 सरस्वती सदन, दादर 14, 26 दिसम्बर 1934 पृ. 239

3 संग्राम, भूमिका

4 वही—भूमिका

5 कर्बला

6 वही, भूमिका

7 कर्बला पृ. 6

8 संग्राम, भूमिका

9 संग्राम, पृ. 175

10 संग्राम, पृ. 7

11 संग्राम, पृ. 128

12 संग्राम, पृ. 90

13 कर्बला पृ. 235

14 वही, पृ० 6

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोदान के प्रेरणा-स्रोत

डॉ० कमल किशोर गोयनका
हिन्दी विभाग
ज़ाकिर हुसैन कालेज, दिल्ली

साहित्य की रचना-प्रक्रिया में प्रेरणा-स्रोत का बहुत महत्व है। प्रेरणास्रोत का मूल बिन्दु है जहां से रचना का बीजीकरण होता है। लेखक के मन में कौन सी घटना, व्यक्ति, विचार, अनुभव आदि रचना के लिए उद्वेलित कर देगा, इस सम्बन्ध में लेखक और आलोचक दोनों ही निश्चय के साथ कुछ नहीं कह सकते। कोई एक सूक्ष्म विचार बड़ी रचना का कारण बन सकता है और गम्भीर दार्शनिक चिन्तन-मनन करने पर भी लेखक किसी रचना को जन्म देने में असफल हो सकता है। अनेक बार लेखक के मानस में कोई विचार, कोई घटना और कोई विशिष्ट अनुभव अनेक वर्षों तक उथल-पुथल मचाता रह सकता है और लेखक घनीभूत सम्वेदना की चरम-सीमा पर पहुंच कर अनेक वर्षों तक अभिव्यक्ति को टालने पर एक ऐसी मानसिक स्थिति पर पहुंच सकता है, जब सम्वेदना को शब्दों में व्यक्त करने के अतिरिक्त और कोई रास्ता ही न रह जाए। अतः प्रेरणा अनेक बार तत्काल लेखन की ओर प्रवृत्त करती है और कभी-कभी अनेक वर्षों तक लेखक के मानस को अभिव्यक्ति के लिए उत्तेजित करती रह सकती है। ये स्थितियां प्रेरणा के स्वरूप और उसके सम्बन्ध में लेखक के व्यवहार एवं प्रतिक्रिया पर निर्भर करती है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों का प्रेरणा-स्रोत मुख्य रूप से तत्कालीन समाज एवं स्वाधीनता संग्राम रहा है। समाज की दुर्व्यवस्था, छिन्न-भिन्न मान्यताएं, विकृत परम्पराएँ, भेदभाव और शोषण पर आधारित स्थितियां तथा विदेशी दासता से मुक्ति के लिए संघर्षरत भारतीय जनता ने उन्हें रचना की ओर प्रवृत्त किया। समाज की तत्कालीन परिस्थितियों एवं संघर्षों ने उन के मानस को उद्वेलित किया और वे अपने उपन्यासों एवं कहानियों में उनका चित्र खींचते चले गये। 'रंगभूमि' तथा 'कर्मभूमि' की प्रेरणा उन्हें तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं से मिली और 'सेवासदन', 'निर्मला', 'ग़बन', आदि की रचना के मूल में समाज में व्याप्त विभिन्न कुरीतियां एवं प्रथाएँ रही हैं।

'गोदान' के प्रेरणा-स्रोत अन्य उपन्यासों की तुलना में सर्वथा भिन्न हैं। 'गोदान' उपन्यास के प्रेरणा-संकेत दो प्रकार के हैं .. ..एक, गोदान से पूर्व के उपन्यासों में बिखरे लेखक के विचार; दूसरा, 'महाजनी-सभ्यता' लेख तक विभिन्न लेखों में व्यक्त विचार। इन उपलब्ध प्रेरणा-स्रोतों से यह प्रमाणित होता है कि 'गोदान' की रचना-प्रक्रिया लेखक के पूर्व-उपन्यासों से भिन्न हैं। प्रेमचन्द ने 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'प्रतिज्ञा', 'ग़बन', 'कर्मभूमि', आदि उपन्यासों के समान 'गोदान' की प्रेरणा, सामयिक राष्ट्रीय और सामाजिक आन्दोलन से ग्रहण नहीं की है। 'गोदान' की रचना के बीज 'सेवासदन' के रचना-काल से ही लेखक के मानस-जगत में उथल-पुथल मचाते रहे हैं और अपने प्रौढ़-काल में मानस-बीजों के प्रबलता से अंकुरित होने पर, लेखक की मानस-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमि से 'गोदान' जैसे पुष्प की सर्जना होती है। 'गोदान', 'कर्मभूमि' के समान, अपने युग की किन्हीं विशिष्ट घटनाओं की उपज नहीं है। वह तो प्रेमचन्द के मानस में धीरे-धीरे एकत्र होने वाली गहन और घनीभूत संवेदनाओं की एक संश्लिष्ट अभिव्यक्ति है। इस प्रकार, अपने प्रेरणा-स्रोतों में 'गोदान' अपने लेखक की कुछ अन्य कृतियों से भिन्न है। 'गोदान' में कृषक की ग्रामीण एवं शहरी सम्पर्क की कथा है। प्रेमचन्द सेवासदन-काल से ही कृषक की इस स्थिति और उस की नियति पर गम्भीरता से प्रकाश डालते रहे हैं। 'सेवासदन' में वह खेती को सबसे उत्तम मानते हैं और स्वाधीन कृषक एवं मज़दूर में कृषक को महत्व देते हैं।[1] 'प्रेमाश्रम' में भी वह किसानों के कुली और मज़दूर बनने का विरोध करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कृषकों के कारखाने के मज़दूर बनने से देहात वीरान हो जाएंगे और राष्ट्र का सत्यानाश हो जाएगा।[2] 'रंगभूमि' में सूरदास का संघर्ष तो कृषक और कृषि-संस्कृति की इकाई गांव की रक्षा के लिए है ही। सूरदास भी खेती का सब से उत्तम मानता है।[3] 'कर्मभूमि' में भी लेखक ने किसानों के शहरों में जाकर मज़दूरी करने का उल्लेख किया है, परन्तु कृषक और उस की गृहस्थ-धारणा की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "कृषि प्रधान देश में खेती केवल जीविका का साधन नहीं है, सम्मान की वस्तु भी है। गृहस्थ कहलाना गर्व की बात है। किसान गृहस्थी में अपना सर्वस्व खोकर विदेश जाता है, वहां से धन कमा कर लाता है और फिर गृहस्थी करता है। मान-प्रतिष्ठा का मोह औरों की भाँति उसे भी घेरे रखता है। वह गृहस्थ रहकर जीना और गृहस्थी ही में मरना भी चाहता है। उसका बाल-बाल कर्ज में बंधा हो, लेकिन द्वार पर दो-चार बैल बांधकर वह अपने को धन्य समझता है। उसे साल में 260 दिन आधे पेट खाकर रहना पड़े, पुआल में घुसकर रातें काटनी पड़ें, बेबसी में जीना और बेबसी में मरना पड़े, कोई चिन्ता नहीं, वह गृहस्थ तो है। यह गर्व उसकी सारी दुर्गत की पुरौती कर देता है।[4] 'कर्मभूमि' में यह किसी पात्र के सम्वाद का अंश न होकर लेखक का अपना वक्तव्य है। यह लेखकीय-वक्तव्य 'कर्मभूमि' पर उतना लागू नहीं होता, जितना 'गोदान' के होरी पर होता है। इस वक्तव्य से, 'गोदान' उपन्यास के कुछ बीज-विचारों का स्पष्टीकरण हो जाता है।

'गोदान' की रचना के पश्चात् प्रकाशित 'महाजनी-सभ्यता' लेख तक प्रेमचन्द ने अनेक विषयों पर लेख और टिप्पणियां लिखी थीं। 'गोदान' की रचना के रहस्यों को समझने के लिए इनमें व्यक्त कुछ विचारों का अवलोकन आवश्यक है। प्रेमचन्द के अनुसार किसान एक 'सीधी, बेज़बान, दुधार गाय' है। ज़मींदार इस गाय से केवल दूध निकालने का सम्बन्ध रखता है, भूसा व खली मिलने न मिलने की उसे कोई चिंता नहीं है। किसान अपनी सभी आवश्यकताएं बीज, कपड़ा, बैल, शादी-ग़मी आदि, कर्ज से ही पूरा करता है और एक बार कर्ज़ लेकर वह जीवन-पर्यन्त उऋण नहीं हो सकता। वह कर्ज लेकर महाजनों की यावज्जीवन मज़दूरी करता है और मृत्यु के पश्चात् विरासत के रूप में कर्ज़ पुत्रों को दे जाता है। ज़मींदार और महाजन खलिहान में ही अपना-अपना हिस्सा ले लेते हैं और किसान हाथ झाड़कर अपनी तक़दीर को रोता हुआ घर आ जाता है। प्रेमचन्द के अनुसार ज़मींदार, साहूकार, सरकार, मिल-मालिक आदि अनेक शक्तियां किसान को अपना शिकार बनाती हैं लेकिन वह यह मानते हैं कि 'किसानों के उद्धार का सबसे आवश्यक अंग उन्हें महाजन के पंजे से निकालना है।, प्रेमचंद ने किसान और ज़मींदार— दोनों के कर्ज पर तुलनात्मक टिप्पणियां भी की हैं। वह कहते हैं कि कृषक मेहनत करके भी कर्ज़दार है। परन्तु ज़मींदार अपनी फिज़ूलखर्ची और नगरीय-विलासिता के कारण कर्जदार बने हैं। इधर किसानों की देह पर साबित कपड़ा भी नहीं है, और उधर ज़मींदार बंगलों में ऐश की ज़िन्दगी बसर कर रहे हैं।[1] इसके पश्चात् प्रेमचन्द अपने 'महाजनी-सभ्यता' लेख में इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि दुनिया में सर्वत्र महाजनों का ही राज्य है। सारे कामों की गरज़ महज़ पैसा है। महाजनी सभ्यता के नए नीति-नियमों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्गत उन्होंने 'समय ही धन है' तथा 'व्यवसाय व्यवसाय है' की चर्चा कर इनकी तीव्र भर्त्सना की है। दूसरे सिद्धांत को तो उन्होंने 'रक्त पिपासु सिद्धांत' कहा है। प्रेमचन्द की दृष्टि में, महाजनी-सभ्यता ने ही सभी बुराइयों की सृष्टि की है। इस पैसा-पूजा को मिटा दीजिए, सारी बुराइयां अपने आप मिट जाएंगी।[4]

प्रेमचन्द के उपर्युक्त विचार 'गोदान' को समझने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। प्रेमचन्द किसान को दुधारू गाय मानते हैं। ज़मींदार, महाजन, पंच, सरकार, मिल-मालिक आदि सभी उसके दूध के प्यासे हैं। किसान एक साधारण गृहस्थ के समान जीवन व्यतीत करना चाहता है, चाहे उसे शोषण और कर्ज़ के नरक में ही रहना पड़े। किसान की आकांक्षा बस यही है कि वह एक किसान के रूप में अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करे। लेकिन महाजन, ज़मींदार, पंच आदि के शोषण के कारण, किसान की गृहस्थ के रूप में रहने की मरजाद टूट रही है। उसकी ज़मीन उसके हाथों से निकल रही है और वह पेट भरने के लिए मज़दूरी करने को विवश है। कृषक की इस परिणति के लिए, प्रेमचन्द महाजनी-सभ्यता को मुख्यरूप से दोषी मानते हैं। महाजनों के जाल में किसान और ज़मींदार, दोनों फंसे हैं। इसका परिणाम दोनों को भुगतना पड़ता है। किसान ज़मींन की रक्षा के लिए मज़दूरी करते हुए मरने को विवश होता है, और ज़मींदार का सुख-संसार छिन्न-भिन्न होकर ध्वस्त हो जाता है। वास्तव में, ये ही वे विचार हैं, जो 'गोदान' की रचना में महत्वपूर्ण कारण बने हैं। प्रेमचन्द के मानस में, 'कर्मभूमि' की समाप्ति के पश्चात् यकायक होरी का जन्म नहीं होता, बल्कि 'सेवासदन' के रचना-काल से ही वह किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा है। अत: यह कहना उचित होगा कि होरी का जन्म लेखक की गहन, घनीभूत और लम्बे समय तक चलने वाली पीड़ा का परिणाम है। होरी का जन्म गोदान से पूर्व भी हो सकता था, यदि प्रेमचन्द गोदान से पूर्व गोदानकार बन सके होते। गोदान से पूर्व प्रेमचन्द अपने अधिकांश उपन्यासों की मुख्य-कथाओं में ऐसे संसार का निर्माण करते रहे हैं, जो जीवन के यथार्थ से अलग हटा हुआ है, जो उनका इच्छित संसार है। 'कर्मभूमि' में उन का इच्छित-संसार युग की घटनाओं से प्रमाणित है, लेकिन 'ग़बन' में रमानाथ का सपरिवार गांव में जाकर रहना उनका इच्छित संसार ही है। 'गोदान' में होरी की कथा में, प्रेमचन्द ने इस इच्छित-संसार का आरोपण नहीं किया है। होरी को उसकी यथार्थ परिस्थितियों में मरने देना, अनेक वर्षों तक इच्छित एवं समाधानपरक संसार के निर्माण तथा यथार्थ-स्थिति की रचना के धरातल पर टालने के बाद की स्वीकृति है। प्रेमचन्द ने अपनी मृत्यु-शय्या पर जैनेन्द्र कुमार से कहा था 'कि आदर्श से काम नहीं चलेगा,'[6] लेकिन रचनाकार के रूप में उन्होंने होरी की कहानी कहना प्रारम्भ करने पर ही इस तथ्य को हृदयंगम कर लिया था। होरी की साहित्यिक अवतारणा से पूर्व भी, प्रेमचन्द होरी की यथार्थ-नियति से अपरिचित नहीं थे, लेकिन उनका रचनाकार अपने इच्छित-संसार के निर्माण के उत्साह में, होरी की नियति के सुधार की सम्भावनाओं को स्वीकार करता रहा और होरी की जन्म-घटना बराबर टलती रही। होरी का जन्म लेखक के 'मोह-भंग' का परिणाम ही नहीं है, बल्कि प्रेमचन्द के आस्था-स्तम्भ के टूटने की पीड़ा के बीच होरी का साहित्य में जन्म होता है। आस्थाओं का विघटन, प्रेमचन्द के लिए, उनका स्वयं का टूटना है और यह किसी भी लेखक के लिए चरम पीड़ा-जनक स्थिति है। प्रेमचन्द का प्रेमचन्द के रूप में टूटकर गोदानकार के रूप में नया रूप ग्रहण करना एक बड़ी घटना है और इसी घटना से एक साधारण किसान होरी के जन्म की कहानी प्रारम्भ होती है।

---

1. 'सेवासदन', पृ० 115।
2. 'प्रेमाश्रम', पृ० 86 व 265।
3. 'रंगभूमि', पृ० 16
4. 'कर्मभूमि', पृ० 291।
5. 'विविध-प्रसंग'-2, पृ० 482-83, 505, 498, 509।
6. 'प्रेमचन्द-स्मृति', पृ० 257-263।
7. जैनेन्द्र कुमार, 'प्रेमचन्द-एक कृती व्यक्तित्व', पृ० 57।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० विनय
25, बैंग्लो रोड,
दिल्ली

प्रेमचंद के उपन्यासों में अस्तित्ववाद और निर्वैयक्तिकता के संकेत

अस्तित्ववादी विचारधारा का आविर्भाव यूरोप में अपेक्षाकृत आधुनिक और दार्शनिक चिंतन पद्धति के रूप में हुआ। मौलिक रूप में दर्शन के क्षेत्र में उत्पन्न यह पद्धति बाद में साहित्य में भी मान्य हुई। जर्मन दार्शनिक हसरेल तथा हेडेगर और डैनिश विचारक कीर्केगार्द इसके प्रारम्भिक चिंतकों में माने जाते हैं। बाद में ज्यां पाल सार्त्र, एलन, एल्बेयर कामू और सीमेन द बोउवा ने अस्तित्ववादी विचारधारा को पुष्ट करते हुए साहित्यिक ख्याति दी।

अस्तित्ववादी चिंतन का सूत्र है—Existence Precedes Essence अर्थात् अस्तित्व की स्थिति तत्व से पूर्व है। यहां तत्व से भाव मनुष्य की मौलिक प्रकृति से है और अस्तित्व का अर्थ उस का कर्म-समूह है, जिस से उस की जागतिक स्थिति सिद्ध होती है।—(हिंदी सहित्य कोष)-ऐलेन ने अस्तित्व-वाद की उपयुक्त परिभाषा करते हुए कहा है—"अस्तित्ववाद परंपरागत दर्शन न हो कर अभिनेता की दृष्टि है। अस्तित्ववादी चिंतकों के दो वर्ग ईश्वरवादी और निरीश्वर-वादी माने जाते हैं। कीर्केगार्द, यास्पर्स ईश्वरवादी हैं और सार्त्र निरीश्वर-वादी। ईश्वर की सत्ता मानने और न मानने की वैचारिक भूमि ने साहित्यिक क्षेत्र में अस्तित्ववादी को कुछ अधिक व्यापक रूप से फैलने का अवसर दिया। और धीरे-धीरे इस दार्शनिक चिंतन की साहित्यिक मूल्यगत स्थिति स्पष्ट होती गई।

क्योंकि मनुष्य की अवश और निरूपाय स्थिति से इस का प्रारम्भ माना जाता है, अतः लेखन में जहां कहीं इस प्रकार की स्थिति प्राप्त होती है, वहां सीधे या अप्रत्यक्ष रूप में अस्तित्ववाद का प्रभावाकलन किया जा सकता है। मनुष्य को वरण की स्वतंत्रता नहीं है, अत. वह कम समय में जीवन को अर्थवान बनाना चाहता है। मूलतः अस्तित्ववाद मानव-मुक्ति में आस्था रखता है। यह मानव-मुक्ति प्रारंभ में परंपरा से है। यह सिद्धान्त मानता है कि अवसाद के क्षणों के बाद मनुष्य में कर्मण्य होने की स्थिति भी प्रबल होती है। आगे चल कर विचारकों ने यह भी माना कि साहित्य जीवन के दैनंदिन संघर्षों से घनिष्ठ रूप में संबद्ध है। सीमेन द बोउवा ने समाज के प्रति व्यक्ति के दायित्व की बात भी की है। इस प्रकार यह आधुनिक दर्शन मनुष्य की स्वतंत्रता को केन्द्र में रख कर उस से संबद्ध अन्य तत्वों तक को अंतर्भुक्त कर लेता है।

अपने मूल रूप में अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा प्रेमचन्द की प्रकृति के अनुकूल नहीं थी। प्रेमचन्द समाज को प्रतिष्ठा देते थे और व्यक्ति को सामाजिक नियमों के दायरे में एक हद तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतंत्रता देने के पक्ष में थे। लेकिन एक दृष्टि से उन का साहित्य भी अस्तित्ववाद के परवर्ती स्वरूप से प्रभावित होता है। उनके उपन्यासों में मानव-मुक्ति में आस्था की अभिव्यक्ति हुई है। सीमेन द बोउवा की दृष्टि से तो प्रेमचन्द का अधिकांश साहित्य इस विचारधारा के अनुकूल माना जा सकता है। बोउवा ने समाज के प्रति व्यक्ति के दायित्व की जो बात कही वह भी प्रेमचन्द में मिलती है और जीवन के दैनंदिन संघर्षों से घनिष्ठ संबद्धता (जो अस्तित्ववादी विचार का विस्तृत रूप है) प्रेमचन्द के साहित्य की धुरी ही है। वैसे कुछ अंतर्विरोध भी स्पष्ट हैं। उदाहरणार्थ अस्तित्ववादी मानव जीवन को मूलतः निरर्थक मान कर उसे मानवीय अर्थ देने की बात कहते हैं, प्रेमचन्द के साहित्य में निरर्थकता की विचारधारा नहीं है। किंतु संपूर्ण सामाजिक ढांचे में उन्होंने निरंतर जीवन को मानवीय अर्थ देने का प्रयास किया है। अवसाद के क्षणों के बाद कर्मण्य होने की वृत्ति को अस्तित्ववाद में पर्याप्त स्थान मिला है। कर्मभूमि में अमरकांत कहता है—'जब उन्होंने मुझे इतनी निर्दयता से दुत्कार दिया, तो मैं नहीं चाहता कि उनसे एक पैसा भी माँगूं। (कर्मभूमि, पृ० 14) इस कथन से अमरकांत कर्मण्य जीवन की ओर अग्रसर होता है। वह चरखा कातता है। उस के पूरे चरित्र में अस्तित्व का बोध प्रखर है। पत्नी के कहने पर कि अपनी पढ़ाई के लिए मुझ से या अम्मा से कुछ ले लो—वह बुरा मानता है क्योंकि उसके अहं को ठेस लगती है। वह कहता है, 'मुझे डिग्री इतनी प्यारी नहीं है कि उसके लिए ससुराल की रोटियां तोड़ूं।'— इसके साथ ही अमरकांत में जीवन को मानवीय अर्थ देने की वृत्ति अधिक मुखर हुई। वह अपने जीवन की परम्परामुक्त स्व-अर्जित अर्थवत्ता स्वीकार करता है। (कर्मभूमि पृ० 20) अस्तित्ववादी एलन के अनुसार : 'अस्तित्ववाद परंपरागत दर्शक की दृष्टि न होकर अभिनेता की दृष्टि है' के विचार को अपने जीवन में चरितार्थ करता है।

प्रेमचन्द के चिंतन में मानव-मुक्ति में आस्था की प्रबलता है, किंतु वह अस्तित्ववादियों जैसी आस्था नहीं---(दे० रंगभूमि में सूरदास का चरित्र) यह आस्था कहीं परंपरा की स्वीकृति में है, लेकिन परंपरा की स्वीकृति भावनावश न हो कर बुद्धिगत प्रक्रिया से होती है और सूरदास एक समाज के विशिष्ट वर्ग—जो प्रवृत्ति में साधारण हैं— के प्रति अपना दायित्व निभाता है। अवसाद के बाद कर्मण्य होने की वृत्ति गोदान के गोबर में काफ़ी हद तक अस्तित्ववादी विचार की प्रखरता संपूर्ण गोदान जीवन के दैनंदिन संघर्षों की करुण गाथा है। लेकिन वहां चुनाव की स्वतंत्रता नहीं है। हां यास्पर्स जैसी ईश्वरवादी दृष्टि से निरंतर उखड़ी हुई स्थितियों को स्वीकारने जैसा उपक्रम है। गोबर, मातादीन, भोला के सामने जब चुनाव की स्थिति आती है, तो वे निरंतर एब्सर्ड स्थितियों की तरफ़ बढ़ते हैं। इसका एक ज्वलंत उदाहरण सेवासदन की सुमन है। वह एक ऐसे सामाजिक माहौल में जीवन जीती है कि उसकी मानसिक यात्रा जीवन से अस्तित्व की ओर जाती है। युग के अनुसार चित्तविकृति स्व के विभाजन से होती है और यहां वरण करने की स्वतंत्रता न होने पर व्यक्ति एब्सर्ड स्थितियों की ओर जाता है या उनका शिकार होता है। उसका चेतन मन तो आदर्श स्थितियों के प्रति आस्था रखता है, पर अवचेतन इतना क्रियाशील हो जाता है कि न चाहते हुए भी 'एब्सर्ड' बनता चला जाता है। सुमन चेतन मन से वेश्यावृत्ति को अस्वीकार करती है, किंतु उसके सामने जो भी स्वतंत्रता है, उस में वह वेश्यात्व की ओर उन्मुख होती है। वेश्यावृत्ति को कलंक मानते हुए भी वह उसे अस्वीकार नहीं कर पाती।

यह बहुत संभव है कि गोदान की एब्सर्ड स्थितियां आधुनिक बोध के दायरे में उतनी सही न हों, लेकिन परंपरा से संघर्ष करते, उससे मुक्त होकर अपते अस्तित्व के लिए किये जाने वाला यह चुनाव काफ़ी कुछ एब्सर्डिटी के नए बोध के अंतर्गत लिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता है। प्रेमचन्द के पात्रों का विश्लेषण इस बिन्दु से भी किया जा सकता है कि उनके पात्र शक्ति के अदम्य स्रोत भी हैं, वेदना और मृत्यु के सीमांत पर टूटे हुए भी, जुल्म सहते हुए भी, क्रांतिकारी भी और सब तरफ से एक प्रश्न के रूप में समस्या भी। (सूरदास, होरी, धनिया, अमरकांत, सुमन आदि पात्र इन स्थितियों की अलग-अलग पहचान देते हैं।)

रंगभूमि के विनय और सोफ़िया का चारित्रिक विकास भी जीवन के आदर्श रूप से अस्तित्व तक आने की यात्रा है। यह बात दूसरी है कि वे पुनः आदर्श का संबल लेकर वापस लौट जाते हैं। यहां एक प्रश्न नितांत स्वाभाविक रूप में उठता है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों की रचना अस्तित्ववादी दर्शन के व्यापक प्रसार के पूर्व हुई, तो क्या प्रेमचन्द को उससे प्रभावित माना जाए? कालक्रम का यह व्याघात विचार को समय-निरपेक्ष रूप से देखने पर हल हो सकता है। इस संदर्भ में हमें सार्त्र और कामू उतने महत्वपूर्ण नहीं लगते, जितने हेडेगर। अस्तित्ववादियों के लिए मृत्यु एक पवित्र संदर्भ रही है और भारतीय चिंतन के अनुसार भी मृत्यु एक पवित्र अंत ही है। अनिवार्य। हेडेगर ने व्यक्तिगत अस्तित्व को सान्त और कालिक माना और उसी रूप में विशिष्ट चरित्र भी। अपनी मृत्यु की कामना करते हुए मनुष्य परम अनस्तित्व का साक्षात्कार करता है। मृत्यु के बाद भी वह कुछ सूत्र, अर्थ छोड़ जाता है और वह बाह्य सत्ता के आयाम में अस्तित्व रख पाता है। इस दृष्टि से निर्माता के मनसाराम, गोदान के होरी आदि की मृत्यु-कामना घोर नैराश्य में एक अर्थवान सूत्र को छोड़कर स्वयं की मुक्ति की कामना ही है।

इस प्रकार प्रेमचन्द के पूरे उपन्यास साहित्य में अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन की छुटपुट रेखाएं दिखाई दे जाती हैं।

हिन्दी साहित्य के संदर्भ में निर्वैयक्तिकतावाद का प्रारम्भ आधुनिक युग से हुआ। इलियट की उक्ति है कि कलाकार जो भोगता है, उससे पृथक् है, जो सर्जन करता है—अर्थात् कलाकार सृजन जीवन और जगत् के प्रति उसके तटस्थ दृष्टिकोण को उपस्थित करता है। वह अपनी रचना में निरन्तर अपने व्यक्तित्व के लोप की प्रक्रिया से गुज़रता है। यह स्थिति वहां अधिक प्रामाणिक रूप से आती है, जहां कलाकार सामाजिक यथार्थ की ओर अधिक जागरूक होता है। ऐसे लेखक पर निर्वैयक्तिकता का नियम लागू हो सकता है। दूसरे रूप में लेखक नायक प्रतिनायक को एक ही लगन से व्यक्त करता है। यह समस्या ही निर्वैयक्तिकता की मुख्य समस्या है। आज के वैज्ञानिक, यंत्रचालित युगों में कलाकार के अहं और परिवेश के बीच गहरी खाई होती जा रही है। ऐसे में लेखन-कर्म तभी सफल है, जबकि लेखक अपने आप को भी निरपेक्ष दूरी से विश्लेषित कर सके। इसकी आदर्श स्थिति वहां होती है, जहां लेखक अपनी ओर से कुछ नहीं कहता —उसके सामने एक चरित्र होता है और वह उसको यथावत् वस्तुगत दृष्टि से व्यक्त करता है। यह एक प्रकार का 'सेल्फ़ ओवियेशन' है, जो लेखक का व्यक्त वस्तुस्थिति के प्रति पूरी तटस्थता बरतने का उत्तरदायित्व देता है।

प्रेमचन्द के संदर्भ में निर्वैक्तिकता का नियम पूरी तरह से लागू नहीं होता, क्योंकि जिन परिस्थितियों को उन्होंने अपने जीवन में भोगा उनके प्रति वह अधिक संवेदनशील रहे। ऐसे स्थलों पर वह अपने व्यक्तित्व को व्यक्त करने से न रुक सके अर्थात् उनके पात्र और स्थितियां उनका प्रतिरूप बन गई। मनोवैज्ञानिक वस्तुस्थिति की दृष्टि से रंगभूमि की सोफ़िया के प्रति प्रेमचन्द का दृष्टिकोण तटस्थ नहीं रह सका। उनके उपन्यासों में उनके कमेंट (व्याख्या) उनकी अपनी निश्चित धारणाओं के अनुकूल प्राप्त होते हैं। सामान्यतः प्रारम्भिक उपन्यासों में प्रेमचन्द के व्यक्तित्व की छाप अधिक दिखाई देती है। धीरे-धीरे यह प्रक्रिया कम होती गई। कर्मभूमि, रंगभूमि में प्रेमचन्द काफ़ी सीमा तक व्यक्ति को व्यक्त न करते हुए निर्व्यक्ति को अभिव्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देते रहे। प्रेमचन्द का कोई भी उपन्यास ऐसा नहीं कहा जा सकता जिसमें उन्होंने घटनाओं और पात्रों को अपनी व्याख्या से मुक्त होकर उपस्थित किया हो। वस्तुतः मनुष्य, ईश्वर और विश्व के विषय में प्रेमचन्द के दृढ़ विचार, उनकी सम्पति इस रूप में अभिव्यक्त होती रही है कि अपर पक्ष का विश्लेषण उसके प्रकाश में हुआ और उनका जीवन-दर्शन स्थिर होकर पाठकों के समक्ष आया। प्रेमचन्द ने यथार्थ को लिया, लेकिन अपने दृष्टिकोण से उसमें सुधारवाद का आरोपण भी किया। अपने सुझाव भी दिये।

सेवासदन, निर्मला रंगभूमि में उनका सुधारवाद अधिक प्रखर होकर आया। गोदान में प्रेमचन्द ने इस क्षेत्र में काफ़ी आधुनिक होकर स्थितियों का संयोजन किया। रायसाहब, गोबर और होरी के प्रसंग में वह काफ़ी निर्व्यक्ति बने रहे। होरी के चरित्र को उन्होंने पर्याप्त तटस्थता के साथ 'एक विवश किसान' के रूप में प्रस्तुत किया, उनकी सुधारवादी वृत्ति ने अंत तक किसी भी पात्र को, इस रूप में नहीं बदला, जिससे उनकी स्वाभाविकता पर आंच आ सके।

प्रेमचन्द के विषय में यह कहना ठीक होगा कि वह कलाकार के रूप में व्यक्ति भी रहे और निर्वैयक्तिक भी। उन्होंने तटस्थ होकर ज्ञान सेवक तोता राम, अमरकांत, मेहता, मालती जैसे चरित्रों की अवधारणा की। इन पात्रों का संसार प्रेमचन्द के संसार से अलग रहा और उनकी चित्त-वृत्तियां भी लेखक के विचारों से अधिक मेल नहीं खाती थीं, फिर भी सर्जन की दृष्टि से इन में गहरी प्रभावशीलता विद्यमान है। गोबर का चरित्र गोदान में प्रेमचंद ने अपने आदर्शवाद को अलग रख कर चित्रित किया। उनके उपन्यासों में ऐसी स्थितियां प्रचुर मात्रा में है, जिनसे प्रेमचन्द का कोई वैयक्तिक लगाव नहीं था और न ही उनके प्रति लेखक का निश्चित मत। इन स्थितियों में प्रेमचन्द अपेक्षाकृत अधिक तटस्थ रह सके। रंगभूमि का औद्योगीकरण का संघर्ष, कर्मभूमि की राजनैतिक संघर्ष की पीठिका, मजदूरों का संघर्ष आदि स्थितियों में प्रेमचन्द ने अपनी मान्यताओं को बहुत पीछे से व्यक्त किया है। इस पर भी निर्वैयक्तिकता का दृष्टिकोण प्रेमचन्द के अनुकूल कभी नहीं रहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचन्द की कहानियों में नैतिक मूल्यों का संघर्ष

डॉ० कीर्ति केसर
एच-13, शिवाजी पार्क
नयी दिल्ली

प्रेमचन्द का रचनाकाल भारतीय सामाजिक जीवन में राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सभी स्तरों पर तीव्र गतिशीलता का दौर था। नवीन राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक चेतना के विकास के कारण सांस्कृतिक जीवन में मूल्य-संघर्ष की विषम स्थिति थी। भक्तिकालीन धार्मिक आस्थाओं और रीतिकलीन सामन्ती विलासिता में ठहरी हुई भारतीय संस्कृति पर शासक बनकर आयी पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति का आक्रामक आघात पड़ने लगा था। अतः दो संस्कृतियों के घात-प्रतिघात से ज्ञान की नवदीप्ति व्यापक रूप में उदित हुई। अंग्रेज़ी शिक्षा से दीक्षित 'नये अभिजन' का उदय हुआ। नगर संस्कृति (विज्ञानमूलक) विकसित होने लगी। उसने परंपरागत धार्मिक-सांस्कृतिक-सामाजिक-मान्यताओं-भगवान की इच्छा, भाग्यवाद, पुनर्जन्म, नरक-स्वर्ग, जातिवाद, अस्पृश्यता और धार्मिक-कर्मकांड को सक्रिय रूप से नकार दिया। व्यक्ति-समाज के समूचे जीवन के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन होने लगा था। शिक्षित मध्यवर्ग के उदय के साथ वैज्ञानिक तर्कपूर्ण वैचारिक मान्यताओं की स्थापना हुई जिसका विकास पुनर्मूल्यांकन और पुनर्व्याख्या के रूप में 20वीं सदी के तीसरे दशक तक होता रहा। अंग्रेज़ों ने आधुनिक क़ानून व्यवस्था, कुशल अधिकारी तंत्र, न्याय व्यवस्था, यातायात और संचार-साधन, आधुनिक शिक्षा पद्धति छापेखाने और प्राद्योगिकी की देश में स्थापना की। ईसाई धर्म को लौकिकता और मानवतावादी दर्शन की उदार मान्यताओं से व्यक्ति और समाज में वैचारिक क्रांति उदित हुई। एक अपराध के लिए एक ही दंड विधान के आरक्षण में अभिजात वर्ग के शोषण-मूलक अधिकारों और शोषित वर्ग के लिए कर्मफल अभिशप्त से होकर जीने की नियति का कठोर विरोध होने लगा। सामंतकालीन फूट, बिखराव, असुरक्षा, दिशाहीनता, जाहिलपन, ग़रीबी और अकर्मण्यता के विरुद्ध राष्ट्र एकता के सूत्र में बंधकर नयी स्फूर्ति एवं चेतना का अनुभव करने लगा। इस सांस्कृतिक से वस्तुस्थिति तत्कालीन सामाजिक जीवन में कितना गम्भीर परिवर्तन हुआ यह उस समय स्पष्ट हुआ जब हमारी सदियों पुरानी वर्ण-व्यवस्था का ढांचा चरमराने लगा और स्त्री-पुरुष संबन्धों की मान्यताएं और स्वरूप बदलने लगा।

पश्चिम के जनतांत्रिक आदर्शों ने राष्ट्र की राजनैतिक आकांक्षाओं को उद्बुद्ध किया जिन्होंने कालान्तर में स्वतंत्रता-संघर्ष को दिशा दी और 'स्वाधीनता, को सर्वोपरि राष्ट्रीय नैतिक मूल्य का स्वरूप दिया। सदियों से ग़ुलाम राष्ट्र पराधीनता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलंक से गहरी उद्विग्नता से कराह उठा और मुक्ति के लिए कोई भी क़ीमत चुकाने के लिए तत्पर हो गया। साहित्य में राष्ट्र की इस अनुभव-चेतना की एक धारा खोयी हुई राष्ट्रीय गरिमा और गुलामी के गहरे कुंठा-बोध से अभिप्रेरित होकर अतीत की महिमा का गुणगान करने लगी, दूसरी वर्तमान के सत्य को यथार्थवादी दृष्टिकोण से देख-परख कर संशोधन, खंडन-मंडन और सुधारवादी मनोवृत्ति के रूप में अभिव्यक्त होने लगी। साहित्य में इन दोनों चेतना-धाराओं के आधार-स्तंभ जयशंकर प्रसाद और प्रेमचन्द थे। यथार्थवादी वैज्ञानिक दृष्टि-कोण के आलोक में व्यक्ति और समाज का ऐहिक कल्याण प्रबुद्ध मानस के चिंतन और कर्म का मुख्य लक्ष्य बन गया। ईश्वर के स्थान पर मनुष्य अपने कर्म और संकल्प का नियामक स्वयं को मानने लगा। सामाजिक रूढ़ियों, धार्मिक कर्मकांड और परजीवी पंडा-पुरोहित वर्ग ही नहीं समूचे ब्राह्मण अभिजात्य को ही अस्वीकारा जाने लगा। मार्क्स दर्शन और फ्रायड की मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं का जागरूक भारतीय मानस पर द्वंद्व पूर्ण प्रभाव पड़ा।

पश्चिमी सभ्यता-संस्कृति का प्रभाव सतह पर जितना आरोपित था भीतर उतना ही संक्रमणशील भी था। नैतिक मूल्यों के विघटन अथवा परिवर्तन की अकुलाहट, छटपटाहट, टकराहट का द्वन्द्व आक्रमण और प्रतिरक्षात्मक दोनों ही रूपों में प्रकट हो रहा था। स्वदेशी के लिए मोह प्रसूतपीड़ा और विदेशी के आकर्षण से लोभयुक्त पीड़ा का द्वंद्व राष्ट्र के समूचे चरित्र में व्याप्त था क्योंकि संक्रमण कई स्तरों पर हो रहा था। राजनीति में स्वदेशी विदेशी की टकराहट थी। स्वदेशी में भी गांधीवादी और उग्र समाजवादी तत्वों का टकराव था। अपने ही देश के प्रशासकों, पुलिस अधिकारियो से सामान्य जनता की टकराहट थी। सामाजिक क्षेत्र में सामंती और महाजनी सभ्यता का संघर्ष था। देश की सम्पत्ति राजाओं-महाराजाओं के हाथों से निकल कर शहरों के उद्योगपतियों के हाथों में आने लगी थी। देशी और विदेशी पूंजीपति में टकराव था। औद्योगीकरण के फलस्वरूप मज़दूर वर्ग संगठित होने लगा था। वर्ग-संघर्ष भी उत्पादक और श्रमिक के बीच होने लगा था।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का दबाव सामाजिक-पारिवारिक संबंधों पर व्यापक रूप से पड़ने लगा था। मध्यवर्ग का जीवन नैतिक मूल्य-स्तर पर द्वन्द्वपूर्ण हो गया था। वह अपनी आर्थिक स्थिति और उच्च मर्यादापालन के बीच बुरी तरह पिस कर आडम्बरप्रियता का शिकार हो गया था। यह वर्ग-बोध के स्तर पर सर्वाधिक विकसित था किंतु आर्थिक विषमता में इसका नैतिक पतन, समझौता-परस्ती, सौदेबाज़ी, देशद्रोह और घूंसखोरी के रूप में प्रकट होने लगा था। यह वर्ग अपनी भारतीयता से कुंठाग्रस्त भी था। प्रशासनिक सेवाओं में इस रूग्णता की अभिव्यक्ति क्रूर अमानुषिक रूप में हुआ करती थी। प्रेमचन्द की कहानी 'माता का हृदय' का वकील कहता है "हिन्दुस्तानियों को तो कोई बड़ा पद न ही मिले वही अच्छा। पद पाकर तो उनकी आत्मा का पतन हो जाता है। उनकी अपनी हिन्दुस्तानियत का दोष मिटाने के लिए कितनी ऐसी बातें करनी पड़ती हैं जिनका अंग्रेज़ के दिल में ख्याल ही पैदा नहीं होता।" इन सारे वर्गों का पोषक बहुसंख्यक किसान था जिसका शोषण दोहरी अर्थव्यवस्था कर रही थी। छोटे-छोटे साहूकारों के रूप में महाजनी सभ्यता की अपशक्तियां देहात में भी फैली थीं जो किसान की कई पीढ़ियों तक रक्त की हर बूंद की स्वामिनी थी। धर्म भी अर्थमूलक होकर रूढ़िवादी अंधविश्वासी किसानों का शोषण करता था।

इस प्रकार प्रेमचन्द युगीन भारतीय-समाज के जीवन में गम्भीर-मृत्यु संघर्ष व्याप्त था। प्रेमचन्द इस संकट की स्थिति में जागरूक, संवेदनशील, त्रिकालदर्शी, सक्रिय समालोचक और कर्मठ सुधारक प्रहरी की तरह साहित्यिक मोर्चे पर आजीवन डटे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहे। वह अपने रचनाकाल में राष्ट्रीय जीवन के घटनाक्रम के साथ मूल्य-स्तर पर वचन और कर्म से जुड़े रहे। दलित शोषित ग्रामीण किसान-मज़दूर और गुलाम भारतीय जाति उनकी आत्मा की व्याकुलता के दो मुख्य आधार थे। शोषणमूलक आर्थिक-धार्मिक-सामाजिक व्यवस्था को जड़मूल से उखाड़ फेंकने की तड़प उन्हें 'क़लम के सिपाही' के रूप में स्थापित करती रही। अपने साहित्य में उन्होंने सामाजिक यथार्थ के कुशल चितेरे की भूमिका सतत संघर्षशील होकर समर्पण भाव से निबाही है। अपने परिवेश और सामयिक सामाजिक यथार्थ के प्रति वह जितने ग्रहणशील थे, अपने सैद्धांतिक आदर्श के प्रति उतने ही आग्रहशील सदैव बने रहे।

इस देश के सामाजिक जीवन में प्राचीनकाल से धर्म का विशिष्ट स्थान रहा है। अनुचित न होगा यदि कहा जाए कि धर्म सामाजिक जीवन का नियामक रहा है। यहां धर्म का बौद्धिक पक्ष दर्शन से संबद्ध रहा है और भावपक्ष आचार एवं कर्मकांड से। जैसे-जैसे विदेशी संस्कृतियाँ पाँव पसारती गईं वैसे-वैसे हिन्दु धर्म का बौद्धिक पक्ष दुर्बल होता गया। अतः कुछ विकास में अवरोध और कुछ अस्तित्व-रक्षा के लिए हिंदूधर्म में कर्मकाण्ड और आडंबरप्रियता की प्रधानता होती गई। भक्ति आंदोलन भी धर्म की व्याख्या न कर पाए। धर्म और भक्ति निराशा से त्राण पाने के साधन बने रहे। इस साँस्कृतिक गतिरोध के फलस्वरूप धर्म का आध्यात्मिक पक्ष व्यावहारिक पक्ष में विलीन होता गया। कालान्तर में धर्म मठाधीशों और समुदायों के हाथ का खिलौना बन गया। परिणामतः कुरूपता, शोषण, अनाचार, व्यभिचार, और अकर्मण्यता धर्म के आवरण के नीचे पनपने लगी। धीरे-धीरे अनेक प्रकार की रूढ़ियों ने सामाजिक जीवन को आक्रांत कर लिया। प्रेमचन्द ने धर्म का अमानुषिक शोषण, ब्राह्मणों की रूढ़ श्रेष्टता, श्राद्ध, तीर्थ-व्रत, पंडा-पुरोहित वर्ग की स्वार्थपरता एवं पाखंडपूर्ण मान्यताओं की कटु आलोचना की और धर्म की आड़ में समाज के नैतिक पतन का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया। उन्होंने धर्म और ईश्वर को रूढ़ परिकल्पना का निषेध करके नैतिकता का मानव-जीवन के संदर्भ में औचित्य स्थापित किया।

परजीवी पंडा-पुरोहित वर्ग अकर्मण्य होते हुए भी, जातीय अहंकार के कारण मानवीय नैतिकता की दृष्टि से शून्य था। फिर भी तत्कालीन ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था का फंदा इसके हाथ में था। शोषण और अत्याचार पर यह वर्ग आराम से जीवन व्यतीत करता था। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन में इस वर्ग ने कोई नैतिक योगदान नहीं दिया बल्कि व्यवस्था का एक साधन बना हुआ था। इस वर्ग के चरित्र का चित्रण प्रेमचन्द ने मोटेराम शास्त्री नाम के पात्र से अनेक कहानियों में किया है। पंडा-पुरोहितों के पेटूपन, लोभी और अशिष्ट मनोवृत्ति को हास्य और व्यंग्य की शैली में 'निमंत्रण', 'सत्याग्रह', मनुष्य का 'परमधर्म', 'गुरुमंत्र' आदि कहानियों में चित्रित किया है। 'मनुष्य का 'परमधर्म' और 'गुरुमंत्र' कहानियों के रचनाकाल में स्पष्ट रूप से यह परिवर्तन दिखाई देता है कि परजीवी पंडा-पुरोहितों की पकड़ समाज पर ढीली हो चली थी। अपनी रोजी-रोटी के लिए अब उन्हें नये स्वांग भरने पड़ रहे थे परन्तु जब स्वांग भी फलदायी सिद्ध नहीं होते तो 'गुरुमंत्र' में पंडित चितामणि भिक्षाभोगी साधुओं की टोली में सम्मिलित हो जाता है और गाँजा न पी पाने के कारण साधुओं द्वारा खदेड़ दिया जाता है। अतः अब यह वर्ग धोबी का कुत्ता घर का न घाट का की स्थिति में आ गया है। खदेड़े जाने पर— "लज्जित होकर पंडित चिंतामणि जी समीप की हलवाई की दुकान के सामने जा बैठे।" जिस जगह पर पंडितजी बैठे हैं निश्चित रूप से वह किसी पंडित की जगह नहीं हैं। 'दंड' में ब्राह्मणत्व को सामाजिक स्थिति और मध्यवर्ग द्वारा उसके भय के नकार का चित्र अंकित है। जगत पांडे ने किसी किसान की भूमि पर अधिकार पाने के लिए झूठा मुकदमा जीतने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्देश्य से सिन्हा बाबू को रिश्वत दी किंतु वह मुकदमा हार गया और ब्राह्मणत्व के गर्व में मर मिटा किंतु सिन्हाबाबू टस से मस नहीं हुए। यथास्थिति देखिए "डेढ़ सौ रुपए की बात नहीं है तुमने मुझे मिट्टी में मिला दिया। मेरी डिग्री हो गई होती तो मुझे 10 बीघे जमीन मिल गई होती और सारे इलाके में नाम हो जाता।......सत्यानाश हो जाएगा। अदालत में तुम्हारा राज्य है लेकिन भगवान के दरबार में विप्रों का राज्य है। विप्र का धन लेकर कोई सुखी नहीं रह सकता। ब्राह्मणत्व का यह अहंकार चोरी भी है और सीना ज़ोरी भी। किंतु यह तथ्य अवलोकनीय है कि सिन्हा बाबू को विप्र की आह, शाप अथवा ब्रह्महत्या का भय नहीं है, भय है तो केवल समाज में प्रतिष्ठा-हानि का। जगत पांडे ने पांच हज़ार रुपए के लिए आत्महत्या कर ली। सिन्हा बाबू को समाज से 'दण्ड' मिला। उनको कन्या का संबंध तय होना कठिन हो गया। सिन्हा बाबू प्रबुद्ध मध्यवर्ग का प्रतिनिधि है जो रूढ़ नैतिक मूल्यों के विरुद्ध संघर्ष कर रहा था। पंडा-पुरोहित और साधुओं का प्रभाव अशिक्षित, रूढ़िवादी, अंधविश्वासी, आर्थिक रूप से पिछड़े हुए निम्नवर्ग और ग्रामीण समाज पर ही अधिक था। 'बाबाजी का भोग' जैसी कहानियों से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

धर्म के नाम पर जितना छल-कपट, अनाचार, रक्तपात इस देश में हुआ, उसकी मिसाल शायद ही कहीं मिले। हिन्दु-मुस्लिम वैमनस्य को लेकर देश का विभाजन धार्मिक कट्टरता का दुःखद परिणाम था। प्रेमचन्द ने 'अहिंसा परमोधर्मः' में धर्म के खोख-लेपन पर पैना व्यंग्य किया इस कहानी में यह दिखाया गया है कि धर्म केवल सारहीन मान्यता है। मंदिर-मस्जिद' में हिन्दु-मुसलमानों की धार्मिक असहिष्णुता का दुष्परिणाम चित्रित है।

राजनीतिक और आर्थिक शक्तियां अपने हित के लिए नीची जाति के हिंदुओं को अनेक प्रकार के प्रलोभन देकर ईसाई और मुसलमान बना रही थी। राष्ट्रीय स्तर पर विशाल हिंदु जाति की यह हानि भी थी और नैतिक अपमान भी। यह वस्तुस्थिति जातीय स्वाभिमान के रूप में 'मंत्र' कहानी में चित्रित हुई और जातीय स्वाभिमान का नैतिक पक्ष आदर्श-वादी ढंग से पुष्ट हुआ है। इस कहानी के विषय में मन्मथनाथ गुप्त लिखते हैं 'जिस बेजा बात से वे इस कहानी का अंत कर देते हैं वह उनको हिन्दू मनोवृत्ति का परिचायक है। यहां पर वे कलाकार के आसन से उतर जाते हैं।' किन्तु हमें लगता है उनको कला बहस का विषय हो सकता है किंतु हिन्दू मनोवृत्ति का होना कोई दोष नहीं है। हिंदु होकर हिंदु होने की अनुभूति रखना यह प्रश्न सीधा जातीय अस्तित्व से जुड़ा है, राष्ट्रीयता से जुड़ा है अन्यथा प्रेमचन्द तो 'मनुष्य' और उसकी मनुष्यता के ही प्रवक्ता थे 'अहिंसा परमोधर्मः' में उन्होंने लिखा है 'वह जल्द से जल्द शहर से भागकर अपने गांव पहुंच जाना चाहता था जहां मजहब का नाम सहानुभूति, प्रेम और सौहार्द था। धर्म और धार्मिक लोगों से उसे घृणा हो गयी थी। इस्लाम की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखी गई कहानी 'क्षमा' इस धारणा का पुष्ट प्रमाण है। प्रेमचन्द हिन्दू और मुसलमान दोनों से ऊपर सच्चे मानववादी थे।

पाप-पुण्य की धारणा, स्वर्ग, मृत्यु, आत्मा का संताप भूत-प्रेत से अनिष्ट का भय, भाग्यफल, कर्मफल विधि का विधान आदि के भय की जनमानस में इतनी गहरी पैठ थी कि व्यक्ति रूढ़ियों से हटने का साहस नहीं कर पाता था। पंडा-पुरोहितों ने अपने हित के लिए जन्म-मरण, विवाह, अन्नप्राशन, नकच्छेदन, कनच्छेदन, मुंडन, पाप का प्रायश्चित, ग्रह-प्रकोप, जाति के बहिष्कार आदि सब सामाजिक कार्य अपने विधान के अधीन रखे हुए थे सामाजिक जीवन भ्रांत धर्मभय से भयभीत था। प्रेमचन्द ने अनेक कहानियों में इन रूढ़ भ्रमों का समाधान किया। सद्गति यथार्थवादी कला का सशक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण हैं, भाग्य, भगवान और विप्र अभिजात्य की मनोवृत्ति के अभिशाप की त्रासदायी सामाजिक परिणति चित्रित है। हृदय-विदारक चित्रण रूढ़ धार्मिक मान्यताओं को जड़-मूल से नष्ट किए जाने की आवश्यकता को इंगित करता है। नायक चमार "ब्राह्मण देवता" की लकड़ी चीरते मर गया है। समाज संतुष्ट है उसकी 'सद्गति' हो गई। ब्राह्मण सोचता है उसके कर्म का फल है वह स्वयं कहीं दोषी नहीं है। इस कहानी में धार्मिक व्यवस्था का क्रूरतम यथार्थ चित्रित हुआ है और कहानी व्यंग्य में मार्मिकता एवं करुणा का अद्भुत उदाहरण है।

वस्तुतः प्रेमचन्द की कहानियों में धर्म की अमानवीयता की कटु आलोचना हुई है। धर्म-प्रसूत साम्प्रदायिक संकट का भी सर्वेक्षण हुआ है। उसके असार तत्वों का निषेध किया गया है। इन कहानियों के अध्ययन से लगता है कि प्रेमचन्द अपनी रचनाओं के माध्यम से मानवीय समाज के जीवन पर जमीं धूल, मैल, रोगाणुओं और कीटाणुओं को हटाने में निरंतर उद्योगशील और प्रयोगशील रहे। किन्तु सिद्धांत रूप से वह धर्म विरोधी अथवा नास्तिक मानसिकता के पक्षधर नहीं थे। उनकी नास्तिकता बौद्धिकता से अभिप्रेरित है, अनास्था से नहीं। 'अमावस्या की रात्रि' कहानी इस तथ्य का प्रमाण है। धर्म और धर्म धारण करने वाले की तर्कपूर्ण व्याख्या इस कहानी में हुई है।

प्रेमचन्द युगीन समाज के जीवन पर गांधी दर्शन का जादुई प्रभाव पड़ा था। प्रेमचन्द स्वयं चेतना की गहराइयों तक गांधी जी से अभिभूत थे। उन्होंने राष्ट्रीय जीवन की एक झलक हंस में दी और लिखा "हम तो महात्मा जी की सूझ-बूझ के क़ायल हैं। जो बात की खुदा की क़सम लाजवाब की। न जाने कहां से नमक कर खोज निकाला कि उसने देखते-देखते सारे देश में आग लगा दी।" गांधीजी की राजनीति में नीति को प्रमुख स्थान प्राप्त था। सत्य अहिंसा और नैतिकता ने राष्ट्र को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक सभी स्तरों पर नवीन दृष्टिकोण दिया। गांधीवाद की मान्यता थी बुरे से बुरे व्यक्ति में भी सदाशयता होती है। त्याग, सद्भाव, सहानुभूति, सेवा और बलिदान से उसका हृदय-परिवर्तन होना संभव है। इस दर्शन की सफलता प्रेमचन्द देख रहे थे, अनुभव कर रहे थे। अतः अपनी आत्मा में निहित मानवीय सौंदर्य को कहानी के माध्यम से अपने समाज को देने का उन्हें एक ठोस आधार मिल गया। सामाजिक और पारिवारिक समस्याओं की अधिकांश कहानियों में प्रेमचन्द ने इस सिद्धांत की स्थापना की। इन कहानियों में यथार्थ आदर्शोन्मुख होकर चित्रित हुआ है। सुधारवादी, पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण से यह कहानियाँ समस्या का समाधान, यथार्थ की विषमता का विकल्प प्रस्तुत करती हैं। किंतु मूल्यों में परिवर्तन भी मूलरूप से अर्थ तत्व के दबाव के फलस्वरूप घटित हो रहा था। इसका स्पष्ट संकेत मिलता है।

जिस समय तक मात्र भूमि आय का साधन थी; संयुक्त परिवार स्वाभाविक संस्था थी। किंतु जब आजीविका के अन्य साधन भी विकसित हो गये; नगरीकरण की प्रक्रिया तीव्र हो गई; आर्थिक विषमता को व्यक्ति की चेतना पहचानने लगी तो संयुक्त परिवार टूटने को बाध्य हो गया। भावनात्मक संबंधों की नैतिक नींव खिसकने लगी थी। खड़ाऊं मारने की घटना हो या लड़कों और बहुओं के आपसी झगड़े नये समय का मिजाज अपने आपको प्रकट करेगा। यह वस्तुस्थिति प्रेमचन्द की बहुचर्चित कहानी 'बड़े घर की बेटी' और 'बेटी का धन' में देखी जा सकती है। इन कहानियों में टूटते हुए संयुक्त परिवार को बचाया गया है। आज की आलोचना इसे आदर्शवादी रुझान मानती है किंतु वस्तुस्थिति के अध्ययन से पता लगता है कि तत्कालीन किसान परिवार की यह आवश्यकता थी, यथार्थ था। इसके विपरीत 'स्वामिनी' में संयुक्त परिवार पूरी तरह टूट गया है। अर्थतत्व और व्यक्तिचेतना इस विघटन का अप्रत्यक्ष कारण है।

स्त्री-पुरुष संबंधों में भी तीव्र वैचारिक गति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शीलता का संकेत मिलता हैं। किन्तु यह गतिशीलता अभी इस स्थिति तक नहीं पहुंची कि परंपरा का विघटन हो अथवा इस विघटन का कोई विकल्प न हो। इस स्थिति में 'भारतीयता' एक विकल्प है, तत्कालीन सामाजिक जीवन का एक बड़ा मूल्य है। इस संदर्भ में 'विश्वास', 'शांति' कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। इन कहानियों में आधुनिक शिक्षित नारियों का भारतीयकरण हो गया है। आस्कर वाइल्ड छोड़कर उन्होंने रामायण पकड़ ली है, सभा-सोसायटी छोड़कर गृहिणी का रूप धारण कर लिया है बैडमिंटन का बैट छोड़कर चर्खा पकड़ लिया है। बहुत से पुरुष मित्रों से सिमट कर पति का स्वामित्व ग्रहण कर लिया है। यहाँ यह बात बड़ी साफ़ है कि पुरुष विदेशी साहित्य पढ़ना नहीं छोड़ते, केवल स्त्रियां ही छोड़ती हैं। दूसरी बात स्वाधीनता आन्दोलन में शराब की दुकानों पर पिकेटिंग का काम हो या जेलयात्रा का, ध्वजाधारण का कार्य हो अथवा जलूस के साथ चलने का, घर के झरोखे छोड़ना स्त्रियों के लिए गौरव की बात है। इस संदर्भ में 'जेल', 'पति से पत्नी', 'ब्रह्म का स्वाँग' की मृदुला, गोदावरी और वृंदा उल्लेखनीय हैं। इन कहानियों में प्रेमचन्द नारी-मुक्ति को समाज, राष्ट्र परिवार और स्वयं नारी के हित में रखकर विचारते हैं। ध्वजाधारिणी पत्नियों को उन्होंने व्यापक उद्देश्य के लिए पत्नीत्व और स्त्रीत्व दोनों की संकीर्ण सीमाओं से मुक्त कर दिया है। किन्तु नारी स्वेच्छाचारिणी, व्यभिचारिणी, धन, आभूषण, स्वच्छंदता की अभिलाषिणी हो प्रेमचन्द उसे कहीं स्वीकृति नहीं देते। वह या तो 'भारतीयता' में लौट आती है अथवा दुःखद अंत को प्राप्त होती है। 'दो सखियां', 'आभूषण', 'त्यागी का प्रेम', 'गृहदाह', आदि कहानियों में ऐसी स्त्रियां देखी जा सकती हैं।

जहां तक स्त्री-पुरुष संबंध का प्रश्न है वहां प्रतिबद्ध प्रेम की, दाम्पत्य प्रेम की प्रतिष्ठा हुई है। पत्नी और पति वैचारिक स्वतंत्रता के धरातल पर भी मर्यादा-बद्ध हैं। प्रणय संबंधों के अन्य प्रतिरूप वर्जित हैं। स्वतंत्र-प्रेम के दुष्परिणाम का सामाजिक यथार्थ 'त्यागी का प्रेम' में कलात्मकता से चित्रित हुआ है। पति-पत्नी में वैचारिक वैषम्य भी प्रकट होने लगा था। शिक्षित नारी व्यभिचारी पति के एकाधिकार का विरोध आत्मपीड़न और आत्महत्या से करने लगी थी किन्तु दूसरे विवाह की बात सोचना उस के लिए नैतिक रूप से वर्जित था व्यक्ति और समाज दोनों ही स्तरों पर। 'अंतिम शांति' की स्वाभिमानिनी नायिका व्यभिचारी पति को पति जैसा सम्मान नहीं देती उसे पति रूप में ग्रहण करने के विकल्प के रूप में वह आत्महत्या कर लेती है किन्तु दूसरे विवाह की बात सोचने का साहस उसमें नहीं है। संभवतः सामाजिक व्यवस्था और उसका अपना संस्कार इस विकल्प के लिए अभी तैयार नहीं था। इन कहानियों की संयुक्त दृष्टि को देखा जाए तो पता चलता है कि तत्कालीन समाज में व्यक्ति समाज से ही जाना जाता है। उसकी स्वतंत्र पहचान का कोई आधार नहीं है। व्यक्ति का मूल्य समाज में है उसका अस्तित्व समाज से है। उसके कर्म, विचार, और संकल्प का आधार भी परिवार, समाज और राष्ट्र है वह स्वयं निमित्त मात्र है। उसके चरित्र को नाप-तोल, पतन-पवित्रता का प्रमुख नैतिक आधार उसके यौन-संबंध हैं।

यौन-पवित्रता की नैतिक मान्यताएं स्त्री और पुरुष दोनों के लिए तत्कालीन समाज में अलग-अलग थीं। पुरुष के लिए बहुविवाह, आरक्षिताएं रखना, वेश्यागमन की स्वतंत्रता सामंती संस्कृति के मूल्य थे और स्त्री की नाप-जोख के लिए कठोर मान्यताएं थीं विशेष तौर पर युवती, किशोरी और बालविधवाओं की समस्या बड़ी विकट थी। उन्हें नैतिक और आर्थिक दबावों के दो पाटों के बीच जीना पड़ता था। वैधव्य धर्म के कठोर विधान स्त्री के लिए और स्वच्छंद भोग पुरुष के लिए-बड़ी हास्यास्पद एवं विषम परिस्थिति थी। प्रेमचन्द ने इस दोहरी व्यवस्था में नारी की विषम स्थिति को अपनी अनेक कहानियों में बहुपक्षीय प्रगतिशील दृष्टि से चित्रित किया है। रूढ़ नैतिक मान्यताओं की अमानवीयता की शिकार विधवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वेश्या स्त्रियां बनी हुई थी। अनमेल विवाह, बालविवाह, दहेज और वेश्यावृत्ति बहुत कुछ अन्योन्याश्रित समस्याएं है जिन्हें प्रेमचन्द अपनी कहानियों में समग्रता से पकड़ते हैं और नैतिक रूढ़ियों से नारी मुक्ति की आवश्यकता को रेखांकित करते हैं। 'नर्क का मार्ग' नैतिक मूल्य संघर्ष के इस पहलू का सार्थक उदाहरण है। उसकी नायिका अनमेल पति से निर्वाह न कर सकी। आत्महत्या करने गयी तो 'हुस्न फ़रोशों' के बाज़ार में पहुंच गयी किन्तु उनका अनुभव अनमेल विवाह के दुष्परिणाम की स्थिति की गंभीरता को उजागर करता है: "मेरे अधः पतन का अपराध मेरे सिर नहीं, मेरे माता पिता और उस बूढ़े पर है जो मेरा स्वामी बनना चाहता था। मैं यह पंक्तियां न लिखती लेकिन इस विचार से लिख रहीं हूं कि लोगों की आंखें खुलें ...स्त्री सब कुछ सह सकती है, दारुण से दारुण दुख बड़े से बड़ा संकट, नहीं सह सकती तो अपने यौवन काल की उमंगों का कुचला जाना ...रही मैं! मेरे लिए जीवन में कोई आशा नहीं। इस अधम दशा को भी उस दशा से न बदलूंगी, जिससे निकलकर आयी हूं।" 'मृतक भोज' में विधवा की आर्थिक स्थिति, नैतिक व्यवस्था और पुरुष को स्वच्छंदता का क्रूरतम अन्तर्विरोध चित्रित हुआ है। प्रौढ़ से झावरमल विधवा नायिका से कोठरी के किराए के रूप में उसकी ग्यारह वर्षीय बेटी रेवती मांगने में संकोच नहीं करता। विधवा सुशीला वैधव्य धर्म और समाज का आत्याचार ढोते-ढोते मर गयी। रेवती ने गंगा मैया की शरण लेकर समाज और जीवन के अभिशाप से मुक्ति पाई। इस प्रकार इस समय का समाज विधवा पर दोहरा आक्रमण करता है। एक ओर तो वह समस्त अधिकारों से वंचित दीनहीन निराश्रित प्राणी है दूसरी ओर समाज उसके चरित्र की पवित्रता की नाप-जोख इतनी पैनी दृष्टि से करता है जैसे हिन्दु धर्म की अस्तित्व ही वैधव्य निर्वाह पर टिका हो। 'स्वामिनी' में प्रेमचन्द की दृष्टि विधवा के संदर्भ में और भी उदार हो गयी है। वे उसे सामान्य सहज मानुषी के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। इस परिवर्तन का एक कारण संयुक्त परिवार का टूटकर बिखर जाना भी है। 'नैराश्य लीला' में एक प्रतिभाशालिनी बालविधवा की त्रासद स्थिति का सर्वपक्षीय यथार्थ चित्रण करके विधवा के पुर्नविवाह की आवश्यकता का संकेत देते हैं किंतु यह संकेत मौन है संभवतः कहानी के रचनाकाल का समाज यह विकल्प सुनने के लिए तैयार नहीं था। विधवा विवाह की सामाजिक कठिनाइयां भी थीं। यह ऐतिहासिक स्थिति भी इन कहानियों में स्पष्ट होती है।

रूढ़ नैतिक मान्यताओं के कारण पतित नारी—वेश्या, आरक्षिता और उसकी संतान के लिए सामाजिक व्यवस्था में उद्धार की कोई गुंजाइश नहीं थी। किंतु शिक्षित वर्ग इस नैतिक व्यवस्था का विरोध करने लगा था। सुधारवादी आन्दोलन का कोई उल्लेखनीय परिणाम तो नहीं निकला, हाँ! इस ओर 'शुरुआत' हो गई थी। परन्तु इस शुरुआत का सामाजिक प्रतिफलन बहुत ही भयानक था। कुलीन पिता और आरक्षिता वेश्या से जन्मी कन्या सुसंस्कृत, पढ़ी-लिखी और कुलीन पिता के घर पर भी पली है तो भी समाज उसे 'कुलीन वधु' का सम्मान देने को तैयार नहीं था। ऐसी कन्या से विवाह का यदि कोई युवक साहस करता भी था तो असह्य कष्टों और घोर अपमान को निमंत्रण देता था। जिन वेश्याओं ने अपने नरक से निकलने का प्रयत्न किया समाज ने उनके लिए अवसर के द्वार बन्द रखे थे। 'दो कब्रें' इस वस्तुस्थिति का सशक्त प्रमाण है। वेश्या के लिए पीढ़ियों तक कोई प्रायश्चित नहीं है। मानवीय दुर्बलता के प्रति सहानुभूति उस रूढ़ समाज ने नहीं सीखी थी। किंतु इन कहानियों का दूसरा पहलू भी है अर्थात् मानवीय नैतिकता का समाजशास्त्रीय और मानववादी दृष्टिकोण वैचारिक स्तर पर स्थापित हो गया था। रूढ़ नैतिक मान्यताओं का घोर विरोध भी होने लगा था।

प्रेमचन्द की कहानियों में जब हम नैतिक मूल्य-संघर्ष की बात करते हैं तो राष्ट्र की राजनैतिक चेतना की अवहेलना नहीं किया जा सकता। समाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुधार और पुनरुत्थान का जो प्रबल आन्दोलन राष्ट्र के जीवन में भीतर तक व्याप्त था नैतिक मूल्यसंघर्ष के उभार में उसकी प्रभावशाली भूमिका रही थी। तत्कालीन सामाजिक जीवन में 'स्वाधीनता' सबसे बड़ा मूल्य था। इसके साथ स्वदेशी, स्वावलंबन, आत्मस्वातंत्र्य, जातीयता का गौरव, विदेशी का बहिष्कार, असहयोग, धार्मिक-नैतिक और आर्थिक रूढ़ियों से नारी की मुक्ति, अस्पृश्यता-निवारण संबंधी आचरण भी नैतिक मूल्य बन गये थे। 'भारतीयता' का संग्रह अस्तित्वगत प्रश्न था। यह वह अस्त्र था जिस से एक राष्ट्र अपनी प्रतिरक्षा कर रहा था। इस राष्ट्रीय चेतना के अनेक प्रतिरूप प्रेमचन्द की 'जेल', 'शराब की दुकान', 'जुलूस', 'पति से पत्नी' 'विचित्र होली', 'भाड़े का टट्टू', 'मैकू', 'समरयात्रा', 'यह मेरी मातृभूमि', 'मृत्यु के पीछे' और 'स्वत्वरक्षा' आदि कहानियों में चित्रित हुए हैं। 'सुहाग की साड़ी' में तो राष्ट्रीयता पर हिन्दु संस्कृति की महान परंपरा को भी बलिदान कर दिया गया। संभवतः इतिहासक्रम की यही आवश्यकता थी। 'डिग्री के रुपए' कहानी में प्रेमचन्द नैतिकता के प्रति कुछ अधिक तार्किक और व्यावहारिक प्रतीत होते हैं। लगता है नगरीय मध्यवर्ग में यह विसंगति प्रतिफलित हो रही थी। दो मित्रों में टकराव है। कैलाश सिद्धांतवादी है और नईम व्यावहारिक। कैलाश कहता है "सरासर सत्य की उपेक्षा करना मेरे सिद्धांत के विरुद्ध था और नईम कहता है 'और सत्य का गला घोंटना मेरे सिद्धांत के अनुकूल'। राष्ट्रीय हित में साम्प्रदायिक एकता में बाधक नैतिक रूढ़ियों और मिथ्या जातीय अभिमान, जाति के चरित्र में व्याप्त अकर्मण्यता को भी प्रेमचन्द ने अनेक कहानियों में चित्रित किया है। इस संदर्भ में 'क्षमा', 'राजा हरदौल', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'परीक्षा' जैसी श्रेष्ठ कहानियाँ उल्लेखनीय हैं।

वस्तुतः प्रेमचन्द की कहानियों में आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मोर्चे पर लड़ते हुए पराधीनता से क्षुब्ध, अनेक अन्तर्विरोधों से ग्रस्त राष्ट्र का चरित्र अंकित है। इन सभी स्तरों पर रूढ़ नैतिक मूल्य बेड़ियां मालूम हो रहे थे। प्राचीन परंपरा का गौरवशाली इतिहास स्वाभिमान पैदा कर रहा था तो तत्कालीन गुलामी में बंधा हुआ राष्ट्र कुंठाओं से अभिशप्त था। नवीन मूल्यों का विकास 'स्वाधीनता संघर्ष' से अभिप्रेरित था। प्रेमचन्द की कहानियों में यह ऐतिहासिक तथ्य भी प्रमाणित होता है कि महात्मा गांधी की अध्यात्ममूलक राजनीति राष्ट्र की निर्बल आत्मा का बल बन गयी थी। आत्मबल की महिमा प्रेमचन्द आंखों से देख चुके थे। हृदय से अनुभव कर चुके थे। 'नमक का कानून' तथा अन्य अहिंसात्मक आन्दोलनों, समाज-सुधार की योजनाओं की सफलता से राष्ट्र अभिभूत था। गांधी दर्शन का जो व्यापक प्रभाव राष्ट्र के जीवन पर था उसे ग्रहण करने में प्रेमचन्द और उनकी कहानियां पीछे नहीं रहीं। उनकी कहानियों में जो आदर्शवाद सतही और आरोपित दिखाई देता है वह उस समय का सत्य भी रहा होगा, ऐसा हमें प्रतीत होता है। उस ऐतिहासिक दौर ने अनेक महान बलिदानी, त्यागी, स्वाभिमानी विभूतियों को जन्म दिया था और आदर्शवाद स्वाभाविक रूप से भारतीय जाति के चरित्र में व्याप्त था। आदर्श को जीवन में जीने के लिए अपेक्षित आत्मबल की भी कमी नहीं थी। अतः त्याग, प्रेम, दया क्षमा, सेवा, स्वावलंबन, स्वदेशी, शुद्धि, स्वत्व, कर्मशीलता, संकल्प, आत्मस्वातंत्र्य, राष्ट्रीयता जैसे नवीन नैतिक मूल्यों की स्थापना प्रेमचन्द की कहानियों में भी हुई यह इस धरती की ही उपज थी, आकाश की कल्पना नहीं थी। आज की आलोचना प्रेमचन्द के आदर्शवाद के संदर्भ में कालसापेक्ष होने का जो फ़तवा देती है, वह भी अपने आप में काल-सापेक्ष ही है। काल निरपेक्ष विज्ञान हो सकता है साहित्य और कला में ऐसी संभावना दिखाई नहीं देती। क्योंकि जीवन का क्रम काल-निरपेक्ष हो सकता है परन्तु उस क्रम का मिजाज काल-सापेक्ष ही होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। यदि कला और साहित्य की संपृक्ति जीवन-क्रम के मिजाज के साथ अपरिहार्य है तो काल-निरपेक्ष साहित्य की कल्पना कैसे हो सकती है ? प्रेमचन्द की कहानियों में अपने समय के सामाजिक जीवन की अंतरंग पहचान संगृहीत है। नैतिक मूल्य-संघर्ष का निर्वाह उन्होंने अतीत का शोषक, वर्तमान का भोक्ता और भविष्य का द्रष्टा बन कर अपनी कहानियों में किया है। इन को कहानियों में नैतिक मूल्य-संघर्ष में किसी वाद के प्रति प्रतिबद्धता अथवा आग्रह दिखाई नहीं देता बल्कि राष्ट्रीय चरित्र की गहरी समझ, अद्‌भुत ग्रहणशीलता और गतिशीलता का स्पंदन महसूस होता है।

---

1. मानसरोवर, भाग-2।
2. प्रेमचन्द : व्यक्ति और साहित्यकार —मन्मथनाथ गुप्त, पृ० 416।
3. विविध प्रसंग भाग-2, संकलन अमृतराय पृ० 46.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० यश गुलाटी
हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

प्रेमचन्द की उपन्यास-यात्रा

प्रेमचन्द ने कुल पन्द्रह उपन्यास लिखे थे। उनका पहला उपन्यास 'असरारे मआबिद' (उर्फ़ देवस्थान रहस्य) था। इसके बाद उन्होंने प्रेमा (उर्दू पूर्व रूप 'हम ख़ुर्मा व हम सवाब'), किशना (अनुपलब्ध), रूठी रानी, वरदान, सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, प्रतिज्ञा, ग़बन, कर्मभूमि, गोदान, मंगलसूत्र (अपूर्ण) की रचना की। अमृतराय ने 'श्यामा' को प्रेमचन्द का पहला उपन्यास बताया है।[1] किन्तु श्री मदनगोपाल डॉ० शैलेश ज़ैदी और डा० कमलकिशोर गोयनका जैसे विद्वान् इसके अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते। 'असरारे मआबिद' और 'रूठी रानी' असल में उर्दू के ही उपन्यास हैं और उनका हिन्दी रूप 1962 ई० में अमृतराय द्वारा प्रकाशित हुआ। उनके द्वारा सम्पादित 'मंगलाचरण' में इन दो उपन्यासों के अलावा, 'प्रेमा' और उनका उर्दू रूप 'हम खुर्मा व हम सवाब' भी संकलित हैं जिनके तुलनात्मक अध्ययन से जाहिर होता है कि 'प्रेमा' को 'हम खुर्मा व हम सवाब' के अनुवाद की बजाय उसका रूपांतर समझना ज्यादा उचित है।

'असरारे मआबिद' और 'रूठी रानी' को हिन्दी उपन्यास साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार करने में संकोच होना स्वाभाविक है किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि परवर्ती प्रेमचन्द की सही समझ के लिए इनका अध्ययन ज़रूरी ही नहीं, लाज़मी भी है। 'असरारे मआबिद' बनारस के उर्दू साप्ताहिक 'आवाज़-ए-खलक' में क्रमिक रूप से प्रकाशित हुआ था और 'मंगलाचरण' में इसकी एक अनुपलब्ध किश्त को छोड़कर, शेष को संकलित किया गया है। 'मंगलाचरण' की भूमिका में अमृतराय ने लिखा है—'यह क़िस्सा बिल्कुल सरशार के रंग में लिखा गया है लेकिन बाद के मुंशी प्रेमचन्द की झलकियां भी इसमें भरपूर हैं।[2] वास्तव में शैली की बजाय वस्तु की दृष्टि से, प्रेमचन्द के परवर्ती उपन्यास-साहित्य से इसका सामंजस्य ज्यादा दिखाई पड़ता है। उपन्यास के शीर्षक से ही मालूम होता है कि इसमें देवस्थानों में पनपने वाली बुराइयों और विकृतियों तथा धर्मस्थानों के प्रबंधकों के असली चेहरों को उघाड़ने की कोशिश की गयी है। इस तरह पहले उपन्यास से ही प्रेमचन्द की सुधारवादी चेतना और उन पर आर्यसमाजी विचारधारा के प्रभाव की गवाही मिलने लगती है। अमृतराय के अनुसार प्रेमचन्द आर्य-समाज के जलसों में तो जाते ही थे, एक समय उसके बाकायदा मेम्बर भी थे। इसके अलावा गोखले और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रानाडे की 'सोशल रिफ़ार्म्स लीग' के प्रति उनके रुझान के भी संकेत उपलब्ध होते हैं।[3] यही वजह है कि धार्मिक पाखंड और धार्मिक इजारेदारी के प्रति अवज्ञा और घृणा की प्रवृत्तियां उनके समूचे साहित्य में मौजूद हैं। 'असरारे मआबिद' के महंत त्रिलोकीनाथ की तस्वीर वे यों पेश करते हैं—'यह जो आप महंत जी के माथे पर लाल निशान देख रहे हैं, यह चन्दन के निशान नहीं बल्कि इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि हज़रत ने न्याय और धर्म का खून कर डाला है। आप जो इनके गले में मोहनमाला देख रहे हैं, यह असल में लोभ का फंदा है जो आपको खूब कसकर जकड़े हुए है। सिर पर तिरछी रखी हुई टोपी आपकी अक्ल के तिरछेपन को ज़ाहिर कर रही है। आपके शरीर पर रंग-बिरंगी मिर्ज़ई नहीं है, बल्कि अंधविश्वासियों को सब्ज़ बाग दिखाने का यंत्र है।[4]

महंत की रोज़मर्रा ज़िन्दगी मदिरा-पान, नाच, राग-रंग में पूरी तरह डूबी हुई है। उसका देवस्थान स्त्रियों को फंसाने और फुसलाने का अड्डा है, जहाँ वह कभी वेश्या छोकरी को फुसलाता हुआ नज़र आता है तो कभी विवाहिता रामकली को फाँसता हुआ दिखाई पड़ता है। रामकली द्वारा महंत की अपेक्षा कहीं ज़्यादा सुदर्शन और सजीले अपने पति की बजाय महंत की ओर झुक जाने के मूल में वह विलास-कामना है जो रुपये से ही संतुष्ट हो सकती है। इससे मालूम पड़ता है कि अल्प और मध्यवित्तीय परिवार की स्त्री की भटकन में प्रेमचन्द अर्थ की भूमिका को खास महत्व देते थे। 'असरारे मआबिद' के अलावा 'सेवासदन' में भी वे इसे उजागर करते मालूम पड़ते हैं। रामकली महंत के साथ कहीं भी भाग चलने के लिए तैयार है किन्तु महंत को मालूम है कि किसी दूसरी जगह उसे यह चैन-आराम हासिल होना संभव नहीं है—'यहाँ दिन भर में एक-से-एक सजीली औरतें घूरने में आती हैं। रात भर नाच-रंग की महफ़िल गर्म रहती है.. .. हर वक्त शराब-कबाब का दौर चला करता है। यार दोस्तों का जमघट रहता है।'[5]

पंडे-पुजारियों द्वारा एक स्त्री के ज़रिये दूसरी औरतों को फाँसने और उनके ज़ेवर-कपड़े हथियाने के लिए विभिन्न हथकंडों के इस्तेमाल की चर्चा भी 'असरारे मआबिद' में मौजूद है। इस तरह सुधार-मुलक चेतना के आवेश में प्रेमचन्द धर्म के ठेकेदारों को 'पहले दर्जे के ऐयाश नम्बर एक के ज़ालिम और इन्ताहा दर्जे के बेईमान'[6] सिद्ध करने में कोई कोर-कसर उठा नहीं रखते। इसके अलावा, नारी की सामाजिक स्थिति, परिवारों को नरक में परिवर्तित कर देने वाले कलहों और संघर्षों, तथा पतनोन्मुख और जर्जरित मूल्यों के कुहासे में दिग्भ्रष्ट समाज की वस्तु-वादी तस्वीरें भी उपन्यास में उजागर हुई हैं। अपनी पहली औपन्यासिक रचना में प्रेमचन्द नारी के बारे में अपना दृष्टिकोण स्थिर करने की प्रक्रिया में भी संलग्न दिखाई पड़ते हैं। उपन्यास का एक पात्र 'दूसरा' कहता है—'औरतें बाहर निकलें ज़रूर मगर मजबूरी दर्जे। सैर-सपाटे के लिए हरगिज़ नहीं। बिला ज़रूरत छुट्टा सांड की तरह मटरगश्ती करना बहुत बुरा मालूम होता है।'[7] ज़ाहिर है कि नारी के प्रति सहज मानवीय सहानुभुति रखते हुये भी, उसे पूरी स्वतन्त्रता देने के पक्ष में प्रेमचन्द शुरू से ही नहीं थे। नारी के वेश्या रूप के प्रति लेखकीय द्रवणशीलता भी इस उपन्यास में प्रकट हुई है जिसके रूप, यौवन और कला के बल पर परजीवी तो ऐश करते हैं जबकि उसे भर-पेट भोजन भी प्राप्त नहीं होता।

कथा-शिल्प की दृष्टि से 'असरारे मआबिद' प्रेमचन्द की परवर्ती कृतियों से बहुत भिन्न है। इस पर उन पर सरशार का प्रभाव काफ़ी हावी मालूम पड़ता है। क़िस्सागो शैली में वे, जगह-ब-जगह वैराग्य, इन्द्रिय दमन, गंगा आदि के बारे में लम्बी टिप्पणियों के पैबन्द चिपकाने के अलावा, राजकुमार और उसके प्रेमी की कहानी के समावेश के ज़रिये उपन्यास के कलेवर को अनावश्यक विस्तार देने की कोशिश करते हुए तथा तत्कालीन पाठक की दिलचस्पी के लिए गीतों और ग़ज़लों का इस्तेमाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हुए भी नज़र आते हैं। स्पष्ट है कि वे अभी कथा-संयोजन शिल्प में कुशल नहीं हुए थे जिसकी वजह से उपन्यास की कथा न तो किसी तार्किक निष्कर्ष पर पहुंचती है और न ही प्रेमचन्द उसमें आ जाने वाले बिखराव और क्रमहीनता पर नियंत्रण रखने में ही सफल होते हैं। इसके बावजूद, पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के सही प्रस्तुतीकरण के ज़रिये, उनको जीवन्तता प्रदान करने की कोशिश यहाँ भी देखी जा सकती है। शैलीकार के रूप में प्रेमचन्द की अलग पहचान बनाने वाले तत्वों—संवादों की चुस्ती और चुटीलापन, व्यंग्यात्मकता, मुहावरों और लोकोक्तियों के इस्तेमाल तथा रोज़मर्रा ज़िन्दगी से चुनी हुई उपमाओं के ज़रिये ताज़गी और रवानी पैदा करने की कोशिश—की मिसालें उनकी इस पहली औपन्यासिक रचना में भी मौजूद हैं।

'प्रेमा' में प्रेमचन्द अपने समय की ज्वलन्त समस्या 'विधवा समस्या' को उठाते हैं और हिन्दू विधवा की वास्तविक हालत के निरूपण और विधवा-विवाह के औचित्य के प्रतिपादन की कोशिश करते हैं। उपन्यास का नायक अमृतराय, समाज-सुधारक धनुषधारी लाल के व्याख्यान के प्रभाव में आकर समाज-सुधार के लिए अपना जीवन समर्पित करने की प्रतिज्ञा करता है और अपनी मंगेतर प्रेमा से विवाह न करने का निर्णय लेता है, जिसकी वजह से उसे चारों तरफ़ से विरोध का सामना करना पड़ता है। उसके भावी श्वसुर उसे लिखते हैं —'जिसे लोग सामाजिक सुधार सभा कहते हैं, वह तो ईसाई मंडली है।' इसके जवाब में अमृतराय स्पष्ट कर देता है कि सामाजिक सुधार के अलावा इस देश की उन्नति का कोई तरीक़ा नहीं है और 'जिसे वे सनातन धर्म समझते हैं 'वह अविद्या और असभ्यता का ही प्रत्यक्ष स्वरूप है।[8] ज़ाहिर है कि उनके पहले उपन्यास की तरह यह भी आर्यसमाज की सुधारमूलक चेतना से ही अनुप्राणित है। 'प्रेमा' के रचना-काल तक प्रेमचन्द समाज-सुधार को ही देश-भक्ति का पर्याय ठहराते हैं और राजनैतिक मुद्दों को अपना कथ्य बनाने में उनकी कोई रुचि मालूम नहीं पड़ती। उपन्यास के अंग्रेज़ कमिश्नर के प्रजा-हितैषी व्यक्तित्व को देखने पर उनपर युगीन राजनैतिक यथार्थ से कतराने का आरोप भी लगाया जा सकता है। भारतीय समाज में विधवा की सही हालत और विधवा-विवाह को समाधान के तौर पर पेश करने के उद्देश्य से वे प्रेमा की एक सहेली पूर्णा के पति वसन्तकुमार के गंगा में डूबने के प्रसंग का समावेश करते हैं। विधवा पूर्णा के यहां अमृतराय का आना-जाना और प्रेमा द्वारा पूर्णा का श्रृंगार मुहल्ले की औरतों को ज़रा भी अच्छा नहीं लगता। 'प्रेमा' में विधवा की हालत, एक बाल विधवा रामकली के ज़रिये भी बयान करवाई गई है। रामकली घर भर की लौंडी बनने पर मजबूर है। घर के सब काम करते हुए भी उसे जूते और लातें सहनी पड़ती हैं। काजल-मिस्सी लगाना, बाल गुंथाना, रंगीन साड़ी पहनना, पान खाना उसके लिए निषिद्ध हैं। बहू-बेटियां उससे कन्नी काटती हैं और सुबह-सवेरे कोई उसका चेहरा नहीं देखना चाहता। पद-दलित और असहाय भारतीय विधवा के मन में कसमसाती विद्रोह-चेतना को प्रेमचन्द रामकली के ज़रिये यों पेश करते हैं—' आखिर हम भी तो आदमी हैं। हमारी भी तो जवानी है। दूसरों का राग-रंग हँसी-चुहल देख-देख अपने मन में भी भावना होती है। जब भूख लगे और खाना न मिले तो हार कर चोरी करनी पड़ती है।'[9] इस तरह प्रेमचन्द 'प्रेमा' में विधवा की दुरवस्था, उसकी पीड़ा और यंत्रणा ही अंकित नहीं करते, समाज के नियामकों को चेतावनी भी देते हैं कि मानवीय अधिकारों से वंचित करके विधवाओं से समाज की नैतिक मर्यादाओं के पालन की अपेक्षा करना ग़लत होगा।

धर्मस्थानों की वास्तविकता को प्रेमचन्द 'प्रेमा' में भी उघाड़ते हैं और अपने पहले उपन्यास की तरह पंडे-पुजारियों की विलासितापूर्ण और मर्यादा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विहीन ज़िन्दगी की यथार्थ तस्वीर उकेरते हैं। सामाजिक विधि-निषेध मध्यवर्गीय व्यक्ति की मानसिकता पर किस सीमा तक हावी है, इसका पता अमृतराय के विवाह-संदेश से भौंचक्की पूर्णा के इस कथन से चलता है—'भले-मानुसों में ऐसा कभी होता ही नहीं। हाँ, नीच जातियों में सगाई, डोला सब जाता है।'[10] पूर्णा की यह प्रतिक्रिया तत्कालीन सामाजिक मनोवृत्ति के ऐन मुताबिक़ है। पंडित भृगुदत्त कहते हैं—'विधवा-विवाह वर्जित है। कोई हम से शास्त्रार्थ करले। वेद-पुराण में कहीं ऐसा अधिकार कोई दिखा दे तो हम आज से पंडिताई करना छोड़ दें।'[11] पूर्णा से विवाह करने के बाद अमृतराय को तरह-तरह की धमकियां दी जाती हैं और उन्हें मार डालने के लिए एक भारी भीड़ भी इकट्ठी हो जाती है। इस अवसर पर विधवा-विवाह का एक विरोधी ज़ोरावरसिंह पुलिस की गोली से मारा भी जाता है। अमृतराय-पूर्णा के विवाह के प्रसंग को प्रेमचन्द, विधवा-विवाह तक ही सीमित न रखते हुए वैवाहिक रीति-रिवाजों के दोषों का संकेत करने और सुधारवादी आदर्श-विवाह की अपनी कल्पना को स्पष्ट करने के लिए भी करते हैं—'बारात क्या थी, सभ्यता और स्वाधीनता की चलती-फिरती तस्वीर थी। न बाजे की धड़धड़, पड़पड़, न बिगुलों की धोंधों, पोंपों, न पालकियों की झुर्मुट, न सजे हुए घोड़ों की चिल्ल-पों, न मस्त हाथियों की रेल-पेल, न सोंटे बल्लम वालों की क़तार, न फुलवाड़ी न बग़ीचे, बल्कि भले-मानुषों की एक मंडली थी जो धीरे-धीरे कदम बढ़ाती चली जा रही थी।[12] विवाह में न गीत गाए गए, न गाली-गलोज की नौबत आई, न नेगचार का ऊधम मचा।[13]

प्रेमचन्द समझते थे कि विधवा-विवाह की शुरुआत करना अवश्य मुश्किल है लेकिन एक बार ऐसा हो जाने के बाद इसका अनुसरण करने वाले बहुत से लोग सामने आजाएंगे। इसी वजह से प्रेमा में दो और विधवाओं का पुनर्विवाह दिखाया गया है। किन्तु उन्हें यह भी मालूम था कि इसका विरोध, किसी-न-किसी शक्ल में, काफ़ी देर तक जारी रहेगा। लाठियों से विवाह रोकने में असफलता का रोष बिरादरी द्वारा बायकाट की शक्ल में प्रकट होता है। बिरादरी का भय अमृतराय के नौकरों को नौकरी छोड़कर भाग जाने के लिए मजबूर कर देता है—'मुदा बिरादरी की बात ठहरी। हुक्का-पानी बन्द होई गवा तो फिर केई के द्वारे जेबे।'[14] परिणाम स्वरूप न सिर्फ उनके नौकर रफ़ू-चक्कर हो जाते हैं, उन्हें दुकानदारों से सौदा-सुलफ़ मिलना भी मुश्किल हो जाता है। कोई उन्हें कुएं से पानी नहीं लेने देता और उनकी वकालत भी चौपट हो जाती है। बिरादरी और धर्म के नियामकों के इस रवैये में, सामन्तवादी समाज-व्यवस्था की बड़ी वस्तुवादी तस्वीर उभरी है और मानवीय आकांक्षाओं के अवरोधक के रूप में उनकी भूमिका उजागर हुई है। यहां बंगाली जज और मुसलमान सरिश्तेदार की कोशिशों से अमृतराय के पास मुवक्किलों की वापसी और लाला धनुषधारीलाल द्वारा भिजवाए गए पंजाबी और काश्मीरी नौकरों के ज़रिये घरेलू मुश्किलों के समाधान में, ज़्यादा स्पष्ट न होने के बावजूद, प्रेमचन्द के परवर्ती प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता विरोधी रुझान की पहचान भी की जा सकती है।

उपन्यास यहीं समाप्त नहीं होता और उपन्यास के शुरू में प्रेमा और अमृतराय के बारे में अपनी घोषणा को सही साबित करने के लिए या एक और विधवा-विवाह दिखाने के लालच से प्रेमचन्द, प्रेमा के पति दाननाथ और उसके साथियों से अमृतराय पर घातक हमला करवाते हैं। पूर्णा की गोली का शिकार होकर दाननाथ मर जाता है और पूर्णा आत्महत्या कर लेती है। रास्ता साफ़ होते ही अमृतराय और प्रेमा विवाह कर लेते हैं।

ज़ाहिर है कि 'प्रेमा' में प्रेमचन्द अपने प्रारम्भिक उपन्यास से बड़ा कैन्वास लेते हैं और उस की अपेक्षा ज़्यादा ठोस ज़मीन चुनते हैं। किंतु शैल्पिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टि से 'असरारे मआबिद' की अपेक्षा अधिक कुशलता से काम लेते हुए भी वे उसे निर्दोष औपन्यासिक कृति बनाने में असफल ही रहते हैं। इसमें घटनाओं के आकस्मिक मोड़ों, संयोगों, मौतों, हत्याओं, आत्महत्याओंका ज़रूरत से ज़्यादा सहारा लिया गया है। इससे उपन्यास की सही छवि धूमिल पड़ जाती है। पहले उपन्यास की तुलना में पात्र-परिकल्पना और चरित्रांकन शिल्प में बेहतर क्षमता का परिचय देने के बावजूद वे दाननाथ और प्रेमा के चरित्र को कृत्रिमता और बनावटीपन से मुक्त रखने में सफल नहीं होते। कुल मिलाकर, 'प्रेमा' अपनी अनेक कमियों और दोषों के बावजूद परवर्ती प्रेमचन्द की संभावनाओं का संकेत देता है। विधवा की अवस्था के वस्तुवादी निरूपण और रामकली के द्वारा शताब्दियों से पीड़ित और पद-मर्दित नारी की मानसिकता के बदलाव और उसमें नवचेतना के उन्मेष की मिसाल के तौर पर इस उपन्यास का अपना महत्व है ही। इसके अलावा, 'सेवासदन' की सुमन के व्यक्तित्व की परिकल्पना आकस्मिक नहीं थी, यह तथ्य प्रेमा के नारी पात्रों के अध्ययन के बाद स्पष्ट हो जाता है।

'रूठी रानी' प्रेमचन्द का एक-मात्र ऐतिहासिक उपन्यास है। 'शतरंज के खिलाड़ी', 'रानी सारन्धा' और 'राजा हरदौल' जैसी इतिहासाश्रित कहानियों की रचना के बावजूद प्रेमचन्द के मन में अतीत के प्रति किसी तरह का मोह न था, यह उनके वक्तव्यों से स्पष्ट हो जाता है। प्रसाद के उपन्यास 'कंकाल' का स्वागत करते हुए उन्होंने कहा था कि 'हम दो हज़ार वर्ष पूर्व की समस्याओं को अंकित नहीं कर सकते।'[15] एक अन्य स्थल पर वे कहते हैं कि 'ऐतिहासिक ज्ञान और कल्पना निजी और प्रत्यक्ष ज्ञान की बराबरी नहीं कर सकता।[16] इसके बावजूद उन्होंने 'रूठी रानी' की रचना क्यों की? 'रूठी रानी' के अध्ययन से स्पष्ट है कि अतीत की समस्याओं के निरूपण या अतीत के पट पर वर्तमान के चित्र अंकित करने के उद्देश्य से उन्होंने इसका सृजन नहीं किया था। मालूम होता है कि लोक-कथाओं और लोक-गीतों में मौजूद उमा दे के उदात्त और रोमानी चरित्र से आकृष्ट होकर ही उन्होंने उसकी कथा को एक लघु उपन्यास की शक्ल में ढाल दिया। किंतु उपन्यास का कलेवर जैसलमेर के रावल लोनकरन की बेटी उमा दे के जन्म से उसके सती हो जाने की घटना तक ही सीमित नहीं रहता, वह 1857 ई० तक फैलता हुआ तीन सौ साल की लम्बी अवधि अपने अन्दर समाहित कर लेता है। उमा दे के लिए अपने शत्रु, मेवाड़ के राजा मालदेव का विवाह-संदेश स्वीकार करता हुआ रावल लोनकरन उसे विवाह-वेदी पर ही मौत के घाट उतारने का षड्यंत्र करता है। उमा दे, अपनी दासी भारीली के ज़रिये, मालदेव को सावधान कर देती है। विवाह के बाद, शराब के नशे में चूर, मालदेव भारीली को ही रानी समझ कर उसके साथ रात बिता देता है, जिस पर उमा दे रूठ जाती है। चारण ईश्वरदास की कोशिशों से, पारस्परिक मनोमालिन्य की समाप्ति की सम्भावना भी, भारीली के प्रति राजा की आसक्ति का एक और प्रमाण मिलने पर खत्म हो जाती है। परिणाम-स्वरूप अपनी पूरी ज़िन्दगी उमा दे राजा को अपने पास फटकने नहीं देती। किंतु राजा के मर जाने के बाद वह उसकी पगड़ी के साथ सती हो जाती है।

कथा-संयोजन में क्रमविहीनता, चरित्रांकन में शिथिलता जैसे दोषों की मौजूदगी के बावजूद तत्कालीन परिवेश और सामंती समाज-संरचना के वस्तुवादी प्रस्तुतीकरण के धरातल पर 'रूठी रानी' अपनी ही अहमियत लिए है। बेटी के जन्म पर राजपूतों की शोक-प्रवृत्ति, वैयक्तिक वैमनस्य की वजह से अपनी ही बेटी को विधवा बना देने के लिए महलों के हास-विलास-षड्यंत्रपूर्ण माहौल के ज़रिये पतनोन्मुख सामंतवादी समाज की बहुत सही तस्वीर उपन्यास में उभरी है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द की अस्फुट राजनैतिक चेतना भी बैरमजी के मुंह से व्यक्त हुई है—'हिंदुओं में अनबन और फूट ने हमेशा मुल्क वीरान किए हैं और ग़ैरों से हमेशा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झरें दिलायी हैं।[17] उपन्यास की नायिका उमा दे का चरित्र बहुत विस्तार से प्रस्तुत नहीं हुआ किन्तु उसमें दर्प, स्वाभिमान, अत्याचार को चुनौती देने का साहस जैसे उन तत्वों की मौजूदगी जरूर दिखाई पड़ती है जो कि 'सेवासदन' की सुमन और 'गोदान' की धनिया के चरित्रों को अविस्मरणीय बनाने के लिए ज़िम्मेदार कहे जा सकते हैं।

प्रेमचन्द का अगला उपन्यास 'वरदान', 'सेवासदन' के बाद प्रकाशित हुआ लेकिन इसका मूल उर्दू रूप 'जलवा-ए-ईसार' सेवासदन' से पांच-छः वर्ष पहले प्रकाशित हो चुका था। 'वरदान' का कथातंत्र कुछ उलझा हुआ है जिसकी वजह से इसके मूल कथ्य के बारे में किसी सही निष्कर्ष तक पहुंचने में काफ़ी मुश्किल पेश आती है। उपन्यास की शुरुआत सुवामा द्वारा अष्टभुजा देवी की प्रार्थना से होती है जिससे वह जाति के उपकारक सपूत का वर माँगती है। प्रेमचन्द-युग में प्रबल जाति-सेवा की चेतना के इस उदाहरण से मालूम पड़ता है कि विदेशी प्रशासन को उखाड़ फेंकने का मुद्दा अभी प्रेमचन्द का रचनात्मक सरोकार नहीं बन सका था और उनके द्वारा सामाजिक बुराईयों को दूर करना ही देश-सेवा का बदल समझा जा रहा था। सुवामा का बेटा प्रताप, देवी के वर के अनुरूप, बालाजी बनकर निम्नजातियों, रोगियों, बाढ़-पीड़ितों की सेवा करता है। इस तरह जाति-सेवा के आदर्श की स्थापना ही इस उपन्यास का सर्जनात्मक लक्ष्य मालूम पड़ती है।

प्रताप को बालाजी बनाने में, देवी प्रेरणा के अलावा, सांसारिक एवं वैयक्तिक परिस्थितियों की भूमिका को महत्व देकर प्रेमचन्द इसे यथार्थवादी धरातल पर ढालने की कोशिश करते हैं। यों तो अपने बचपन की सखी विरजन के प्रति अपने प्रेम की नाकामी के बाद से ही प्रताप छिट-पुट सुधार कार्यों में प्रवृत्त प्रतीत होता है किन्तु उसे बालाजी बनाने में रात के दो-बजे देखी गई विधवा विरजन की अनुपम और दिव्य रूप-राशि के उदात्त प्रभाव और अपनी कमज़ोरी के प्रति पैदा होने वाली पछतावे की मानसिकता की विशेष भूमिका थी, जिससे वह संन्यासी होकर जाति-सेवा का व्रत ले लेता है। 'वरदान' में विरजन और प्रताप की प्रेम-कथा इतना बड़ा कैनवास घेर लेती है कि उसके मूल कथ्य के बारे में भ्रान्ति पैदा हो जाना स्वाभाविक मालूम पड़ता है। इस उपन्यास की दुःखान्त प्रेम-कथा से विरजन और कमलाचरण के अनमेल विवाह की कहानी भी जुड़ी हुई है जो कि भारतीय कन्या की मूक और असहायावस्था को उजागर करती है। विरजन के पिता मुंशी जीवनलाल आलस्य और प्रमादवश अपने भावी दामाद के बारे में किसी तरह की कोई छान-बीन नहीं करते और विरजन, एक ऐसे लड़के से ब्याह दी जाती है जो कबूतर-बाज़ी, पतंग-बाज़ी और आवारगी के अलावा कुछ नहीं करता और जिसे अपनी पत्नी के गहनों के लिए अपने घर में सेंध लगाने में भी कोई संकोच नहीं होता। इस पर प्रेमचन्द की टिप्पणी उल्लेखनीय है—'मुंशी जी के अगणित बान्धव इसी भारतवर्ष में अब भी विद्यमान हैं जो अपनी प्यारी कन्याओं को इसी प्रकार नेत्र बन्द करके कुंए में ढकेल दिया करतेहैं।[18] हृदय-परिवर्तन की अपनी प्रिय युक्ति से काम लेते हुए प्रेमचन्द ने वरदान में कमलाचरण के चरित्र में परिवर्तन भी दिखाया है किन्तु यह परिवर्तन स्थायी नहीं होता और बनारस में माली की लड़की पर आसक्त कमलाचरण, माली के डर से प्राण लेकर भागते हुए गाड़ी से गिरकर मर जाता है।

'वरदान' की अनेक प्रासंगिक कथाओं में एक छोटी सी प्रेम-कहानी उल्लेखनीय है। विरजन से प्रताप के बारे में सुनकर, माधवी उस पर मन-प्राण से न्यौछावर हो जाती है। उसकी समर्पण-भावना से प्रभावित प्रताप संन्यास-त्याग के लिए तैयार है किन्तु रोमानी भाव-बोध और आदर्शवादी रुझान से ग्रस्त माधवी, प्रताप को पथभ्रष्ट करने की बजाय बाल-योगिनी के रूप में ज़िन्दगी काट देना बेहतर समझती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कई प्रासंगिक कथाओं से 'वरदान' का कथा-तंत्र उलझकर रह गया है और कथा-विन्यास में शिथिलता, कृत्रिमता और बनावटीपन जैसे दोष दिखाई पड़ने लगे हैं। केन्द्रीय सूत्र के अभाव में कथानक में बिखराव तो आया ही है, उस पर अनेक जोड़ और पैबन्द लगे हुए दिखाई पड़ने लगे हैं। पात्रों की भीड़-भाड़, और गैर-ज़रूरी मौतों, बनावटी संवादों, अतिशय भावुकता-पूर्ण स्थलों से भी उपन्यास का रूप काफ़ी विकृत हो गया है। इस तरह, उपन्यास-शिल्प के धरातल पर यह लेखकीय विकास का अगला सोपान नहीं बन पाया। लेकिन जाति-सेवा के मुद्दे के प्रति बढ़ता लेखकीय रुझान नारी की सामाजिक स्थिति से अपनी आबद्धता के दायरे से बाहर निकलने की छटपटाहट का अहसास ज़रूर देता है। इसके अलावा, प्लेग के डर से, मझगाँव पहुंचे हुए डिप्टी श्यामचरण के परिवार की जीवन-चर्या के ज़रिये भारतीय ग्रामीणों की असली हालत के प्रति प्रेमचन्द के सरोकार की शुरुआत की पहचान भी होती है। विरजन के पात्रों और बालाजी के सुधारमूलक प्रयत्नों के द्वारा गाँवों की दुरवस्था, ज़मींदारों और महाजनों के शोषण, छुआछूत और पुलिस के अत्याचारों का संकेत भी उपन्यास में हुआ है जिससे अगली रचनाओं के लिए तैयार होती हुई रचनाकार की मानसिकता का अनुमान किया जा सकता है।

'सेवासदन' ने न केवल प्रेमचंद को हिंदी उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित किया, हिन्दी उपन्यास को भी आदर्शवादी और रोमानी भटकावों से छुटकारा दिलाकर उसके विकास की भावी दिशा निर्धारित करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। 'सेवासदन' के केन्द्र में सुमन का कथावृत्त है, जिसे परिस्थितियां वेश्या बनने पर मजबूर कर देती हैं। इसी वजह से उपन्यास में वेश्या-समस्या का निरूपण और विवेचन काफ़ी विस्तार से हुआ है। उपन्यास में वेश्या-समस्या के महत्व को देखते हुए बहुत से समीक्षकों ने इसे ही 'सेवासदन' की मुख्य कथा-धुरी समझ लिया है किन्तु 'सेवासदन' के अध्ययन से ज़ाहिर होता है कि इसे उपन्यास की मूल समस्या की बजाय उसकी परिणति या रोग का लक्षण समझना ज़्यादा सही होगा। वास्तव में भारतीय नारी की दारुण सामाजिक अवस्था और उसकी पराधीनता का चित्रण ही 'सेवासदन' के मूल सरोकार मालूम पड़ते हैं।[19] सुमन को घर से निकाल देने के बाद, पश्चाताप करता हुआ गजानन्द कहता है— 'ईश्वर वह दिन कब लायेगा जब कि हमारी जाति में स्त्रियों का आदर होगा। स्त्री मैले-कुचैले, फटे-पुराने वस्त्र पहनकर, आभूषण-विहीन होकर, आधे-पेट सूखी रोटीखाकर, मेहनत-मज़दूरी करते हुए झोंपड़ी में रह कर सब कष्टों को सहते हुए, आनन्द से जीवन व्यतीत कर सकती है—केवल घर में उसका आदर होना चाहिए, उससे प्रेम होना चाहिए। आदर या प्रेमविहीन महिला महलों में भी सुख से नहीं रह सकती।[20]

ज़ाहिर है कि मध्यकालीन नारी के उपभोग्या रूप की जगह उसके मानवी रूप की प्रतिष्ठा और तर्कविहीन सामाजिक उत्पीड़न और पराधीनता से मुक्ति की कामना का व्यक्तीकरण ही 'सेवासदन' का वास्तविक लक्ष्य है किन्तु यह भी साफ़ है कि इसमें 'नारी-स्वातंत्र्य के स्तर पर मुक्ति की कामना की बजाय सामाजिक बन्धनों से तर्कधृत मुक्ति की कामना'[21] को ही महत्त्व दिया गया है। प्रेमचन्द अनमेल विवाह, पति के अविश्वास, संदेह और सामाजिक अनादर जैसे सवालों से जूझती हुई स्त्री को अपनी सहानुभूति तो देते हैं परंतु उसे पुरुष की समकक्षता प्रदान नहीं करते और न ही उसे पुरुष-निर्भरता से पूरी तरह मुक्त होकर स्वतंत्र जीवन जीते हुए ही दिखाते हैं।

सुमन के वेश्या बनने के प्रत्यक्ष कारणों में पति और समाज द्वारा अनादर और उस पर थोपा हुआ अनमेल विवाह मुख्य हैं। यह अनमेल विवाह वरदान की तरह पिता के आलस्य या प्रमाद के नतीजे की बजाय आर्थिक मजबूरियों के परिणाम की शक्ल में आया है जिससे मालूम पड़ता है कि प्रेमचन्द इसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तविक कारणों को अब ज़्यादा सही तौर पर पहचानने लगे थे। वे समझ रहे थे कि वेश्यवृत्ति के लिए हमारी कुवासनाएं, हमारे सामाजिक अत्याचार और कुप्रथाएँ[22] और हमारा समाजार्थिक ढाँचा ज़िम्मेदार है। जब यहां के सत्ताधारी लोग, रात दिन रिश्वतें लेते हों, सूद खाते हों, दीनों का रक्त चूसते हों, असहायों का गला काटते हों[23] तब यहाँ इस बुराई का पनपना प्राकृतिक है। 'जिस समाज में अत्याचारी ज़मींदार, रिश्वती राज्य-कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु, आदर और सम्मान के पात्र हों, वहाँ दालमण्डी क्यों न आबाद होगी ?[24] इसलिए 'जिस दिन नज़राना, रिश्वत और सूद-दर-सूद का अन्त होगा,[25] उस दिन यह समस्या भी समाप्त हो सकेगी।

ज़ाहिर है कि सुमन को वेश्यावृत्ति स्वीकार करने के लिए विवश कर देने वाले कारणों की एक पूरी श्रृंखला थी। उसके दहेज के लिए रुपया जुटाने के लिए उसके पिता को रिश्वत लेनी पड़ी और उनके पकड़े जाने पर सुमन को एक दुहाजू वर के गले मढ़ दिया गया। इस अनमेल विवास के पुरस्कार के तौर पर उसे अपते पति से शंका गाली-गलौच, अवमानना और अपमान ही हासिल हुए। अपने मुक़ाबले पर जब धर्म और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों से लेकर बाग़ के रखवाले तक को वह वेश्या का अधिक सम्मान करते और उसके क़दमों पर सिर झुकाते हुए पाती है तब उसके कुल-ललना के अभिमान का चूर-चूर हो जाना और उसमें इस यंत्रणामय अहसास का पैदा हो जाना क़ुदरती था कि वेश्या की हालत उससे इसलिए बेहतर है क्योंकि वेश्या स्वतंत्र है जबकि उसके पैरों में बेड़ियां हैं।[26] पति के. द्वारा निकाले जाने पर जब समाज-भीरु पद्मसिंह के यहाँ उसे आश्रय नहीं मिला तब उसे भोली का सहारा स्वीकार करना पड़ा। ज़ाहिर है कि उसे इस अनचाही स्थिति में डालने के लिए समाजार्थिक व्यवस्था और उसमें नारी की परमुखापेक्षिता है ज़िम्मेदार थी। इस संदर्भ में डॉ० रामविलास शर्मा की यह टिप्पणी बहुत सही है कि 'दहेज, अनमेल विवाह और वेश्या की देहरी। मानो इस विवाह-प्रथा और वेश्यावृत्ति में कोई अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हो कि एक होगी तो दूसरी होगी ही। और जिस समाज में कन्या के विवाह का मतलब, कन्या-विक्रय से हो उससे वेश्यावृत्ति कौन उठा सका है'।[27]

भारतीय समाज की तर्कहीन मान्यताओं की विडम्बना तब और भी उभर कर सामने आती है, जबकि सुमन के वेश्यावृत्ति त्याग कर विधवा-आश्रम में दाखिल हो जाने के बाद भी, उसकी बहन शान्ता के विवाह में उसकी पूर्व-वेश्या की बहन होने की बात आड़े आती है, खासतौर पर इसलिए कि शान्ता का भावी पति सदन वह व्यक्ति है जोकि बरसों, सुमन की कृपा का आकांक्षी बनकर उसकी देहरी पर नाक रगड़ता और उसके तलवे सहलाता रहा है।

सुमन की चरित्र-परिकल्पना की दृष्टि से 'सेवा-सदन' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पुरुष के अत्याचारों का निडर होकर सामना करने वाली जिस स्त्री के अंकुर 'प्रेमा' की रामकली और 'रूठी रानी' की उमा दे में दिखाई देते हैं, वह सुमन के व्यक्तित्व में पूरी तरह विकसित मालूम होती है। रचनाकार की कल्पना में ढलती हुई पददलित, मर्दित और अपमानित भारतीय नारी की यह मूर्ति ठोकर खाकर जागे हुए अपने दर्प का अहसास देती और यह चेतावनी देती हुई मालूम पड़ती है कि वह अब ज्यादा अत्याचार सहने के लिए तैयार नहीं है। सुमन पति की डाँट-फटकार सुनती है, पर उसके सामने गिड़गिड़ाती नहीं, उसके पाँव नहीं पड़ती। वह उसे साफ़ कह देती है—'क्या तुम्हीं मेरे अन्नदाता हो ? जहाँ मज़ूरी करूँगी, वहीं पेट पाल लूंगी[28] इस तरह वह हिन्दी साहित्य की पहली नारी है जो संघर्ष की डगर पर पाँव उठाती है।'[29]

'सेवासदन' के अन्त में वेश्याओं के लिए 'सेवासदन' की स्थापना को लेकर आलोचकों में गहरा मतभेद है। एक विद्वान् उसे काल्पनिक समाधान[30] ठहराते हैं तो दूसरे उसे युग-प्रवृत्ति और समाज-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्त्र दोनों में अनुमोदित बताते हैं।[31] असल में सदन की स्थापना तो वेश्या-पुत्रियों के संरक्षण और उनके सही विकास के उद्देश्य से ही की जाती है और इस दृष्टि से इनकी ज़रूरत को नकारा नहीं जा सकता। प्रेमचन्द ने इसे वेश्यावृत्ति के हल के तौर पर पेश नहीं किया। वेश्याओं को शहर से दूर बसाने और वेश्या-नाच के बहिष्कार जैसे समाधानों की अपूर्णता के प्रति भी प्रेमचन्द स्वयं सचेत थे। उनके अनुसार जायज़ तौर पर शादी और परवरिश की सूरत निकल आने पर[32] इस समस्या का हल हो सकता है। लेकिन ज़ाहिर है कि जब तक इसके लिए ज़िम्मेदार आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारणों को समग्रतः दूर नहीं कर दिया जाता तब तक इस का समुचित समाधान संभव नहीं है। ऐसी हालत में, सेवासदन पर आश्रमवादी आस्था का आरोप उचित मालूम नहीं पड़ता।

'सेवासदन' के रचना-काल के दौरान भी प्रेमचन्द आर्य-समाजी विचाधारा के प्रभाव में थे, इसकी कई मिसालें 'सेवासदन' में मौजूद हैं।[33] यों तो 'असरारे मआविद' से लेकर अपने रचना-कर्म के अंत तक वे 'पुरोहितों, पादरियों और मुल्लाओं की जमात को मुफ़्तखोर समझते रहे और उनके 'दंभमय उपदेशों'[34] की वास्तविकता उघाड़ने में संलग्न रहे किन्तु 'सेवासदन' में इस वर्ग के शोषक रूप के समावेश से एक नया आयाम भी जुड़ा। श्री बाँकेबिहारी जी के नाम पर गद्दी चलाने वाले महंत रामदास दस हज़ार महात्माओं को भोजन का खर्च उठाने के लिए प्रत्येक हल के पीछे पाँच रुपये चन्दा उगाहने का आदेश देते हैं। श्री बाँकेबिहारी जी की अवज्ञा संभव न थी, इसलिए जिन किसानों के पास रुपया न था, उन्हें उधार लेकर देना पड़ा। धर्म-भरी लोगों पर धर्म के आतंक की ऐसी ही एक मिसाल 'गोदान' में भी मौजूद है। दातादीन को मूल से कई गुना ब्याज़ लौटाने पर गोबर की आनाकानी, होरी को त्रस्त कर देती है क्योंकि वह समझता है कि 'ब्राह्मण की पाई दबाना' भी पाप है। उसकी एक पाई भी दब गई तो हड्डी तोड़कर निकलेगी और वंश में कोई चिल्लूभर पानी देने वाला तथा घर में दिया जलाने वाला नहीं रहेगा।[35] सेवासदन' का बूढ़ा चैतू, गोबर से बहुत पहले धर्म के इस आतंक से छुटकारा पाने के लिए कसमसाता हुआ दिखाई पड़ता हैं। इज़ाफा लगान की नालिश की वजह से, कर्ज़ के बोझ से दबा हुआ चैतू, चन्दा देने से इनकार कर देता है। उसे ठाकुरद्वारे के सामने बड़ी निर्ममता से मारा जाता है किन्तु वह अंत तक प्रतिरोध किए जाता है। उसके 'हाथ तो बँधे हुए थे, मुँह से लात-घूंसों का जवाब देता रहा और जब तक ज़बान बन्द न हो गई, चुप न हुआ।[36] यह चैतू 'प्रेमाश्रम' के बलराज और मनोहर का पूर्वज ही नहीं, इस बात का सबूत भी है कि 'वरदान' में गाँव की समस्याओं और गाँव की धुरी किसान के प्रति जिस रुचि की शुरुआत हुई थी, वह अब ज़्यादा ठोस शक्ल ले रही थी। अब प्रेमचन्द नारी की सामाजिक स्थिति, धर्म के पाखंडी रूप या जाति-सुधार तक ही सीमित न रहते हुए, अधिक बड़े फलक को अपना रचना-क्षेत्र बनाने के बारे में सोचने लगे थे। इज़ाफा लगान, तरह-तरह के बहानों से ज़मींदार द्वारा किसान की नोंच खसोट, धर्म के नाम पर उसके शोषण और पुलिस के हाथों उसकी परेशानी के उल्लेख 'प्रेमाश्रम' के लिए तैयार होती हुई रचनाकार की मनोभूमि की गवाही देते हैं। 'सेवासदन', रचनाकार के जीवन-वास्तविकताओं के सही साक्षात्कार, औपन्यासिक शिल्प पर निरन्तर मज़बूत होती हुई उसकी पकड़ और लगातार बढ़ते हुए उसके आत्मविश्वास का प्रतीक होने के बावजूद चमत्कारपूर्ण प्रसंगों, संयोगवृत्तों, कथा-दिशा को इच्छानुसार निर्धारित करने की प्रवृत्ति और क़िस्सागोई के रुझान से पूरी तरह मुक्त नहीं है। कुल मिलाकर, यह कहा जा सकता है कि इतने विशाल पैमाने पर [illegible] से सम्बन्धित कथावृत्तों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को एक बड़ी हद तक सुगठित तौर पर पेश करने में लेखकीय सफलता, तत्कालीन हिन्दी उपन्यास के लिए बिल्कुल नई चीज़ थी और इस वजह से वस्तु और शिल्प दोनों ही धरातलों पर 'सेवासदन' को हिंदी उपन्यास के अगले मोड़ का सूचक समझा जा सकता है।

'सेवासदन' में मौजूद कई विचारात्मक और कथात्मक बिन्दुओं की वास्तविक महत्ता का अहसास, 'प्रेमाश्रम' के अध्ययन के बाद ही होता है। एक तरफ़ अगर ज़मींदार के शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध 'सेवासदन' के चेतू का प्रतिरोध, 'प्रेमाश्रम' में किसानों के संगठित संघर्ष के रूप में प्रकट होता है तो दूसरी ओर उसकी 'कृषि सहायक सभा' की कल्पना परवर्ती उपन्यास में आश्रम की स्थापना के रूप में विकसित होती है। यही नहीं, अपने स्वत्व के प्रति ज़मींदार की सजगता के बीज भी 'कृषि सहायक सभा' के प्रति सदनसिंह की प्रतिक्रिया में विद्यमान हैं। अपने विशाल कैन्वास और कथाओं-अन्तर्कथाओं की जटिल बुनावट की वजह से 'प्रेमाश्रम' एक बहुकोणीय उपन्यास बन गया है और इसे कभी ज़मींदार की वंशबेल की कथा[37] और कभी किसान जीवन के महाकाव्य[38] के रूप में पहचाना गया है। एक तरह से देखा जाए तो प्रेमाश्रम के कथा-संसार पर ज़मींदार-परिवार की कथा ही हावी मालूम पड़ती है जिसकी बुनावट जटाशंकर, प्रभाशंकर, ज्ञानशंकर, प्रेमशंकर और मायाशंकर सम्बन्धी कथावृत्तों के ज़रिये की गई है। ज्ञानशंकर के श्वसुर राय कमलानन्द और उसकी साली गायत्री के कथा-प्रसंग भी इससे संबद्ध हैं और ग़ौस खाँ तथा ज्वालासिंह के कथा-वृत्तों को भी इससे अलगाया नहीं जा सकता। इसी तरह से, लखनपुर-वासियों की कथा भी इससे अविच्छिन्न रूप से जुड़ी है, क्योंकि वह किसान के प्रतिरोध को ही सामने नहीं लाती, ज़मींदार के चेहरे के युगानुरूप बदलाव को भी उजागर करती है। इसके बावजूद इस की कथा को मात्र ज़मींदार अथवा किसान के कोण से देखना तत्युगीन ज़मींदार और किसान की अनिवार्य क़िस्म की परस्पर-निर्भरता को अनदेखा करना ही है।

'प्रेमाश्रम' का समाज न तो पूरी तरह सामंतवादी समाज है और न ही पूंजीवादी। वह तो एक ऐसा संक्रान्ति-कालीन समाज है जिसकी 'पतनोन्मुख' सामंती व्यवस्था पर पूंजीवादी व्यवस्था निरन्तर हावी होती चली जा रही है। भारतीय सामंतवादी व्यवस्था के वास्तविक चरित्र के प्रति किसी प्रकार की भ्रान्ति के न होने पर भी प्रेमचन्द उसे पूंजीवादी व्यवस्था से बेहतर समझते थे। उनके मत से भारतीय सामंतवादी व्यवस्था यूरोप की इस तरह की व्यवस्था से भिन्न प्रकार की थी—'यूरोप में किसानों की दशा उस समय ग़ुलामों से भी गई गुज़री थी, वह ज़मींदार के बन्दी होते थे। इस कठिन कारावास को देखते हुए धनपतियों की क़ैद ग़नीमत थी। हमारे किसानों की आर्थिक दशा चाहे कितनी ही बुरी क्यों न हो, पर वह किसी के ग़ुलाम नहीं थे।[39] 'प्रेमाश्रम' के राय कमलानन्द के ये विचार प्रेमचन्द के अपने विचार हैं, इसकी पुष्टि महाजनी सभ्यता लेख से भी हो जाती है—'राजा और सम्राट् जन-साधारण को अपने स्वार्थ-साधन की भट्टी का ईंधन न समझते थे; किंतु उनके दुःख सुख में शरीक होते थे और उनके गुण की क़द्र करते थे।[40] मनोहर जैसा विद्रोही व्यक्ति भी मानता है कि शुद्ध सामन्ती व्यवस्था पूंजीवादी युग के उन्मेष-काल की सामन्तवादी व्यस्था की अपेक्षा ज़्यादा मानवीय थी—'भैया, तब की बातें जाने दो। तब साल दो साल की देन बाकी पड़ जाती थी। मुदा मालिक कभी कुड़की बेदखली नहीं करते थे। जब कोई काम-काज पड़ता था, तब हम को नेवता मिलता था। लड़कियों के ब्याह के लिए उनके यहाँ से लड़की, चारा और 25रु० बंधा हुआ था। यह सब जानते हो कि नहीं? जब वह अपने लड़कों की तरह पालते थे तो रैयत भी हँसी-खुशी उनकी बेगार करती थी। अब यह बातें तो गयीं, बस एक न एक पच्चड़ लगा ही रहता है।[41]

महाजनी सभ्यता की वजह से मुरौव्वत बंधे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्य नष्ट हो गए हैं और किसान ज़मींदार और अन्य सत्ताधारियों की स्वार्थ-पूर्ति का साधन भर होकर रह गया है। अपने ऐशो-आराम को ही ज़िन्दगी का लक्ष्य समझने वाले ये लोग किसान से ज़्यादा से ज़्यादा रुपया बटोरने के लिए ही प्रयत्नशील हैं और सोचते हैं कि 'इसे जितना मारिये उतना ही वह अनुकूल होगा।' इसी वजह से प्रेमाश्रम का संसार दो वर्गों में बंटा हुआ मालूम पड़ता है। इसीमें नायक का दर्जा यदि लखनपुर निवासियों को दिया जाए तो ज्ञानशंकर और उसके सहयोगी वर्ग को खलनायक समझना होगा। परंपरागत दृष्टि से विचार करने पर इसे 'नायकविहीन उपन्यास' कहना ज़्यादा सही मालूम पड़ता है।

ज़मींदारी प्रथा के उद्भव और विकास के बारे में प्रेमचन्द की दृष्टि पूर्णतया वैज्ञानिक थी। वे इसे निरी दलाली समझते थे जो कि नवाबों की कृपा से ज़मींदारों को हासिल हुई थी और 1857 के स्वाधीनता संग्राम में अंग्रेज़ों की मदद की वजह से उनके अख्तियार में पुख्तगी आई।[42] प्रथम महायुद्ध के बाद पैदा होने वाली हलचलों से फ़ायदा उठाते हुए ज़मींदारों ने अपनी हालत को ज़्यादा मज़बूत बना लिया और धर्म के इजारेदारों से साठ-गांठ से इसमें कोई दरार बाकी न रहने दी। अब अंग्रेज़ हाकिम, सरकारी कर्मचारी, पुलिस सभी की मदद उसे हासिल थी। ज़ाहिर हैं कि इस हालत में ज़मींदार के विरुद्ध संघर्ष को स्वातंत्र्य-संग्राम का एक हिस्सा ही समझा जा सकता है। इसी कारण प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम' में इसे काफ़ी विस्तार से अंकित करते हैं—'बेदखली, इज़ाफा, गौसखां की हत्या, मनोहर की आत्महत्या, बलराज और क़ादिर की लम्बी सज़ाएं उपन्यास में संघर्ष की इस कोशिश को उजागर करती हैं। लखनपुर निवासी बुरी तरह कुचल दिए जाते हैं, उन्हें किसी दूसरे गाँव से कोई मदद नहीं मिलती किन्तु वे अन्त तक हार नहीं मानते, पराजय-बोध की गिरफ़्त में नहीं आते।

पूंजीवादी युग के शुरुआती दौर में ज़मींदार के पतनोन्मुख चरित्र को प्रेमचन्द ज्ञानशंकर द्वारा अपने चाचा प्रभाशंकर और भाई प्रेमशंकर के प्रति दुर्व्यवहार, साले रामानंद की मौत पर अर्द्ध-स्फुट उल्लास, श्वसुर राय कमलानन्द को ज़हर देने की घटना और साली गायत्री को प्रेम-जाल में फाँस कर उसकी जायदाद हड़पने की कोशिश के ज़रिये उघाड़ते हैं। इन से प्रेमचन्द की वस्तून्मुखी दृष्टि की पहचान तो होती है किन्तु समाधान के धरातल पर वे अपने इस रुझान को बरक़रार नहीं रख पाते। 'प्रेमाश्रम' का बलराज ज़रूर कहता है—'तुम लोग तो ऐसी हँसी उड़ाते हो, जाने काश्तकार कुछ होता ही नहीं। यह ज़मींदार की बेगार ही भरने के लिए बनाया गया है, लेकिन मेरे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा है कि रूस देश में काश्तकारों का राज है, वह जो चाहते हैं, करते हैं।[43] किंतु उपन्यास के अन्तिम भाग के तेवर से यह सोच पुष्ट होती हुई मालूम नहीं पड़ती। उपन्यास में प्रेमशंकर की अहम भूमिका, समाजवाद की ओर उन्मुख संघर्ष को गाँधीवादी समझौतावाद में बदल देती है। इस तरह रचनाकार गाँधीजी के ट्रस्टी-शिप सिद्धांत, अहिंसामूलक सुधार, हृदय-परिवर्तन के नुस्खों को ही बेहतर ठहराता हुआ मालूम पड़ता है। उपन्यास के अन्त में मायाशंकर अपनी सारी ज़मीन स्वेच्छा से किसानों को सौंप देता है; इसे क्रांति के द्वारा उससे छीना नहीं जाता। इस प्रकार इस घटना को विनोबा के 'भूदान' का पूर्व-रूप ठहराया जा सकता है।

'प्रेमाश्रम' में जटिल कथा-संयोजन, कथाओं-अन्तर्कथाओं के फैलाव, कथावृत्तों की एक दूसरे को काटने और फिर अलग हट जाने की प्रवृत्ति, हत्याओं आत्महत्याओं का असंयमित इस्तेमाल इस सीमा तक किया गया है कि उपन्यास का सही चेहरा उघड़ने ही नहीं पाता। इसका कृत्रिम सुधारवादी समाधान इसकी प्रभाव-सघनता को ही कमज़ोर नहीं बनाता, इसमें मौजूद महाकाव्यात्मक उत्कर्ष की संभावनाओं को भी एक बड़ी हद तक अवरुद्ध कर देता है। नतीजे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के तौर पर, 'प्रेमाश्रम' एक उल्लेखनीय उपन्यास तो कहला सकता है किन्तु महान् उपन्यास नहीं।

भारतीय समाजार्थिक व्यवस्था पर लगातार मज़बूत होती हुई पूंजीवादी जकड़न 'प्रेमाश्रम' की अपेक्षा रंगभूमि में ज़्यादा स्पष्टता से उजागर होती है। औद्योगिक क्रांति के शुरुआती दौर में उभरने वाला नव-उद्योगपति, अपने औद्योगिक स्वार्थों की पूर्ति की गर्ज़ से, छोटे भूमिपति की ज़मीन हड़पने के लिए जिन हथकंडों का इस्तेमाल करता है, वे ऊपरी दृष्टि से कम कठोर मालूम पड़ने पर भी ज़्यादा क्रूर और मारक होते हैं क्योंकि वे न सिर्फ़ उसे उसके आर्थिक आधार से ही वंचित कर देते हैं, उसे अपनी जीवन-पद्धति, परम्परा, संस्कृति और जानी-पहचानी दुनिया से काटकर एक अजनबी दुनिया में ला कर पटकने की कोशिश भी करते हैं। औद्योगीकरण के इस पक्ष को प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम' के राय कमलानन्द द्वारा संकेतित कर चुके थे; रंगभूमि के सूरदास के ज़रिये वे इसे ज़्यादा गहराते हैं। राय कमलानंद और सूरदास के औद्योगीकरण-विरोधी कथनों को आमने-सामने रखकर देखने से जो गहरी विचार-समानता उजागर होती है वह इस अहसास को पुख़्ता बनाती है कि प्रेमचन्द की औपन्यासिक कृतियों की सही समझ उन्हें अलग इकाईयों के तौर पर देखने की बजाय शृंखला की कड़ियों के रूप में पहचानने पर ही हासिल हो सकती है।

'रंगभूमि' का सूरदास मरते दम तक औद्योगीकरण का विरोध करता है और ज्ञानशंकर के कारखाने से अपनी तथा गाँव की ज़मीन बचाने के लिए संघर्ष करता है। यह ज़मीन उसके पुरखों की यादगार है, जिस पर गाँव के जानवर चरा करते हैं। राय कमलानंद की तरह सूरदास भी मानता है कि कारखाना खुल जाने से गाँव में दुराचार फैलेगा—'सरकार बहुत ठीक कहते हैं, मुहल्ले की रौनक जरूर बढ़ जाएगी, रोज़गारी लोगों को फ़ायदा भी खूब होगा। लेकिन जहां यह रौनक बढ़ेगी, वहां ताड़ी-शराब का भी तो प्रचार बढ़ जायेगा, कसबियां भी तो आकर बस जायेंगी, परदेशी आदमी हमारी बहु-बेटियों को घूरेंगे, कितना अधरम होगा। दिहात के किसान अपना काम छोड़कर मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरन अपने गाँव में फैलाएंगे।[44]

औद्योगीकरण और उससे जुड़ी हुई पूंजीवादी प्रवृत्तियों से लड़ने के अलावा सूरदास स्वार्थान्ध गाँव-वासियों की ईर्ष्यालु प्रवृत्तियों से भी संघर्ष करता है। उसकी लड़ाई के हथियार हैं—सत्य, अहिंसा, असहयोग और सत्याग्रह जिससे प्रेमचन्द की मानसिकता पर उस समय हावी गाँधीवादी विचारधारा का पता चलता है। सूरदास का संघर्ष स्वाधीनता संग्राम के प्रतीकार्थ को भी अपने अन्दर समाहित किए हुए है जिससे इसके कथ्य की सीमा का विस्तार होता है और सूरदास को गाँधीजी का प्रतीक समझे जाने की धारणा पुष्ट होती है। सूरदास का संघर्ष विफल रहता है; उसकी ज़मीन छिन जाती है और मिल चल निकलता है। मरते समय सूरदास कहता है—'तुम जीते, मैं हारा। यह बाज़ी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मँझे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं.. हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धांधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, ज़रा दम ले लेने दो, हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक-न-एक दिन हमारी जीत होगी।[45] सूरदास के इस कथन की मौजूदगी में, प्रेमचन्द पर 'प्रेमाश्रम' के सामूहिक संघर्ष के बाद वैयक्तिक संघर्ष को अहमियत देने और रोमानी, क्रांतिधर्मिता की गिरफ़्त में आने का आरोप नहीं लगाया जा सकता। इसके अलावा, स्वाधीनता संग्राम की असफलता से उपजे निराशा और परजाय के यंत्रणामय अहसास को, वस्तुवादी दृष्टि से सामने लाते हुए भी, 'रंगभूमि' आत्महारापन का शिकार नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाता बल्कि निरन्तर संघर्ष की प्रेरणा देता है और अन्ततः सफलता के प्रति मानवीय आस्था को पुख्ता बनाता है।

अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के पोषक और प्रजा के शोषक के तौर पर देशी राजाओं की प्रतिक्रियावादी भूमिका को उजागर करने की दृष्टि से भी 'रंगभूमि' उल्लेखनीय है। विनय-सोफ़ी की प्रेम-कहानी, महेन्द्र-इन्दु के वैचारिक विरोध की कथा, जाह्नवी की देश-भक्ति का प्रसंग आदि के समावेश से उपन्यास कथा-संयोजन में बिखराव ज़रूर आ जाता है। विनय और सोफ़ी की प्रेम कहानी तो कहीं-कहीं बिल्कुल स्वतंत्र अस्तित्व धारण करती मालूम पड़ती है लेकिन विभिन्न युक्तियों से कथा-संरचना की कमज़ोरियों को दूर करने के प्रयत्नों से रचनाकार उपन्यास के विविध कथा-बिन्दुओं को बिल्कुल अलग-अलग पड़ जाने से बचा लेता है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 'रंगभूमि' प्रेमचन्द के औपन्यासिक विकास का अगला पड़ाव है जिसमें एक तरफ़ वे पहली बार त्रासद भाव के समावेश के ज़रिये एक नयी क़िस्म की गहराई लाते हैं।[46] तो दूसरी ओर युग की संघर्ष-कथागाथा के लिए महाकाव्यात्मक औज़ारों के इस्तेमाल से उसको औदात्य और उत्कर्ष भी प्रदान करते हैं।

'कायाकल्प' प्रेमचन्द की औपन्यासिक परम्परा से अलग हटा हुआ उपन्यास है। इसे 'निर्माण की दृष्टि से निर्बल उपन्यास', 'गोरखधंधा और शब्दाडम्बर' तक कहा गया है। वस्तुवादी धरातल पर भी इसकी काफ़ी कटु आलोचना हुई है और यह मत प्रकट किया गया है कि 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द यथार्थ के मार्ग पर जितना आगे बढ़े थे, कायाकल्प में उतना ही पीछे लौट गए मालूम होते हैं।'[47]

'कायाकल्प' में जहां रानी देवप्रिया का अभौतिक कायाकल्प दिखाया गया है वहाँ उसके विलासपूर्ण सामन्ती व्यक्तित्व के बदलाव और उसकी जगह तपस्वी और प्राणीवत्सल रूप के उभरने का भी अंकन हुआ है लेकिन चमत्कारों, संयोगों और अयथार्थवादी उपकरणों का आधिक्य इस उपन्यास को ज़िन्दगी के वास्तविक सवालों से जुड़ने नहीं देता।

'कायाकल्प' में 'रंगभूमि' का देशी राजाओं की प्रजा-विरोधी मानसिकता का मुद्दा ज़्यादा उभर कर सामने आता है और यह उपन्यास विशाल सिंह तथा रानी देवप्रिया के माध्यम से इन राजाओं की विलास-प्रवृत्ति, स्वार्थपरता, शोषण, अत्याचार और अंग्रेज़-भक्ति को काफ़ी वस्तुवादी ढंग से प्रस्तुत करता है। किसान की दुरवस्था, सत्ता के द्वारा उनका दमन और उसके प्रति जनता का प्रतिरोधात्मक रवैया जोकि बेगार के विरुद्ध संघर्ष की शक्ल में ज़ाहिर होता है, इस उपन्यास के उल्लेखनीय पक्ष हैं। साम्प्रदायिकता के बारे में भी प्रेमचन्द के दृष्टिकोण को, यह उपन्यास 'सेवासदन' की अपेक्षा बेहतर तौर पर, स्पष्ट करता है तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रति रचनाकार के रुझान को सामने लाता है—'बुरे हिन्दू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिन्दू।'[48] हिन्दू-मुस्लिम दंगों के लिए ज़िम्मेदार कारणों की पड़ताल और उनको समाप्त करने की लेखकीय इच्छा का व्यक्तीकरण, इसे अपने युग के सामाजिक यथार्थ से जोड़ता हैं और इसकी प्रासंगिकता के बारे में आश्वस्त करता है।

किन्तु इसके बावजूद सामाजिक चेतना की गौण-स्थिति, पतनोन्मुख सामन्ती व्यवस्था की पुनः प्रतिष्ठा, हृदय-परिवर्तन के नुस्खों के प्रति लेखकीय रुझान अगर इसके वस्तुपक्ष को कमज़ोर बनाते हैं तो अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण घटनाओं एवं संयोगों की मौजूदगी और कथा-संदर्भों की परस्पर असम्पृक्तता इसे शैल्पिक निकष पर नाकाम बना देते हैं।

'निर्मला' में प्रेमचन्द एक बार फिर नारी की सामाजिक हालत को अपना कथात्मक सरोकार बनाते हैं। इस दृष्टि से यह 'सेवासदन' और 'प्रेमा' की परम्परा का उपन्यास ही मालूम पड़ता है। किन्तु एक दूसरे धरातल पर यह उनसे अपने अलगाव और यथार्थवाद की ओर बढ़ते हुए लेखकीय रुझान की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गवाही भी देता है। 'निर्मला' के प्रेमचन्द सेवासदन या विधवाश्रम की स्थापना के ज़रिये झूठी सांत्वना देने की कोशिश नहीं करते और कहानी को अपने निर्मम तर्क-संगत परिणाम तक अविराम गति से बढ़ने देते हैं।[49] भारतीय 'पुत्र-पिता' की दहेज-लोलुपता, भुवन और निर्मला के विवाह को मुमकिन नहीं होने देती और उसे मुंशी तोताराम जैसे प्रौढ़ व्यक्ति की पत्नी बनने पर मजबूर कर देती है। उपन्यास के मध्यभाग में अनमेल विवाह के दुष्-परिणामों को ही उजागर किया गया है।

युवती पत्नी को संतुष्ट न कर पाने से उपजे, असमर्थता-बोध और आत्महीनता की मानसिकता की वजह से मुंशी तोता राम अपनी पत्नी और बेटे मंसाराम के सम्बन्धों को लेकर सन्देह की प्रवृत्ति की गिरफ़्त में आ जाते हैं। विमाता और सौतेली सन्तान के सम्बन्धों का असामंजस्य, अपने भाई मंसाराम की मृत्यु पर उत्तेजित जियाराम और सियाराम द्वारा व्यक्त होता है। निर्मला की बहन के, भुवन के भाई से, बिना दहेज के, विवाह के लिए हृदय-परिवर्तन की युक्ति का सहारा लिया गया है किन्तु पश्चाताप से उपजे इस बदलाव को आरोपित नहीं समझा जा सकता। 'निर्मला' के पूर्व-इतिहास को जानकर, भुवन उससे छेड़छाड़ करता है जिस पर उसे पत्नी से फटकार सुननी पड़ती है और वह आत्महत्या कर लेता है। यह घटना ग़ैर-ज़रूरी मालूम पड़ती है किन्तु इसमें भुवन की पत्नी सुधा की असामान्य मूर्ति भी उभरती है जो अपने असाधारण व्यवहार के बावजूद सुमन और उमा दे की परम्परा में दिखाई देती है। पति की आत्महत्या के बाद वह कहती है— 'ऐसे सौभाग्य से मैं वैधव्य को बुरा नहीं समझती। दरिद्र प्राणी उस धन से कहीं सुखी है जिसे उसका धन साँप बनकर काटने दौड़े। उपवास कर लेना आसान है, विषैला भोजन करना उससे कहीं मुश्किल है।'[50]

कुल मिलाकर, निर्दोष न होने के बावजूद 'निर्मला' एक अत्यन्त सबल और प्राणवान् कृति है जिसमें भारतीय स्त्री के त्रासद अस्तित्व को उजागर किया गया है। इसके पात्र मुंशी तोताराम की तरुण पत्नी को संतुष्ट करने की हास्यास्पद क्रियाएं, स्थिति की विद्रूपता को उघाड़ती हैं। इसका मंसाराम-निर्मला-तोताराम का त्रिकोण, अलग तरह का है, जो अपने द्वन्द्वात्मक स्वरूप के लिए ही नहीं, अपनी करुण परिणति के लिए भी उल्लेखनीय है। साफ़, सुथरे और चुस्त-दुरुस्त शिल्प की दृष्टि से भी यह उपन्यास अपनी अलग ही पहचान देता है। 'निर्मला' का अंत 'गोदान' की तरह ही त्रासद है और प्रेमचन्द द्वारा परिकल्पित अत्यन्त सफल समापनों में से एक है।

'प्रतिज्ञा' विधवा-समस्या के बारे में प्रेमचन्द की विचारधारा के बदलाव का संकेत देता है। 'प्रेमा' के ही पात्रों को लेकर लिखा गया यह उपन्यास 'प्रेमा' के विधवा-विवाह जैसे तर्क-संगत समाधान की बजाय विधवा आश्रम (वनिता आश्रम) जैसे कृत्रिम समाधान को तरजीह देता है। कमलाप्रसाद-पूर्णा प्रसंग के ज़रिये विधवा की सतीत्व रक्षा और आर्थिक आत्म-निर्भरता को इस रचना में ज़रूर महत्व दिया गया है,—'हमारी लाखों बहनें केवल जीवन-निर्वाह के लिए पतित हो जाती हैं। अगर उन बहनों को रूखी रोटियों और मोटे कपड़ों का सहारा हो, तो वे अन्त तक अपने सतीत्व की रक्षा करती रहें। स्त्री हारे दर्जे की ही दुराचारिणी होती है। अपने सतीत्व से अधिक उसे संसार की किसी वस्तु पर गर्व नहीं होता, न वह किसी चीज़ को इतना मूल्यवान् समझती है।'[51] ज़ाहिर है कि प्रेमचन्द का यह नज़रिया ग़लत नहीं है किन्तु नारी की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक ज़रूरतों को दरगुज़र कर देने की वजह से इसे सही समाधान नहीं समझा जा सकता। असल में, समस्या का एकमात्र हल विधवा-विवाह ही है, जिसे प्रेमचन्द 'प्रेमा' में पहले ही प्रस्तुत कर चुके थे। सैद्धान्तिक तौर पर वे इसे 'प्रतिज्ञा' में भी स्वीकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं किन्तु उसे क्रियात्मक रूप अवश्य प्रदान नहीं करते। डा० रघुवीर सिंह को लिखे गए उनके एक पत्र से स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रतिज्ञा' के रचना-काल तक उनके दृष्टिकोण में बदलाव आ गया था और उसी से प्रेरित होकर ही उन्होंने यह उपन्यास लिखा था।[52]

'ग़बन' में प्रेमचन्द मध्यवर्ग की महत्वाकांक्षाओं, उसकी पराजयों और असफलताओं तथा उसकी समझौतावादी प्रवृत्ति को उजागर करते हैं। नगरीकरण की प्रवृत्ति से उपजी बेहतर जीवन-स्तर की लालसा और वास्तविक से उच्चतर दीखने की अभिलाषा, मध्यवर्गीय पात्र रमानाथ को, पत्नी के गहनों की चोरी और सरकारी रुपये के ग़बन के लिए ही नहीं, देश-भक्तों के विरुद्ध मुखबिर बनने के लिए भी तैयार कर देती है। इस तरह अपने केन्द्र से विच्छिन्न, मूल्यहीनता की भूल-भुलैयों में भटकती मध्यवित्तीय युवा-पीढ़ी के चित्रण की दृष्टि से 'ग़बन' निश्चय ही उल्लेखनीय उपन्यास है किन्तु आर्थिक और सामाजिक दबावों को झेलते शहराती मध्यवर्ग के लिए जो समाधान प्रेमचन्द सुझाते हैं, वह आश्रमवादी न होते हुए भी कृत्रिम और बनावटी ही मालूम पड़ता है और गांधीजी के 'गाँव की ओर लौटो' नारे से प्रभावित लगता है। रमानाथ की पत्नी जालपा से शृंगार की वस्तुएं गंगा को भेंट करवाते हुए प्रेमचन्द टिप्पणी करते हैं--'हाँ, यह वास्तव में यात्रा ही थी, अंधेरे से उजाले की, मिथ्या से सत्य की[53] इसके अलावा अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों की भाँति देवीदीन जैसे आदर्श-चरित्र की प्रस्तुति के लालच से वे 'ग़बन' में भी मुक्त नहीं हो पाते।

इसके बावजूद जर्जर मूल्यों के कुहासे में दिग्भ्रष्ट मध्यवर्ग और भारतीय पुलिस के वास्तविक चरित्र को उघाड़ने की दृष्टि से 'ग़बन एक महत्वपूर्ण रचना है जो मुख्यकथा और प्रासंगिक कथाओं में अन्विति-स्थापना, संयोगों और चमत्कारपूर्ण घटनाओं से उपन्यास को मुक्त रखने और पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों के सही तौर पर व्यक्तीकरण में लेखकीय सफलता की वजह से 'कृति' कहला सकता है।

'कर्मभूमि' प्रेमचन्दीय कथा-शिल्प की अधिकांश कमज़ोरियों से मुक्त है। अस्वाभाविक और चामत्कारिक घटनाओं को इसमें कोई स्थान नहीं दिया गया और लेखक की क़िस्सागोई की प्रवृत्ति भी यहाँ नियंत्रित रही है। इसके बावजूद 'प्रेमाश्रम' की अपेक्षा इसकी कथा-संयोजना में ज़्यादा बिखराव आ गया है क्योंकि इसमें मुख़्तलिफ कथा-सूत्रों को जोड़ने वाला कोई ज्ञानशंकर मौजूद नहीं है। गांव और शहर के कथावृत्तों को बांधने में संघर्ष की समानता के अलावा कोई दूसरी चीज़ इसमें नहीं है। समूचे तौर पर, युगीन यथार्थ के वस्तुवादी चित्रण और उसके सीधे साक्षात्कार की कोशिश से अपनी संलग्नता के ज़रिये 'कर्मभूमि' प्रेमचन्द के औपन्यासिक विकास की गवाही देता है।

'गोदान' प्रेमचन्द का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास ही नहीं है, हिन्दी उपन्यास की वयस्कता का प्रतीक भी है। 'गोदान' के कथ्य को लेकर समीक्षकों में मतैक्य नहीं है और इसे कभी 'भारतीय जीवन का महाकाव्य' और कभी 'किसान जीवन का महाकाव्य' ठहराया गया है। इसकी मूल समस्या कभी 'ऋण की समस्या'[56] समझी गई तो कभी 'कृषक संस्कृति के ध्वंस'[57] को यह जगह मिली। यह सही है कि 'गोदान' पर ऋण की समस्या काफ़ी हावी है और इसके ज़्यादातर पात्रों को किसी-न-किसी समय ऋणदाता या ऋणी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अलावा, इसके रचना-काल में स्वयं प्रेमचन्द के इस समस्या से जूझने के संकेत भी मौजूद हैं।[58] किन्तु समग्रता से पड़ताल करने पर इसे 'कृषक संस्कृति के ध्वंस की कहानी, कहना ज़्यादा सही मालूम पड़ता है। इसी दौरान लिखे गए 'महाजनी सभ्यता' लेख में भी प्रेमचन्द पूंजीवादी समाजार्थिक व्यवस्था के मानवविरोधी चरित्र को उघाड़ते हुए और इसकी पूर्ववर्ती समाज-व्यवस्था को बेहतर ठहराते हुए मालूम पड़ते हैं।

अपने पूर्ववर्ती कृतियों में वे दिखा चुके हैं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसान अपने कृषक रूप में जो 'मरजाद' समझता है, वह मज़दूर के तौर पर नहीं। इसलिए वह अपने इस रूप की सुरक्षा के लिए निरन्तर संघर्ष किए जाता है किन्तु अपनी कहानी 'पूस की रात' और अपने उपन्यास 'गोदान' के रचना-काल तक वे यह महसूस करने लगे थे कि महाजनी युग में, किसान के लिए अपनी अस्तित्व-रक्षा नामुमकिन सी होकर रह गई है। सारी जिन्दगी के संघर्ष के बाद होरी मज़दूर बन जाने के लिए विवश हो जाता है। अपने अस्तित्व की लड़ाई में वह कौन-सा कष्ट नहीं झेलता, कौन सा अपमान नहीं सहता, यहाँ तक कि उसे अपनी बेटी भी बेच देनी पड़ती है।

गोदान के होरी की मजबूरियों का फ़ायदा उठाने वालों में नये ढंग के ज़मींदार राय साहब हैं जिनकी ज़मींदारी में वे सब दोष आ गए हैं जो अनुपस्थित ज़मींदार की रियासत में आमतौर पर आ जाया करते हैं। वे पूंजीवादी तरीक़ों से असामियों का शोषण करते हैं और ज़हर की बजाय गुड़ के इस्तेमाल को ज़्यादा कारगर समझते हैं। गरजने-गुर्राने की बजाय मीठे बोल बोलकर शिकार करने को बेहतर समझते हुए वे होरी की सहानुभूति जीतने की कोशिश करते हैं। होरी उनकी बातों में आ भी जाता है और कहता है—'सच पूछो तो वह हम से भी ज़्यादा दुःखी है। हमें अपने पेट की चिन्ता है, उन्हें हज़ारों चिन्ताएं घेरे रहती हैं'[59] किन्तु नई पीढ़ी के प्रतिनिधि गोबर को उनका दुःख 'धूर्तता और मोटमर्दी'[60] ही प्रतीत होता है। गोबर की बात में सच्चाई है। पर यह भी मानना होगा कि अपने निर्मम शोषक व्यक्तित्व के बावजूद, व्यक्ति के रूप में राय साहब दुःखी हैं और शहर के महाजनों की छलनाओं का मुक़ाबला करने में असमर्थ हैं। इस तरह हम पतनोन्मुख सामन्त-वाद को, उभरते हुए पूंजीवाद के सामने बिल्कुल लाचार पाते है और राय साहब को 'व्यवसाय को व्यवसाय' ही समझनेवाले खन्ना के सामने गिड़गिड़ाते देखते हैं।

इस प्रकार औद्योगीकरण और नगरीकरण के ज़रिये समाजार्थिक व्यवस्था पर हावी होते जा रहे पूंजीवाद की चपेट में कृषि-सभ्यता के दोनों स्तम्भ धराशायी हो जाते हैं। नतीजे के तौर पर, गाँव उजड़ रहे हैं और गाँव के लोग, रोज़गार की तलाश में, शहर की तरफ़ भाग रहे हैं। यों तो मिल-मज़दूर की हालत भी बहुत अच्छी नहीं है। मेहता खन्ना को कहते हैं—'आपके मज़दूर बिलों में रहते हैं। गन्दे बदबूदार बिलों में जहाँ आप एक मिनट भी रह जाएं तो आपको कै हो जाय। कपड़े जो वह पहनते हैं, उससे आप जूते भी न पोछेंगे। खाना जो वह खाते हैं, वह आपका कुत्ता भी न खायेगा।'[61] लेकिन गाँव की अपेक्षा शहर के लोग अधिक स्वतंत्र हैं और धर्म तथा बिरादरी के नाम पर हो रहे शोषण और उत्पीड़न से एक सीमा तक मुक्त हैं।

'महाजनी सभ्यता' के लगातार हावी होते चले जाने से ज़्यादा से ज़्यादा रुपया प्राप्त करने की होड़ लगी है। फटे-हाल लोगों के गाँव में भी शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसने दो-चार रुपया जमा हो जाने पर महाजनी न की हो। गाँव में अनेक महाजन हैं जिनकी चालाकी और मक्कारी के सामने किसान पूरी तरह बेबस और लाचार है। कठोर श्रम की उपज खेत में ही तुलवा ली जाती है। नतीजा यह होता है कि किसान कर्ज़ में पैदा होता है, उसी में जीवित रहता है और मर जाता है।

महाजनी सभ्यता के बारे में अपने घृणामूलक रवैये को प्रेमचन्द ने कई तरह से व्यक्त किया है। उसके वास्तविक रूप को उघाड़ते हुए वे उपन्यास के नायक होरी से भी कोई रू-रियायत नहीं करते। अपने भाई के लिए सब कुछ सहने और झेलने के लिए हमेशा तत्पर होरी साँझे के बाँसों के बदले वसूल होने वाली तुच्छ रक़म से उसी भाई का हिस्सा दबाने की कोशिश करता है। अपने आश्रयदाता मिर्ज़ा खुर्शेद को गोबर कुछ रुपया देने से इनकार कर देता है, जबकि कुछ ही देर बाद वह खुशी से, ताँगेवाले को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रुपये दे देता है; क्यों कि जहाँ ताँगेवाले से उसे ब्याज मिलेगा, वहाँ मिर्ज़ा से मूल रुपया लौट आने का भी कोई विश्वास नहीं होता। राय साहब के सामने 'बिज़निस इज़ बिज़निस' का सिद्धान्त बघारते हुए खन्ना उनके प्रति किसी तरह का मुरौव्वत का व्यवहार करने के लिए तैयार नहीं हैं। इस तरह 'गोदान' में पूंजीवादी सभ्यता की लगातार मज़बूत पड़ती जा रही जकड़न और उसमें विकृत होते जा रहे मानवीय सम्बन्धों को काफ़ी गहराई से पहचाना गया है। प्रेमचन्द के अनुसार परोक्ष रूप से रुपये की लालसा की वृद्धि नगरीकरण की प्रवृत्ति के लिए भी ज़िम्मेदार है और कृषि-संस्कृति के विनाश का मुख्य कारण भी।

धर्म के विकृत चेहरे को उघाड़ने की कोशिश से जिस औपन्यासिक यात्रा की शुरुआत हुई थी, वह 'गोदान' में भी सक्रिय मालूम पड़ती है। 'गोदान' में प्रेमचन्द भारतीय धर्म-चेतना की विद्रूपता को इस कथन के ज़रिये उजागर करते हैं—'हमारा धर्म है हमारा भोजन, भोजन पवित्र रहे, धर्म पर आँच नहीं आ सकती'। यही नहीं, धर्म और युगीन व्यवस्था के गठबंधन के प्रति भी वे पूरी तरह सचेत मालूम पड़ते हैं। इसी वजह से जहाँ 'सेवासदन' और 'कर्मभूमि' में महंत और ज़मींदार के व्यक्तित्वों का एकीकरण हुआ है वहाँ 'गोदान' के दातादीन में धर्म-अधिष्ठाता और महाजन की एकरूपता प्रस्तुत की गई है। झुनिया-गोबर और सिलिया-मातादीन प्रसंगों की समानान्तरता से इस नये गठ-जोड़ की सच्चाई और भी तीखी बनकर प्रकट होती है। जहाँ झुनिया को ब्याहता स्त्री-का-सा दर्जा देने के बावजूद गोबर को अपना घर छोड़ना पड़ता है और उसके बाप को बिरादरी को डाँड देना पड़ता है, वहाँ सिलिया से अपने शारीरिक सम्बन्धों के बावजूद मातादीन को कोई कुछ कहने का साहस नहीं कर पाता।

इस तरह 'गोदान' में पूंजीवादी व्यवस्था के दबाव के तहत पतनोन्मुख कृषि-संस्कृति की व्यथा-गाथा को प्रस्तुत किया गया है किन्तु प्रेमचन्द इसमें किसान को उसकी ज़िम्मेदारी से मुक्त नहीं कर देते और उसकी दुरवस्था के लिए उसकी रूढ़िवादिता, धर्म और व्यवस्था के आंतक के सामने उसकी भीरुता तथा उनमें 'एका के अभाव'[62] को भी पूरी अहमियत देते हैं। ऐसा करते हुए वे किसी आदर्शवादी समाधान अथवा रोमानी चोर-दरवाज़े का सहारा नहीं लेते जिससे उनके वस्तुवादी मानसिक विकास की गवाही मिलती है। ज़ाहिर है कि इस परिप्रेक्ष्य में देखने पर 'गोदान' पर दुहरे-तिहरे कथानक का आरोप निराधार हो जाता है। क्या यह कहने की ज़रूरत है कि कृषि-सभ्यता के दूसरे किन्तु अनिवार्य स्तम्भ रायसाहब के गाँव से शहर आ बसने की सचाई और समाजार्थिक व्यवस्था की तब्दीली को खन्ना, तनखा, खुर्शीद वगैरह के कथा-सन्दर्भों की ग़ैर-मौजूदगी में ठोस और जीवन्त रूप प्रदान करना मुमकिन न था! गोदान के कथा-प्रसंगों में अगर किन्हीं पर प्रश्न-चिह्न लगाया जा सकता है तो वे मालती-मेहता, गोविन्दी-खन्ना के प्रसंग ही हैं। इनके समावेश के ज़रिये प्रेमचन्द पश्चिमी सभ्यता के अनुकरण के लिए आकुल नारी और परम्परागत मूल्यों में जीती नारी को आमने-सामने रखते हुए, नारी के बारे में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करना चाहते थे। 'गोदान' से भी यह धारणा पुख़्ता होती है कि नारी के प्रति अशेष सहानुभूति और एक सीमा तक उसको स्वतंत्रता देने की हिमायत करने के बावजूद, वे उसे पुरुष की समकक्षता प्रदान करने के पक्षधर नहीं थे। 'असरारे मआबिद' के 'दूसरा' की तरह ही 'गोदान' का मेहता प्रेमचन्द के नारी सम्बन्धी रवैये को स्पष्ट करता है जिससे मालूम पड़ता है कि प्रेमचन्द स्त्री और पुरुष में समान शक्तियों और समान प्रवृत्तियों की मौजूदगी स्वीकार नहीं करते।[63] उनके अनुसार नारी में सेवा, त्याग जैसे गुण होते हैं, जो उसे पुरुष से श्रेष्ठतर सिद्ध करते हैं।[64] किन्तु वह यह भी समझते थे कि नारी केवल माता होती है और उसके उपरान्त वह जो कुछ है, वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र ही होता है।[65]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने समकालीनों की तरह प्रेमचन्द भी नारी को महान् और आदरणीय ठहराते हुए भी पुरुष की बराबरी का दर्जा नहीं देते। प्रसाद और प्रेमचन्द के नारी सम्बन्धी दृष्टियों की समानता तत्युगीन बौद्धिकों के रवैये के बारे में कोई सन्देह नहीं रहने देती। अगर प्रसाद इड़ा की बजाय श्रद्धा को अहमियत देते हैं तो प्रेमचन्द भी मालती की निस्बत गोविन्दी के आचरण को ही अनुकरणीय ठहराते हैं।

'गोदान' से स्त्री और पुरुष की समानता के बारे में ही नहीं मानवीय समता के प्रति उनके रवैये के विषय में भी सन्देह पैदा होता है। 'गोदान' को मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित उपन्यास ठहराने से पहले मेहता के इस कथन पर भी विचार किया जाना चाहिए—'संसार में छोटे-बड़े हमेशा रहेंगे और उन्हें हमेशा रहना चाहिए। इसे मिटाने की चेष्टा करना मानव-जाति के सर्वनाश का कारण होगा।[66] रूसी समाज-व्यवस्था पर मेहता की एक और टिप्पणी विचारणीय है—'आप रूस की मिसाल देंगे। वहां इसके सिवाय क्या है कि मिल के मालिक ने राज-कर्मचारी का रूप ले लिया है।[67] इसके अलावा 'गोदान' के होरी का संघर्ष भी 'प्रेमाश्रम' के लखनपुर निवासियों जैसा सामूहिक संघर्ष नहीं है बल्कि 'रंगभूमि' के सूरदास की परम्परा में वैयक्तिक संघर्ष ही है और अपने इस संघर्ष में वह नाकाम ही रहता है। शहर के मिल मज़दूरों का संघर्ष ज़रूर सामूहिक है किन्तु उन्हें भी सफलता नहीं मिल पाती।

ज़ाहिर है कि 'गोदान' के रचनाकाल तक प्रेमचन्द की शंकाएं निर्मूल नहीं हुई थीं और न ही उनके मन में काम्य समाज-व्यवस्था की तस्वीर ही पूरी तरह साफ़ ही हो सकी थी किन्तु वे इस निष्कर्ष पर ज़रूर पहुंच गए थे कि शोषित को अपना भाग्य खुद बनाना होगा और अपनी बुद्धि और साहस के ज़रिये ही इन आफ़तों पर विजय पानी होगी[68] इसके लिए वे उन में 'एका' की ज़रूरत के प्रति भी सचेत मालूम पड़ते हैं। मेहता-मालती के सुधारात्मक प्रयत्नों की निरर्थकता के चित्रण के पीछे भी उनकी यह दृष्टि काम करती दिखाई देती है।

इस तरह 'गोदान' प्रेमचन्द के अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ और वस्तुनिष्ठ चिंतन का प्रतीक है। इसके साथ ही वह उनके अधिक परिष्कृत और उन्नत शिल्प की मिसाल भी है। शिकार, नौका-विहार और कबड्डी मैच जैसे अर्थहीन पैबन्दों के बावजूद कथा प्रस्तुति की सिनेरियो पद्धति, वस्तुवादी चरित्र-परिकल्पना, रोज़मर्रा की ज़िन्दगी की भाषा और साहित्यिक भाषा के कुशल संयोजन से निर्मित समर्थ भाषा, दुरूह बिम्बाश्रयी शैली की बजाय मुहावरों और लोकोक्तियों से समन्वित प्रभावशाली अभिव्यंजना-प्रणाली, व्यंग्य की तिलमिला देने वाली तराश और अपने त्रासद अंत की दृष्टि से यह हिन्दी उपन्यास के नवीन उत्कर्ष का प्रतीक है। इन सब कारणों से होरी की ठंडी हथेली से किया जाने वाला गोदान भारतीय जीवन से सामन्ती व्यवस्था के अंत और हिन्दी उपन्यास-यात्रा के शुरुआती दौर के समापन का चिह्न बन गया है।

'मंगल-सूत्र' प्रेमचन्द का अन्तिम और अधूरा उपन्यास है जिसके बारे में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचना संभव नहीं है। फिर भी, अपनी कुछ विशेषताओं की वजह से इसकी अपनी अहमियत है। 'गोदान' में सामन्तवादी व्यवस्था की समाप्ति और पूंजीवादी व्यवस्था के हावी हो जाने की उद्घोषणा की जा चुकी थी, इसलिए 'मंगलसूत्र' में प्रेमचन्द पूंजीवादी समाज-संरचना के लिए उपयुक्त नागरिक परिवेश की कहानी ही चुनते हैं। इसी दौरान लिखे गए उनके निबंध 'महाजनी सभ्यता' और 'मंगलसूत्र' के उपलब्ध पृष्ठों को आमने-सामने रखकर देखने से मालूम पड़ता है कि पूंजीवादी व्यवस्था के वास्तविक चरित्र और भावी समाज के ढाँचे के बार में अब उन्हें किसी प्रकार की भ्रांति नहीं रह गई थी। समाजवादी ढाँचे के बारे में उठाए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाने वाले प्रश्नों और शंकाओं के जवाब उन्होंने तलाश कर लिए थे और पहले की तरह से क्रान्ति से डरना उन्होंने छोड़ दिया था।[69] वे समझ चुके थे कि शोषक वर्ग दरिन्दों का समुदाय है और उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना ज़रूरी है।[70]

'मंगलसूत्र' की अहमियत की एक वजह यह भी है कि इस उपन्यास द्वारा हिन्दी कथा-साहित्य में एक साहित्यकार को प्रमुख-पात्र का दर्जा देने की शुरूआत होती है और इसके ज़रिये प्रेमचन्द रचनाकार के तौर पर अपने अनुभवों को ज़्यादा प्रत्यक्ष ढंग से संजोने में संलग्न मालूम पड़ते हैं। इसी वजह से इसे 'आत्मकथात्मक उपन्यास' ठहराया गया है। अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों में पीढ़ियों के क़ुदरती टकराव को वे निर्दिष्ट ज़रूर कर चुके थे किन्तु इससे पहले उसको इतने व्यापक धरातल पर प्रस्तुत करने की कोशिश उन्होंने नहीं की थी। इसके अलावा, इसके उपलब्ध पृष्ठों से उनके द्वारा आदर्शवादी रवैये से पूरी तरह मुक्ति और यथार्थवादी दृष्टि के पूर्ण स्वीकार का बोध भी होता है। कुल मिलाकर, 'मंगलसूत्र' संभावनाओं की ऐसी दुनिया सामने लाता है जो अपने अधूरेपन के बावजूद हिन्दी उपन्यास के विकास की दिशा का पूर्व-ज्ञान देती मालूम पड़ती है। सामन्तवाद से पूंजीवाद की ओर अग्रसर समाज के मुताबिक़ ही उनके उपन्यासों में अंकित आर्थिक व्यवस्था के चेहरे में भी तब्दीली आती गई है। सामंती ढाँचे के शोषणधर्मा चरित्र के बारे में किसी क़िस्म की भ्रान्ति न होते हुए भी, वे महाजनी सभ्यता की अपेक्षा भारतीय सामन्ती सभ्यता को बेहतर समझते थे। इसी वजह से वे पूंजीवादी व्यवस्था पर ज़्यादा तेज और मारक प्रहार करते हैं और इसके मूलाधार 'धन' के बारे में एक गहरे नफ़रत के जज़्बे को व्यक्त करते हैं। अपनी कहानी 'दो बहन', अपने निबंध 'महाजनी सभ्यता', और अपने ज़्यादातर उपन्यासों में वे 'धन के प्रति शत्रुता' के अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करते हैं। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे गए अपने एक पत्र में भी उन्होंने लिखा था—'जो व्यक्ति धन-सम्पदा में विभोर और मगन हो, उसके महान् पुरुष होने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। जैसे ही किसी आदमी को धनी पाता हूं, वैसे ही मुझ पर उसकी कला और बुद्धिमत्ता की बातों का प्रभाव काफ़ूर हो जाता है। मुझे जान पड़ता है कि इस शख़्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को—उस सामाजिक व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा ग़रीबों के दोहन पर अवलम्बित है—स्वीकार कर लिया है।[71] उनके उपन्यासों से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन शासन-तंत्र के उत्पीड़क और शोषक-चरित्र के प्रति भी वे पूरी तरह सचेत थे। इसी वजह से वे उसके अभिकर्ताओं—पुलिस, न्याय-व्यवस्था वग़ैरह के असल रूप पर पड़े मुखौटों को बड़ी निर्ममता से छीलते और तराशते हैं। न्यायपूर्ण समाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए वे पराधीनता से मुक्ति को पहली शर्त मानते थे। उनका विचार था कि 'स्वराज्य हो जाने से समाज के किसी अंश को कोई हानि नहीं पहुँच सकती, लाभ ही लाभ होंगे। हाँ, उनकी अवश्य हानि होगी जो ख़ुशामद और लूट और अन्याय के मज़े उड़ा रहे हैं[72] लेकिन यह भी साफ़ है कि मात्र प्रशासन की तब्दीली में उनका विश्वास न था। स्वराज्य का असली मतलब वे आर्थिक स्वराज्य ही समझते थे। उन्होंने लिखा था—'आज भारत का उद्योग-धन्धा पनप उठे, आज भारत के घर-घर में खाने के लिए दो मुट्ठी अन्न, पहनने के लिए दो गज़ कपड़ा हो जाए .... जीवन में कुछ कविता, कुछ स्फूर्ति, कुछ सुख मालूम पड़े तो कौन कल इस बात की चिन्ता करेगा कि भारत की पार्लियामेंट में अंग्रेज हैं या हिन्दुस्तानी'[73] जाहिर है कि वे स्वाधीनता के पक्षपाती होने के बावजूद उसको मानवोचित समाज-व्यवस्था का आवश्यक ज़रिया ही मानते थे, इसी वजह से उनके उपन्यासों का मूल सरोकार मात्र विदेशी गुलामी से मुक्ति नहीं है और राजनैतिक मुद्दों को आर्थिक सवालों पर कहीं भी वरीयता प्रदान नहीं की गई।

स्थूल दृष्टि से देखने पर प्रेमचन्द के उपन्यास अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युग की कुछ समस्याओं, कतिपय घटनाओं और आन्दोलनों को लेकर लिखे गए मालूम पड़ते हैं किन्तु गहराई से जाँचने-पड़तालने पर ये अपनी तात्कालिक प्रासंगिकता के साथ-साथ मनुष्य की तकलीफ़ की शाश्वतता और उसके विरुद्ध निरन्तर सक्रिय मानवीय संघर्ष-चेतना को व्यक्त करते हुए भी दिखाई पड़ते हैं। इसी वजह से ये अपनी कालांकितता के बावजूद काल के अतिक्रमण का अहसास पैदा करते हैं।

अपने वस्तुवादी रुझान की वजह से, प्रेमचन्द मानवीय ज़िन्दगी को अमानवीय स्तर पर ढाल देने वाली व्यवस्था के अभिकर्ताओं की शक्ति को कहीं कम कर के नहीं दिखाते और उन पर मानवीय ताक़तों को काल्पनिक विजय का रोमानी भ्रम भी नहीं पालते किन्तु मानवीय नियति के प्रति अपनी अडिग आस्था की वजह से वे आत्महारापन और पराजय-बोध से पीड़ित भी मालूम नहीं देते। व्यवस्था के बहु-आयामी स्वरूप के विरुद्ध मानवीय लड़ाई को, उसके ठोस संदर्भों में प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने होरी, सुमन, निर्मला, सूरदास जैसे अविस्मरणीय पात्रों का निर्माण किया जो अपनी सबलताओं-निर्बलताओं, जय-पराजयों के आधार पर जीवन्त व्यक्तित्वों से सम्पन्न ही नहीं हुए, समग्र मानव जाति की आशाओं-आकांक्षाओं, गुणों-कमज़ोरियों के प्रतिनिधि भी बन गए हैं। उनके रचना-संसार में विभिन्न वर्गों,धर्म-सम्प्रदायों और मनोवृत्तियों के पात्र मौजूद हैं जो ज़िन्दगी को जीने, काटने और झेलने में संलग्न हैं और इस तरह प्रेमचन्द पाठक के सामने सिर्फ़ एक औपन्यासिक जगत् ही नहीं लाते, जीते-जागते मनुष्यों का संसार भी प्रस्तुत करते हैं।

प्रेमचन्द के वास्तविक महत्व की पहचान उन्हें प्राप्त उपन्यास-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने से ही हो सकती है। उनके पहले हिंदी उपन्यास तिलस्मी, ऐयारी और जासूसी रचनाओं से अटा पड़ा था या उसके अन्तर्गत नारी समस्याओं के आदर्शवादी-सुधारवादी समाधान जुटाने में व्यस्त कृतियों का ही प्रणयन किया जा रहा था। ज़ाहिर है कि स्थूल और आरोपित उद्देश्य-मूलकता के सामाजिक उपन्यासों की परम्परा को वस्तुवादी परम्परा तक पहुंचाने के लिए प्रेमचन्द को एक लम्बा अन्तराल पार करना था। उनकी अपनी दृष्टि शुरू से ही यथार्थ की ओर झुकी हुई थी, इसके लिए 'असरारे मआबिद' और अपने मामा को लेकर लिखे गए उनके अनुपलब्ध व्यंग्य की मिसालें गवाही के तौर पर पेश की जा सकती हैं। लेकिन यह भी सही है कि उनकी प्रारंभिक कृतियों पर भी सुधारमूलक चेतना और आदर्शवादी रुझान काफ़ी हावी रहे। उनके शुरुआती दौर की रचनाओं में तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों की तरह ही चमत्कारपूर्ण घटनाओं की नियोजना, ग़ैरज़रूरी वर्णनों-विवरणों की भरमार और क़िस्सागोई मौजूद हैं किन्तु अपनी रचना-यात्रा में जहाँ वे बहुत सी वैचारिक त्रुटियों से मुक्त होते गए, वहाँ कलात्मक दृष्टि से भी उनकी रचनाओं में ज़्यादा पुख़्तगी आती चली गई। एक तरह से देखा जाए तो प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य के विकास में ही हिन्दी उपन्यास की प्रगति-यात्रा निहित मालूम पड़ती है। उन्होंने हिन्दी उपन्यास को न सिर्फ़ उसका यथार्थवादी मिज़ाज दिया, उसे अपना मुहावरा भी सुलभ करवाया और इस तरह उसे एक निजी चेहरा दिया। वास्तव में उनके युग में सक्रिय किसी भी भारतीय भाषा के किसी उपन्यासकार से उनकी तुलना करने पर ही उनके कृतित्व की अहमियत का सही अन्दाज़ मुमकिन हो सकता है।

---

1. सन् 1901 के आसपास प्रेमचन्द ने अपना पहला उपन्यास 'श्यामा' लिखा। मुझे बताया गया है (किताब अब उपलब्ध नहीं है) कि उसमें प्रेमचन्द ने बड़े सतेज, साहसपूर्ण स्वर में ब्रिटिश कुशासन की निन्दा की है।—प्रेमचन्द : एक परिचय, अमृतराय, 'प्रेमचन्द : चिन्तन और कला'—डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 202-3.

2. मंगलाचरण—सम्पादक अमृतराय, भूमिका, पृ० 9.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. क़लम का सिपाही-अमृतराय, पृ० 48
4. मंगलाचरण, पृ० 5 .
5. मंगलाचरण, पृ० 25 .
6. वही, पृ० 46 .
7. वही, पृ० 44 .
8. मंगलाचरण, पृ० 244 .
9. मंगलाचरण, पृ० 281 .
10. वही, पृ० 302 .
11. वही, पृ० 308 .
12. मंगलाचरण, पृ० 313 .
13. वही, पृ० 314 .
14. वही, पृ० 321 .
15. हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ—डॉ० शशि-भूषण सिंहल, पृ० 21 पर उद्धृत
16. विविध प्रसंग-1, प्रेमचन्द, पृ० 61 .
17. मंगलाचरण, पृ० 391 .
18. वरदान-प्रेमचन्द, पृ० 35 .
19. प्रेमचन्द —डॉ० गंगाप्रसाद विमल, पृ० 127, प्रेमचन्द और उनका युग-डॉ० राम विलास शर्मा पृ० 32 .
20. सेवासदन-प्रेमचन्द, पृ० 246 .
21. प्रेमचन्द-पृ० 126 .
22. सेवासदन, पृ० 155 .
23. वही, पृ० 192 .
24. वही .
25. वही .
26. सेवासदन,पृ० 33 .
27. प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० 28 .
28. सेवासदन, पृ० 36 .
29. प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० 41 .
30. वही, पृ० 40 .
31. प्रेमचन्द के उपन्यासों का शिल्प-विधान-डॉ० कमल किशोर गोयनका, पृ० 176 .
32. सेवासदन, पृ० 126 .
33. सेवादन, पृ० 85 .
34. 'महाजनी सभ्यता-मंगलसूत्र व अन्य रचनाएं' प्रेमचन्द, पृ० 367 .
35. गोदान-प्रेमचन्द, पृ० 223 .
36. सेवासदन, पृ० 8 .
37. प्रेमचन्द : एक अध्ययन—डा० राजेश्वर गुरु, पृ० 152 .
38. प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० 48 .
39. प्रेमाश्रम-प्रेमचन्द, पृ० 63 .
40. महाजनी सभ्यता –'मंगलसूत्र व अन्य रचनाएं पृ० 365 .
41. प्रेमाश्रम, पृ० 24 .
42. वही, पृ० 173 .
43. प्रेमाश्रम, पृ० 43 .
44. रंगभूमि-प्रेमचन्द, पृ० 88 .
45. वही, पृ० 558 .
46. प्रेमचन्द, पृ० 137 .
47. प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व-हंसराज रहबर, पृ० 236 .
48. कायाकल्प-प्रेमचन्द, पृ० 220 .
49. प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० 65 .
50. निर्मला—प्रेमचन्द, पृ० 206
51. प्रतिज्ञा—प्रेमचन्द, पृ० 87 .
52. मैंने (प्रेमा में) विधवा का विवाह कराके हिन्दू नारी को आदर्श से गिराया था। उस वक्त जवानी की उम्र थी और सुधार की प्रवृत्ति ज़ोरों पर थी। उस रूप में उस पुस्तक को नहीं देखना चाहता था। इसलिए मैंने कथा में उलट-फेर करके उसे लिख डाला।—सारिका, अक्तूबर-1, 1978, पृ० 67 पर डॉ० कमलकिशोर गोयनका द्वारा प्रस्तुत
53. गबन—प्रेमचन्द, पृ० 152 .
54. कर्मभूमि—प्रेमचन्द, पृ० 40 .
55. वही, पृ० 304 .
56. प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० 125 .

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

57. प्रेमचन्द के उपन्यासों का शिल्प विधान, पृ० 485 .
58. हंस, मई 1939 .
59. गोदान, पृ० 22 .
60. वही .
61. वही, पृ० 291 .
62. गोदान, पृ० 26 .
63. वही, पृ० 163 .
64. वही, पृ० 162 .
65. वही, पृ० 202
66. वही, पृ० 59 .
67. वही .
68. वही, पृ० 58 .
69. प्रेमचन्द : चिन्तन और कला—डॉ० इन्द्रनाथ मदान पृ० 232 .
70. मंगलसूत्र व अन्य रचनाएं, पृ० 390 .
71. हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियां—डॉ० शशिभूषण सिंहल, पृ० 21 पर उद्धृत ।
72. हंस, अप्रैल, 30 .
73. जागरण, 17 अप्रैल, 33, संपादकीय टिप्पणी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० जाफ़र रज़ा
उपाचार्य, उर्दू विभाग
काश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

गोदान की दो पाण्डुलिपियाँ

'गोदान' की दो पाण्डुलिपियां भारत कला-भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में सुरक्षित हैं। उनमें किसी पर लेखन-तिथि नहीं है परन्तु उनके अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि पहली पाण्डुलिपि के आधार पर ही दूसरी पाण्डुलिपि तैयार की गयी है। दूसरी पाण्डुलिपि वही है, जिससे 'गोदान' पहली बार हिंदी में प्रकाशित हुआ। निम्नलिखित पंक्तियों में दोनों पाण्डुलिपियों के बारे में कुछ जानकारी प्रस्तुत की जाती है—

प्रथम पाण्डुलिपि अपूर्ण है जो पृष्ठ 3 से 312 तक उपलब्ध है। इसके प्रारंभिक वाक्य इस प्रकार हैं :

"............चट पा जाता था। विपन्नता के इस अथाह सागर में सहयोग ही वह निधि थी जो उसके भीत हृदय में तृण था, जिसे पकड़े हुए वह कहीं चहकी जाती थी। आज इन असंयत शब्दों के यथार्थ के निकट होने पर भी मानो झटका देकर उसके हाथ से वह तिनके का सहारा छीन लिया।"

यहाँ संशोधन करके "निधि थी जो उसके भीत हृदय में" को काट दिया गया है जिससे प्रस्तुत रूप में वाक्य इस प्रकार बना है :

"विपन्नता के इस अथाह सागर में ही वह तृण था।"

दूसरा अध्याय इस प्रकार है :

'होरी मालिकों की ड्योढ़ी पर पहुंचा, तो आठ बज रहे थे। भवन के सिंहद्वार पर कई प्यादे बैठे गपशप कर रहे थे। होरी को उनसे मालूम हुआ कि मालिक पूजा पर बैठ गये हैं।"

यहां अंतिम वाक्य में "होरी को" काट दिया गया है। इसी प्रकार इसी अध्याय में तीसरा पैराग्राफ़ है :

"दोनों पुत्रों में यद्यपि पिता की भक्ति विरासत में न पायी थी, तो न थी पर वह चरित्र दोष न था जो रईसों के लड़कों में साधारणतया हुआ करता है। दोनों ही सुशिक्षित, मेहनती, कार्यकुशल थे। समरचंद अदालत का काम करते थे और आनरेरी मजिस्ट्रेट भी हो गये थे। दौलतराम इलाक़े की तहसील वसूल को ज़िम्मेदार था। बड़ा छोटे को प्यार करता था। छोटा बड़े का आदर करता था। यह एक आदर्श परिवार था, जहां कलह, द्वेष, दुर्व्यसन का नाम भी न था। रुचि में कुछ भिन्नता थी। समर को नाटकों से प्रेम था। दोनों ही खद्दर पहनते थे और दोनों ही राष्ट्रवादी थे।"

यहां यद्यपि 'विरासत" में न पायी थी तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"रुचि" में कुछ भिन्नता थी, समर को नाटकों से प्रेम था" को बाद में प्रेमचंद ने काट दिया है। परिवर्धन एवं संशोधन का एक उदाहरण और देखिए :

"होरी दोपहर होते होते मालिकों को सलाम करके लौटा पर घर न आकर पहले उस खेत में गया जहां गोबर ऊख गोड़ रहा था। दोनों लड़कियां भी गोड़ाई में लगी हुई थीं। छोटी बड़ी लड़की सोना गाढ़े की छपी हुई लाल साड़ी को गेठुनों के ऊपर चढ़ाये हुए थी। छोटी चम्पा एक गज़ की पतली सी लंगोटी कमर में लपेटे ढेलों को एक छड़ी से तोड़ रही थी। बड़ी का तो धूप इतनी प्रखर थी कि खड़ा होना कठिन था। पर यह तीनों बालक काम में तन मन से लगे हुए थे।"

उपयुक्त उद्धरण में तीसरे वाक्य में "छोटी" तथा "लड़की" और अंतिम से पहले वाक्य में "बड़ी का तो" को संशोधन में काट दिया गया है।

इसी प्रकार पूरे उपन्यास में असंख्य स्थानों पर छोटे-बड़े परिवर्तन-परिवर्धन एवं संशोधन किये गये हैं। अनेक अवसरों पर तो कई-कई पैराग्राफ़ लिख कर काट दिये गये हैं। ऐसा अनुमान है कि इनमें से कुछ संशोधन तो लिखने के बाद किये गये तथा कुछ लिखते समय ही कर लिये गये थे। उनमें सभी उद्धरणों का प्रस्तुत करना अति विस्तार चाहता है, इसलिए उन्हें सम्मिलित नहीं किया जा रहा है।

प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों विशेषकर 'काया-कल्प' के समान ही रूपरेखा भी अंग्रेज़ी में लिखी हुई इस पाण्डुलिपि में विद्यमान है। तीन अलग स्थानों पर तीन अलग तरह की टिप्पणियां दी गयी हैं। उदाहरणार्थ पहले अध्याय में भोला के विषय में निम्न लिखित टिप्पणी है।

Bhola lending his cow to sell. He has no fodder. Hori gives him the fodder.

(भोला अपनी गाय को बेचने की इच्छा करता है। उसके पास चारा नहीं है। होरी उसे चारा देता है।)

एक दूसरे स्थान पर दूसरे अध्याय में कुबेर चन्द के पुत्रों की चर्चा करने के बाद अंग्रेज़ी में निम्नलिखित टिप्पणी है।

Hori Zamindar–Preparation for Deshahra going on. Drama and Dhanush Yagya. The Thakur pleads his own helplessness. His son and his two sons and daughters.

(होरी--ज़मींदार--दशहरा के लिए तैयारी हो रहा है। नाटक और धनुषयज्ञ। ठाकुर अपनी विवशता व्यक्त करता है। उसका बेटा तथा उसके दो पौत्र और दो पौत्रियां)

इसी प्रकार एक स्थान पर बहुत विस्तृत रूपमें बारह सूत्रों की एक टिप्पणी अंग्रेज़ों में लिखी गयी है जिसमें विस्तार से उपन्यास की रूपरेखा दी गयी है। संक्षेप में प्रारम्भ के चार सूत्रों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. Hori has two brothers Shobha and Hira. Bhola has two sons Kamta and Jangi and one daughter Jhunia, who is a widow. Hori has one son Gobar and daughters Sona and Rupa. His wife is Jhinki.

2. Shobha is widower. Hira hardwroking but rash and Short temper.

3. Hori purchases the cow. The whole village comes to have a look, Shobha is indifferent but Hira grows jealous. He poisons the cow. Hori seen it but cannot report him to the police

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. The whole village goes to thc Zamindar to celebrate Dashahra festival. Hori sell his store of barley. He could not hide his face He wants to increase his territory. Zamindar must be impressed. The party goes to Zamindar. Thre is a drama. A show and Dhanush Yagya.

[1. होरी के दो भाई शोभा और हीरा हैं। भोला के दो बेटे कामता और जँगी और एक बेटी झुनिया है, जो कि विधवा है। होरी के एक पुत्र गोबर तथा दो पुत्रियां सोना और रूपा हैं। झिनकी उसकी पत्नी है।

2. शोभा विधुर है। हीरा परिश्रमी, उतावला तथा चिड़चिड़ा है।

3. होरी गाय खरीदता है। पूरा गांव उसे देखने आता है। शोभा उदासीन है परन्तु हीरा में द्वेष भाव उत्पन्न होता है। वह गाय को विष देता है। होरी उसे देखता है लेकिन थाने में सूचना नहीं पहुंचाता।

4. पूरा गांव दशहरा मनाने के लिए ज़मींदार के घर जाता है। होरी अपना जौ का बखार बेच डालता है। वह अपना मुंह नहीं छिपा पाता। वह अपना क्षेत्र बढ़ाना चाहता है। ज़मींदार अवश्य प्रभावित हुआ। यह दल ज़मदारीं के पास गया। वहां नाटक है। एक दृश्य और धनुषयज्ञ।]

प्रस्तुत पाण्डुलिपि मात्र 27 अध्यायों तक सीमित है। यदि इस पाण्डुलिपि का 'गोदान' के प्रस्तुत संस्करण से तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, तो असंख्य परिवर्तन एवं परिवर्धन देखे जा सकते हैं। विस्तार से बचने के लिए सभी उदाहरण छोड़ दिये गये हैं।

दूसरी पाण्डुलिपि प्रारंभ से अंत तक संपूर्ण है। इस पाण्डुलिपि में भी अनेक अवसरों पर घोर परिवर्तन किया गया है। कहीं-कहीं पैराग्राफ़ का पैराग्राफ़ काट कर पुनः लिखे गये हैं। कहीं पर वाक्यों के बीच में शब्दों का परिवर्तन किया गया है। विस्तार से बचते हुए सभी उद्धरण प्रस्तुत करना संभव नहीं। मात्र पहले अध्याय से उन स्थानों की ओर संकेत किया जाता है।

1. जिस तरह मर्द के मर जाने से औरत विधवा हो जाती है, अनाथ हो जाती है। इसी तरह औरत के मर जाने से मर्द के हाथ पाँव कट जाते हैं।"

यहां "विधवा हो जाती है" को प्रेमचन्द ने काट लिया है। प्रस्तुत संस्करण में यह वाक्य इस प्रकार मिलता है।

"जिस तरह मर्द के मर जाने से औरत अनाथ हो जाती है, उसी तरह औरत के मर जाने से मर्द के हाथ-पाँव टूट जाते हैं।"[1]

"हाथ पाँव कट जाते हैं" को बाद में प्रकाशकों ने "हाथ पाँव टूट जाते हैं" बना दिया, जो प्रेमचन्द का संशोधन नहीं है।

2. जब तुम कहो तुम्हारी इच्छा हो चलो।"
यहां प्रेमचन्द ने "जब तुम कहो" को मूल पाण्डुलिपि में काट दिया है। प्रस्तुत संस्करण में प्रेमचन्द के संशोधन के अनुरूप ही प्रकाशित हुआ है।

"जब तुम्हारी इच्छा हो चलो।"[2]

3. "लेकिन अगर मंगनी भी हो तो उधार तो है। उधार को वह एक तरह से मुफ़्त समझता था।"

यहाँ "अगर मंगनी भी हो तो उधार तो है" को प्रेमचन्द ने संशोधन में काट दिया है। प्रस्तुत संस्करण में प्रेमचन्द के संशोधन के अनुरूप ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशित हुआ है।

लेकिन उधार को वह एक तरह से मुफ़्त समझता था।"[3]

4. होरी गृहस्थ था। किसी के जलते हुए घर में उसने हाथ सेकना सीखा न था। किसान सर्वथा किसान व पक्का स्वार्थी होता है। उसकी गांठ से बड़ी मुश्किल से रिश्वत निकलती है। किसान पक्का स्वार्थी होता है इसमें संदेह नहीं।"

यहां "सर्वथा किसान" तथा "निकलती" को प्रेमचन्द ने उक्त वाक्यों के लिखते समय ही काट दिया था। फिर पूरा पैराग्राफ़ लिखने के बाद मात्र अंतिम पंक्ति रहने दी है और सब काट दिया है। प्रस्तुत संस्करण में मात्र इतना ही है।

"किसान पक्का स्वार्थी होता है, इसमें संदेह नहीं।"[14]

इस दूसरी पाण्डुलिपि में इसी प्रकार पूरे उपन्यास में संशोधन है कहीं-कहीं स्थानों पर लाल स्याही से संशोधन भी हुआ है जिसकी लिखावट से अनुमान होता है कि यह संशोधन भी प्रेमचन्द ने ही किया है।

उर्पयुक्त दोनों पाण्डुलिपियों पर विचार करते हुए निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'गोदान' की मूल रचना हिंदी में ही हुई। इस प्रकार के विचार कई लोगों ने व्यक्त भी किये हैं परन्तु मात्र संशोधनों के आधार पर निश्चित करना कि मूल रचना हिंदी में हुई थी हमारे विचार में सही नही है। प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया को समझने के लिए उनके पिछले उपन्यासों के विषय में निम्नलिखित तथ्यों पर भी ध्यान रखना चाहिए जिन पर यथास्थान प्रकाश डाला जा चुका है। यहां मात्र संकेत करना ही पर्याप्त होगा—

1. 'बाज़ारे-हुस्न' उर्दू उपन्यास है और उर्दू ही में मुद्रित होने के पूर्व उसे फिर साफ़ करके लिखने की बात उठी तो प्रेमचन्द ने 30 सितम्बर, 1919 के पत्र में ताज को लिखा—"आपको साफ़ करने की तकलीफ़ न दूंगा। क्योंकि साफ़ करने में अकसर क़िस्से के सीन के सीन बदल जाते हैं।"[5]

2. 'चौगाने-हस्ती' मूल रूप में उर्दू में लिखा गया परन्तु उर्दू में प्रकाशन के समय अनेक परिवर्तन हो गये थे, जिनकी चर्चा प्रेमचन्द ने 'चौगाने हस्ती' की भूमिका में भी की है।

3. 'ग़बन' तथा 'परदा-ए-मजाज़' और उसका हिंदी रूप 'कायाकल्प' दोनों की पाण्डुलिपि स्वयं प्रेमचन्द ने तैयार की थी परन्तु हिंदी तथा उर्दू मूल में अनेक अवसरों पर घोर अन्तर आ गया है।

'गऊदान' की पाण्डुलिपि सुरक्षित नहीं रह सकी। इसके उर्दू प्रकाशक 'मक्तबा-ए-जामिया दिल्ली' का प्रबंध समय-समय पर बदलता रहा है। "मक्तबा-ए-जामिया" के वर्तमान प्रबंधकों से इन पंक्तियों के लेखक ने उर्दू पाण्डुलिपि के विषय में जानकारी करनी चाही, तो उन्होंने बताया कि 'गऊदान' की पाण्डुलिपि भी अन्य महत्वपूर्ण एवं अप्राप्य पाण्डुलिपियों एवं पुस्तकों के समान 1947 में देश-विभाजन के बाद जब दिल्ली में साम्प्रदायिकता की होली जल रही थी तो उस समय लूटमार में नष्ट-भ्रष्ट हो गयीं और अब उसके विषय में कुछ कहना कठिन है। ऐसी स्थिति में जब कि उर्दू पाण्डुलिपि ही अप्राप्य है तथा प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया के विषय में उर्पयुक्त तथ्यों के आधार पर स्पष्ट है कि अपने उपन्यासों को एक बार पूर्णतया लिख लेने के बाद भी उनमें संशोधन एवं परिवर्तन करते रहते थे और कभी-कभी साफ़ करने में दृश्य से दृश्य ही बदल देते थे जो मात्र हिंदी पाण्डुलिपियों में संशोधन देखकर कैसे अनुमान किया जा सकता है कि 'गऊदान' की मूल रचना उर्दू में न होकर हिंदी में हुई। हमारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार में अपने मंतव्य की सतर्कता को ध्यान में रखकर वर्तमान स्थिति में इसे हिंदी तथा उर्दू दोनों भाषाओं में मूल रचना का ही स्थान देना उचित होगा।

———

1. प्रेमचन्द : गोदान, पृ० 10 .
2. वही, पृ० 11 .
3. वही, पृ० 12 .
4. प्रेमचन्द : गोदान, पृ० 12 .
5. प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग 2, पृ० 105 .
6. जामिया-मिल्लिया के प्रांगण में सांप्रदायिक दंगों का होना इतिहास का वैचित्र्य ही था, क्योंकि इस संस्थान की स्थापना ही हिंदू-मुस्लिम एकता के आधार पर हुई थी। प्यारे लाल का कथन है कि जब सांप्रदायिक दंगों के बाद महात्मा गांधी जामिया पहुंचे तो उन्होंने अत्यंत ग्लानि एवं शोक के साथ जामिया के कर्मचारियों के परिवार के सदस्यों को तसल्ली देते हुए कहा था—"यदि आप सब के वीरता पूर्वक इस सुन्दर संस्थान के प्रांगण में मरना पड़े तो भी आप अडिग रहें।"

——प्यारे लाल : महात्मा गांधी, दि लास्ट फ़ेज़, भाग2, पृ० 436 .

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० एन० ई० विश्वनाथ अय्यर
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
कोचिन विश्वविद्यालय, कोचिन

प्रेमचन्द का साहित्यिक व्यक्तित्व: एक पुनर्मूल्यांकन

युग बदलते जाते हैं, पर परिवर्तन-शील युगों में भी कुछ अपरिवर्तनशील तत्त्व होते हैं। उनमें मुख्य है मानव-मन की विशिष्ट प्रवृत्ति। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसी ओर संकेत करते हुए कहा कि नाखूनों का बढ़ना और उन्हें काटते जाना-यह व्यापार अनादिकाल से चलता है। 'नाखून' शब्द प्रतीकात्मक भी है। तामसिक वृत्तियों को वह सूचित करता है। नाखुन शरीर में ही नहीं, मन में एवं मस्तिष्क में भी है। इस नाखून को काटना हैवानियत को खतम करके इन्सानियत को बढ़ाना भी है। यदि उपनिषद् के शब्दों को स्वीकार करें तो कहा जा सकता है कि यह अन्धेरे से प्रकाश की ओर ले चलना है। यह कार्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है; यही आदर्श साहित्यकार का काम है। साहित्यकार मात्र के लिए प्राचीन संस्कृत शब्द है" 'कवि'। अतः संस्कृत का वह प्रसिद्ध छन्द आज भी संगत है, उद्धरण के योग्य है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥

रससिद्धि कवीश्वरों के लिए महान् सिद्धि है। उनका यश न जरा से जर्जरित होता है, न मृत्यु से समाप्त। युग-युग तक वे जीते हैं। उनकी रचना का महत्व स्थायी होता है।

सिर्फ़ श्लोक रटने से कोई प्रमाण नहीं मानता। वह असली प्रमाण मांगता है। अतः हमें यह बतलाना पड़ता है कि लोगों के द्वारा किसी साहित्यकार के स्मरण का प्रमाण क्या है? यह दो रूपों में हो सकता है—एक तो उसके ग्रंथों का पठन-पाठन ही है। दूसरा है उसके जन्मस्थान, जन्मदिन आदि का सम्मान। उज्जयिनी संस्कृत-साहित्य के छात्रों के लिए पुण्यतीर्थ है। केरल के बाहर के चित्रकार समूचे केरल को रवि वर्मा की जन्मभूमि के रूप में सम्मान देते हैं। जन्मदिन, जन्मशती, चतुरशती, पंचशती आदि का समारोह मनाने की प्रणाली के पीछे भी यही श्रद्धा की भावना है। इस विषय में साहित्यकारों से संगीतकला के साधक कहीं आगे हैं। हिन्दुस्तानी संगीत के सम्राट् तानसेन की ग्वालियर स्थित समाधि पर प्रतिवर्ष गायक गीतों की अंजलि चढ़ाते हैं। कर्नाटक संगीत के सम्राट् वाग्गेकार संत त्यागराज के तिरुवैयर-स्थित जन्मगृह में प्रतिवर्ष जनवरी में कर्नाटक संगीत के साधक एकत्र होकर गीतों के कुसुम अर्पित करते हैं। यह अत्यंत अनुकरणीय है। परन्तु साहित्यकार इस विषय में कुछ पीछे हैं। संभवतः गायक-गण अब भी और कलाकारों को बड़ा मानने को तैयार हैं जबकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्यकार अपनी ही महत्ता पर विश्वास रखते हैं। इस पृष्ठभूमि में भारत के विभिन्न भागों में इस वर्ष प्रेमचन्द-जन्मशती समारोह का आयोजन अत्यधिक महत्व रखता है। भारत के दक्षिणतम प्रांत केरल के महानगरों में प्रेमचन्द-शती मनाने का मतलब यह है कि प्रेमचन्द की लोकप्रियता संपूर्ण उत्तर भारत तो क्या, दक्षिण के अन्य प्रांतों के पार कर केरल में भी पहुंच चुकी है। मूल कृतियों एवं अनूदित रचनाओं के अध्ययन के ज़रिये केरलवासी प्रेमचन्द से सुपरिचित हो चुके हैं। इस सुअवसर पर हम उन लेखकों और प्रकाशकों का सादर स्मरण करें जिन्होंने मलयालम में यथाक्रम प्रेमचन्द-कृतियों का अनुवाद तथा प्रकाशन किया है, अनुवादकों में श्री ई. के. दिवाकरन पोट्टी, सब से प्रमुख हैं। जी०एस० धारा-सिंह और अन्य लोगों ने भी अनुवाद किया है। नेशनल बुक स्टाल और अन्य छोटे बड़े पुस्तक विक्रेताओं का भी सहयोग हार्दिक श्रद्धा के योग्य है। अगर ये अनूदित रचनाएं न निकली होतीं तो प्रेमचन्द के विषय में केरल की जानकारी बहुत ही कच्ची रहती।

प्रेमचन्द जी का जन्म काशी के पास वाले लमही गाँव में ज़रूर हुआ। मगर अपनी रचनाओं के द्वारा वे समूचे उत्तरप्रदेश के हो गये थे। उनके श्रद्धालु पाठक पूरे हिन्दूस्तान में मिलते हैं। उनकी जीवनी में एक प्रसंग का उल्लेख है जब कि उनकी 'मंत्र' कहानी से प्रभावित पंजाब के सज्जन दंपती बड़ी भेंट लेकर प्रेमचंद की सेवा में पहुंचे थे। यों उनकी 'सत्याग्रह' कहानी को पढ़कर काशी के एक सनातनी पंडित ने मुकद्दमा दायर भी किया था। उनके 'सेवासदन' की कथावस्तु से प्रभावित तमिष भाषी सुब्रह्मण्यम जी ने सेवासदनम चलचित्र तमिष में तैयार किया था। द्विवेदी युग के हिंदी कथाकारों में शायद प्रेमचंद को ही ऐसा गौरव सर्वप्रथम प्राप्त हुआ। मूलरचना के विषय में भी प्रेमचंद दक्षिण के हिन्दी अध्यापकों और छात्रों को विशेष परिचित एवं प्रिय हुए। कारण यह था कि दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की राष्ट्रभाषा परीक्षा से लेकर जो उच्च परीक्षाएं थीं उन सब में प्रेमचन्द कथा-साहित्य अनिवार्यतः पाठ्यक्रम का अंग रहा। मुझे अब भी याद आती हैं 'प्रेम पंचमी' को वे कहानियां—दुर्गा का मंदिर, शांति, बड़े घर की बेटी, व फातिहा। यों अन्य गद्य-संग्रहों में भी कई कहानियां थीं—रानी सारंधा, ईदगाह आदि। 'प्रेमा' से लेकर 'गोदान' तक विभिन्न उपन्यास विविध स्तर पर पढ़े जाते थे। उस कथाकार से हमारी घनिष्ठता इतनी थी कि हमारे छात्र प्रेमचन्द को छोड़ अन्य हिन्दी उपन्यासकार को मानने को तैयार नहीं हुए, यद्यपि यह अन्ध-श्रद्धा अनुचित है।

प्रेमचन्द के कथा-साहित्य ने दक्षिण के हिन्दी छात्रों को एक खास चीज दी है—वह एक उदार भाषा। ऐसी उदार भाषा जिसमें कठोर तत्सम शब्दों की कटुता या अरबी-फारसी के कट्टर लफ़्ज़ों की बहुतायत नहीं है, जिनमें पद-पद पर प्यारे मुहावरे और सरस कहावतें हैं। उनकी भाषा की ताक़त और लोच हमें मिल सकी है। यहां तक कि कोई भी आसान उर्दू किताब तक हम समझ लेते हैं। हमारे हिन्दी लेखन में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है।

हम अध्यापक भाषा में प्रगति पाने के इच्छुक छात्रों को अब भी सुझाव देते हैं कि आप प्रेमचन्द की रचनाएं ध्यान से पढ़ें तो आप की भाषा सुधर जायगी।

काव्य के विवेचन में प्राचीन काव्यशास्त्री वैदर्भी, गौड़ी व पांचाली का उल्लेख कर गए हैं। समीक्षकों ने प्रेमचन्द की भाषा-शैली के कई भेद बताये है। वर्णन-प्रधान, (इसमें कवित्वपूर्ण शैली भी शामिल है) आलोचनात्मक, भावुकतापूर्ण, व्यंजनापूर्ण, पात्रानुकूल आदि। मगर प्रेमचन्द की शैली का विवेचन हम किसी एक मापदंड से नहीं कर सकते। कारण यह है कि वे कहानी-लेखक, उपन्यासकार, निबन्धकार, पत्रकार आदि बहुत से साहित्य-पंथों के पथिक थे। हर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक का गठन दूसरे से भिन्न होता है। यदि हम वैज्ञानिक विवेचन करना चाहें तो हमें प्रत्येक क्षेत्र को लेकर अलग-अलग विवेचन करना पड़ेगा। कहानी-रचना का ध्येय उपन्यास-रचना के ध्येय से भिन्न है। जहां कहानी में आवश्यक तथ्यों का प्रस्तुतीकरण अत्यन्त संक्षिप्त रूप में अपेक्षित है वहाँ उपन्यास में विस्तृत विवेचन की गुंजाइश है। निबन्ध में मुद्दों की संरचना, विषय-विवेचन का क्रम आदि उसके सौष्ठव के लिए आवश्यक हैं। पर पत्रकार की समाचारपत्रीय टिप्पणी और लेख में सनसनीदार तत्वों पर और पाठक-हृदय को आकर्षित करनेवाले बिन्दुओं पर ज़ोर देते हुए भाषा में प्रसंगानुसार गंभीरता, चटपटापन और विनोद लाने की ज़रूरत पड़ती है। इसलिए कफ़न के लेखक की शैली गोदान की शैली से, 'साहित्य का उद्देश्य' निबन्ध की शैली से अथवा 'हंस' के किसी संपादयकीय की शैली से भिन्न ही हो सकती है।

प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि प्रेमचन्द ने 'पत्रकार' के रूप में माधुरी, जागरण, हंस आदि में जो टिप्पणियां, अग्रलेख आदि लिखे थे उनका संकलन दुर्भाग्य से नहीं किया गया न उनपर कोई अनुसंधान ही हुआ है। जो प्रेमचन्द-साहित्य अभी मुद्रित मिलता है वह भी अपूर्ण लगता है।

इस विषय का और एक पक्ष या दृष्टिकोण है। लेखक विभिन्न विधाओं की साहित्यिक रचनाएं भले ही करे, फिर भी उसका व्यक्तित्व न्यूनाधिक मात्रा में सभी रचनाओं में अवश्य अभिव्यक्त हुए बिना नहीं रहता। वह व्यक्तित्व कुछ बिंदुओं में विशेष द्रष्टव्य है—जैसे—(1) शब्दकोश (2) मुहावरे (3) वाक्य-संरचना (4) उपमान अथवा बिंब (5) लतीफ़े या चुटकुले (6) सूक्तियों का प्रयोग और (7) विषय-प्रस्ताव की प्रणाली इसमें विचार-पक्ष शामिल नहीं। विचार पक्ष में तो व्यक्तित्व अवश्य सर्वत्र एक समान खुलता है। यदि लेखकीय विचार विभिन्न विधाओं में एक दूसरे के विरुद्ध हों तो हमें उनकी रचनाओं का युगानुसार परीक्षण करना पड़ेगा। यदि वैचारिक परिवर्तन युग के अनुसार होता हो तो वह ग्रहणीय है। इसके बजाय यदि एक ही युग के वैचारिक तत्व एक दूसरे के खिलाफ़ हों तो लेखक की ईमानदारी को चुनौती दी जा सकती है, खैर!

समीक्षक और अनुसंधाता प्रेमचंद के शब्दकोष की काफ़ी छानबीन कर चुके हैं। असल में एक प्रेमचंद हिन्दी कोष का प्रकाशन अत्यंत उपयोगी रहेगा। जैसा कि सब जानते हैं, प्रेमचंद ने उर्दू में लिखा, फिर उससे हिन्दी में आये। शुरू शुरू के उनके हिन्दी-लेखन से हिन्दी साहित्य के धुरंधर खुश तक नहीं थे, बाद में अपनी सहजात साहित्यिक प्रतिभा के बल पर प्रेमचंद हिन्दी शैली में ख़ूब लिख सके। फिर भी उनकी पृष्ठ-भूमि हमेशा उर्दू की रही। यह प्रेमचन्द की ही नहीं, अनेक लेखकों की है। पं. जवाहरलाल नेहरू के भाषण इस शैली के उदाहरण हैं। जब मौज में आते हैं तब अमृतलाल नागर भी यही करते हैं, चूंकि प्रेमचन्द की शिक्षा में संस्कृत का पक्ष प्रबल नहीं था। और जो बहुत सी पुस्तकें उन्होंने पढ़ डालीं उनमें ज़्यादातर उर्दू की थीं तथा उस ज़माने में उर्दू का बोलवाला था इसलिए प्रेमचन्द के शब्दकोष में लिंग, वचन आदि व्याकरणिक रचना में उर्दू का खास प्रभाव मिलता है। बाहर उर्दू का वातावरण था तो घर व देहात में बोली चलती थी। भोजपुरी एवं खासकर बनारसी बोली की मिठास कुछ और होती है, यही मिठास गोदान के भोला-होरी संवाद या 'डिग्री के रुपये' की कहानी में—किसी भी देहाती कथा में मिलती है। प्रौढ़ रचनाकाल में उन्होंने तत्सम शब्दों का प्रयोग सुचारु रूप से किया था, फिर भी हम देख सकते हैं कि इसमें वे कुछ कृत्रिम हैं, उन शब्दों को गढ़ने वे में विशेष परिश्रम करते हैं। उन्हें मजा उर्दू शब्दों के प्रयोग में आता है। उदाहरण दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का भाषण (देखिए कुछ विचार पृ. 114-115)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचन्द जी के मुहावरे, उपमान, बिंब आदि भी उर्दू व बोलियों की जीनियस या तत्वों से पुष्ट हैं। खासकर विनोदी उक्तियों या चुटकुलों में यह व्यक्तिपरक शैली प्रकट होती हैं। वे बड़ी पैनी या गहरी उक्तियों का आग्रह न करके सब के लिए सुलभ व्यंग्य-विनोद की शैली ही स्वीकार करते थे। प्रेमचंद-साहित्य की धारा में अवगाहन करनेवालों को पद-पद पर मुहावरों के मोती एंव सूक्तियों के हीरे हासिल होते हैं। वैसे उर्दू में मुहावरे ज़्यादा होते हैं। लखनऊ की तकल्लुफ़ी ज़बान मशहूर है ही, उनकी सूक्तियों में कहीं हम एक अध्यापक को देखते हैं और कहीं एक दार्शनिक को। सतसैया के दोहरे छोटे व गंभीर थे तो प्रेमचन्द की सूक्तियाँ सरस और ज्ञानवर्धक हैं।

विषय-प्रस्तावन की प्रणाली में प्रेमचन्द सामान्यतः सूत्र-रचना से प्रसन्न नहीं दीखते। जो कुछ कहना चाहते थे उसे विस्तार से पूरा बोल कर बोलते थे। उनके चारों और क्या देहात, क्या शहर दोनों के भोले ग्रामीण व मध्यवर्गीय श्रोता घिरे रहते थे, जिन्हें सब कुछ विस्तार से सुनने की इच्छा थी, उनमें बौद्धिकता के पक्षपाती कम थे। इन सामान्य पाठकों को मन में रखकर प्रेमचंद लिखते थे, इसलिए वे उदाहरण, व्याख्या और विस्तार से काम लेते थे। जैनेंद्रकुमार ने इस अतिशय विस्तार की प्रवृत्ति को प्रेमचन्द की कमज़ोरी माना है, मगर प्रेमचन्द जी ठहरे लिक्खाड़, वे सही अर्थ में क़लम के मज़दूर थे, मसिजीवी थे, वे ही स्वयं लेखक, संपादक, प्रकाशक सब कुछ थे। लेखक की निरंकुशता वर्तमान युग में भूषण के बदले दूषण मानी जाती है प्रेमचन्दजी की लाचारी, उनकी सहज अध्यापक-वृत्ति और ग्रामीण पृष्ठभूमि तीनों इस विस्तार के मूल में हैं।

संक्षिप्त मार्मिक लेखन में प्रेमचंद की कुशलता भी कई प्रसंगों में व्यक्त हुई है। 'कफ़न' और 'पूस की रात' इसके उदाहरण हैं।

कई समीक्षकों ने प्रेमचन्दजी की शैली को 'भाषा की दृष्टि से "मध्यवर्ती हिन्दुस्तानी" शैली भी नाम दिया है। गांधीजी ने उन दिनों हिन्दुस्तानी भाषा का पक्ष लिया था और प्रेमचन्द जी की भाषा का ढाँचा उसके लिए बिल्कुल उचित था, परंतु 'हिन्दुस्तानी' का वाद अपनी राजनैतिक नींव की कमज़ोरी के कारण शीघ्र ही टूट गया। अतएव हिन्दुस्तानी शब्द का अब कोई तुक नहीं है। वस्तुत: हम प्रेमचन्द की शैली को सामासिक संस्कृति की हिन्दी शैली कह सकते है, इसी का समर्थन हमारे संविधान ने किया है। हम यहाँ तक कह सकते हैं कि यदि हिन्दी-लेखकों और हिन्दी के समर्थकों में दस-बीस प्रेमचन्द और होते तो राजभाषा हिन्दी की लोच और गहराई दोनों सौगुना बढ़ती, इस दृष्टि से प्रेमचन्द जी हिन्दी के अनन्य लेखक थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत शोध-प्रबंध

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अप्रैल १९७९ से मार्च १९८० तक

संख्या	शोधक का नाम	विषय
1.	शशि मल्होत्रा	हिन्दी नाटकों में संघर्ष (स्कन्दगुप्त से आधे-अधूरे तक)
2.	सरिता सूद	महिला कथाकारों के कथा-साहित्य में प्रेम का स्वरूप-विकास (1950 से 1975 तक)
3.	सतीश कान्त	समकालीनकथा-आलोचकों की आलोचना की समीक्षा (1950-75)
4.	सुरिन्दर कोचर	हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग के कृष्ण-काव्य के विकास का अध्ययन एवं स्वरूप विश्लेषण
5.	शमशेर गुप्ता	हिन्दी में संदर्भ ग्रन्थों की परम्परा एवं प्रयोग
6.	जीवन लता	रांगेय राघव के उपन्यास : समाजवादी चेतना के संदर्भ में
7.	दिलजीत दिव्यांशु	काव्य-भाषा के संदर्भ में समकालीन कविता का अध्ययन (1960 से आज तक)
8.	सतीश चन्द्र चड्ढा	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक-साहित्य में प्रगतिशील चिन्तन
9.	किरण सहगल	आधुनिक हिन्दी काव्य में छायावादेतर स्वच्छन्दतामूलक प्रवृत्तियां
10.	उर्मिल सोनी	अद्यतन हिन्दी उपन्यास का समाज-मनोवैज्ञानिक संसार (1961-75)
11.	शशिप्रभा शर्मा	प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कहानी में व्यक्ति, परिवार और समाज
12.	रजनी कौशिक	हिन्दी उपन्यासों में उपन्यासकारों का आत्म-प्रकाशन
13.	प्रेम लता मनोचा	हिन्दी नाटक में अन्तर्द्वन्द्व का स्वरूप (प्रसाद से मोहन राकेश तक)
14.	विजय प्रकाश गौड़	आधुनिक हिन्दी उपन्यास में व्यक्ति और समाज (1950-75)
15.	रामधारी सिंहल	तुलसीदास व सूरदास के काव्य-बिम्बों का तुलनात्मक अध्ययन
16.	ज्ञान सिंह मान	हिन्दी-काव्य नाटकों में नाटकीयता का स्वरूप
17,	निशा अग्रवाल	रीतिकाव्य की श्रृंगारेतर भाव-व्यंजना का अध्ययन एवं स्वरूप विश्लेषण
18.	नरिंदर पाल सिंह	जपु एवं उसके टीकाकार; कला और दृष्टि के विशिष्ट संदर्भ में (1877 ई० तक)
19.	शोभा भटनागर	हिन्दी लम्बी कहानी का स्वरूप और विकास
20.	शकुन्तला कुमारी	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी गद्य साहित्य में व्यंग्य—युगीन परिवेश में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

21.	शशि बाला शर्मा	हिन्दी के समकालीन निबन्ध साहित्य का स्वरूप-विकास (1950 से 1975 तक)
22.	ईश कुमारी	हिन्दी उपन्यासकारों के उपन्यास-सिद्धान्त
23.	ईश्वरी दत्त	भघाटी बोली का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन
24.	सन्तोष	मध्यकालीन हिन्दी भक्ति-साहित्य के विकास में मुसलमान कवियों का योग
25.	उमेश जैन	हिन्दी कथा-साहित्य में अस्तित्ववाद का स्वरूप (1950 से 1970 तक)
26.	रामेश्वरदत्त शर्मा	रीतिकालीन शृंगार काव्य की सौंदर्य-चेतना पर संस्कृत परम्परा के प्रभाव का अध्ययन
27.	कुलदीप चन्द्र अग्निहोत्री	भारतीय संस्कृति के संदर्भ में उपन्यासकार गुरुदत्त का कथा-साहित्य
28.	सुषम् प्रभा धमीजा	हिन्दी नाट्य: प्रयोग के संदर्भ में

इकतीसवां अंक, मार्च, १९८०

मूल्य : पाँच रुपये

प्रकाशक तथा वितरक

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

डॉ० धर्मपाल मैनी द्वारा सम्पादित अकाल प्रिंटमैटिक्स, एस. सी. ओ. 138
सैक्टर 24-डी चण्डीगढ़ द्वारा मुद्रित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब यूनिवर्सिटी चण्डीगढ़

-३३

अंक

परिशोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशोध

सम्पादक :

डा० धर्मपाल मैनी

सहसम्पादक :

डा० वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता

डा० यश गुलाटी

क्रम

सम्पादकीय :

उत्कृष्ट साहित्य की कसौटी	1	डा० धर्मपाल मैनी

शोध निबंध

आचार्य हजारी प्रसाद की निबंध शैली	3	डा० जयनाथ नलिन
प्रेमचन्द की कहानी उनकी जबानी	11	श्री मदन गोपाल
मध्यकालीन भारतीय संस्कृति और कबीर	27	डा० मदन गोपाल गुप्त
सन्त वाणियों का भाषा शास्त्रीय महत्व	35	डा० डी.डी. शर्मा
रचना के सन्दर्भ में विद्रोह, क्रान्ति, अलगाव, मूल्यवोध, परिवेश	39	श्री रामदेव आचार्य
व्यवस्थागत राजनीतिक भ्रष्टाचार और आधुनिक हिन्दी कहानी	46	डा० पुष्पपाल सिंह
तुलसीदास का मानस रोग वर्णन—एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण	53	डॉ० एच.जी. सिंह
हिन्दी साहित्य का संत काव्य—एक सिंहावलोकन	57	डॉ० बी.पी. शर्मा
धूमिल की 'आस्था' का शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण	64	प्रा० नीलम बजाज
तुलसी के काव्य में व्यवसायों एवं मनोरंजन के साधनों का वर्णन	68	डॉ० इंद्रपाल सिंह इंद्र
आधुनिकता और समसामयिकता	78	श्री वशिष्ठ मुनि ओझा
काव्य का आस्वाद : कुछ नये सन्दर्भ	84	डॉ० रूपकिशोर मिश्र
मध्य वर्गीय मानसिकता और रोमांटिक व्यक्तित्व : अन्तः संबंध	96	डॉ० सीता राम सिंह
सूरदास का काव्य और [illegible] लोकजीवन	101	डॉ० मुरारि लाल शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्कृष्ट साहित्य की कसौटी

साहित्य स्रष्टा, सहृदय एवं आलोचक सभी के लिए यह शाश्वत प्रश्न जीवन्त बना हुआ है कि उत्कृष्ट साहित्य किसे स्वीकार किया जाए ? प्रत्येक लेखक प्रथम कोटि का सहित्यकार बनना चाहता है क्योंकि यशः प्राप्ति सहज अदम्य आकांक्षा है। प्रतिभावान साहित्यकार उसके सूत्र ढूंढने में प्रयत्नशील रहता है। इसके लिए वह विगत महान् साहित्य में महत् को समझने और अपनाकर अभिव्यक्ति देने की चेतना विकसित करता है। सहृदय भी जिस साहित्य से अभिभूत और आन्दोलित होता है तथा जिसके मुख्य बिन्दु उसके जीवन के अविस्मरणीय अंग बन जाते हैं ऐसे साहित्य की महिमा के आधार को, वह भी समझने में प्रयत्नशील होता है। निस्पृह तथा निर्मम आलोचक कभी ही किसी कृति को उत्कृष्ट साहित्य में स्थान देता है। उसके लिए भी वह अपनी कसौटी बनाता है। अतः सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट साहित्य की कसौटी का बोध आवश्यक प्रतीत होता है।

देश और काल की सीमाओं में बंधा हुआ मानव समाज किसी विशिष्ट सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में विकसित होता है। मुझे लगता है किसी भी महान् साहित्य की प्रथम आधारभूमि यह सांस्कृतिक पृष्ठभूमि ही है जहां भौगोलिक सीमाएं इसे समाज विशेष के परिधान में आवद्ध करती हैं वहाँ कालगत सीमाएं भी परम्परागत मूल्यों से इसके परिवेश का निर्माण करती हैं। इस प्रकार जहां सांस्कृतिक पृष्ठभूमि सामाजिक परम्परागत मूल्यों को प्रश्रय देती है वहां समसामयिक परिस्थितियां परिवेश गत मूल्यों को। दोनों का मणिकांचन संयोग ही साहित्य में महत् की प्रतिष्ठा कर पाता है। मानवीय सहज प्रवृत्तियां अनादिकाल से व्यापक साहित्य का अनन्त विषय बन रही है और सम्भवतः बनी भी रहेगी ही। सामाजिक चेतना इन वृत्तियों का नियमन कर तो रही हैं और वैयक्तिक रुचि बहुतायत से इनका उल्लंघन भी करती रही है। महत् साहित्य इस अन्तर्विरोध में संतुलन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थापित करकें ही आगे बढ़ पाता है। इन दोनों में से किसी एक को भी विशिष्ट अनुपात में प्रश्रय देकर वह अपनी गरिमा खो देता है। इस प्रकार मानवीय सहज प्रवृत्तियां जहाँ मनुष्य या नैसर्गिक आवश्यकताओं का बोध कराती हुई साहित्य में अपना स्थान बनाती हैं वहां समाजिक चेतना भी एक दम निर्लिप्त नहीं हो पाती। सच पूछा जाए तो इनकी आधार भूमि कहीं न कहीं लोककल्याण में छिपी रहती है। इसी लिए महान् साहित्य समाज में अशिव का प्रचारक नहीं हो सकता। जन साधारण की तरह साहित्यकार भी जिजीविषा से अनुप्राणित है, अतः उसका साहित्य जीवन मे आस्था के माध्यम से ही विकसित होकर महान् हो सकता है। अनास्थापरायण साहित्य कभी उत्कृष्ट अथवा शाश्वत साहित्य की कोटि में आ सकता हो, ऐसा मुझे ज्ञात नहीं। सम्भवतः इसी लिए मानव की कोमल और करुण वृत्तियों को उद्वेलित और आन्दोलित कर देने वाला साहित्य महत् के निकट जा पहुँचता है।

महत् के इन सभी तत्वों की संयोजक लड़ी है उचित सन्तुलन अथवा औचित्य। इन अन्यान्य तत्वों में भी अनुपात हीनता उसे उत्कृष्ट से दूर कर देगी। ऐसे औचित्य का नियामक तत्व है-विवेक। अतः भाव, अनुभूति विचार; तर्कप्रवणता, कल्पना और उसका सम्भाव्य तथा अभिव्यक्ति - शिल्प और शैली दोनों के माध्यम से यह सभी तत्व जब स्रष्टा के विवेक के माध्यम से सन्तुलित रूप में प्रस्तुत हो पाते हैं, लगता है तभी उत्कृष्ट साहित्य का सृजन होता है। देश और काल के अनवरत प्रवाह में रह कर और उसके प्रहार को सह कर भी जो साहित्य अपना अक्षुण्ण रूप बनाए रखता है और मानव समाज के निकष पर अधिकाधिक निखर कर उज्ज्वल होता रहता है, वही उत्कृष्ट साहित्य कहला सकता है। इस शाश्वत कसौटी में समसामयिक चेतना के बिन्दु भी मिल सकते हैं, इसे चिन्तन की एक दिशा के रूप में भी स्वीकारा जा सकता है।

— धर्म पाल मैत्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. जयनाथ नलिन
किरोड़ी मल गार्डन,
हाँसी गेट, भिवानी ।

आचार्य हज़ारी प्रसाद की निबंध शैली

वस्तु की अभिव्यंजना ही शैली है । वस्तु या विषय है, कोई भाव, विचार, पदार्थ कर्म और भाषा के किन उपकरणों उपादानों से उसकी बिम्बना की जाती है, यही शैली कहलाती है । शैली ही अन्तर को अर्थवत्ता और आकार प्रदान करती है । शैली निबंध में साहित्य की अन्य विधाओं से अधिक स्वस्थ और सशक्त आकार ग्रहण करती है । शैली ही निबंध को प्राणवान बनाती है, उसे व्यक्तित्व प्रदान करती है । व्यक्तित्व से तात्पर्य है, लेखक का व्यक्तित्व और निबंध का निजीपन । बात सभी कहते है, तब क्यों एक की कलेजे में बैठती है, एक की कानों में भी नहीं । एक की बात से गुदगुदी के घुंघरू बज उठते हैं, एक की बात से आँखों का आलस्य भी नहीं उतरता । एक बात से चमक उठते हैं, दूसरी से जमुहाने लगते हैं । बात के कहने का ढंग है । यही शैली है । बात में चमत्कार हो तो क्यों न भाये बक्रता हो तो दिल में क्यों न समाये ? यही कहने का ढंग निबंध का बल है । कहने का ढंग शैली कैसे उपलब्ध हो ? इसका निर्माण और सक्रियता, अन्तर की आकुलता, मस्तिष्क की चिन्तन सम्पदा और शब्द साधना पर निर्भर है । जब अन्तर की वाणी, चिन्तन की लौ फूट पड़ने को बेताब होती है, तब वह सहज ही शैली का आकार पा जाती है । 'शैली ही व्यक्तित्व है, का अर्थ ही यही है कि उसमें रचयिता का आन्तरिक और वाहरी, भौतिक, व्यावहारिक व्यक्ति सामने उपस्थित होता है ।

यहां आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों की शैलीगत विशेषताओं और उन के व्यक्तित्व को तलाश करने का प्रयास किया जायगा । विषय विविधता की दृष्टि से द्विवेदी जी ने हिन्दी निबंध को समृद्ध किया है । धर्म, संस्कृति, ज्योतिष, नीति आचार, वृक्ष सुमन, ऋतु, समीक्षा, आदि अनेक विषयों को लेकर द्विवेदी जी ने निबंध रचना की है । सामान्य से सामान्य विषय पर लिखे गये निबंध में भी इनकी ज्ञान गरिमा का परिचय मिलता है । प्रकार और विविधता के कारण इन की शैली भी अनेकरूपा है ।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल को छोड़कर, सम्भवतः द्विवेदी जी हिन्दी निबंधकारों में ही नहीं, समस्त हिन्दी लेखकों में संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि भाषाओं और साहित्य के सर्वोच्च पण्डित हैं । लेकिन उन के भाषा-विधान पर संस्कृत का कोई बोझ नहीं । वह संस्कृत की सामासिकता, भारीभरकम और अप्रचलित अजनवी शब्दों,मिश्रित संश्लिष्ट और लम्बे-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लम्बे वाक्यों से नितांत अछूती है। संस्कृति, धर्म, जैसे गम्भीर विषयों का विवेचन भी वह अत्यन्त सरल, सुबोध, लेकिन सार्थक सशक्त भाषा में करते हैं। उनके सम्पूर्ण निबंध साहित्य को लिया जाय तो, उनकी शैली को प्रसाद या व्यास शैली कहा जा सकता है। व्यास शैली का मतलब कथावाचकों की लचर, पुनारावृत्ति पूर्ण ढीली ढाली, निरक्षर सामाजिकों को बैठाये रखने वाली कथात्मक शैली नहीं। इसका अर्थ है, अभिधात्मक शैली।

* असुर आये, आर्य आये, शक आये, हूण आये, नाग आये, यक्ष आये, गंधर्व आये, जाने कितनी मानव जातियां आयी और आज के भारत वर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गईं। जिसे हम हिन्दु रीतिनीति कहते हैं, वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्भुत मिश्रण है।

अशोक के फूल, पृ. ९

* कोई नहीं जानता कि ये अभागे नाखून क्यों बढ़ा करते हैं? काट दीजिए, वे चुपचाप दण्ड स्वीकार कर लेंगे; पर निर्लज्ज अपराधी की भान्ति फिर छूटते ही सेंध पर हाजिर। आखिर ये इतने बेहया क्यों हैं?

नाखून क्यों बढ़ते हैं? कल्पलता पृ. ५

* यह सचाई है। यही वास्तविकता है। जो तुम हो नहीं सकते उसके लिये प्रयत्न करना बेकार है। हम क्रूर और निर्लज्ज होने से रहे। उत्तेजना में हम कभी घोर अन्याय कर सकते हैं, परन्तु निश्चित रूप में वाद में हम पछतायेंगे। चुटकी बजाकर हजारों वर्ष की संस्कृति को उड़ाया नहीं जा सकता। यह हमारी सांस्कृतिक महिमा का ही प्रभाव है कि हम अन्याय करके लज्जित होते हैं और अगर यह लज्जा सच्ची हुई तो हम अन्याय का प्रतिकार भी कर सकते हैं। लाज शर्म का रहना अच्छा है, अन्याय करके पछताने की आदत बुरी नहीं है। वैसे सबसे अच्छी बात तो यह होती कि हम अन्याय करते ही नहीं। लेकिन आदमी आदमी ही है। कभी कभी उत्तेजित भी होता है, कभी कभी लज्जित भी होना चाहिये। बुरा है, लेकिन यह बुराई लँगई से अच्छी है।

कल्पलता, पृ० ३१

विभिन्न निवंधों से ऊपर जो तीन उद्धरण दिये गये हैं, उन से शिल्प-विषयक उन की भारतीय संस्कृति-सम्बंधी धारणा स्पष्ट होती है। पहले उद्धरण में द्विवेदी जी ने संस्कृति सम्बन्धी जो विश्वास व्यक्त किया है, यह विश्वास, उन्होंने अपनी भाषा शैली का आदर्श बनाया है। भारतीय संस्कृति का रूप अनेक संस्कृतियों का समन्वय है। द्विवेदी जी की शैली में भी भाषा समन्वय पाया जाता है। दूसरे उद्धरण में 'हाज़िर' 'आखिर' बेहया' और तीसरे में वेकार, बाद में, पछतायेंगे "चुटकी बजाकर' "हजारों' 'आदत' "शर्म" "लगई" आदि शब्द अपने स्थान पर खूब जम कर बैठे हैं। ये अपने तत्सम भाइयों "दण्ड" "निर्लज्ज" "अपराधी" "वास्तविकता" "उत्तोजना" "अन्याय" "निश्चित' 'सांस्कृतिक महिमा' 'प्रभाव' 'प्रतिकार' के साथ पूरे आदर, अर्थवत्ता प्रभाव और प्रयोजन का निर्वाह कर रहे हैं। कोई किसी के लिए अज़नवी नहीं मालूम होता। भाषा विषयक इसी आदर्श का निर्वाह आदि से अन्त तक इनके निबन्धों में हुआ है। संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित होते हुए भी, तत्समता का आग्रह कहीं भी नहीं पाया जाता। यही भाषा जनभाषा है। दूसरी बात यह कि भाषा-प्रवाह, पर्वत-शिखरों से गिरते झरने का सा नहीं है; वल्कि चिकने मैदानी हल्के ढलाव पर बहने वाली धारा के समान है। छोटे छोटे वाक्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने से प्रवाह शिथिल नहीं हो सका; बल्कि उसमें ऊर्मिल गत्यात्मकता आ गई है। भाषा को जनभाषा का रूप देने के लिए इनकी रचनाओं में देशज और आंचलिक शब्दों का प्रयोग किया है। इन प्रयोगों से भाषा में शक्ति, स्वाभाविकता, प्रेषणीयता और आत्मीयता भी आती है। कुछ शब्द :—

मुर, बटोर, सिंगार पटार, घर फूंक मस्ती वाला फक्कड़पन, पारसाल, निर्गुनिया, बेतुकी, अटकल पच्चू तुक मिलाइये, ठूंठ, झबेरा. ऐसे दुमदारों से तो लडूरे ही भले।

हिन्दी प्रदेश में प्रचलित किसी भाषा की उपेक्षा इन की रचनाओं में नहीं। शब्द का प्रयोजन है, अर्थ बिम्ब प्रस्तुत करना। हर शब्द का अपना बिम्ब है, अपना प्रभाव है, अपनी ध्वनि है, अपना प्रयोजन है, साथ ही अन्य शब्दों के साथ जड़ाई, उपयुक्तता और सामंजस्य है। वाक्यों में वह अपने साथी शब्दों की शक्ति को बढ़ाता घटाता है, उनके अर्थोत्कर्ष, अर्थापकर्ष, अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच आदि में महत्वपूर्ण कार्य करता है। अपने छाया-प्रकाश से अन्य शब्दों की उपयोगिता बढ़ाता है। इसीलिए शब्द का अपना महत्व है। अंग्रेजी, उर्दू और अन्य अनेक अतीत कबीलों, जातियों, वर्गों के शब्दों ने हिन्दी भाषा का धर्म और अर्थ अंगीकार कर लिया है। इस लिए उनका प्रयोग भाषा की समृद्धि को ही नहीं बढ़ाता, बल्कि उसे अर्थ-व्याप्ति देता और लोकप्रिय भी बनाता है। इसी आशय की पूर्ति के लिए आचार्य हजारी प्रसाद के निबंधों में अनेक संस्कृत, अंग्रेजी, और उर्दू के शब्द नामरूप में या वैयाकरणिक रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

कतिपय संस्कृत शब्द :—

ततःकिम्, पदे पदे, लक्ष्य-दुर्दिग्ध, चिद्विषयक, गगनोपमावस्था, अर्ध क्षुद्राकृति, भावाभाव विनिर्मुक्त, प्रभास्वर तुल्यभूता, पदझंकार मात्रेण, आवर्तनृत, येनकेन प्रकारेण, कुज्झटिकाच्छन्न, नगण्यात् नगण्यतर।

कतिपय उर्दू शब्द :—

मिज़ाजपुर्सी, हिदायतें, बग़ावत, सल्तनत, कदर, गलत बयानी, हज़रत, ज़ालिम, खुदगर्ज़ी, आदमीनुमा, ज़िन्दगी, लिफाफा देखकर खत का मजमून भाँपना, बावजूद, कमबख्त, दकियानूस, मनहूस, बशर्ते।

कतिपय अंग्रेजी शब्द :—

Aristocracy, Culture, Parasite, Table-talk, modernism, Up-to-date, Conscious, Artist, Gragarians, Describe (वर्णन) Prescribe (उपायनिर्देश) Law and order, Judicial, Critisim, Subjective, Objective.

संस्कृत शब्दों के विषय में यह कहा जा सकता है कि साहित्य के विद्यार्थियों के लिए वे अपरिचित नहीं। यदि सन्धिच्छेद कर दिया जाय, तो समझने में बाधा पड़ ही नहीं सकती। साथ ही ये शब्द गम्भीर विषय-विवेचन में प्रयुक्त हुए हैं, इनके पर्याय के प्रयोग से अर्थगाम्भीर्य और अर्थ बिम्ब-खण्डित हो जाता लेकिन उर्दू और अंग्रेजी शब्द सामाजिक दैनिक परिचर्चा में इतने प्रयुक्त होते रहते हैं, कि वे हमें पराये नहीं लगते।

वैसे तो द्विवेदी जी की भाषा एक मसृण मंद गति से प्रवाहित होती है। क्योंकि उन के निबंधों में न तो उन्मादी यौवन का कोई भावावेग उमड़ने को बेताब होता है, न ही चिन्तन की उत्तेजना व्याकुल रहती है। दोनों ही तत्व हैं. लेकिन शांत गम्भीर और मर्यादा के कूलों में बहने वाले नद के समान, जिसमें कभी बाढ़ नहीं आती, लेकिन नितांत ऐसा नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि भावावेग को बिम्बित करने वाली, क्षिप्रता से उमड़ने वाली भाषा-शैली का उन की रचनाओं में अभाव है । जब हृदय में किसी भाव की तीव्र अनुभूति होती है, तब उनकी भाषा का प्रवाह बांध तोड़ कर उमड़ता है। नीचे दिया गया उद्धरण देखिए :

* वह चला गया ! वह ब्रह्मचर्य का विजय-केतन, धर्म का मूर्तिमान विग्रह, संयम की धवल पताका, वैराग्य का प्रसन्न वैभव, सत्य का अवतार, अहिंसा का रूप, प्रेम का आकार, कीर्ति का कैलास, भक्ति का उल्लास, हमारे बीच से चला गया। इतिहास ने इतनी क्षीण काया में, इतना बड़ा प्राण नहीं देखा था, धरित्री ने इतने अल्प अवकाश में इतना बड़ा प्रकाश नहीं देखा था, मनुष्यता ने इतना बड़ा विजयोल्लास कभी अनुभव नहीं किया था। वह हँसता हुआ आया, रुलाता हुआ चला गया। तपस्या का शुभ्र हिमालय गल गया, सारा संसार उसकी शीतल वारिधारा में आर्द्र है। संसार के इस कोने से उस कोने तक एक ही मर्मभेदी आवाज आ रही है — वह चला गया, गाँधी चला गया। वह जिधर मुड़ा, जीवन लहरा उठा; वह जिधर झुका प्रेम बरस पड़ा; वह जिधर चला, जमाना ढरक पड़ा। वह शक्ति का भण्डार था, क्योंकि वह सच्चे अर्थ में भक्त था । उसने अपने राम को अपना सर्वस्व भेंट कर दिया था; इसीलिए वह सब कुछ को अपना सका था।

कल्पलता, वह चला गया, पृष्ठ १०४

"वह चला गया" नामक निबध गांधी जी की हत्या के संदर्भ में लिखा गया है। द्विवेदी जी गांधी जी के भक्त थे। कई स्थानों पर उन्होंने अपने को गांधी वादी घोषित भी किया है। इसके अतिरक्त गांधी जो के साधनारत व्यक्तित्व ने समस्त विश्व को श्रद्धाभिभूत किया था। किसी भी निष्कलुष भावुक,हृदय में शोक, श्रद्धा, संवेदना, पीड़ा का ज्वार उमड़ पड़ना स्वाभाविक है। ऊपर के उद्धरण में गांधी जी के व्यक्तित्व का एक सम्पन्न बिम्ब आँखों के सामने आ खड़ा होता है। लगता है, जैसे गाँधी जी के एक-एक गुण, विशेषता रूप, कर्म, साधना, उपलब्धि, गरिमा, महिमा आदि को निरवकाश, संधिहीन, फिल्में तेजी के साथ पुतलियां के सामने आ रही हैं। उन का एक-एक विशेषण या एक-एक चित्र, एक-एक वाक्य हैं, लेकिन क्रिया-विहीन। क्रियाओं का प्रयोग कई बार भाषा-गठन और प्रवाह क्षिप्रता में बाधक होता है, वह उसे ढीला बना देता है। इस उद्धरण की शैली को यदि कोई संज्ञा देनी ही है, तब इसे प्रलाप शैली कहा जा सकता है।[1] भाषण में भी बहुधा यही शैली अपनाई जाती है। इसे भाषण शैली में भी रखा जा सकता है। यह उद्धरण "शब्द चित्र" भी कहा जा सकता है। हमने कहानी को "शब्दचित्र" को जननी और निबंध को जनक माना है[2]। मतलब उसमें दोनों के गुण होते हैं। इस उद्धरण में दोनों के तत्व पाये जाते हैं। ऐसा लगता है, लेखक के मानस में भाव मंथन हो रहा है, और वीचियां बड़ी तीव्रता से लहरा रही हैं। भावावेग के कारण उद्धरण कविता बन गया है — तुक और अनुप्रास की छटा आदि से अंत तक बिखरी पड़ी है। हम समझते हैं शैली की दृष्टि से यह उद्धरण द्विवेदी जी की निबंधरचना का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

संस्कृत का पण्डित कितनी प्रसादात्मक, लोक प्रचलित और आंचलिक शब्दों से अपनी भाषा का गठन करे, जब कभी वह भाषा की तत्समता की ममता प्रकट कर ही देता है। कुछ स्थलों पर द्विवेदी जी संस्कृतनिष्ठ या तत्सम भाषा का नमूना भी प्रस्तुत करते हैं लेकिन तत्समता का अर्थ दुरूहता, दुर्बोधता या प्रसादात्मकता का अभाव नहीं। नीचे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो दो उद्धरण प्रस्तुत हैं, शैली की दृष्टि से प्रसार शैली के अन्तर्गत ही आयेंगे — लक्षणा, व्यंजना आदि के सहारे अर्थ तलाश करने का बौद्धिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। साथ ही इन दोनों उद्धरणों में भावानुसार कसाव भी हैं — और सहसा विराम भी। इस की पुष्टि के लिए रेखांकित वाक्य देखे जा सकते हैं। एक में क्रिया पहले आई है, दूसरे में क्रिया तिरोहित है।

* मैं इस प्रभात कल्पा शर्वरी के उपान्त भाग में आश्चर्य के साथ धूमकेतु को देख रहा हूँ। मनुष्य कितना जानता है। इस विपुल ब्रह्माण्ड—निकाय में वह कैसा क्षुद्र जीव है ?
फिर भी कितनी शक्ति का स्त्रोत है वह !
वह धूमकेतु से पहले डरा था। फिर घबराया था; लेकिन अब उसने इस का भी रहस्य बहुत कुछ जान लिया हैं, और भी जानने के लिये हाथ पैर मार रहा है। मनुष्य हारेगा नहीं। निराशा की कोई बात नहीं है। जो मनुष्य केतु को देख कर ही घबरा गये हैं, उन्हें समझना चाहिये कि मनुष्य की बुद्धि को जिस शक्ति ने इतनी महिमा दी है, वह उसे केतु से हारने न देगी।

कल्पलता, केतुदर्शन, पृ० ६७

* विराट ब्रह्माण्ड निकाय का दूरत्व, और परिमाण उन के कोटि- कोटि नक्षत्रों का अग्निमय आवर्त नृत्य बहुत विस्मय कारी बातें हैं, सन्देह नहीं; परन्तु मनुष्य की बुद्धि और भी विस्मय जनक है। उन समस्त ब्रह्माण्डों से अधिक प्रचण्ड शक्तिशाली अधिक आश्चर्यजनक। अत्यन्त नगण्य स्थान में रहकर, नगण्य तर काल में बास कर, वह इस विपुल ब्रह्माण्ड को जानने की इच्छा रखता है और संफल होता जा रहा है। वह विश्व की अजेय शक्ति है।

कल्पलता, ब्रह्माण्ड का विस्तार पृ० १०३

चाहे शैली का हो, चाहे वस्तु विवेचन का, बहुत अधिक गाम्भीर्य पाठक के मस्तिष्क का बोझ बन जाता है। धर्म दर्शन, साहित्य, ज्योतिष आदि के सिद्धान्तों का निरुपण एक गम्भीर और नीरस वातावरण उपस्थित कर देता है। ऐसे वातावरण में जहाँ तहाँ हास्य विनोद और व्यंग्य के छींटे बरसाने से पाठक का श्रम परिहार हो जाता है। द्विवेदी जी अवसरानुसार अपने निबंधों से व्यंग्य भरी गुदगुदी भी करते चलते हैं। 'शिरीष के फूल' ''आम फिर बौरा गये,' ''समालोचक की डाक,'' 'साहित्य का नया कदम,'' में जहाँ तहाँ व्यंग्य के छींटे मिलेंगे। क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है ?' ''नामक निबंधों को एक श्रेष्ठ परिष्कृत हास्य रचना समझना चाहिये। इसमें हिन्दी समीक्षा पर बहुत मीठा व्यंग्य किया गया है।

* मेरा निश्चित मत है कि हँसना हँसाना पूंजीवादी मनोवृत्ति की उपज है। इस युग के हिन्दी साहित्यिक जो हँसना नापसंद करने हैं, उस का कारण शायद यह है, वे पूंजीवादी बुर्जुआ मनोवृत्ति से मन ही मन घृणा करते हैं। उनकी युक्ति शायद इस प्रकार है — चूंकि संसार के सभी लोग हँस नहीं सकते, इस लिये हँसी एक गुनाह है और संसार के सभी लोग थोड़ा रो सकते हैं, इस लिए रोना ही वास्तविक धर्म है। फिर भी अधिकतर साहित्यिक रोते नहीं, रोनी सूरत बनाये रहते हैं।

* साहित्य से सम्बंध रखने वाले जीव पाँच हैं— लेखक, पाठक, सम्पादक, प्रकाशक और आलोचक। सबके क्षेत्र अलग-अलग हैं। पढ़ने वाला आलोचना नहीं करता, आलोचना करने वाला पढ़ता नहीं—यही तो उचित नाता हैं। एक ही आदमी पढ़े भी और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखे भी या पढ़े भी या पढ़े भी और अलोचना भी करे या लिखे भी और इत्यादि, तो साहित्य में अराजकता फैल जावे। इसलिये जब एक लेखक दूसरे से पूछता है कि मेरी अमुक रचना पढ़ी है, तब जी में आता है कि कहदूं, "डाक्टर के पास जाओ, तुम्हारे दिमाग में दोष है।" पर डाक्टर क्या करेगा? विनोद का इंजेक्शन अभी तक किसी फैक्टरी ने तैयार नहीं किया। इसलिये मुस्कराकर चुप लगा जाता हूँ।

'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है'? (अशोक के फूल)

निबंधों में उद्धरण देने की परम्परा बहुत पुरानी है। ये कहीं तो भाषा का अंग बन कर आते हैं, कहीं किसी तथ्य सिद्धांत या जीवन के चिरन्तन सत्य को प्रमाणित करने और कहीं बहुज्ञता प्रकट करने के लिये प्रयुक्त होते हैं। जहां भाषा का अंग बन कर आते हैं, वहां यह प्रभावशाली कार्य करते हैं, निरुपण को सशक्त और अर्थवान बनाते हैं। अनेक कहावतें, कथाप्रसंग, सूक्तियां, सुभाषित, व्यावहारिक और नीति सूत्र अतीत काल से हमारी जीवन धारा के साथ चले आ रहे हैं उनसे हमारा ऐतिहासिक और परम्परगत अटूट सम्बंध है। अवसर निकल जाने पर किसी के द्वारा हित साधन किये जाने की बात सुनकर "का बर्षा जब कृषी सुखानी" या पराधीनता की पीड़ा का व्यक्त करने के लिए "पराधीन सपनेहु सुखनाही" अनायास ही हमारे मुँह से निकल पड़ता है। लेकिन बहुत अधिक उद्धरण देना सर्व-परिचित, सर्वानुभूत, दैनिक बोधकों आने वाले प्रत्यक्ष प्रसंगों के लिये उद्धरण प्रस्तुत करना अनुपयोगी है।

द्विवेदी जी की निबन्ध शैली की सब मे बड़ी निर्बलता है अनावश्यक उद्धरण प्रस्तुत करना। महाभारत, भागवत पुराण, कालिदास, बुद्ध, क्षेमेन्द्र वृहतंसहिता, ~~कामसूत्र~~, सरस्वती कण्ठाभरण, विशाख दत्त, कबीर, तुलसी, देव, रवीन्द्र, आदि के उद्धरणों से इन के निबंध भरे पड़े हैं। शायद ही कोई निबंध हो, जिस में दो चार उद्धरण न दिये गये हों। इस से इनके निबंध के व्यक्तित्व को आघात लगता है — अपना व्यक्तित्व सबल रूप में प्रकट नहीं हो पाता। उद्धरणों से सजा निबंध रंगबिरंगे कटपीसों से दब्बा एक, फेरी वाला मालूम होता है। शिरीष कुसुम कितना सुकुमार है, आम्र मंजरी कितनी मादक गंध बरसाती है — और झट कालिदास का श्लोक फिट दिया। किसी दीन हीन के लिये उत्सर्ग कितना महान है, क्या महाभारत की साक्षी के बिना उत्सर्ग की कम हो जायेगी? वसन्त अपने उच्छ्वासों में मादकता और अंचल में रंगीनियां लाता है, चारों ओर सुषमा संगीत बरसने लगता है, क्या कालिदास की गवाही के बिना हम वासन्ती शोभा की अनुभूति करना छोड़ देंगे।

कुछ उदाहरण लीजिए :

* यह भी क्या कि दस दिन फूले फिर खंखड़ के खंखड़—

दिन दस फूला फूलिकै खंखड़ भया पलास

(शिरीष के फूल)

* दोष तो हम में बहुत हैं, उसी संस्कृति और साहित्य ने इन दोषों को भी पाला-पोसा है, उसको खोलने से क्या फायदा? यह दोष शतच्छिद्र चादर खोल कर दिखाने की चीज नहीं है। इसको तह लगा कर रख देना ही अच्छा है - 'अयं पटः संवृत एव शोभते

(भगवान महकाल का कुण्ठ नृत्य)

* आम्रमंजरी उसी अचरज का सन्देश लेकर आई है। उदुमंगल तुम पसाएमि (आम फिर बौरा गए)

* हिरण्मयेनपात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् — सत्य का मुख सुनहरे पात्र से ढका रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

* शिरीष का फूल संस्कृत साहित्य में बहुत कोमल माना गया है। मेरा अनुमान है, कालिदास ने यह बात शुरु शुरु में प्रचार की होगी। उनका इस पुष्प पर पक्षपात था। (मेरा भी है)। कह गए हैं; शिरीष पुष्प केवल भौरों के पदों का दबाब सहन कर सकता है पक्षियों का बिल्कुल नहीं—पदं सहेत् भ्रमरस्य पेलव शिरीष पुष्पं न पुनः पतत्रिणाम् (शिरीष के फूल)

ऊपर के उद्धरणों की व्यर्थता स्पष्ट है। संस्कृत उद्धरणों का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत करने से मालूम होता है जैसे अनुवादपुस्तक का कोई पृष्ठ हो।

बहुत खोजने पर इन की शैली में चमत्कारी प्रयोग, क्रियाहीन चुस्त वाक्य, सामान्य कहावतें मुहावरे भी मिल जाएंगे :

* सचमुच ही पशुता ने अमर पौधे को चर लिया था। (महात्मा के महाप्रयाण के बाद)
* सीधी लकीर खींचना टेढ़ा काम है।
* बालू से तेल निकालना (अशोक के फूल पृ.१३)
* न ऊधौ का लेना न माधो का देना (शिरीष के फूल)
* मुंह में राम बगल में छुरी (कल्पलता पृ.३१)

निबंध में लेखक निज को प्रकट किए बिना नहीं रह सकता। क्योंकि निबंध में पाठक से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना होता है, इस लिए वह अपनी रचना में व्यक्ति-रूप में प्रस्तुत होता है। व्यक्तित्व तो चिन्तन, भावसम्पदा और अभिव्यञ्जना से भी प्रकट हो जाता है; पर व्यक्ति रूप में पाठक के पास आने से व्यक्तित्व और भी उभरता है। हिन्दी निबंधकारों में द्विवेदी जी शायद सर्वाधिक निज को प्रकट करते हैं, शायद ही कोई ऐसा निबंध हो जिसमें वह निज को प्रस्तुत न करते हों। कहीं याचना, कहीं अनुनय, करते हुए, कहीं आश्वासन, कहीं निज से पाठक को सहमत कराते हुए, कहीं अपनी मुग्धता प्रकट करते हुए, कहीं तीखी मीठी अनुभूति अभिव्यंजित करते हुए दिखाई देते हैं। इसे हम आत्म प्रकाशन या निजाभिव्यक्ति तत्व कह सकते हैं। शैली का यह तत्व भी 'शैली ही व्यक्तित्व है' की अभिव्यञ्जना करता है। कुछ उद्धरण :

० मैं पाठकों का समय व्यर्थ में नष्ट नहीं करूंगा, विश्वास रखें।

० आम को क्यों घसीटते हैं बाबा ?

० शायद मेरी भांति आप भी इतना स्वीकार करते हैं—

० भुलाया गया है अशोक। मेरा मन उमड़ घुमड़ कर भारतीय रस साधना के हजार वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज़ थी ? सहृदयता क्या लुप्त हो गई थी ? कविता क्या सो गई थी ? ना मेरा मन यह मानने को तैयार नहीं। अशोक के फूल पृ. ८

० कूटनीतिज्ञों के मुँह से सत्य की प्रशंसा सुन कर मन में ग्लानि होती है। सेनापतियों से अहिंसा की प्रशंसा सुनता हूं तो झुंझलाहट पैदा होती है और साम्राज्यवादियों के मुँह से गाँधी जी का नाम सुन कर तो घृणा हो आती है। कल्पलतापृ. ३८

० जहाँ बैठकर यह लेख लिख रहा हूं उसके आगे पीछे, दायें-बायें शिरीष के अनेक पेड़ हैं।

० यद्यपि कवियों की भाँति ही फूल पत्ते को देख कर मुरझा होने लायक हृदय विधाता ने नहीं दिया है; पर ठूंठ भी नहीं हूं। शिरीष के फूल मेरे मानस में थोड़ा हिल्लोल जरूर पैदा करते हैं।

कल्पलता पृ. २३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्विवेदी निबंध शैली और स्वरूप में काफी उभरा हुआ एक अन्य तत्व है: इतिहास, पुराण, प्राचीन साहित्य आदि के विवरण "शिरीष के फूल" "अशोक के फूल" "आम फिर बौरा गए" "नया वर्ष आ गया", "मेरी जन्म भूमि" आदि निबंध के शीर्षक पढ़ते ही पाठक कल्पना करता है कि ये निबंध भावुकता, सौंदर्यानुभूति, उल्लास, ममता, सुकुमारता, सुषमा की बिम्बना आदि से सम्पन्न होंगे; लेकिन ये तत्व इनमें बहुत कम हैं; बल्कि ये अपनी ऐतिहासिक यात्रा, इनके विषय में प्राचीन संस्कृत साहित्य में आये प्रसंगों, उत्सवों, रूढ़ियों आदि से भरे पड़े हैं। किसी भी विषय को लेकर द्विवेदी जी लेखनी संभालें उसे ऐतिहासिक कहानियों, पौराणिक कथाओं, साहित्यिक मान्यताओं से लाद देंगे। इसलिए इनके निबंध प्रबंध के अधिक निकट बैठते हैं।

"शैली ही व्यक्तित्व है", "निबंध में व्यक्तित्व अनिवार्य तत्व है" 'निजीपन, व्यक्तित्व या अहं निबंध की शक्ति है, आदि की कसौटी पर हम द्विवेदी जी का व्यक्तित्व यों प्रस्तुत कर सकते हैं :

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पुराण, इतिहास, ज्योतिषशास्त्र, संस्कृत, प्राकृत, पाली, बँगला, हिन्दी साहित्य में प्रकाण्ड विद्वान् हैं। भारतीय संस्कृति, दर्शन धर्म, साहित्य के प्रति उनके हृदय में अगाध ममता है, तो भी तथ्य और सत्य की तलाश निष्पक्ष होकर करते हैं। वे भारतीयता के अंधविश्वासी नहीं। गाँधी वादी तो वह अपने को बार बार घोषित करते हैं। जैसे उनकी भाषा सहज भाववाहिनी, मन्द मसृण गति से प्रवाहिनी, आडम्बर शून्य है, वैसे ही उनका जीवन भी सहज, विघ्न बाधा विहीन, प्रवाहित हुआ होगा। लगता है; जीवन में उन्हें मानसिक या भौतिक संघर्ष करना नहीं पड़ा, इस लिए उनकी भाषा में तीक्ष्णता, चुभीलापन, तीव्रता, वक्रता नहीं है, व्यंग्य और हास्य विनोद का पुट होने से सहज ही समझा जा सकता है कि वह बहुत विनोद प्रिय और हँसोड़ स्वभाव के रहे होंगे। संस्कृत का पंडित, ग्रहफल बताने वाला ज्योतिषी, और आयुर्वेदिक पद्धति का चिकित्सक, तीनों ही अपने व्यवसाय व्यवहार में अपने कथन की पुष्टि में संस्कृत श्लोक और पौराणिक कथा कहानी सुनाये बिना न रहेंगे। स्पष्ट है कि द्विवेदी की शिक्षा दीक्षा संस्कृत पद्धति पर हुई। इसी लिए अवसर कुअवसर पर उद्धरण थोप देते हैं।

इन की शैली में विशेष प्रकार की प्रफुल्लता, स्वच्छता, उल्लास भाषा-रचना-विषयक रूढ़ि पालन है, इससे लगता है कि पारिवारिक और व्यावसायिक जीवन में इन्हें अभावों की तीखी घूँट पीनी नहीं पड़ी — जीवन सुखी, सन्तुष्ट, प्रफुल्ल, सफलताओं से सम्पन्न रहा। ऐसा जीवन सामाजिक सम्बंधों में भी परम्परावादी ही रहेगा, किसी क्रान्ति या रूढ़ि-विद्रोह की आशा नहीं की जा सकती। इनकी शैली में न तो जैनेन्द्र जैसा अहं मस्तक ताने खड़ा दिखाई देता है और न ही आचार्य शुक्ल जैसा मौलिक चिन्तक। जैनेन्द्र, आचार्य शुक्ल, निराला, प्रसाद जैसे अपनी शैली द्वारा पहचाने जा सकते हैं, वैसे आचार्य हजारी प्रसाद को हम नहीं पहचान सकते — यदि इन्हें पहचान सकते हैं, तो केवल विविध भाषाओं के उद्धरण, ऐतिहासिक, पौराणिक, प्राचीन साहित्यिक प्रकाण्ड ज्ञान के समावेश के कारण।

१. हिन्दी निबन्धकार, आलोक पृष्ठ ३५
२. हिन्दी निबन्धकार, आलोक पृष्ठ ३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री मदन गोपाल
सम्पादक दैनिक ट्रिब्यून
चंडीगढ़ ।

प्रेमचंद की कहानी उन की जबानी

मेरा जन्म संवत् 1937 में हुआ, बाप का नाम मुंशी अजायब लाल, सकूनत मौज़ा मढ़वा, लमही मुत्तसिल पांडेपुर, बनारस, पिता डाकखाने में क्लर्क थे।

मेरी बाल स्मृतियों में कजाकी एक न मिटने वाला व्यक्ति है । आज चालीस साल गुजर गये, लेकिन कजाकी की मूर्ति अभी तक आंखों के सामने नाच रही है। मैं उन दिनों अपने पिता के साथ आजमगढ़ की एक तहसील में था । कजाकी जाति का पासी था, बड़ा ही हँसमुख, बड़ा ही साहसी, बड़ा ही जिंदादिल । वह रोज शाम को डाक का थैला लेकर आता, रात भर रहता, और सवेरे डाक लेकर आ जाता। मैं दिन भर एक उद्विग्न दशा में उसकी राह देखा करता, ज्यों ही चार बजते, व्याकुल होकर सड़क पर आकर खड़ा हो जाता और थोड़ी देर में कजाकी कंधे पर बल्लम रखे उसकी झुंझनी बजाता, दूर से दौड़ता हुआ आता दिखलाई देता । वह सांवले रंग का गठीला, लंबा जवान था । शरीर सांचे में ऐसा ढला था कि चतुर मूर्तिकार भी उसमें कोई दोष न निकाल सकता । उसकी छोटी छोटी मूछें उसके सुडौल चेहरे पर बहुत ही अच्छी मालूम होती थी । मुझे देखकर वह और भी तेज दौड़ने लगता, उसकी झुंझनी और जोर जोर से बजने लगती और मेरे हृदय में जोर से खुशी की धड़कन होने लगती । हर्षातिरेक में मैं भी दौड़ पड़ता और एकक्षण में कजाकी का कंधा मेरा सिंहासन बन जाता । वह स्थान मेरी अभिलाषाओं का स्वर्ग था । स्वर्ग के निवासियों को भी शायद वह आंदोलित आनंद न मिलता होगा, जो मुझे कजाकी के विशाल कंधे पर मिलता था । संसार मेरी आंखों में तुच्छ हो जाता और जब कजाकी मुझे कंधे पर लिए दौड़ने लगता तब तो ऐसा मालूम होता मानो मैं हवा के घोड़े पर उड़ा जा रहा हूं ।

कजाकी डाकखाने में पहुँचता, तो पसीने से तर रहता, लेकिन आराम करने की आदत न थी । थैला रखते ही वह हम लोगों को लेकर किसी मैदान में निकल जाता, कभी हमारे साथ खेलता, कभी बिरहे गाकर सुनाता, और कभी कहानियां सुनाता । उसे चोरी और डाके, मार पीट, भूत प्रेत की सैंकड़ों कहानियां याद थीं । मैं यह कहानियां सुनकर विस्मय पूर्ण आनंद में मग्न हो जाता । उसकी कहानियों के चोर और डाकू सच्चे योद्धा होते थे जो अमीरों को लूटकर दीन दुखी प्राणियों का पालन करते थे । मुझे उन पर घृणा के बदले श्रद्धा होती थी ।

हाय बचपन, तेरी याद नहीं भूलती वह कच्चा टूटा घर, वह पयाल का बिछौना, वह नंगे बदन, नंगे पांव खेतों में घूमना, आम के पेड़ों पर चढ़ना, सारी बातें आंखों के सामने फिर रही हैं । चमरौधे जूते पहनकर उस वक्त जितनी खुशी होती थी, अब फ्लैक्स के बूटों से भी नहीं, गरम पनुए रस में जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मजा था वह अब गुलाब के शर्बत में भी नहीं, चबेने और कच्चे बेरों में जो रस था, वह अब अंगूर और खीरमोहन में भी नहीं मिलता।

मैं अपने चचेरे भाई हलधर के साथ दूसरे गांव में एक मौलवी साहब के यहां पढ़ने जाया करता था। मेरी उम्र आठ साल थी। हलधर अब स्वर्ग में निवास कर रहे हैं। मुझसे दो साल जेठे थे। हम दोनों प्रातःकाल बासी रोटियां खा, दोपहर के लिए मटर और जौं का चबेना लेकर चल देते थे।

* * *

रामलीला में आनंद आता था। आनंद तो बहुत हल्का शब्द है, वह आनंद उन्माद से कम न था। संयोगवश उन दिनों मेरे घर से बहुत थोड़ी दूर पर रामलीला मैदान था और जिस घर में लीला पात्रों का रूप रंग भरा जाता था वह तो मेरे घर से बिलकुल मिला हुआ था। दो बजे दिन से पात्रों की सजावट होने लगती थी। मैं दोपहर से ही वहां जा बैठता, और जिस उत्साह से दौड़कर छोटे मोटे काम करता उस उत्साह से तो आज अपनी पेंशन लेने भी नहीं जाता। एक कोठरी में राजकुमारों का शृंगार होता था। उनकी देह में रामरज पीस कर पोती जाती मुंह पर पाउडर लगाया जाता और ऊपर लाल, हरे, नीले रंग की बुंदकियां लगायी जाती थीं। सारा माथा, भौहें, ठोडी बुंदकियों से रच उठती थी। एक ही आदमी इस काम में कुशल था। वह बारी बारी से तीनों पात्रों का शृंगार करता था। रंग की प्यालियों में पानी लाना, रामरज पीसना, पखा झलना मेरा काम था। जब इन तैयारियों के बाद विमान निकलता, तो उस पर रामचंद्र जी के पीछे बैठकर मुझे जो उल्लास, जो गर्व, रोमांच होता था, वह अब लाट साहब के दरबार में कुर्सी पर बैठकर भी नहीं होता। एक बार जब होम मेंबर साहब ने व्यवस्थापक सभा में मेरे एक प्रस्ताव का अनुमोदन किया था। उस वक्त मुझे कुछ उसी तरह का उल्लास, गर्व और रोमांच हुआ था। हां, एक बार जब मेरा ज्येष्ठ पुत्र नायब तहसीलदारी में नामजद हुआ तब भी ऐसी ही तरंगें मन में उठी थीं, पर इनमें और बाल विह्वलता में बड़ा अंतर है, तब तो ऐसा मालूम होता था कि मैं स्वर्ग में बैठा हूं।

निषाद नौका लीला का दिन था। मै दो चार लड़कों के बहकाने में आकर गुल्ली डंडा खेलने लगा था। आज शृंगार देखने न गया। विमान भी निकला पर मैंने खेलना न छोड़ा। मुझे अपना दांव लेना था। अपना दांव छोड़ने के लिए उससे कहीं बढ़कर त्याग की जरूरत थी जितनी मैं कर सकता था। अगर दांव देना होता तो मैं कब का भाग कड़ा होता, लेकिन पदाने में कुछ और ही बात होती है। खैर दांव पूरा हो गया। अगर मै चाहता तो धांधली करके दस पांच मिनट और पदा ही सकता था, इसकी काफी गुंजाइश थी, लेकिन अब इसका मौका न था। मैं सीधे नाले की तरफ दौड़ा। विमान जल तट पर पहुंच चुका था मैंने दूर से देखा-मल्लाह किश्ती लिये आ रहा है। दौड़ा लेकिन आदमियों की भीड़ में दौड़ना कठिन था। आखिर जब मैं भीड़ हटाता प्राणपन से आगे से आगे बढ़ता घाट पर पहुंचा, तो निषाद अपनी नौका खोल चुका था। रामचंद्र पर मेरी कितनी श्रद्धा थी। अपने पाठ की चिन्ता न करके उन्हें पढ़ा दिया करता था। जिसमें वह फेल न हो जाये। मुझसे उम्र ज्यादा होने पर भी नीची कक्षा में पढ़ते थे। लेकिन वही रामचंद्र नौका पर बैठे इस तरह मुंह फेरे चले जाते थे मानो मुझ से जान पहचान नहीं है। नकल में भी असल कुछ न कुछ बू आ ही जाती है। भक्तों पर जिनकी निगाह सदा ही तीखी रही है वह मुझे क्यों उबारते? मैं विकल होकर उस बछड़े की भांति कूदने लगा जिसकी गरदन पर पहली बार जुआ रखा गया हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी लपककर नाले की ओर जाता, कभी किसी सहायक की खोज में पीछे की ओर दौड़ता। पर सबके सब अपनी धुन में मस्त थे। मेरी चीख पुकार किसी के कानों तक न पहुँची। तबसे बड़ी बड़ी विपत्तियां झेलीं, पर उस समय जितना दुख हुआ, उतना फिर कभी नहीं हुआ।

मैंने निश्चय किया था कि अब रामचंद्र से कभी न बोलूंगा, न कभी खाने की कोई चीज ही दूंगा। लेकिन ज्यों ही नाले को पार करके वह पुल की ओर लौटे, मैं दौड़कर विमान पर चढ़ गया और ऐसा खुश हुआ, मानो कोई बात ही न हुई थी।

रामलीला समाप्त हो गई थी। राजगद्दी होने वाली थी पर न जाने क्यों देर हो रही थी? शायद चंदा कम वसूल हुआ था। रामचंद्र की इन दिनों कोई बात भी न पूछता था। न घर जाने की ही छुट्टी मिलती थी न भोजन का प्रबन्ध होता था। चौधरी साहिब के यहां से सीधा कोई तीन बजे दिन को मिलता था। बाकी सारा दिन कोई पानी को न पूछता। लेकिन मेरी श्रद्धा अभी तक ज्यों की त्यों थी। मेरी दृष्टि में अब भी रामचंद्र ही थे। घर पर मुझे खाने की कोई चीज मिलती वह लेकर रामचंद्र को दे आता। उन्हें खिलाने में जितना आनंद मिलता था, उतना आप खा जाने में कभी न मिलता। कोई मिठाई या फल पाते ही मैं बेतहाशा चौपाल की ओर दौड़ता। अगर रामचंद्र वहां न मिलते तो उन्हें चारों ओर तलाश करता और जब तक वह चीज उन्हें न खिला लेता मुझे चैन न आता था।

खैर राजगद्दी का दिन आया। रामलीला के मैदान में एक बड़ा सा शामियाना ताना गया। उसकी खूब सजावट की गयी। वेश्याओं के दल भी आ पहुंचे। शाम को रामचंद्र की सवारी निकली और प्रत्येक द्वार पर उनकी आरती उतारी गई। श्रद्धानुसार किसी ने रुपये दिये, किसी ने पैसे। मेरे पिता सरकारी आदमी थे। इसलिए उन्होंने बिना कुछ दिये ही आरती उतारी। उस वक्त मुझे जितनी लज्जा आई, उसे बयान नहीं कर सकता। मेरे पास उस वक्त संयोग से एक रुपया था। मेरे मामाजी दशहरे के पहले आये थे और मुझे एक रुपया दे गये थे। उस रुपये को मैंने रख छोड़ा था दशहरे के दिन भी उसे खर्च न कर सका। मैंने तुरन्त वह रुपया लाकर आरती की थाली में डाल दिया। पिता जी मेरी ओर कुपित नेत्रों से देखकर रह गये। उन्होंने कुछ कहा तो नहीं लेकिन मुंह ऐसा बना लिया जिससे प्रकट होता था कि मेरी इस धृष्टता से उनके रोब में बट्टा लग गया। रात के दस बजते बजते यह परिक्रमा पूरी हुई। आरती की थाली रुपयों और पैसों से भरी हुई थी। ठीक तो नहीं कह सकता, मगर अब ऐसा अनुमान होता हैं कि चार पांच सौ रुपयों से कम न थे।

*   *   *   *

हमारे अंग्रेजीदां दोस्त माने या न मानें, मै तो यही कहूंगा कि गुल्ली डंडा सब खेलों का राजा है। अब भी कभी लड़कों को कभी गुल्ली डंडा खेलते देखता हूं तो जी लोटपोट हो जाता है कि इसके साथ जाकर खेलने लगूं, न लान की जरूरत, न कोर्ट की, न थापी की, मजे से किसी पेड़ की एक टहनी काट ली, और गुल्ली बना ली, और दो आदमी भी आ गये, तो खेल शुरू हो गया। विलायती खेलों में सबसे बडा ऐब है कि उनके समान महँगे होते है। जब तक कम से कम एक सैंकड़ा न खर्च कीजिये, खिलाड़ियों में शुमार ही नहीं हो सकता। यहां गुल्ली डंडा हैं कि बिना हर्र-फिटकरी के चोखा रंग देता है पर हम अंग्रेजी चीजों के पीछे ऐसे दीवाने हो रहे हैं कि अपनी सभी चीजों से अरुचि हो गयी है। हमारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्कूलों में हरेक लड़के से तीन चार रूपये सालाना केवल खेलने की फीस ली जाती है। किसी को यह नहीं सूझता कि भारतीय खेल खिलायें, जो बिना दाम-कौड़ी के खेले जाते हैं। अंग्रेजी खेल उनके लिए हैं जिनके पास धन है। हम गरीब लड़कों के सिर क्यों यह व्यसन मढ़ते हो, गुल्ली से आंख फूट जाने का भय रहता है तो क्या क्रिकेट से सिर टूट जाने, तिल्ली टूट जाने का भय नहीं रहता, अगर हमारे माथे में गुल्ली का दाग आज तक बना हुआ है तो हमारे कई दोस्त ऐसे भी है जो थापी को बैसाखी से बदल बैठे। खैर यह तो अपनी रुचि है। मुझे गुल्ली ही सब खेलों से अच्छी लगती है और बचपन की मीठी स्मृतियों में गुल्ली ही सबसे मीठी है। वह प्रातःकाल घर से निकल जाना, वहां पेड़ पर चढ़कर टहनियां काटना और गुल्ली डंडा बनाना, वह उत्साह, वह लगन, वह खिलाडियों के जम घटे, वह पदना और पदाना, वह लड़ाई झगड़े, वह सरल स्वभाव, जिसमें छूत अछूत, अमीर गरीब का बिल्कुल भेद न था। जिसमें अमीराना चोंचलों को, प्रदर्शन की अभिमान की गुंजाइश ही न थी। घर वाले बिगड़ रहे थे, पिताजी चौके पर बैठे वेग से रोटियों पर अपना क्रोध उतार रहे हैं। अम्मा की दौड़ केवल द्वार तक है लेकिन उनकी विचारधारा में अंधकारमय भविष्य टूटी हुई नौका की तरह डगमगा रहा है और मैं हूं कि पदाने में मस्त हूं। न नहाने की सुधि है न खाने की। गुल्ली है जरा सी, पर उसमें दुनिया भर की मिठाइयों की मिठास और तमाशों का आनंद भरा है।

मेरी मां बीमार रहती थी। सातवें साल गुजर चुकी। मेरी एक बडी बहन भी थी। मैं नवी क्लास में पढ़ता था एक बार मेरे लिए पांच रुपये का गुड़ खरीदा गया। बस,सवेरे दूध के साथ गुड़, दोपहर को रोटियों के साथ गुड़, शाम को दालों के साथ गुड़, रात को दूध के साथ फिर गुड़, यह तो वाजिब ही खर्च था। मगर मदरसे से बार बार पानी पीने घर आना और दो एक टुकड़ियां निकाल कर खा लेना। गुड़ का ऐसा चस्का पड़ गया था कि हर वक्त नशा सवार रहता। घर में आने का मतलब था गुड़ की शामत आना।

एक हफ्ते में हांडी खत्म हो गई, परन्तु मटका खोलने पर पाबंदी थी। चाची के आने में अभी पौने तीन महीने बाकी थे। एक दिन तो किसी न किसी तरह सब्र किया, लेकिन दूसरे दिन सब्र नहीं रखा जा सका। मटके पर निगाह पड़ते ही होश जाता रहा। मटका खोल कर एक हांडी गुड़ निकालकर मटके को बंद कर दिया और प्रण किया कि इस को तीन महीने चलाऊंगा। चले या न चले मैं चलाये जाऊंगा। मटके को मैं मंजिले हफ्तेख्वा समझूंगा। जिसे रुस्तम भी न खोल सका था। मैंने मटके में पिंडलियों को कुछ इस तरह कैंची लगाकर रखा, जैसे बाज दूकानदार दियासलाई की डिबिया खोलकर रख देते हैं। एक हांडी मटका खाली हो जाने पर भी मटका लबरेज था। अम्मा को पता ही न लगे। मुआवजा की नौबत कैसी आयेगी? मगर दिल और जबान में कशमकश शुरू हुई कि क्या कहूं, और हर बार फतेह जबान ही के हाथ रहती। यह दो अंगुल जबान शहजोर पहलवान को नचा रही थी जैसे मदारी बंदर को नचाये। उसको जो आसमान में उड़ता है और फल्लुकफलाक के मनसूबे बांधता है और अपने जौम मे फिर उनको भी कुछ नहीं समझता, बार बार इरादा करता कि दिन भरमें पांच पिंडलियों से ज्यादा नहीं खाऊंगा। लेकिन यह इरादा शराबियों की जवज्जो से ज्यादा देरपा न होता था। घंटे दो घंटे से ज्यादा न टिकता। अपने आप पर हँसता। नफरीन करता। "गुड़ को तो खा रहे हो मगर बरसात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सारा जिस्म सड़ जायेगा। गंधक का मरहम लगाये घूमोगे। कोई तुम्हारे साथ बैठना भी पसंद न करेगा।' कस्में खाता, इल्म की, मां की, ईश्वर की, मगर उनका वही हश्र होता। दूसरा हफता खत्म होते होते हांडी खत्म हो गयी। उस दिन मैंने बड़े खुश खुश ईश्वर से प्रार्थना की भगवान यह मेरा चंचल मन मुझे परेशान कर रहा है। मुझे शक्ति दो कि इसको काबू में रख सकूं। मुझे शहतदहात का लगाम दो जो इसके मुंह में भी डाल सकूं। यह कम्बख्त मुझे अम्मा से पिटवाने और घुड़कियां सुनवाने पर तुला हुआ है। तुम ही मेरी रक्षा करो तो बच सकता हूं। मेरी आंखों से इस जौके-अबूदियत में दो चार बूंदें आंसुओं की भी गिरीं, लेकिन ईश्वर ने भी कुछ समाअत न की और गुड़ की ख्वाइश मुझ पर गालिब रही। यहां तक कि दूसरी हांडी मरसियाख्वानी की नौबत पहुंची। हुस्ने इत्तिफाक से उन्हीं दिनों तीन दिन को तातील हुई और मैं ननिहाल गया। अम्मा ने पूछा गुड़ का मटका देखा है। चीटें तो नहीं लगे। सील तो नहीं पहुंची। मैंने मटके को देखने की भी कसम खाकर अपनी सआदतमंदी का सबूत दिया। अम्मां ने मुझे गरूर की नजरों से देखा और मेरी हुक्मपरवरी के लिए मुझे हांडी निकाल लेने की इजाजत दे दी। हां-ताकीद भी कर दी कि मुंह अच्छी बंद कर देना। अब तो वहां मुझे एक दिन एक एक युग मालूम होने लगा। चौथे दिन घर आते ही मैंने पहला काम जो किया वह मटके को खोलकर हांडी भर गुड़ निकाला था। एक बारगी पांच पिंडलियां उड़ा गया। फिर वही हेकड़वाजी शुरू हुई। अब क्या गम है अम्मा की इजाजत मिल गयी थी। सैयां भये कोतवाल और हांडी गायब। आखिर मैंने अपने दिल की कमजोरी से मजबूर होकर मटके की कोठरी के दरवाजे पर कुफल डाला और इसकी कुंजी दीवार के एक मोटे शिगाफ में डाल दी, अब देखो कौन गुड़ खाते हो। इस शिगाफ में से कुंजी निकालने के ये मानी थे कि तीन हाथ दीवार खोद डाली जाये, वह हिम्मत मुझ में नथी। मगर तीन दिन में ही सब्र का पैमाना छलक उठा और तीन दिनों में भी दिल की जो हालत थी वह बयान से बाहर है। हिजरा शीरी की तरफ बार बार गिरता और बेसब्र निगाहों से देखते और हाथ मल कर रह जाता। कई बार कुफल खटखटकाया, खींचा, झटके दिये मगर जालिम खुद भी न हमसा। कई बार इस शिगाफ का जायजा लिया। इसमें झांककर देखा एक लकड़ी से इसकी गहराई का अंदाजा करने की कोशिश की मगर इसकी तह न मिली। तबियत खोई हुई सी रहती। न खाने पीने में कुछ मजा था, न खेलने कूदने में। नफस बार बार मिन्तक के जोर से दिल को कायल करने की कोशिश करता। आखिर गुड़ और किस मरज की दवा हैं। मैं इसे फैंक तो देता नहीं। खाता ही तो हूं। क्या आज खाया, क्या एक माह बाद। इसमें क्या फर्क? अम्माजान ने मुमानियत की है बेशक, लेकिन उन्हें मुझे एक जायज काम से बाज रखने का क्या हक है? अगर वह आज कहें, खेलने मत जाओ या दरख्तों पर मत चढ़ो या तालाब में तैरने मत जाओ या चिड़ियों के लिए कंपा मत लगाओ, तितलियाँ मत पकड़ो तो क्या मैं माने लेता हूं। आखिर मेरे कुछ हकूक हैं या नहीं। तो फिर इस मुआमले में क्यों अम्मा की मुमानियत पर अपनी आरजुओं और ख्वाइशों को कुरबान कर दूं।

आखिर चौथे दिन नफस ने फतह पायी, मैंने अल्लसुबह एक कुदाल लेकर दीवार खोदना शुरू किया शिगाफ था ही, खोदने में ज्यादा दिक्कत न हुई। आधा घंटे की मेहनत शाका के बाद दीवार से कोई गज बर लंबा और तीन इंच मोटा चप्पड़ छूटकर नीचे गिर पड़ा और शिगाफ की तह में वह कलीद कामयाबी पड़ी हुई थी जैसे समुन्दर की तह में मोती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सीप पड़ी हो। मैंने झटपट इसे निकाला और फौरन दरवाजा खोला। मटके से गुड़ निकाल कर हांडी में भरा और दरवाजा बंद कर दिया। मटके में इस दस्ते बुर्द से काबिले अहसास कमी वाकिया हो गयी थी। मगर अबकी बार मैंने इस चटोरेपन का अम्मा जान की वापसी तक खात्मा कर देने के लिए कुंजी कुएं में डाल दी। किस्सा तवील है। मैंने कैसे कुफल तोड़ा, कैसे गुड़ निकाला और मटका खाली होने पर कैसे इसे तोड़ा और इसके टुकड़े रात को कुएं में फेंके और अम्मा आयी तो मैंने कैसे रो रोकर उनके मटके के चोरी हो जाने की दास्तां कही। यह बयान करने लगा तो यह वाकिया जो मैं आज लिखने बैठा हूं—नातमाम रह जायेगा।

उस वक्त मेरे पिता शायद बीस रुपये पाते थे। चालीस रुपये तक पहुँचते पहुँचते उनका निधन हो गया। यूं तो वह बड़े दूरदर्शी, दृढ़ और दुनिया में आंखें खोलकर चलने वाले आदमी थे, लेकिन आखिरी उम्र में एक ठोकर खा ही गये, और खुद तो गिरे ही, उसी धक्के में मुझे भी गिरा दिया। पंद्रह वर्ष की उम्र में उन्होंने मेरी शादी कर दी जिसके कुछ वर्ष बाद ही वे स्वयं चलते बने।

मुझे महीने में बारह आने फीस लगती थी। उन बारह आनों में से मैं एकाध आने हर महीने खा जाता था। जिस मुहल्ले में था। उसमें छोटी जात के लोग थे। वे लोग मुझसे लेकर दो चार पैसे खा लेते थे। इस लिए फीस देने में मुझे बड़ी दिक्कत होती थी घर में मां तो थी नहीं। चाची [विमाता] ही से मांगता। वे बुरी तरह झल्लातीं। पिता से कहने की हिम्मत न थी, इसलिए माता की याद मुझे बार बार सताती थी। जब तक मेरे पिता जी जीवित रहे तब उन्होंने मेरे लिये बारह आने से ज्यादा का जूता कभी नहीं खरीदा और [illegible] आने गज से ज्यादा का कपड़ा कभी नहीं खरीदा।

गोरखपुर में रेती पर एक बुकसेलर बुद्धिलाल नाम का रहता था। मैं उसकी दूकान पर जा बैठता था और उसके स्टाक से उपन्यास लेकर पढ़ता था, मगर दूकान पर सारे दिन तो बैठ न सकता था, इसलिए मैं उसकी दूकान से अंग्रेजी पुस्तकों की कुंजियां और नोट्स लेकर अपने स्कूल के लड़कों के हाथ बेचा करता था और इसके मुआवजे में दुकान से उपन्यास घर लाकर पढ़ता था। दो तीन वर्षों में मैंने सैकड़ों ही उपन्यास पढ़ डाले होंगे। जब उपन्यासों का स्टाक समाप्त हो गया तो मैंने नवलकिशोर प्रेस में से निकले हुए पुराणों के उर्दू अनुवाद भी पढ़े।

मौलाना शरर, पं० रतन नाथ सरशार, मिर्जा रुसवा, मौलवी मुहम्मद अली हरदोई निवासी उस वक्त के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे। इनकी रचनाएं जहां मिलती थी, स्कूल की याद भूल जाती थी और पुस्तक समाप्त करके ही दम लेता। उस जमाने में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। उर्दू में उनके अनुवाद धड़ाधड़ निकल रहे थे और हाथों हाथ बिकते थे। मैं भी उनका आशिक था। स्व० हजरत रियाज ने रेनाल्ड की एक रचना का अनुवाद "हरमसरा" के नाम से किया था। उसी जमाने में लखनऊ के साप्ताहिक "अवधपंच' के संपादक स्व० मौलाना सैजाद हुसैन ने जो हास्यरस के अमर कलाकार हैं रेनाल्ड के दूसरे उपन्यास का अनुवाद 'धोखा' या तिलस्मी फानूस के नाम से किया था। ये सारी पुस्तकं मैंने उसी जमाने में पढ़ीं। और पंडित रतन नाथ सरशार से तो मुझे तृप्ति ही न होती थी। उनकी सारी रचनाएं मैंने पढ़ डाली। बगल ही में एक तंबाकू वाले के मकान पर तंबाकू के बड़े बड़े पिंडों के पीछे बैठकर तंबाकूवाला और उसके कई मित्र हुक्का पीते और तिलिस्सम-ए-होशरूबा की अटूट तिलस्समी कहानियां सुनते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस ग्रंथ के १७ भाग निकल चुके थे । एक एक भाग बड़े आकार के दो दो हजार पृष्ठों से कम न होगा और इन १७ भागों के बाद उसी पुस्तक के अलग अलग प्रसंगों पर पचीसों भाग छप चुके थे जिसने इतने बड़े ग्रंथ की रचना की, उसकी कल्पना शक्ति कितनी प्रबल होगी, इसका केवल अनुमान लगाया जा सकता है । कहते हैं ये कथाएं मौलाना फैजी ने अकबर के विनोदार्थ फारसी में लिखी थी । इतनी वृहद् कथा संसार की किसी अन्य भाषा में शायद ही हो । पूरा इन्सा-इक्लोपीडिया समझ लीजिये ।

उस वक्त मैं नवीं क्लास में पढ़ता था । घर में मेरी बीवी, सौतेली मां और उनके दो लड़के थे । मगर आमदनी एक पैसे की न थी । घर में जो कुछ था वह छह महीने पिता जी की बीमारी पर लग गया । पांव में जूते न थे । बदन पर पूरे कपड़े न थे । मंहगाई अलग । दस सेर के जौ थे । स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी । क्वीन्ज कालेज, बनारस में पढ़ता था । हैडमास्टर साहब ने फीस माफ कर दी थी । परीक्षा सिर पर थी और मैं बाँस के फाटक पर एक लड़के को पढ़ाने जाया करता था । जाड़े का मौसम था चार बजे शाम को पहुंच जाता था और छह बजे छुट्टी पाता,वहां से मेरा घर पांच मील पर था ।तेज चलने पर भी आठ बजे रात से पहले घर न पहुंच सकता । सवेरे आठ बजे घर से चल देता । वरना वक्त पर स्कूल न पहुंचता । रात को खाना खाकर कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न मालूम कब सो जाता ।

मैट्रिकुलेशन तो किसी तरह पास हो गया । लेकिन पास सेकेंड डिविजन में हुआ । क्वीन्ज कालेज में दाखिले की कोई उम्मीद न रही । फीस केवल पहले डिविजन में पास होने वाले छात्रों की मुआफ हो सकती थी ।

संयोग से उसी साल सैंट्रल हिंदू कालेज खुल गया था । मैंने इस नये कालेज में पढ़ने का निश्चय किया । प्रिन्सिपल थे मि० रिचर्डसन । उनके मकान पर गया । वह पूरे हिंदुस्तानी वेश में थे । कुरता और धोती पहने फर्श पर बैठे कुछ लिख रहे थे । मगर मिजाज को तबदील करना इतना आसान न था । मेरी प्रार्थना सुनकर — आधी ही कहने पाया था—बोले — कि घर पर मैं कालेज की बातचीत नहीं करता । कालेज में आओ । खैर कालेज गया । मुलाकात तो हुई, पर निराशाजनक, फीस मुआफ न हो सकती थी । अब क्या करूं ? अगर प्रतिष्ठित सिफारिशों को ला सकता तो शायद मेरी प्रार्थना पर कुछ विचार होता । लेकिन देहाती युवक को शहर में जानता ही कौन था ?

रोज घर से चलता कि कहीं से सिफारिश लाऊं पर बारह मील की मंजिल मारकर शाम को घर लौट आता । किससे कहूं । कोई अपना पुछत्तर न था ।

कई दिनों बाद एक सिफारिश मिली । एक ठाकुर इंद्रनारायण सिंह हिंदू कालेज की प्रबंधकारिणी सभा में थे, उनसे जाकर रोया । उन्हें मुझ पर दया आ गयी । सिफारिशी चिट्ठी दे दी । उस समय मेरे आनंद की सीमा न थी । खुश होता हुआ घर गया । दूसरे दिन प्रिन्सिपल से मिलने का इरादा था । लेकिन घर पहुंचते ही मुझे ज्वर आ गया और दो सप्ताह से पहले न हिला । नीम का काढ़ा पीते पीते नाक में दम आ गया ।

एक दिन द्वार पर बैठा था कि मेरे पुरोहित जी आ गये । मेरी दशा देखकर समाचार पूछा और तुरन्त खेतों में जाकर एक जड़ खोद लाये और धोकर सात दाने काली मिर्च के साथ पिसवाकर मुझे पिला दिया ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने जादू का सा असर किया। ज्वर चढ़ने में घंटे भर की देर थी। इस औषध ने मानो जाकर उसका गला ही दवा दिया। मैंने पंडित जी से बार बार उस जड़ी का नाम पूछा। पर उन्होंने न बताया। कहा, नाम बता देने से उसका असर जाता रहेगा।

एक महीने बाद में फिर मिस्टर रिचर्डसन से मिला और सिफारिशी चिट्ठी दिखायी। प्रिंसिपल ने मेरी तरफ तीव्र नेत्रों से देखा और पूछा। "इतने दिन कहां थे" बीमार हो गया था। क्या बीमारी थी ?

मैं इस प्रश्न के लिए तैयार न था। अगर ज्वर बताता हूं तो शायद साहब मुझे झूठा समझें। ज्वर मेरी समझ में हल्की सी चीज थी। जिसके लिए इतनी लम्बी गैर हाजरी अनावश्यक थी। कोई ऐसी बीमारी बतानी चाहिए जो अपनी कष्ट साध्यता के कारण दया को भी उभारे। उस वक्त मुझे और किसी बीमारी का नाम याद न आया। ठाकुर इंद्रनारायण सिंह से जब मैं सिफारिश के लिए मिला था तो उन्होंनें अपने दिल की धड़कन की बीमारी की चर्चा की थी। वह शब्द मुझे याद आ गया।

मैंने कहा—पैलपिटेशन आफ हार्ट, सर।

साहब ने विस्मित होकर मेरी ओर देखा और कहा, अब तुम बिल्कुल अच्छे हो।

जी हां।

अच्छा, प्रवेश पत्न भरकर लाओ।

मैंने समझा वेड़ा पार हुआ। फार्म लिया। खानापूरी की और पेश कर दिया। साहब उस समय कोई क्लास ले रहे थे। तीन बजे फार्म वापिस मिला। उस पर लिखा था—इसकी योग्यता की जांच की जाये।

यह नयी समस्या उपस्थित हुई। मेरा दिल बैठ गया। अंग्रेजी के सिवा और किसी विषय में पास होने की मुझे आशा न थी और बीजगणित और रेखागणित से तो मेरी रूह कांपती थी। जो कुछ याद था वह भी भूल गया लेकिने दूसरा उपाय ही क्या था ? भाग्य का भरोसा करके क्लास में गया और अपना फार्म दिखाया। प्रोफैसर साहब बंगाली थे। अंग्रेजी पढ़ा रहे थे वाशिंगटन इवंग का "रिप बान विंकल" मैं पीछे की कतार में जाकर बैठ गया और दो ही चार मिनट में मुझे ज्ञात हो गया कि प्रोफैसर साहब अपने विषय के ज्ञाता हैं। घंटा समाप्त होने पर उन्होंने आज के पाठ पर मुझसे कई प्रश्न किए और मेरे फार्म पर "संतोषजनक" लिख दिया।

दूसरा घंटा बीजगणित का था। इसके प्रोफैसर भी बंगाली थे। मैंने अपना फार्म दिखाया। नयी संस्थाओं में प्रायः वही छात्र आते हैं, जिन्हें कहीं जगह नहीं मिलती। यहां भी यही हाल था। क्लासों में अयोग्य छात्र भरे हुए थे। पहले रेले में जो आया वह भरती हो गया। भूख में साग-पात सभी रुचिकर होता है। अब पेट भर गया था। छात्र चुन चुनकर लिये जाते थे। इन प्रोफैसर साहब ने गणित में मेरी परीक्षा ली और मैं फेल हो गया। फार्म पर गणित के खाने से "असंतोषजनक" लिख दिया।

खैर, मैं निराश होकर घर लौट आया लेकिन पढ़ने की लालसा अभी तक बनी हुई थी। घर बैठकर क्या करते ? किसी तरह गणित को सुधारूं और कालेज में भरती हो जाऊं, यही धुन थी। इसके लिए शहर में रहना जरूरी था।

संयोग से एक वकील साहब के लड़कों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पढ़ाने का काम मिल गया। पांच रुपये वेतन ठहरा। मैंने दो रुपये में अपनी गुजर करके तीन रुपये घर खर्च के लिए देने का निश्चय किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी सी कच्ची कोठरी थी। उसमें रहने की आज्ञा ले ली, एक टाट का टुकड़ा बिछा दिया। बाजार से एक छोटा सा लैम्प लाया और शहर में रहने लगा। घर से कुछ बर्तन भी उठा लाया। एक वक्त खिचड़ी पका लेता और बरतन धो-मांजकर लाइब्रेरी चला जाता। गणित तो बहाना था। उपन्यास आदि पढ़ा करता। पंडित सत्यनाथ सरशार का "फसाना ए-आजाद" उन्हीं दिनों पढ़ा। चंद्रकांता संतति भी पढ़ी। बंकिम बाबू के उर्दू अनुवाद जितने पुस्तकालय में मिले, सब पढ़ डाले। जिन वकील साहब के लड़कों को पढ़ाता था उनके साले मेरे साथ मैट्रिकुलेशन में पढ़ते थे। उन्हीं की सिफारिश से मुझे यह पद मिला था। उनसे दोस्ती थी, इस लिए जब जरूरत होती, पैसे उधार ले लिया करता था। वेतन मिलने पर हिसाब हो जाता था। कभी दो रुपये हाथ आ जाते, कभी तीन। जिस दिन वेतन के दो-तीन रुपये मिलते, मेरा संयम हाथ से निकल जाता। दो तीन आने की मिठाई खाकर ही उठता। उसी दिन घर जाता और दो ढाई रुपये दे आता। दूसरे दिन से फिर उधार लेना शुरू कर देता। लेकिन कभी कभी उधार मांगने में संकोच होता और दिन का दिन निराहार व्रत रखना पड़ जाता।

इस तरह चार-पांच महीने बीते। इस बीच एक बजाज से दो ढ़ाई रुपये के कपड़े लिए थे। रोज उधर से निकलता था। उसे मुझ पर विश्वास हो गया था। जब महीने दो महीने निकल गये और मैं रुपये न चुका सका, तो मैंने उधर से निकलना ही छोड़ दिया। चक्कर देकर निकल जाता। तीन साल के बाद उसके रुपये अदा कर सका।

उसी जमाने में शहर का एक बेलदार मुझसे कुछ हिन्दी पढ़ने आया करता था। वकील साहब के पिछवाड़े उसका मकान था। "जान लो भैया" उसका सखुन तकिया था। हम लोग उसे "जान लो भैया" ही कहा करते थे। एक बार मैंने उससे भी आठ आने पैसे उधार लिये थे। वे पैसे उसने मुझसे मेरे गांव में घर जाकर पांच साल बाद बसूल किए। मेरी अब भी पढ़ने की इच्छा थी, लेकिन दिन दिन निराशा होता जाता था। जी चाहता था कहीं नौकरी कर लूं। पर नौकरी कैसे मिलती है और कहां मिलती है, यह न जानता था।

जाड़ों के दिन थे। पास एक कौड़ी न थी। दो दिन एक एक पैसे का चवेना खाकर काटे। मेरे महाजन ने उधार देने से इनकार कर दिया था या संकोचवश मैं उससे मांग न कर सका था। चिराग जल चुके थे। मैं एक बुकसेलर की दुकान पर एक किताब बेचने गया। चक्रवर्ती गणित की कुंजी थी, दो मास हुए खरीदी थी। अब तक उसे बड़े जतन से रखे हुए था पर आज चारों ओर से निराश होकर मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी। लेकिन एक पर सौदा ठीक हुआ। मैं रुपया लेकर दूकान से उतरा ही था कि एक बड़ी बड़ी मूछों वाले सौम्य पुरुष ने जो उस दूकान पर बैठे हुए थे, मुझसे पूछा—तुम कहां पढ़ते हो। मैंने कहा—पढ़ता तो कहीं नहीं हूं। पर आशा करता हूं कि कहीं नाम लिखा लूंगा। "मैट्रिकूलेशन पास हो"। जी हां।

नौकरी करने की इच्छा तो नहीं है।
नौकरी कहीं मिलती ही नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सज्जन एक छोटे से स्कूल में हैडमास्टर थे। उन्हें एक सहकारी अध्यापक की जरुरत थी। अठारह रुपये वेतन था। मैंने स्वीकार कर लिया। अठारह रुपये उस समय मेरी निराशा व्यथित कल्पना से ऊंची से ऊंची उड़ान से भी ऊपर थे। मैं दूसरे दिन हैडमास्टर साहब से मिलने का वादा करके चला तो पांव जमीन पर न पड़ते थे यह बात १८९९ की है। अगर मैं गणित के कारण अटक न जाता तो अवश्य आगे तक जाता, परन्तु गणित ने मेरी सारी आकांक्षाओं को मिट्टी में मिला दिया। मुझे एम. ए. करके वकील बनने का अरमान था। आगे पढ़ने की धुन थी। पाँव में लोहे की नहीं अष्टधातु की बेड़ियां पड़ी हुई थीं और मैं पहाड़ पर चढ़ना चाहता था। (फिर सरकारी नौकरी मिली।)

मेरी पहली स्त्री एक अभागी स्त्री थी। तनिक भी सुदर्शना नहीं थी, यद्यपि मैं उससे संतुष्ट नहीं था तो भी बिना शिकवा शिकायत निभाये चल रहा था जैसे कि सब पुराने पति करते हैं।

एक बार चाची अपने मायके गयी हुई थी मेरी बीवी थी। मैं था। घर में चचेरी भाभी थी। उन दिनों उनके पैर में तकलीफ थी। कभी कभी वे भूत प्रेत की तरह हाव भाव करती थीं। एक पंडित ओझाई का काम करते थे। वैद्य का भी काम करते थे। मेरी चाची ने कहा, उन्हें बुला लाओ। मैं उन्हें बुला लाया। पंडित जी आये और ओझों की तरह कुछ उन्होंने अलाय-बलाय किया। मैं पंडित जी के साथ दोपहर तक बैठा हवन करता रहा। पैर में मालिश करने को तेल बताया मैंने उन्हीं से तेल बनवाया। उनके पैरों की मालिश करने के लिए नाइन ठीक की। जब वे अच्छी हुईं, तो मुझसे बहन को बुलाने को कहा। मैंने भी यह किया। इस पर जब चाची घर पर आयी तो रुपयों का हिसाब उन्होंने पूछा। मैंने बता दिया कि रुपये इस तरह खर्च हो गये। उस समय चाची की निगाह में मैंने दो बुराइयां कीं। मेरी बहन को भी इन्होंने काफी तकलीफ दी।

झगड़ा आये दिन हुआ करता। खानगी तरद्दात का तांता बंधा। औरतों ने एक दूसरे को जली कटी सुनाई। हमारी मखादूमा ने जल भुनकर गले में फाँसी लगायी। मां ने आधी रात को भांपा, दौड़ी, उसको रिहा किया सुबह हुई, मैंने खबर पायी, झल्लाया, बिगड़ा, लानत मलामत की। बीवी साहिबा ने अब जिद पकड़ी कि यहां न रहूंगी। मैके जाऊंगी। मेरे पास रुपया न था। लाचार होकर खेत का मुनाफा वसूल किया उनकी रुखसती की तैयारी की। वह रो-धोकर चली गयी। मैंने पहुँचाना भी पसन्द न किया।

फिर मैंने एक बाल विधवा से विवाह किया। उसमें कुछ साहित्यिक अभिरुचि आ गयी है और कभी कभी कहानियां लिखती है। वह एक निडर, साहसी, समझौता न करनी वाली, सीधी सादी स्त्री है। दोष की सीमा तक दायित्वशील और अत्याधिक भावुक। मैं उसके साथ सुखी हूं। ऐसी कोई चीज उस से नहीं मांगता जो वह नहीं दे सकती, टूट भले ही जाये पर आप उसे झुका नहीं सकते।

सन् १९०१ ई० से लिटरेरी जिन्दगी शुरू की। रिसाला जमाना में लिखाता रहा। कई साल तक मुतर्फरिक मजामीन लिखी। साहित्य रचना से मुझे अपने अहंकार की पुष्टि के अलावा और कुछ न मिलता था। पहले मैं सम-सामयिक घटनाओं पर लिखता था फिर अपने वर्तमान और अतीत वीरों के चरित्रों के स्केच। सन् १९०४ में एक हिन्दी नावल प्रेमा लिखकर इंडियन प्रेस से शाया कराया।

लिखना मेरे लिए एक शौक की चीज थी। मुझे सपने में भी ख्याल न था कि आखिरकार मैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक दिन लेखक बनूंगा। मैं सरकारी मुलाजिम था अपनी छुट्टी के वक्त लिखा करता था। उपन्यासों के लिए मेरे अन्दर एक न बुझने वाली भूख थी जो कुछ मेरे हाथ लगता, मैं चट कर जाता। उसमें कोई भले बुरे का चुनाव करने की तमीज मेरे अन्दर न थी।

पहले पहल १९०७ में मैंने कहानियां लिखनी आरम्भ कीं। शुरू में उनकी प्रेरणा मुझे डा० रवींद्रनाथ से मिली। उनकी कई कहानियां मैंने अंग्रेजी में पढ़ी थीं। इनमें से कुछ अनुवाद किया। मेरे ऊपर तालस्ताय, विक्टर ह्यूगो और रोमा रोलां का असर पड़ा है। पीछे स्वयं अपनी शैली का विकास किया। मेरी पहली कहानी का नाम था "दुनिया का अनमोल रत्न"। यह १९०७ में (जमाना) पत्रिका में छपी। उसके बाद मैंने जमाना में चार-पाँच कहानियाँ और लिखीं। १९०९ में पाँच कहानियों का संग्रह सोजेवतन के नाम से जमाना प्रेस, कानपुर से प्रकाशित हुआ। उस वक्त देश में बंग भंग का आंदोलन जोरों पर था और कांग्रेस के उग्र दल की नींव पड़ चुकी थी। इन पाँचों कहानियों में देश प्रेम का राग अलापा गया था। उस समय मैं शिक्षा विभाग में सब इंसपेक्टर आफ स्कूलस् था और हमीरपुर जिला में तैनात था। किताब को निकले छह महीने हो चुके थे।

एक दिन मैं रात को अपनी रावटी में बैठा हुआ था कि मेरे नाम जिलाधीश का परवाना पहुंचा कि मुझसे तुरंत मिलो। जाड़ों के दिन थे। साहब दौरे पर थे। मैंने बैलगाड़ी जुतवाई और रातों रात तीस चालीस मील तय करके दूसरे दिन साहब से मिला। साहब के सामने "सोजेवतन" की एक प्रति रखी हुई थी। मेरा माथा ठनका। उस वक्त मैं नवाबराय के नाम से लिखा करता था। मुझे इसका कुछ पता मिल चुका था कि खुफिया पुलिस इस किताब के लेखक की खोज में है। उन लोगों ने मुझे खोज निकाला और उसी की जवाबदेही करने के लिए मुझे बुलाया है।

साहब ने मुझसे पूछा—यह पुस्तक तुमने लिखी है। मैंने स्वीकार किया। साहब ने मुझसे एक कहानी का आशय पूछा और अंत में बिगड़कर बोले—तुम्हारी कहानियों में "सिडीशन" भरा हुआ हैं। अपने भाग्य को बखानो कि अंग्रेजी अमलदारी में हो। मुगलों का राज्य होता तो तुम्हारे दोनों हाथ काट लिये जाते। तुम्हारी कहानी एकांगी है। तुमने अंग्रेज सरकार की तौहीन की है।

फैंसला यह हुआ कि मैं "सोजेवतन" की सारी प्रतियाँ सरकार के हवाले कर दूं और साहब की अनुमति के बिना कभी कुछ न लिखूं। मैंने समझा, चलो सस्ते में छूटे। एक हजार प्रतियाँ छपी थीं। अभी मुश्किल से तीन सौ बिकी थीं। शेष सात सौ प्रतियां मैंने "जमाना कार्यालय" से मंगवा कर साहब की सेवा में अर्पण कर दीं।

मैंने समझा था, बला टल गयी। किंतु अधिकारियों को इतनी आसानी से संतोष न हो सका। मुझे बाद में मालूम हुआ कि साहब ने इस विषय में जिला के अन्य कर्मचारियों से परामर्श किया। सुपरिन्टेडैंट पुलिस, दो डिप्टी कलैक्टर और डिप्टी इंसपेक्टर, जिनका मैं मातहत था। मेरी तकदीर का फैंसला करने बैठे। एक डिप्टी कलैक्टर साहब ने गल्पों से उद्धरण निकाल कर सिद्ध किया कि इनमें आदि से अंत तक सिडीशन के सिवा कुछ नहीं है। और सिडीशन भी साधारण नहीं बल्कि संक्रामक। पुलिस के देवता ने कहा—"ऐसे खतरनाक आदमी को जरूर सख्त सजा देनी चाहिए'। डिप्टी इंसपेक्टर साहब मुझसे बहुत स्नेह करते थे। इस भय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से की कहीं मुआमला तूल न पकड़ ले उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि वह मित्रभाव से मेरे राजनीतिक विचारों की थाह लें और उस कमेटी में रिपोर्ट पेश करें। उनका विचार था कि मुझे समझा दें और रिपोर्ट में लिख दें कि लेखक केवल कलम का उग्र है और राजनीतिक आंदोलन से उसका कोई संबन्ध नहीं है। केमेटी ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया हालांकि पुलिस के देवता उस वक्त भी पैंतरे बदलते रहे।

सहसा कलैक्टर साहब ने डिप्टी इंसपेक्टर से पूछा—आपको आशा है कि वह आपसे अपने दिल की बात कह देगा।

डिप्टी इंसपेक्टर साहब ने कहा—जी हां, उनसे मेरी घनिष्ठता है। आप मित्र बनकर उसका भेद लेना चाहते हैं। यह तो मुखबरी है। मैं इसे कमीनापन समझता हूं।

डिप्टी साहब अप्रतिभ होकर हकलाते हुए बोले—मैं तो हुजूर के हुक्म—

साहब ने बात काटी—नहीं। यह मेरा हुक्म नहीं है। मैं ऐसा हुक्म नहीं देना चाहता। अगर पुस्तक में लेखक का सिडीशन साबित हो सके तो खुली अदालत में मुकद्दमा चलना चाहिए न कि धमकी देकर छोड़ दीजिये। 'मुंह में राम बगल में छुरी' मुझे पसन्द नहीं।

जब यह वृतांत डिप्टी इंसपेक्टर साहब ने कई दिन पीछे खुद मुझसे कहा तो मैंने पूछा—'क्या आप सचमुच मेरी मुखबरी करते।" वह हँसकर बोले—असंभव, कोई लाख रुपये भी देता तो भी न करता। मैं तो केवल अदालती कार्रवाई रोकना चाहता था और वह रुक गयी। मुकद्दमा अदालत में जाता तो सजा हो जाना यकीनी था। आपकी यहां पैरवी करने वाला भी कोई न मिलता। मगर साहब है शरीफ आदमी। मैंने स्वीकार किया—"बहुत ही शरीफ——।"

१९१४ में दूसरों ने मेरी कहानियों के अनुवाद किये और वह हिन्दी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। फिर मैंने हिन्दी सीख ली और सरस्वती में लिखने लगा।

मैं हमीरपुर में था कि मुझे पेचिश की शिकायत पैदा हो गयी। गर्मी के दिनों में यहां कोई हरी तरकारी न मिलती थी। एक बार कई दिन तक लगातार सूखी अरबी खानी पड़ी। एक दिन पेट में ऐसा दर्द हुआ कि तमाम दिन मछली की तरह तड़पता रहा। चूर्ण खाया, पेट पर गर्म बोतल रखी, जामुन का अर्क पिया। देहात में जितनी दवाएं मिल सकती थीं सब खायीं। लेकिन दर्द कम न हुआ। दूसरे दिन पेचिश हो गयी। लेकिन दर्द जाता रहा।

इसी तरह एक महीना बीत गया। इसके बाद मैं एक कस्बा में पहुंचा तो वहां के थानेदार साहब ने मुझे से थाना में ही ठहरने और खाने को कहा। कई दिन तक मूंग की दाल खाते खाते और परहेज करते करते परेशान हो गया था। सोचा क्या हर्ज है आज यहीं ठहर जाओ। खाना तो स्वादिष्ट मिलेगा। थाना में ही अड्डा जमा दिया। दारोगा जी ने जिमींकन्द पकवाया, पकौड़ियां, दही बड़े, पुलाव सब कुछ बनवाया। मैंने भी खूब मजे से खाया। खा-पीकर जब थाना में दारोगाजी के फूस के बंगले में लेटा तो दो ढाई घंटे बाद फिर पेट में दर्द होने लगा। सारी रात और अगले दिन भर कराहता रहा। सोडे की दो बोतलें पीने के बाद कै हुई, तो चैन मिला। मुझे विश्वास हो गया कि वह तमाम जिमीकन्द की खराबी है। तब से अरबी और जिमीकन्द दोनों की सूरत देखकर कांप जाता हूं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्द तो खैर जाता रहा, लेकिन पेचिश की शिकायत हो गयी। पेट चौबीस घंटे तना रहता। अफरने की शिकायत बराबर कायम रही। कुछ दिनों तक रोजाना बिना नागा पाँच मील टहलने जाता। कसरत करता। परहेजी खाना और कोई न कोई दवा भी खाया करता। लेकिन पेचिश में कोई कमी न हुई। बदन सूखा जाता था। कई बार कानपुर आकर इलाज कराया। एक बार महीना भर इलाहाबाद में आयुर्वेदिक और डाक्टरी दवाएं खाता रहा, लेकिन कोई फायदा न हुआ।

तब मैंने अपने तबादले की दरख्वास्त की। चाहता तो था कि रोहेलखंड में तबदीली हो। मगर पटका गया बस्ती के जिले में और वह क्षेत्र मिला जो नेपाल की तराई के करीब है। सौभाग्य से यहां मेरा परिचय पंडित मन्नन द्विवेदी गजपुरी से हुआ जो डोमारियागंज में तहसीलदार थे। उनके साथ प्रायः साहित्यिक विषयों पर चर्चा होती। लेकिन बस्ती आकर पेचिश की शिकायत और बढ़ गयी। तब मैंने छह महीने की छुट्टी ली और लखनऊ के मैडिकल कालेज में इलाज कराया। यहां फायदा न हुआ तो बनारस के एक हकीम का इलाज किया। तीन चार महीने बाद थोड़ा फायदा मालूम हुआ। लेकिन बीमारी जड़ से न गयी। छुट्टी के बाद जब फिर बस्ती पहुँचा तो वही हालत हो गयी। तब मैंने दौरे की नौकरी छोड़ कर बस्ती हाई स्कूल में स्कूल मास्टरी स्वीकार कर ली। यहाँ से तबदील होकर गोरखपुर पहुंचा। मगर पेचिश की शिकायत पहले की तरह चलती रही।

यहां मेरा परिचय महावीर प्रसाद पोद्दार जी से हुआ जो हिंदी साहित्य के पंडित, देश के सच्चे सेवक और कर्मठ प्रयत्नशील व्यक्ति थे।

मैंने बस्ती में ही हिंदी पत्रिका "सरस्वती" में कई कहानियां छपवाई। पोद्दार जी की सलाह से मैंने सेवासदन उपन्यास लिखा। सेवासदन की जो प्रशंसा और ख्याति हुई, उससे मेरा भी उत्साह बढ़ा और मैंने दूसरा उपन्यास प्रेमाश्रम लिखा। इसी बीच में कहानियाँ भी बराबर लिखता रहा।

कुछ मित्रों की, विशेषकर पोद्दार जी की, सलाह से मैंने जल-चिकित्सा आरंभ की। लेकिन तीन चार महीने के स्नान और पथ्य का मेरे दुर्भाग्य से यह परिणाम हुआ कि मेरा पेट बढ़ गया। और मुझे रास्ता चलने में भी दुर्बलता मालूम होने लगी। एक बार कई मित्रों के साथ मुझे एक जीने पर चढ़ने का अवसर मिला। और लोग धड़धड़ाते हुए चले गये, पर मेरे पांव ही न उठते थे। बड़ी मुश्किल से हाथों का सहारा लेते हुए ऊपर पहुंचा। उसी दिन मुझे अपनी कमजोरी का यथार्थ ज्ञान हुआ। समझ गया, अब थोड़े दिनों का और मेहमान हूं। जल चिकित्सा बंद कर दी।

एक दिन संध्या समय उर्दू बाजार में श्री दशरथ प्रसाद जी द्विवेदी, संपादक "स्वदेश" से मेरी भेंट हो गयी। कभी कभी उनसे साहित्य-चर्चा होती रहती थी। उन्होंने मेरी पीली सूरत देखकर खेद के साथ कहा—"बाबू जी, आप तो बिलकुल पीले पड़ गये हैं। कोई इलाज कराइये।

मुझे अपनी बीमारी का जिक्र बुरा लगता था। मैं भूल जाना चाहता था कि मैं बीमार हूं। जब दो चार महीने की ही जिन्दगी से नाता है तो क्यों न हँसकर मरूं? मैंने चिढ़कर कहा—"मर ही तो जाऊंगा भई, और कुछ। मैं मौत का स्वागत करने को तैयार हूं"।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्विवेदी जी बेचारे लज्जित हो गये। मुझे पीछे से अपनी उग्रता पर बड़ा खेद हुआ।

यह १६२० की घटना है। इन दिनों असहयोग का आंदोलन जोरों पर था। जलियांवाला कांड घट चुका था। उन्हीं दिनों महात्मा गांधी ने गोरखपुर का दौरा किया।

गाजी मियां के मैदान में ऊंचा प्लेटफार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली जाती थी। ऐसा समारोह मैंने अपनी जीवन में कभी न देखा था। महात्मा जी के दर्शनों का यह प्रताप था कि मुझ जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। उसके दो ही चार दिन बाद मैं ने अपनी बीस साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया। अब देहात में काम करने की तबियत हुई। पोद्दार जीं का देहात में एक मकान था। हम और वह दोनों वहां चले गये और चरखे चलाने लगे, एक सप्ताह में मेरी पेचिश कम हो गयी। यहां तक कि एक महीने के अंदर बिल्कुल ठीक हो गयी। इसके बाद मैं बनारस चला गया और अपने गांव में बैठकर प्रचार और साहित्य सेवा में जीवन बिताने लगा। गुलामी से छुटकारा पाते ही मैं नौ साल की पुरानी बीमारी से छुटकारा पा गया। इसी अनुभव ने मुझे पूरी तरह भाग्यवादी बना दिया। अब मेरा विश्वास है कि जो प्रभु की मर्जी होती है, वही होता है। मनुष्य का कोई भी प्रयत्न उसकी मर्जी के बगैर सफल नहीं होता।

सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प—चारों नाविल दो दो साल के बाद निकले। मेरे हर उपन्यास में एक आदर्श चरित्र है जिसमें मानव दुर्बलताएं भी हैं और गुण भी पर मूलतः आदर्श। प्रेमाश्रम में ज्ञानशंकर है, रंगभूमि में सूरदास है। उसी तरह कायाकल्प में चक्रधर है, कर्मभूमि में अमरकाँत है। मेरे अधिकांश चरित्र वास्तविक जीवन के लिये गये हैं। गो उन्हें काफी अच्छी तरह परदे में ढंक दिया गया हैं। जब तक किसी चरित्र का कुछ आधार वास्तविकता में न हो तब तक वह छाया सा अनिश्चित रहता है और उसमें विश्वास पैदा करने की ताकत नहीं आती।

मेरी बाद की पुस्तकों में या तो उपन्यास हैं या गल्पों के संग्रह : उपन्यास (है) : गबन, प्रतिज्ञा : (और) गल्प संग्रह : प्रेम प्रतिमा, प्रेम द्वादशी, प्रेम तीर्थ, पाँच फूल।

कथानक मैं इस दृष्टि से बुनता हूं कि मानव चरित्र में जो कुछ सुंदर है, मरदाना है वह उभरकर सामने आ जाये। यह एक उलझी हुई प्रक्रिया है, कभी इसकी प्रेरणा किसी व्यक्ति से मिलती है या कभी घटना से या किसी स्वप्न से। लेकिन मेरे लिए जरूरी है कि मेरी कहानी का कोई मनोवैज्ञानिक आधार हो। मैं मित्रों का, सुझावों का सदैव सहर्ष स्वागत करता हूं।

पहले की सब किताबों का अधिकार प्रकाशकों को दे दिया। प्रेम पचीसी, सेवासदन, सप्त सरोज, प्रेमाश्रम, संग्राम आदि के लिए एक-मुश्त तीन हजार रुपये हिन्दी पुस्तक एजेंसी ने दिया। तब निधि के लिए शायद अब तक दो सौ रुपये मिले हैं। रंगभूमि के लिए अट्ठारह सौ रुपये दुलारेलाल ने दिये और संग्रहों के लिए सौ दो सौ मिल गये। कायाकल्प, आजाद कथा, प्रेमतीर्थ, प्रेम प्रतिभा, प्रतिज्ञा मैंने खुद छापी, १६३२ तक मुश्किल से ६०० रुपये वसूल हुए हैं और प्रतियां पड़ी हुई रहीं।

(१६३० में हंस निकाला)। फिर जागरण को ले लिया। हंस में कई हजार का घाटा उठा चुका।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन साप्ताहिक के प्रलोभन को न रोक सका। इसमें भी हजारों का घाटा ही होगा। पर करूं क्या यहां तो जीवन ही एक लंबा घाटा है। कुछ चल जायेगा तो प्रेस के लिए काम की कमी की शिकायत न रहेगी।

सेवासदन पर फिल्म बनी। मुझे ७५० रुपये मिले। अगर इस तंगी में यह रुपये न मिल जाते तो न जाने क्या दशा होती? ईश्वर ही जाने। तंगी में जब कोई रकम हाथ आ जाती है तो वे सारी जरुरतें जो मुंह दबाये पड़ी थीं यकायक चीख मारने लगती हैं। किसी के पास कपड़े नहीं हैं, किसी के पास जूते नहीं हैं। किसी की लड़की की शादी के लिए कुछ देना चाहिए। गरज वह रुपये दो चार दिन में हवा हो जाते हैं।

बंबई की एक फिल्म कम्पनी ने मुझे बुलाया। वेतन की बात नहीं—कांट्रेक्ट की बात, आठ हजार रुपये साल। मैं उस अवस्था को पहुंच गया (था) जब मेरे लिए हां के सिवा कोई उपाय ही नहीं रह गया, कि या तो वहां चला जाऊं, या अपने उपन्यास को बाजार में बेचूं।

सिनेमा साहित्यिक व्यक्ति के लिए कोई जगह नहीं है। मैं इस लाइन में यह सोचकर आया था कि इसमें आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हो सकने का कुछ मौका था, लेकिन अब मैं देखता हूं कि मैं धोखे में था। लिखना मैं अपने जीवन का लक्ष्य समझता हूं। सिनेमा मेरे लिए वैसी ही चीज है जैसी कि वकालत होती है। अन्तर केवल यही है कि यह अधिक स्वस्थ है।

बंबई से क्या लाया। कुल ६३००/- मिले। इसमें १५००/- लड़कों के लिये, ४००/- लड़की ने, ५००/- प्रेस ने, दस महीने में बंबई का खर्च बड़ी किफायत से भी २५००/- से कम न हो सका। वहां से कुल १४००/- लेकर अपना सा मुंह लेकर चले आये।

जनवरी १९३६ है बीमार हूं। मेदे में गैस्ट्रिक अलसर की शिकायत है। मुँह से खून आ जाता है। इसलिए काम कुछ नहीं करता। दवा कर रहा हूं। मगर अभी तक कोई इफ़ाका नहीं। हंस से तो मेरा ताल्लुक टूट गया। मुफ्त की सरमग्जी, बनियों के साथ काम करके शुक्रिये की जगह यह सिला मिला कि तुमने हंस में ज्यादा रुपया सर्फ कर दिया। इसके लिए मैंने दिलोजान से काम किया, इसका किसी ने लिहाज न किया। मैंने हंस भारतीय साहित्य परिषद् को इस ख्याल से दिया था कि वह मेरे प्रेस में छपता रहेगा और मुझे प्रेस की जानिब से गुना बेफिक्री रहेगी लेकिन अब वह दिल्ली में सस्ता साहित्य मंडल की जानिब से निकलेगा और इस तबादले में परिषद् को अंदाजन पचास रुपये महीने की बचत हो जायेगी। मैं भी खुश हूं। हंस जिस लिटरेचर की इशाअत कर रहा था वह तो वही भक्तिवाला महाजनी लिटरेचर है जो हिन्दी जुबान में काफी है।

मेरा नया नावेल गोदान अभी हाल में निकला है।

अगस्त १९३६ से पूर्व डेढ़ दो महीने से मुझे जिगर की शिकायत हो गयी है। दो बार मुंह से सेरों खून निकल गया है।

मैं जिन इरादों से आया था, उनमें एक भी पूरे होते नजर नहीं आते। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियां बनाते आये हैं उसकी लीक से जौं भर भी नहीं हट सकते। वल्गैरिटी को यह लोग एंटरटेनमैंट वैल्यू कहते हैं। अद्‌भुत ही में इनका विश्वास है। राजा रानी, उनके मंत्रियों के षड्यंत्र नकली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लड़ाई, बोसे बाजी यही इनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियां लिखी हैं, जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे लेकिन उनको फिल्म करते इन लोगों को संदेह होता है कि चले या न चले।

बनारस में इलाज से फायदा न देखकर लखनऊ आ गया और डाक्टर हर गोविंद सहाय के जेरे इलाज में हूं। खून वगैरा की जांच हो चुकी है। मगर अभी दांत तोड़े जायेंगे तब डाक्टर साहब मर्ज की तशखीश करेंगे और इलाज शुरू होगा। या तो इसलाह ही होगी या खात्मा ही होगा। घुलकर आधा रह गया हूं। जर्द, न कुछ खा सकता हूं। न हज्म होता है। या तो इसलाह ही होगी या खात्मा ही।

जिंदगी मेरे लिए हमेशा काम रही है। काम, काम, काम। मैं जब सरकारी नौकरी में था तब भी अपना सारा समय साहित्य को देता था। मुझे काम करने में मजा आता है। पस्ती के क्षण आते हैं जब पैसे की समस्या आ खड़ी होती है, वरना मैं अपने भाग्य से संतुष्ट हूं। अपने प्राप्य से अधिक मुझे मिला। आर्थिक दृष्टि से असफल हूं। व्यवसाय मैं नहीं जानता और तंगी से मुझे कभी छुटकारा नहीं मिलता। मैं कभी पत्रकार नहीं रहा, लेकिन परिस्थितियों ने मुझे जबरन बनाया और जो कुछ मैंने साहित्य में कमाया था, जोकि बहुत नहीं था। सब पत्रकारिता में गँवा दिया।

(८ अक्तूबर १९३६ को प्रेमचन्द चल बसे)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. मदन गोपाल गुप्त
आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
एम.एस. यूनिवर्सिटी, बड़ौदा।

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति और कबीर

संस्कृतियों के स्वत्व का ज्ञान राष्ट्रों के सामूहिक जीवन के इतिहास एवं साहित्य से हुआ करता है और उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि विश्व के क्षितिज पर अपवाद-रूप में एक ऐसी संस्कृति विद्यमान है, जिसने विदेशी आक्रमणों एवं अत्याचारों के भयंकर झंझावातों के प्रहार सहकर भी प्रबल विरोधों के महासागर के सतत थपेड़ों या उत्पीड़न के बीच सुदृढ़ चट्टान की भाँति अपनी अजेयता को सुरक्षित रखते हुए, उनके अन्तर्मन को जीतकर आत्मसात् किया है। मिश्र, रोम, यूनान आदि देशों की प्राचीन कही जाने वाली संस्कृतियां काल के प्रहारों से चकनाचूर होकर भग्नावशेषों के रूप में केवल इतिहास-पुस्तकों अथवा संग्रहालयों की शोभा बनकर पुरातत्व-वेत्ताओं की खोज का विषय बन चुकी हैं किन्तु भारतीय संस्कृति अनादिकाल से लेकर आज तक जीवित है। इतिहास साक्षी है कि वैदिक काल से प्रकाशित भारतीय संस्कृति का नन्दादीप, जिसकी ज्योति काल-विशेष में मन्द भले ही पड़ गयी हो, समय-समय पर जन्म लेने वाले सन्तों की परम्परा द्वारा प्रज्वलित किया जाता रहा है और उसने अपनी प्रभा से देश-विदेश वासियों को आलोकित किया है। मध्यकालीन भारतीय संस्कृति और उसमें कबीर का व्यक्तित्व इस तथ्य को सार्थकता प्रदान करता है।

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति समकालीन राजनीतिक संघर्षों युद्धों, अकाल और महामारी की विभीषिकाओं के घटाटोप के बीच जीवनगत सौन्दर्य और प्रकाश को विकीर्ण करके एक ऐसे आलोक को प्रकट करती है जो परवर्ती काल की अनेक शतियों तक देश के जन-जीवन का पथ प्रशस्त करता आया है। इसे निर्दिष्ट करते हुए विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है कि राजनीतिक घटाटोप का यह मध्यकालीन इतिहास एक दुःस्वप्न मात्र है, जो निरन्तर बदलते रहने वाले रक्त-रंजित स्वप्न के दृश्यपट से ढका हुआ है। भारत के सच्चे इतिहास का दर्शन इस युग में जन्म लेने वाले युगद्रष्टा कवियों और सन्तों के सन्धान और उनकी उपलब्धियों में होता है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसे मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के तेजस्वी सूर्य से उपमित करते हुए लिखा है कि "चप्पा-चप्पा धरती उसकी किरणों की गर्मी पाकर कला, साहित्य, धर्म—जीवन के कितने ही नवीन रूपों को जन्म देती है।"[1] यह आश्चर्यमयी सांस्कृतिक कहानी इस युग में जन्म लेने वाले कबीर, नानक, दादू, सन्त रविदास, सूरदास तथा तुलसी जैसे अनेक युगद्रष्टा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनीषियों एवं कवियों के व्यक्तित्वों, उनकी अमर वाणियों तथा उनमें निर्मित जन-जागृति में विद्यमान है और इसके सम्यक् मूल्यांकन के अभाव में मध्यकालीन भारतीय संस्कृति तथा उस युग के हिन्दी-काव्य के साथ सही न्याय-पावना नहीं दिया जा सकता।

व्यक्ति परिस्थिति और परम्परा दोनों का परिणाम होता है। उपरिनिर्दिष्ट सांस्कृतिक पुरुषों का जीवन आगे चलकर जिस सांस्कृतिक निधि का संवाहक बना, उसी सांस्कृतिक निधि की वे देन भी कहे जा सकते हैं। मध्यकालीन भारत की यह सांस्कृतिक विरासत एक सामूहिक अभियान अथवा जन-जागृति द्वारा निर्मित हुई है। देश का यह सामूहिक अभियान हिन्दी साहित्य के इतिहास में उत्तरभारत के भक्ति-आन्दोलन के नाम से ज्ञेय है। इतिहासकारों ने भी यह स्वीकार किया है कि इसका ध्येय आध्यात्मिक उन्नति मात्र न था, किन्तु यह सामाजिक उत्थान के सभी जीवन-पक्षों को लेकर व्यापक क्रान्ति के कार्य में अग्रसर हुआ था[२]। इसकी प्रेरक शक्ति तीन प्रकार की है—

१. भागवत धर्म की आचार्यों और भक्तों द्वारा संवलित एवं युगानुरूप विकासशील साधना।

२. दो भिन्न संस्कृतियों के मनीषियों एवं द्रष्टाओं द्वारा प्रवर्तित सांस्कृतिक समन्वय के प्रयास।

३. युगीन परिस्थितियाँ तथा सामाजिक विकृतियों के निराकरण के लिए रामानन्द, कबीर, नानक, रैदास, दादू, चैतन्य, वल्लभ तथा शंकरदेव आदि द्वारा निर्मित सामाजिक चेतना।

उपर्युक्त विविध प्रवृत्तियों से संवलित भक्ति-आन्दोलन लगभग तीन शताब्दियों तक विदेशी राज शक्तियों के नीचे रहने वाले भारतीय जन-जीवन को अमर आश्वासन के साथ-साथ उसमें आत्मगौरवपूर्ण चैतन्य का संचार करता रहा। इतना ही नहीं, अपितु अनेक सन्तों भक्तों और कवियों द्वारा उसे जो गति मिलती गयी, उसके कारण भी नये जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाये तो इस सांस्कृतिक आन्दोलन के आरम्भिक प्रवर्तन के पश्चात् उसे सम्यक् दिशा और गतिशीलता प्रदान करने वाले सर्वप्रथम और सर्वाधिक समर्थ व्यक्ति कबीर ही कहे जा सकते हैं। मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में उनके काव्य के कतिपय पक्ष यहाँ उल्लेखनीय हैं।

(१) काव्य-रचना का प्रयोजन :

कबीर ने स्थान-स्थान पर यह घोषणा की है कि वे किसी परम्परागत ज्ञान या उसमें प्रस्तुत सत्य के न तो कायल हैं और न उसके पिष्टपेषण के लिए प्रतिबद्ध ही हैं। उनकी भाव-धारा की सबसे बड़ी विशेषता स्वानुभूत सत्य के उद्घाटन की है। काव्यगत प्रयोजन के सम्बन्ध में उनका अपना मौलिक दृष्टिकोण है। वे न तो विद्यापति अथवा समकालीन दरबारी कवियों की भांति आश्रयदाता को प्रसन्न करने के उद्देश्य से काव्य-रचना करना उचित समझते थे और न सूर-तुलसी की भाँति साहित्यिक स्रोतों से प्राप्त हरिकथा को ही काव्य के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहते थे। उनके काव्य का लोक-कल्याणकारी सांस्कृतिक उद्देश्य भी यही था कि सम्भव है कि प्रेरणा पाकर दुःखकातर जनों को त्राण का अवसर मिल जाय[३]। वे अपने पदों को सामान्य गीतिकाव्य न बनाकर केवल आत्म-साधना के साररूप को प्रस्तुत करने का माध्यम बनाना चाहते थे[४]। इसीलिए कोरे कवि-कर्म के उद्देश्य से काव्य रचना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वालों की कविता करते-करते व्यर्थ में जीवन बिताने वाला ही मानते थे[5]। लोक रंजन, अर्थार्जन अथवा यश प्राप्ति जैसे प्रयोजनों से प्रेरित होकर काव्य-रचना को त्याज्य ही नहीं मानते थे, अपितु ऐसी प्रवृत्ति पर तीखी चोट करने में भी नहीं चूकते थे। यहाँ यह कहना प्रासंगिक ही होगा कि गोस्वामी तुलसीदास ने भी ऐसी प्रवृत्तियों को प्रतिभा का दुरुपयोग ही माना था। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि कबीर के दृष्टिकोण से काव्य-रचना का उद्देश्य जीवतगत महत् उद्देश्य की सिद्धि ही था। प्रकारान्तर से इसे साहित्यिक मूल्य की नये रूप में स्थापना भी कह सकते हैं।

जीवन मूल्य और कबीर :

मध्यकालीन भारत में रूढ़िग्रस्त जीवन-मूल्यों में जो विकार आ गये थे, उनसे व्यक्ति का सही विकास निश्चय ही अवरुद्ध हो चुका था। एक ओर लोकाचार की अन्धा-नुगामिता के लिए उस समय का समाज प्रतिबद्ध-सा था, भले ही उन आचारों की उपयुक्तता से वह असहमत ही क्यों न रहा हो ? दूसरी ओर धर्मशास्त्र की दुहाई देकर समाज का एक वर्ग कतिपय सामाजिक रीति-नीतियों, कर्मकाण्डों तथा धार्मिक विधि-विधानों के पालन के लिए उसे मानसिक रूप से विवश करता रहता था। उस पर शंका-भरी दृष्टि उठाने का साहस सामान्य जन को हो भी कैसे सकता था, जब कि स्वतन्त्र-चेता व्यक्तियों को ऐसा साहस करने में प्रबल विरोधों तथा सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ जाता था। यह। यह स्मरणीय है कि समय-समय पर विभिन्न धर्मशास्त्रों की रचना द्वारा युगानुरूप परिवर्तन के साथ व्यक्ति को नयी सामाजिक, आर्थिक एवं अन्य जीवन-पक्षों की व्यवस्थाएँ देने का जो काम इसके पहले होता आया था, वह मध्यकाल तक आते-आते समाप्त हो चुका था। अतः अनेक आचार-व्यवहार केवल अन्धानुगामिता के ही परिणाम थे और इतना ही नहीं अपितु शास्त्रों के नाम पर शास्त्रेतर विधि-विधानों को थोप दिया गया था। सामान्य जन उन विधानों का अनुसरण करने को इस लिए भी विवश था क्योंकि निरन्तर उनका प्रभावशाली ढंग से प्रचार भी होता रहता था। मध्यकालीन साहित्य में उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के बन्धनों को 'मर्यादा' कहा गया है। परम्परागत मान्यताओं तथा व्यक्ति के निजी जीवन के पर्यावरण गत संस्कारों के कारण जीवन में उसकी प्रतिष्ठा होती है, और उससे आबद्ध होकर मनुष्य परम्परा या पद्धति विशेष का अनुगमन करता, कर्म प्रवृत्त होता अथवा उसके कारण बहुत से कार्यों का निषेध भी करता है। सामान्य से ये मर्यादाएं सामाजिक कुल गत तथा परिवार गत होने के साथ-साथ धर्म या सामाजिक आधार के ग्रन्थों से सम्बन्धित होती हैं। इनके दो पक्ष हैं—एक तो वे व्यक्ति के स्वतन्त्र चिन्तन या विकास में बाधक हो सकती है, किन्तु दूसरी ओर वे सामान्य व्यक्ति अवांछनीय कार्यों से रोकती तथा शुभ कार्यों में प्रवृत्त भी करती हैं। कबीर ने इन्हें स्पष्टतः बाधक ही नहीं, व्यक्ति का गला घोंटने वाला माना है—

> लोक-वेद-कुल की मरजादा,
> यहै गले मां फांसी ।

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति और कबीर/३०

उपरिनिर्दिष्ट तथ्यों के प्रकाश में कबीर का का एतद्विषयक दृष्टिकोण एकांगी कहा जायगा। समसामयिक परिस्थिति के सन्दर्भ में देखा जाय तो इसे कबीर का क्रान्तदर्शी दृष्टिकोण भी कह सकते हैं। सामाजिक रीति-नीतियों की रूढ़ियां, व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के निजी विकास में बाधक होने के अतिरिक्त जन-जीवन को संभ्रमित करने के साथ साथ यदा-कदा अबांछनीय कर्मों में प्रवृत्त होने का अवसर प्रदान कर रही थीं। ये एक तो नैसर्गिक विकास को अवरुद्ध करती ही थीं तथा दूसरे उनके कारण कुलगत व जातिगत अभिमान इतना बढ़ गया था कि समाज में ऊंच-नीच का भेद-भाव गहराई से प्रतिष्ठित था। यह कबीर जैसे सन्तों द्वारा स्थापित जीवन-मूल्यों का ही परिणाम था कि जो समाज आज तक जाति, कुल तथा धन सम्पन्नता आदि के आधार पर व्यक्ति को ऊँचा गिनता था, उस समाज में कबीर आदि ने व्यक्ति की श्रेष्ठता का आधार उसके गुण, आचारण तथा आध्यात्मिक श्रेष्ठता को बताया। ऐसे सन्त कवियों द्वारा निर्मित युगीन क्रान्ति को प्रस्तुत करते हुए सन्तकवि नापा कहते हैं कि भक्ति-रूपी जहाज से मनुष्य का उद्धार होगा कुल-जाति या धन-सम्पन्नता की नावों से नहीं—

चन्दन राम नांव सब लोई,
औरनि पलटै अपना खोई।
निगम साख सुनि भये उमाहा,
पलटे छीपा, जाट, जुलाहा।
लघु-लघु कुल बेध्यो सुबास,
ऊँचे कुल उधर्यो नहीं बास।
कहै नापा कुल को नहीं कारन,
जौ जिहाज ताही कूं वारन॥
—सरवंगी ग्रंथ, (हस्तलिखित),
पत्र संख्या ८६, पद २।

यह उल्लेखनीय है कि जहाँ उच्चवर्ग में बिना किसी आधार के और नैतिक पतन के होते हुए भी सामाजिक उच्चता का अहंकार व्याप्त था, वहाँ दूसरी ओर निम्नवर्ग में अत्यधिक हीनता की भावना घर कर गयी थी। कबीर की तद्विषयक चुनौती-भरी उक्तियाँ ऐसे दृष्टिकोण या मान्यता पर प्रहार करती रहीं, किन्तु इससे उच्चवर्ग का अहंकार भले ही एक सीमा तक बाधित हो, किन्तु निम्नवर्ग उससे ऊपर नहीं उठ सकता। कबीर ने इसके लिए उनमें आत्मगौरव का भाव जगाया है, जिसकी परिणति उपर्युक्त पद में वर्णित है। इस तथ्य को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी स्वीकार किया है कि "मनुष्यत्त्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न-श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और भक्ति के ऊँचे-ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया।"[6]

इसके अतिरिक्त कबीर द्वारा प्रतिष्ठित नैतिक जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा का भी ऐतिहासिक महत्व है। उनकी वाणियों में स्थान-स्थान पर जो वाह्याचारों का विरोध, आडम्बरों का तिरस्कार, अन्तःसाधना का महत्व, स्वानुभूत सत्य तथा व्यापक एवं उदार दृष्किोण की प्रतिष्ठा का स्वर मिलता है, उससे ऐसे मूल्यों पर सहज ही प्रकाश पड़ता है। अन्तः साधना के द्वारा उन्होंने जीवन के प्रति अन्तर्मुखी दृष्टिकोण के विकास का प्रयास किया है, जिसके अभाव में व्यक्ति के कर्म में विकृति आ सकती है। द्वितीयतः ऐसे दृष्टिकोण के विकास से व्यक्ति को प्रामाणिकता पूर्वक कर्त्तव्य-कर्मों के सम्पादन की प्रेरणा मिलती और इस प्रकार वह आत्मपतन से बचते हुए स्वयं गुणों का विकास कर सकता है। तीसरे, व्यक्तियों में इसके द्वारा परिष्कार होकर उनके द्वारा निर्मित समाज सुसंस्कृत एवं सम्भाव्य अन्तःसंघर्षों से मुक्त होने के साथ साथ उसमें सुख, शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित होगी। इसे व्यावहारिक जीवन से पलायन का पक्षपाती नहीं माना जा सकता। कबीर स्वयं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मवादी थे; और सामान्य स्थिति में रह कर जीवन का संघर्ष झेलते हुए अध्यात्म-साधना में भी प्रवृत्त रहे। "अलख अलख" का नारा लगा कर भिक्षा-वृत्ति द्वारा पेट भरने वाले ढोंगी साधुओं से वे सुपरिचित थे। यही कारण है कि ऐसे लोग "भेद-निन्दा" या "भेष कौ अंग" आदि प्रकरणों द्वारा उनकी कटु आलोचना के सदैव लक्ष्य रहे हैं। कबीर भिक्षा-वृत्ति को 'मरण-समान' बता कर रघुनाथ जी से प्रार्थना करते हैं कि उनके जीवन में ऐसा अवसर कभी न आवे (कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६१ बेसास के अंग, साखी १५)। यह सर्व-विदित ही है कि कबीर ही नहीं अपितु उनके व्यक्तित्व से प्रभावित अन्य अनेक सन्त आजीविका के लिए उद्योग-व्यवसाय भी करते थे। इसमें न फँस उन साधनों को केवल जीवन की अनिवार्य आवश्यकता के पूर्वंवं ही अपनाते और आत्मसन्तोष का जीवन बिताना श्रेयस्कर समझते थे।

सामाजिक चेतना

कबीर की सामाजिक चेतना तथा तद्गत आदर्शों से हमारा तात्पर्य समाज-जीवन के उस रूप से है जो कि उनके द्वारा अभिप्रेत था। मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के सामाजिक पक्ष की दृष्टि से विचार करने पर हमें ज्ञात होता है कि इस युग के समाज को विभाजित एवं विश्रृंखलित करने वाले कई जीवन-पक्ष तथा उनसे निर्मित दृष्टिकोण थे। एक ओर धर्म-निष्ठा के आधार पर बने हुए हिन्दू और मुस्लिम, ये दो वर्ग परस्पर अविश्वासी और विद्वेषी स्थिति में थे ही, ऊपर से इनके छोटे-मोटे सम्प्रदायों के भी अनेक छोटे-बड़े साम्प्रदायिक वर्ग थे। दूसरी ओर आर्थिक सम्पन्नता के दृष्टिकोण से केवल ऊँच-नीच की भावना घर कर गयी थी, जिसके अतिरिक्त समकालीन उद्योग-धन्धों के आधार पर शताधिक व्यावसायिक जातियाँ थीं। इनकी संख्या के विषय में इतिहास मौन है। मध्यकालीन इतिहासों में "बृहद्धर्म पुराण" के आधार पर चालीस जातियों का उल्लेख किया गया है[7]। इनमें आने वाली अन्त्यज जाति की आठ उपजातियों का उल्लेख अल्बरुनी ने किया है। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के काव्यों से इनके नामों का चयन करके लेखक ने कुल अड़सठ व्यवसायी जातियों[8] के नामों और रहीम ने उनमें से अनेक की विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन किया है[9]। अतः यह अनुमित किया जा सकता है कि जातियों की इन काव्यात्मक निर्देशों से भी अधिक अवस्थिति रही होगी।

सन्त कबीर ने उपर्युक्त भेदभाव के निराकरण के लिए एक प्रकार से क्रान्तिकारी दृष्टिकोण दिया है। एक ओर वे सभी साम्प्रदायिक निष्ठाओं का एकमात्र आराध्य ईश्वर कहते हैं, जिसके नामकरण के लिए राम, ईश्वर, अल्लाह, खुदा, कृष्ण, करीम, विट्ठल आदि कोई भी विकल्प स्वीकार करने की वे छूट देते हैं। दूसरी ओर वे सामाजिक साम्य की घोषणा भी इसी सत्य के आधार पर करते हैं—

ना कोई ऊँचा ना कोई नीचा।
जाका प्यंड वहीं का सींचा।
कबीर ग्रंथावली, पद ४१।

चूंकि इस युग में धार्मिक मान्यता सर्वोपरि थी अतः उसका मनोवैज्ञानिक ढंग से उपयोग करते हुए वे कहते हैं कि शूद्र, म्लेच्छ आदि के प्रति जातिगत हीनता की दृष्टि के होते हुए परमात्मा की प्राप्ति असम्भव है (वही, पद ४२)। वे सामाजिक साम्य के प्रबल समर्थक थे। जिस युग में शूद्र, अन्त्यज,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाण्डाल इत्यादि को निम्न ही नहीं अपितु अस्पृश्य तक समझा जाता था, ऐसे युग में जन्म लेकर कबीर ने अपने निर्भीक स्वर को और भी तीव्र करते हुए और उक्त मान्यता पर तर्कपूर्ण चोट करते हुए कहा—, "हे पण्डित, तुम छूत का विचार क्या करते हो ? जब एक ही परमात्मा से सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हुई है। एक ही रक्त का प्रवाह सभी की शिराओं में प्रवाहित है तथा सभी का जन्म एक ही प्रकार से होता है।' (वही, पृष्ठ १०१ पद ४२, ख प्रति)

उपर्युक्त सामाजिक साम्य के दृष्टिकोण पर यदि आज की परिस्थिति के सन्दर्भ में विचार करें तो हम देखते हैं कि शूद्रों को "हरिजन" का नया अभिधान देकर उनके उद्धार का जो नया कार्यक्रम राष्ट्रपिता गान्धी ने अपनाया और दूसरी ओर सरकारी व्यवस्था में उन्हें कतिपय सुविधाएं भी दी गयी हैं किन्तु उन्हें आज तक समुचित सामाजिक सम्मान नहीं मिल पाया है। हीनता की ग्रंथि से वे आज भी त्रस्त दिखायी देते हैं; और यदि कहीं किसी व्यवस्था में उनका महत्त्व लक्ष्य किया भी जाय तो निम्न वर्ग में अधिकाधिक प्रतिक्रिया की भावना को ही दृष्टिगत किया जा सकता है। उनका न तो वांच्छित उद्धार हो पाया है और न उत्थान। शिक्षा के प्रसार ने उक्त कार्यक्रमों के विना भी जातिगत भेद-भाव को अपने-आप कम कर दिया है। जिसका कारण एतद्विषयक प्रयास न होकर एक प्रकार से मानवतावादी दृष्टि के विकास का ही है। निम्न कहे जाने वाले वर्ग में आत्मगौरव के स्थान पर प्रतिक्रिया के ही दर्शन प्रायः होते हैं। पूर्ववर्ती विवेचन से हम लक्ष्य कर चुके हैं कि कबीर ने अपने युग में इस समस्या का निराकरण दो प्रकार से किया—ऊँच-नीच की भावना के मूल पर तथा उसके प्रणेताओं पर सीधे प्रहार द्वारा तथा निम्न कही जाने वाली जनता में आत्मगौरव को जगा कर प्रभावी व्यक्तित्व के निर्माण द्वारा। इसे कार्य में वे आज की अपेक्षाकृत कितने सफल हुए इसे कबीर, दादू, छीपा, मलूकदास तथा रैदास जैसे सन्त-साधकों के प्रति तत्कालीन जन-जीवन में सम्मान एवं प्रभाव तथा उनकी आत्मविश्वास एवं चुनौती भरी वाणी से सम्बद्ध युगीन तथ्य द्वारा जाना जा सकता है। अतः मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति के निर्माण में कबीर की सामाजिक चेतना का योगदान ऐतिहासिक महत्व रखता है।

विविध सांस्कृतिक साक्ष्य :

सन्त कबीर का व्यक्तित्व मध्यकालीन भारतीय समाज के जनसामान्य के वातावरण के बीच विकसित होकर युगीन चेतना के प्रतिनिधि के रूप में उभर कर आया था। जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है कि उनका उद्देश्य स्वानुभूत सत्य के उद्घाटन द्वारा लोकमानस के संस्कार का था। अतः जीवन और जगत के अनेकविध पक्षों पर उन्होंने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। सभी पर विस्तार से विचार करना यहां सम्भव नहीं अतः संक्षेप में कतिपय विशेषताओं पर विचार किया गया है। कामिनी और कांचन के सन्दर्भ में उनका दृष्टिकोण यहां विचारणीय है। आधुनिक दृष्टि से यदि इस पर विचार किया जाय तो इसे ब्रैड और सैक्स (Bread and Sex) इन दो शब्दों से समझा जा सकता है। हम जानते हैं कि यह भौतिक जीवन की अनेकविध समस्याओं का सदा से केन्द्रबिन्दु रहा है। इसका तात्पर्य वासना और धनासक्ति से है। आध्यात्मिक दृष्टि से ये दोनों बातें मनुष्य को साधना से विचलित कर सकती हैं किन्तु व्यावहारिक जीवन में भी इनके समुचित नियंत्रण की आवश्यकता रहा करती है। इनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आसक्ति में वह अवांछनीय कार्यों की ओर मुड़ सकता है। साथ ही इनके प्रति निरासक्ति का स्थायी मूल्य भी है।

संस्कृति का लक्ष्य दृष्टिकोण को उदार और व्यापक बनाने का है किन्तु यदि व्यक्ति नारी तक ही अपने विचारों को सीमित कर देता है तो उसमें दृष्टि का विस्तार नहीं हो सकता। इसी प्रकार समाज में धनासक्ति बढ़ जाने पर उस पर अधिकाधिक अधिकार पाने की होड़ में अन्तःसंघर्ष अवश्यम्भावी है। अतः कामिनी और कांचन के प्रति नितान्त आसक्ति का विरोध सामाजिक जीवन को सुखी तथा सन्तुलित रखने वाले सर्वव्यापक तथ्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। कबीर ही नहीं, प्रायः समस्त भक्ति-साहित्य में विरोध का यह स्वर वर्तमान है। कबीर का माया द्वारा कनक और कामिनी बन कर जगत को डसने का उल्लेख (माया कौ अंग, साखी १६, ३२) इसी विरोध को लेकर है। यह उल्लेखनीय है कि इन प्रसंगों में जहाँ उन्होंने नारी के कामिनी रूप की निंदा की है, वह नारी मात्र के लिए नहीं हैं। यदि सामाजिक जीवन के क्षेत्र में उनका नारी के प्रति हीन दृष्टिकोण रहा होता तो वे साधक को आदर्श सती और पतिव्रता के रूप में न चित्रित करते[10] और न परमात्मा की क्षमाशीलता की अभिव्यक्ति जननी के रूप में ही प्रस्तुत करते[11]।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि कबीर के काव्य में जीवन के सामाजिक और आर्थिक पक्षों के विषय में एक युगान्तरकारी दृष्टिकोण मिलता है। समकालीन जीवन के उत्पीड़न के बीच केवल आदर्शवादी अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकोण के प्रचार-प्रसार से ही काम नहीं चलता। यह अवश्य है कि जैसी उनके व्यक्तित्व में निर्द्वंद्वता एवं मस्ती थी, वैसी ही मस्ती उनकी अभिव्यक्ति में भी थी। किन्तु समकालीन परिस्थिति के परिणामस्वरूप जन-सामान्य के उत्पीड़न के प्रति भी वे कुछ कम संवेदनशील न थे। आर्थिक स्रोतों की दुरवस्था इस युग का एक व्यापक तथ्य था। यदि श्रमपूर्वक व्यक्ति धन-संग्रह कर भी पाता था तो वैधानिक, अवैधानिक दोनों प्रकार के कराधान के कारण उसके छिन जाने में कोई शंका न थी। कबीर की निर्भीक वाणी ने जनता के इस उत्पीड़न को स्वर देते हुए सरकारी कर्मचारियों को यमदूत की संज्ञा दी है[12]। किसान दरिद्र तो थे ही, ऊपर से गाँव के मुखिया और राजकर्मचारियों का इतना अत्याचार होता था कि वे गांवों को छोड़ जाने को विवश हो जाते थे—(कबीर ग्रंथावली, पद २२२)। कई बार वे बेगार में पकड़ लिये जाते थे, और उन्हें पारिश्रमिक भी न मिलता था—(वही, पद ११०)। परिणामतः दासदासियों के रूप में व्यक्ति विक्रय तक होता था (वही पद ११३) ऐसी दशा में जीवन के आदर्श पक्षों को भुला कर व्यक्ति धन-याचना अथवा भिक्षा-वृत्ति तक को विवश हो वित्तैषणा के लिये पागल हो उठे तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं, भले ही कबीर जैसे सन्तों ने आध्यात्मिक दृष्टि से उसका विरोध किया हो। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कबीर की वाणी ऐसी दुःखद स्थिति के प्रति संवेदनशील रही और उसने युगानुरूप विचारधारा के प्रचार एवं प्रसार द्वारा ठीक मौके पर जनता के हृदय को संभालने और ठीक रखने का पथ प्रशस्त किया है।

मध्यकालीन संस्कृति के सन्दर्भ में यदि कबीर के काव्य पर विचार करें तो तत्कालीन सामाजिक रीति-नीतियों, लोकविश्वास एवं आस्थाओं, मान्यताओं, आजीविका के साधनों, पारिवारिक उत्सव-संस्कारों, धार्मिक तथा सामाजिक विकृतियों, ललित कलाओं आदि के जीते-जागते चित्र उसमें बिखरे पड़े हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त सांस्कृतिक स्थिति के अंकन से भी अधिक कबीर के काव्य तथा उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का महत्व इस बात में है कि उन्होंने उनके माध्यम से अपना दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया । इस दृष्टिकोण का मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के निर्माण में असंदिग्ध महत्व है, जिसे पूर्ववर्ती विवेचन के अन्तर्गत निर्दिष्ट किया जा चुका है । अतः निष्कर्ष रूप में हम सकते हैं कि कबीर भारत के सांस्कृतिक महापुरुष हैं और उनका काव्य सांस्कृतिक काव्य है । देश के इतिहास में समाज सुधार, धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण एवं साहित्य-रचना के क्षेत्रों में से किसी एक क्षेत्र में वैचारिक क्रान्ति द्वारा युग प्रवर्तन करने वाले मनीषियों की एक विशाल परम्परा है । किन्तु इन सभी क्षेत्रों को एक साथ अनुप्राणित करके युग-चेतना को प्रबुद्ध करने वाले व्यक्ति विरले ही दिखाई देते हैं । कबीर का व्यक्तित्व इस प्रकार के जन-नायकों का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करता है ।

पाद-टिप्पणियां

१. हरिहरनिवास द्विवेदी—साधनकृत मैनासत के पृष्ठ २३४ में प्रकाशित डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के वक्तव्य से ।

२. डॉ. बनारसीदास सक्सेना—हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ ४३४ से ४५३ ।

३. हरिजी यहै विचारिया, साखी कहौ कबीर ।
भौसागर में जीव है, जो कोइ पकड़ै तीर ।।
—कबीर ग्रंथावली, उपदेश कौ अंग, साखी—१

४. वही, पृष्ठ ८६, पदावली, राग गौड़ी ।

५. कवी कवीने कविता मूये कापड़ी के दारा जाई । वही, पद—३१७ ।

६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ—६० ।

७, देखिए—पाटल सन्त-साहित्य विशेषांक, पृष्ठ ५०-५१, डॉ रामखेलावन पाण्डेय-सामाजिक पृष्ठभूमि, तथा Dr. R.C. Mazumdar —The Delhi Sultanet, Page 578, Heading—Social Life.

८. डा. मदन गोपाल गुप्त-मध्यकालीन काव्य में भारतीय संस्कृति, पृष्ठ—५३८—३९ ।

९. देखिए—रहिमन विलास—"नगर शोभा" नामक काव्य ।

१०. द्रष्टव्य-सन्तसुधासार, पृष्ठ ७७—७८, कबीर दास, पद २८, कबीर ग्रंथावली, परिशिष्ट, पद ६६ ।

११. कबीर ग्रंथावली, पद १११ ।

१२. अमलु सिरानी लेखा देना, आए कठिन दूत जम लेना ।
चलु वरहालु दीवानि बुलाइआ, हरि कुरमाति दरगह आइया । करउ अरदासि गाव बिनु खाकी, लेउ निवारी आज की राती ।
मालु जन जोरिआ भयउ, पराइआ ।।—वही, पद ९२, १०१ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्त-वाणियों का भाषा-शास्त्रीय महत्व

डॉ० डी. डी. शर्मा
रीडर, संस्कृत विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय,
चंडीगढ़ ।

सार— प्रस्तुत शोध पत्र का लक्ष्य है किसी क्षेत्र विशेष या काल विशेष के भाषाई रूपों को देखने तथा उनके विकास क्रम को समझने में सन्त वाणियों के महत्व पर प्रकाश डालना तथा उनके भाषिक अध्ययन के प्रति विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना ।

भारतवर्ष में सन्त कवियों की परम्परा अति-प्राचीन तथा विस्तृत है। मध्ययुग से लेकर आज तक लगभग सभी कालों तथा सभी क्षेत्रों में लोक भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर अपने विचारों का प्रचार करने वाले सन्तों की अटूट परम्परा मिलती है । इनकी वाणियों को इनके अनुयायियों ने उसी प्रकार सुरक्षित रखा है जिस प्रकार कि वैदिक धर्मावलम्बी आर्यों ने अपनी वैदिक मंत्रों की विरासत को सुरक्षित रखा था । इनमें से अधिकतर वाणियों का तो संकलन एवं मुद्रण किया गया है किन्तु अभी तक अनेकों वाणियां उस सम्प्रदाय विशेष के अनुयायियों में मौलिक परम्परा के रूप में जीवित है। इन सब का संग्रह एवं संरक्षण करने की आवश्यकता है जो कि अनेक दृष्टियों से बहुत उपयोगी एवं आवश्यक है। इनमें न केवल धार्मिक एवं साम्प्रदायिक चिन्तन के गहन तत्व निहित होते हैं अपितु हमारे सामाजिक,सांस्कृतिक तथा भाषाई इतिहास के भी बड़े महत्वपूर्ण तथ्य निहित होते हैं। इस लघु शोध-पत्र में विद्वानों का ध्यान केवल इनके भाषाई महत्व की ओर आकृष्ट करने का यत्न किया गया है ।

इस विषय में यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि सन्त वाणियों का जो महत्व उनके भक्तों या तत्ववेत्ताओं के लिए हो सकता है वही महत्त्व हो सकता है किसी भाषा शास्त्री के लिए भी । कारण कि जहां अन्य कवि तथा लेखक परिष्कृत साहित्यिक भाषा के माध्यम से अपने भावों की अभिव्यक्ति करते हैं वहाँ सन्त कवि जन-सामान्य में प्रचलित समकालिक भाषा को ही अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में अपनाते रहे हैं। सच तो यह है कि मध्यकालीन सन्त, सिद्ध एवं जोगी लोगों का सम्बन्ध निम्न तथा अशिक्षित वर्ग के साथ ही अधिक रहा है और वे लोग अपनी साधना के बल पर ही आध्यात्मिक जगत् में अपना स्थान बनाते रहे हैं। इनमें से अनेक तो ऐसे थे जिन्होंने कि यथार्थ में ही 'मसि कागद छुआ' तक नहीं था। उनके शिष्यों एवं भक्तों ने उनकी वाणियों को जिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वाभाविक रूप में उच्चारित किये जाते हुए सुना उसी रूप में अर्थात् मूल उच्चारण के निकटतम रूप में उन्हें हृदयगत अथवा लिपिबद्ध कर लिया। वेद-मन्त्रों की पावनता के समान ही इन वाणियों को मूल रूप में सुरक्षित रखना धार्मिक कर्तव्य समझा जाता रहा तथा उनके स्वरूप में किसी प्रकार की विकृति को अवाञ्छनीय एवं अधर्माचरण के समान समझा जाता रहा। इस कारण उनके प्रति अन्ध श्रद्धा होने के कारण उनके यथाश्रुत रूप को ही संरक्षित रखने का निरन्तर प्रयास चलता रहा। सन्त-साहित्य की यह स्थिति काफी समय तक बनी रही। किन्तु दुर्भाग्य से जब तथाकथित शिक्षितवर्ग का ध्यान इस श्रुति-परम्परा या मौखिक परम्परा अथवा कहीं शिष्य सम्प्रदाय में लिखित रूपों में संरक्षित इस साहित्य की ओर गया तो उन्होंने इनके सम्पादन एवं प्रकाशन के प्रति अपनी अभिरूचि दिखलाई और अपने इस तथाकथित संरक्षण के उत्साह में लोक भाषा के रूपों को लेखन अथवा उच्चारण की अशुद्धियां समझ कर अपनी विद्वत्ता के आधार पर उनमें ऐसे परिष्कार कर डाले जिनसे कि उनका मूल रूप ही नष्ट हो गया। सन्त वाणियों के इन परिष्कृत संस्करणों के प्रकाशन से सन्त साहित्य के प्रेमियों का चाहे कुछ लाभ हुआ हो या न हुआ हो किन्तु उससे भाषाशास्त्र की कमी पूरी न हो सकने वाली क्षति अवश्य हो गई है। अर्थात् बोल चाल की और भाषा का वह स्थानीय रूप जो कि उस काल में उन क्षेत्रों में चल रहा था जहां कि इन सन्तों ने जन्म लिया था, या जो इनका कार्य-क्षेत्र रहा एवं तत्कालीन भाषा के जिस रूप को इन अशिक्षित कहे जाने वाले सन्तों ने अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में अपनाया था और भाषा के सैकड़ों वर्ष पुराने जिन रूपों को हम अनायास ही देख सकते उन्हें इन विद्वानों के द्वारा भाषा-परिष्कार के नाम पर सदा के लिए नष्ट कर दिया गया यह एक ऐसा प्रमाण था कि जिसके आधार पर हम सहज ही तत्कालीन क्षेत्रीय भाषाओं के स्वरूप तथा उनकी भाषाई प्रवृत्तियों से परिचित हो सकते थे।

इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय भाषाओं के विकास के इतिहास को जानने के लिए भी इन सन्त वाणियों का बड़ा भारी महत्त्व हो सकता है। अपने विकास काल में किन किन शताब्दियों में क्षेत्रीय भाषाओं में रूप विकास की दृष्टि से क्या-क्या रूपान्तरण होते रहे? इसे जानने का हमारे पास यह सबसे अधिक प्रामाणिक एवं विश्वसनीय आधार हो सकता है। क्षेत्रीय भाषाओं के पुराने रूपों को जानने के लिए उनका वही महत्व हो सकता है जो कि भारत की विभिन्न क्षेत्रों की क्षेत्रीय भाषाओं में अंकित अशोक महान् के शिलालेखों का माना जाता है। अभी इस दृष्टि से इनका मूल्यांकन किया जाना अवशिष्ट है। यों तो हमारे देश में बहुत पुराने समय से यह कहावत चली आ रही है कि "चार कोश पर बानी बदले कोस कोस पर पानी"। भाषा में उच्चारण, शब्द-भण्डार, वाक्य-विन्यास आदि की दृष्टि से अन्तर आता रहता है और रहेगा। भाषिक परिवर्तनों के इतिहास की इन शृंखलाओं की मध्यवर्ती कड़ियों को जानने के लिए हमारे पास बहुत कम साधन हैं। किसी किसी क्षेत्र में तो हमें हजारों वर्षों के इतिहास में केवल तीन या चार रूप ही देखने को मिलते यथा—संस्कृत, पाली-प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक रूप। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि प्राकृत से अपभ्रंश या अपभ्रंश से आधुनिक रूपों को धारण करने से पूर्व ये भाषाएँ परिवर्तनों के कई स्तरों से गुजरी होंगी; धीरे-धीरे परिवर्तन आते रहे होंगे और सैकड़ों वर्षों के बाद उन्होंने वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप धारण किया होगा जिसे कि हम एक नये नाम से जानते हैं। दीर्घकालीन इतिहास की बात तो छोड़िए, आज से दो ढ़ाई सौ वर्ष पहले किसी क्षेत्र विशेष के लोग किस प्रकार शब्दों का उच्चारण करते थे तथा ध्वन्यात्मक दृष्टि से उनका क्या स्वरूप था इसका आज की किसी बोली या भाषा से पता लगा पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। हमारा शिष्ट एवं संस्कृत साहित्य इस विषय में हमारी कोई सहायता नहीं कर सकता है क्योंकि वह अपने लेखन तथा शब्द-रचना में उस परम्परागत प्रणाली का अनुसरण किया करता है जिसे कि भाषा के शिष्ट रूप में उसके प्रयोग काल से बहुत पहले, कभी कभी तो शताब्दियों पहले, स्वीकृति मिली होती है। अर्थात्, किसी युग विशेष के व्याकरण शास्त्रियों के द्वारा किसी शब्द-विशेष का जो ध्वन्यात्मक या लिप्यात्मक रूप स्थिर कर दिया जाता है या वाक्य विन्यास की जो पद्धति स्वीकृति कर दी जाती है शिष्ट साहित्य उस का बहुत देर तक पालन करता रहता है। बदली हुई भाषिक परिस्थितियों में भी परम्परागत वर्तनी तथा व्याकरणिक रूपों से चिपका हुआ आधुनिक हिन्दी साहित्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि उच्चारण की दृष्टि से हिन्दी में ऋ, क्ष, ज्ञ आदि का उच्चारण लुप्त या परिवर्तित हो चुका है किन्तु फिर भी लिखित रूप में उन्हें ऐसा ही लिखा जाता रहा है जैसे कि हजार, दो हजार वर्ष पूर्व। उनके आज के लिखित रूपों को देखकर आज से ५० वर्ष के बाद, (इस विषय में दिये गये भाषा-शास्त्रियों के विवरणों को छोड़कर) शायद कोई यह नहीं बता सकेगा कि बीसवीं शताब्दी के मध्य में इन ध्वनियों का उच्चारण किस प्रकार हुआ करता था। साहित्यिक भाषाओं के लिखित तथा उच्चरित रूपों में कितना अन्तर आ जाता है इसको देखना हो तो देखिए तिब्बती, फ्रैंच, बंगाली, असामी आदि भाषाओं को जिनमें कि शब्दों के लिपिबद्ध रूपों में से उच्चारण के समय अनेक ध्वनि प्रतीकों का या तो उच्चारण ही नहीं किया जाता है या वह ऐसे परिवर्तित रूप में होता है जिसका प्रतिनिधित्व लिखित रूप करता ही नहीं, अंग्रेजी की भी स्थिति कुछ इसी प्रकार की है।

कहने का अभिप्राय यह है कि हमारा शिष्ट साहित्य या शिक्षित वर्ग के द्वारा रचित साहित्य हमारे समक्ष अपने समय की आम बोल-चाल की भाषा का सही रूप प्रस्तुत नहीं करता है। वह अपने समय से बहुत पहले निर्धारित परम्परागत शिष्ट व्यवहार के रूपों को ही प्रस्तुत करता है। मध्ययुग में कुछ प्राकृतों तथा अपभ्रंशों ने भाषा के लिखित एवं उच्चरित रूपों के बीच एकरूपता को बनाये रखाने का यत्न किया था, किन्तु इनसे विकसित आधुनिक भाषाओं ने अपने शब्द-भण्डार के लिए तत्सम शब्दों के प्रति अपनी अधिक अभिरुचि का प्रदर्शन करके इस परम्परा को तोड़ दिया है। स्वयं में यह भाषिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से कोई अच्छा कदम था या बुरा इस विषय पर यहाँ चर्चा करना अपना अभिप्रेत नहीं। प्रस्तुत प्रसंगों में हम जो कुछ कहना चाहते हैं, या विद्वानों का ध्यान जिस ओर आकृष्ट करना चाहते हैं वह तो केवल यही है कि अपभ्रंश काल के बाद के काल में भारतीय भाषाओं में जो भी ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक परिवर्तन आये उनका हमारे पास कोई क्रमिक एवं व्यवस्थित लेखा साहित्यिक भाषाओं के माध्यम से उपलब्ध नहीं होता। इसके फलस्वरूप हम इन भाषाओं के विकास का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई विश्वसनीय एवं काल-क्रमिक इतिहास प्रस्तुत नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में हमें यदि थोड़ी बहुत सहायता मिल सकती है तो केवल भिन्न-भिन्न समयों में क्षेत्र-विशेष से उपलब्ध होने वाली सन्त-वाणियों के माध्यम से ही मिल सकती है। इनमें हम उन क्षेत्रीय बोलियों एवं शब्दों के बदलते हुए रूपों को देख सकते हैं। अपने मूल रूप में आधुनिक रूप तक होने वाली किसी शब्द के विकासात्मक इतिहास को समझने में अनेक बार सन्त वाणियों के भाषाई रूप हमारी बड़ी सहायता कर सकते हैं। सन्त साहित्य के प्रकाश में उन शब्दों के बदलते हुए रूपों का साक्षात्कार किया जा सकता है जो कि उन्होंने अपने मूलरूप से लेकर आधुनिक रूप तक आने में अनेक पड़ावों पर धारण किये थे। ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक विकास के अतिरिक्त अर्थात्मक विकास की धारा भी इनमें देखी जा सकती है।

सन्त वाणियों के रूप में हम किस प्रकार किसी भाषा के कई शताब्दि पूर्व के रूपों को देखा सकते हैं इसके उदाहरण के तौर पर हम यहाँ पर हिन्दी-क्षेत्र के एक सन्त कवि गरीबदास (संवत् 1632-1892, रचनाकाल 1655-1680) की वाणी से कतिपय रूप प्रस्तुत कर सकते हैं। संस्कृत की मूर्धन्य ऊष्म ध्वनि 'ष' का 'ख' उच्चारण जो यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा में ही हो चुका था किन्तु लोकभाषा में 'ख' और 'ष' का ध्वनि प्रतीक भी एकीकृत हो गया था इस तथ्य को इस वाणी में देखा जा सकता है—यथा **मुष देषत सब की सुष लेषत, गरीब दास तब ही दुष जारै** (पद 12) ऐसे ही **'षूंटा'** (२९) **षगपञ्जि** (६) **दुषषंडन, सषी** (१३) आदि।

इसी से इस बात का भी पता चलता है कि इस क्षेत्रीय बोली में क्ष का उच्चारण ष (ख), ख्य (ख्या) तथा छय के रूप में प्रचलित था, यथा **षिमा**=क्षमा, **रष्या**=रक्षा, **रछया**=रक्षा, **परीष्यत** (परीक्षित), **सूषिम** (सूक्ष्म) **वृष** (वृक्ष), **जषणी** (यक्षिणी) आदि।

इस प्रकार **श** को **स** तथा **व** को **ब** के रूप में सार्वभौम रूप से बोला जाता था, यथा **सुभ, असुभ सोक**, वाणी आदि। अनेक शब्दों के उच्चारण में अनेक प्रकार के ध्वन्यात्मक परिवर्तन आ गये थे जो कि उस क्षेत्र की बोलियों की सामान्य प्रवृत्तियों के सूचक कहे जा सकते हैं यथा **प्यंड** (पिंड), **जिभ्या** (जिह्वा जीभ), **बिन्द्रावन** (वृन्दावन), **धीवर** (धीवर), **त्यौहार** (व्यवहार)। नासिक्य ध्वनियों को पूर्ववर्ती स्वरों को सानुनासिक बोला जाता था, इस तथ्य की पुष्टि उन रूपों से होती है जहां कि इनके ऊपर अनुस्वार या चन्द्र बिन्दु का प्रयोग किया गया है, यथा-**बाँणी, प्राणपति, ग्याँन, आँणा, जांणा, दाँण** आदि। स्मरणीय है कि राजस्थान के असिर, क्षाटू तथा सांभर क्षेत्र की बोली होने के कारण इसमें **न** का **ण** रूप सामान्यतः बोला जाता था।

इस प्रकार इसमें ऐसी अनेक विशेषताएं हैं जो कि उस क्षेत्र की भाषा के तत्कालीन रूप को प्रस्तुत करने तथा उस क्षेत्र की भाषा के इतिहास को प्रस्तुत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। यही बात अन्य क्षेत्रों के तथा अन्य कालों के सन्त साहित्य के विषय में कही जा सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपसंहार :-इस प्रकार हम कह सकते हैं कि किसी क्षेत्र की भाषा के प्राचीन रूपों तथा उसकी विकास परम्परा को समझने तथा किसी क्षेत्र के भाषाई इतिहास को विशृंखलित कड़ियों को जोड़ने में सन्त वाणियों का महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है। अतः सभी भाषाओं के विद्वानों को इस ओर ध्यान देने तथा उनका भाषिक दृष्टि से अध्ययन करने की आवश्यकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचना के सन्दर्भ में

विद्रोह, क्रान्ति, अलगाव, मूल्य-बोध, परिवेश

श्री रामदेव आचार्य
जेल कुएं के पास,
बीकानेर।

आजकल हर लेखक अपने-आपको फ़ैशन के बतौर विद्रोही कहता है। इस लिए यह जरूरी लगता है कि रचना के सन्दर्भ में हम विद्रोह को परिभाषित करलें। लेखकीय विद्रोह दो ध्रुवों पर केन्द्रित होता है: शिल्प तथा कथ्य के। शिल्प के मंच पर घटित होने वाला विद्रोह नयी रचनात्मक उपलब्धि का अन्वेषण करता है, और कथ्य के स्तर पर घटित होने वाला विद्रोह ग़लत व्यवस्था के उन्मूलन का प्रयास बनता है। शिल्प के मंच पर घटित होने वाला विद्रोह नयी कलम और नयी प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा के लिए एक अनिवार्य शर्त है। प्राचीन सांचों-ढाचों में नया लेखकीय व्यक्तित्व रूपान्तरित नहीं हो सकता। कृतिकार नये लेखन के स्वरूप के अनुकूल अभिव्यक्ति के साचों-ढांचों को घड़ता है। तकनीक के माध्यम से घटित होने वाला यह विद्रोह नवलेखन की सर्जनात्मकता का साक्षी होता है। एक ही शैलिपक लकीर पर पद-यात्रा करने वाला लेखन एक रूढ़ि-ग्रस्त संस्कार बन जाता है। जब बनी-बनायी लकीरों को ध्वस्त कर नये पंथ का अन्वेषण किया जाता है, अभिव्यक्ति के लिए नया मुहावरा खोजा जाता है, भाषा में नयी व्यंजन भरी जाती है, तथा नये सत्यों को नयी दृष्टि से देखा जाता है तब लेखन के परम्परागत आचरण को मिटाने के लिए शिल्प के स्तर पर सार्थक विद्रोह होता है।

इन अर्थों में वे सब लोग विद्रोही कहे जा सकते हैं, जिन्होंने अपने युग की स्वीकृत अभिव्यक्ति के स्वरूप को स्वीकार नहीं किया, तथा नये माध्यमों की तलाश की। इस प्रकार एक अवरुद्ध यात्रा को नयी दिशा मिलती है। शिल्प की संक्रान्तियां साहित्य के परिवेश में एक अन्तराल के पश्चात् घटित होती रहती हैं, तथा वृद्ध प्रतिभा के अवसान पर नयी प्रतिभा का जन्म होता है। यह शैलिपक विद्रोह नयी रचनात्मक-क्षमता की एक बुनियादी शर्त होता है।

कथ्य के स्तर पर दूसरी तरह का विद्रोह घटित होना है। वह शैलिपक विद्रोह से नितान्त भिन्न होता है। कथ्य के स्तर पर घटित होने वाला विद्रोह भौतिक सत्ताओं के आमने-सामने खड़े होने का खतरा उठाता है। राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक क्रान्ति के लिए किया जाने वाला यह विद्रोह जीवित सत्ताओं के समक्ष पूरी शक्ति और सचेतना के साथ खड़ा होता है। अतः यह विद्रोह अधिक गहरा और व्यापक होता है, क्योंकि यह विद्रोह उन दुर्गों को तोड़ने के लिए होता है, जो जाति की जीवनी-शक्ति को दबाने का कुचक्र रचते हैं। यह विद्रोह बड़ा ही जागरूक, आत्म-चेता और परिणाममय होता है। भ्रष्टता, अवसरवादिता तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अव्यवस्था पर चोट करने वाला यह विद्रोह एक सामाजिक क्रान्ति की भूमिका बन जाता है। लोक-जीवन को प्रतिपल क्षीण करने वाली नशीली मर्यादाओं को इस सार्थक विद्रोह से ही समाप्त किया जा सकता है। वैचारिक क्रान्ति द्वारा समय की दुरभिसन्धियों तथा अनैतिकताओं को पहचाना जा सकता है। यथार्थवादी धारणाएं जड़ मर्यादाओं का उन्मूलन या परिष्कार करती है।

शिल्प और कथ्य एक दूसरे के पूरक होते हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि कथ्य के स्तर पर होने वाला कोई बड़ा विद्रोह अपने उपयुक्त शिल्प से अछूता रहे। शिल्प और कथ्य इतनी सूक्ष्मतः से एक-दूसरे में लीन होते हैं कि उनके पृथक्-पृथक् अस्तित्व को आसानी से नहीं पहचाना जा सकता। इसके बावजूद भी शिल्प के स्तर पर खाली कलावादी विद्रोह घटित हो सकता है, जो रचनाभिव्यक्ति और भाषा के स्तर पर तो नये प्रयोग कर सकता है, पर जो अर्थवत्ता के स्तर पर कोई क्रान्तिकारी बात नहीं करता है। ऐसा तो होता ही है कि कथ्य के स्तर पर होने वाला विद्रोह अपने अनुरूप शिल्प खोज लेता है, पर खाली शैल्पिक विद्रोह एक शुद्ध कलावादी अवधारणा मात्र है। मुक्तिबोध की रचनाओं में दोनों प्रकार के विद्रोहों का समन्वित स्वरूप देखा जा सकता है। जब अज्ञेय अपनी प्रियतमा को 'साँझ के नभ की अकेली तारिका' या 'शरद के भोर की नीहार-न्हायी कुंई' न कहकर उसे 'हरी पिघली घास 'या' दोलती कलगी छरहरी बाजरे की' कहते हैं तो स्पष्ट है कि उनका विद्रोह केवल अभिव्यक्ति के रूप-परिवर्तन तक सीमित है। यह विद्रोह रूपकों, उपमाओं, और प्रतीकों के क्षेत्र में घटित होने वाला विद्रोह है, जो किसी सामाजिक-राजनीतिक या आर्थिक बदलाव का आकांक्षी नहीं है। मुक्तिबोध में समन्वित विद्रोह के स्पष्ट स्वर साफ़ सुनायी देते हैं :—

कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूं,
वर्तमान समाज चल नहीं सकता।

० ० ०

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे।
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब।

चाहे इन पंक्तियों में कविता गहराई न हो, पर यह स्पष्ट है कि इन पंक्तियों का कवि अभिव्यक्ति का खतरा उठाने को तैयार है, और साथ ही वर्तमान व्यवस्था को ध्वस्त करने को कृत-संकल्प है। अतः उसका विद्रोह सम्पूर्ण विद्रोह है—एक स्रष्टा का भी और एक विद्रोही का भी। वह जीवन की भूमि पर कोई कोई बड़ा परिवर्तन लाने का आकांक्षी है, और रचना के धरातल पर कवि-कर्म की सम्पूर्ण यातना भुगतने को तैयार है। खाली शिल्प के स्तर पर घटित होने वाला विद्रोह स्रष्टा को बौद्धिक एय्याशी का पर्याय बन जाता है। 'चांद का मुंह टेढा है' का कवि अपनी बौद्धिक एय्याशी को राष्ट्रीय चेतना से जोड़कर एक अंधकार-ग्रस्त देश को नया जन्म देने का अभिलाषी है, ऐसे विद्रोही का काव्य केवल बौद्धिक आभिजात्य का ही प्रतीक नहीं रहता, वह राष्ट्र की सम्पूर्ण चेतना का प्रतीक बन जाता है।

विद्रोह के बारे में यह समझना आवश्यक है कि वह एक आंतरिक प्रवृत्ति है वाह्याडम्बर नहीं है। विद्रोह लेखक की अंतरंग सत्ता है, उसकी चिंतन-पद्धति हैं। एक विद्रोही लेखक को चिल्ला-चिल्ला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर अपने को विद्रोही घोषित करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। चीखने-चिल्लाने में सतही कोटि का विद्रोह होता है। विद्रोह की संश्लिष्टता रचना-प्रक्रिया की अंतरंगता में होती है, जो लेखक की पूंजीभूत अनुभूति को नवीनतम अभिव्यक्ति में रूपान्तरित करती है। सड़क पर नारे लगाता हुआ एक जुलूस भी विद्रोही होता है, पर यह लेखक का विद्रोह नहीं है। लेखक का विद्रोह इतना सरल और हल्का नहीं होता। लेखक की विद्रोही कृतियां अपनी सम्प्रेषणीयता में वह दंश पैदा करती हैं, जिससे पाठक मन की गहराई में तिलमिला उठता है, साथ ही रचना के आनन्द का भी भागीदार बनता है। भीड़ के विद्रोह और निराला के विद्रोह में स्तरीयता का अन्तर है। एक विद्रोह सतही है, जिसका प्रभाव क्षणिक है, दूसरा सघन है, जो स्थायी है। जुलूस का विद्रोह कालातीत नहीं है, वह क्षणिक भावावेश है, लेखक का विद्रोह कालातीत और व्यापक है। एक विद्रोह भावुकता की बहक या मानसिक आवेश है, दूसरा विद्रोह मानव चेतना का जागरण और जिजीविषा का बोध है।

जिस तरह से विश्वविद्यालय के युवा छात्र अत्याधुनिक कटाई-सिलाई में फ़ैशन के रंग-बिरंगे परिधान पहनते हैं उसी तरह व्यवस्थाधीन लेखक रंग बिरंगे शब्दों में विद्रोह करता है। उसके पास क्रान्ति के रंग-बिरंगे मुहावरे होते हैं, और वह स्वयं को क्रोधित युवक समझता है। यह एक ऐसा क्रोधित युवक है, जिसके क्रोध का अहसास किसी भी भौतिक सत्ता को नहीं होता। हिन्दी के समसामयिक साहित्यिक परिवेश में ऐसे क्रोधित युवकों की संख्या कम नहीं है। अपने क्रोध को ज़ाहिर करने के लिए ये युवक उत्तेजना-भरी भाषा का प्रयोग करते हैं, और व्यवहार में विचित्रता का प्रदर्शन करते हैं।

हमारे युवा लेखकों को यह समझना होगा कि क्रांति का सम्बन्ध जीभ से न होकर मन से होता है। क्रांति में किसी प्रकार के सुविधावाद को स्थान नहीं है। क्रान्ति एक स्वस्थ मन की विद्रोही आस्था है, जो प्राचीन को ध्वस्त कर नव-निर्माण की योजना बनाती है, क्रान्तिकारी लोग किसी के आश्रित नहीं होते। वे व्यवस्थाओं से प्रच्छन्न समझौते नहीं निभाते।

मुझे पता नहीं कि रचनाकार के अलगाव का क्या अर्थ है! क्या रचनाकार को देश से निष्कासित कर दिया गया कि उसे अलगाव भुगतने की परिस्थिति में जाना पड़ा है? अगर अलगाव का अर्थ एक बड़ी सीमा तक व्यक्तिवाद की स्थापना करना है तो यह खतरनाक स्थिति है। यदि व्यक्ति को सामूहिक प्रवाह से काटकर उसके अलगाव की घोषणा की जाती है, और नदी-के द्वीप-वादी व्यक्तित्व की आराधना की जाती है, तो यह एक भ्रामक स्थिति है, चाहे उसमें कितनी ही चमक-दमक क्यों न हो। जब व्यक्ति को उसकी निजता में उद्घाटित किया जाता है तो उद्घाटन केवल सामाजिक सन्दर्भों में ही सम्भव हो सकता है। समाज से इतर व्यक्ति की कोई इकाई नहीं है। जिसे व्यक्ति की इकाई कहा जाता है, उसका निर्माण सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और राजनीतिक वातावरण में ही होता है, और व्यक्ति की इकाई पर परिवेश की स्पष्ट छाप अंकित होती है। अतः व्यक्तिवाद की इकाई अपने-आप में कोई स्वतन्त्र व निरंकुश आस्था नहीं हैं। इस प्रकार का कोई अलगाव भ्रामक व पाखण्डी ही होगा। व्यक्ति को भीड़ से काटकर जब उसके व्यवहार की विचित्रता में चित्रित किया जाता है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह अलगाव अप्रतिबद्धता की योजना-बद्ध कोशिश है जिस पर कला सूक्ष्म आवरण चढ़ा दिया गया है। ऐसे विचित्र अलगाव से ही अनास्था,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वितृष्णा, संत्रास तथा मृत्यु-भय की नाटकीय कल्पनाएं आकार ग्रहण करती हैं। मानव मानव का ही प्रतिनिधि होता है, उसके अलगाव से क्या अभिप्राय है? साहित्य के दर्पण में प्रतिबिम्ब पानेवाला मानव-स्वभाव का ही प्रतिनिधित्व करेगा, फिर उसके अलगाव की क्या सार्थकता हो सकती है? व्यक्ति के मानस का पर्यवेक्षण तो सम्भव है, लेकिन यह अंतरावलोकन सामाजिक पृष्ठभूमि में ही हो सकता है। व्यक्ति की चेतना का निर्माण सामाजिक परिस्थितियां ही करती हैं। व्यक्ति को विशिष्ट इकाई के रूप में मान्यता देना उसे अन्य लोगों से श्रेष्ठ साबित करने का कुचक्र है, जिसकी आधार-भूमि में प्रतिक्रियावादी तथा पलायनवादी मनोवृत्ति है। यह समाजवादी मूल्य-निर्धारण को नष्ट करने का षडयंत्र है। समाज के आचरण व चरित्र प्राप्त करने वाला व्यक्ति अपने अलगाव की घोषणा नहीं कर सकता। साहित्य मानव-सत्यों की पहचान है। परिस्थिति और परिवेश का व्यक्ति से जो द्वन्द्व होता है, इस द्वन्द्व को कलात्मक क्षमता के साथ रूपांकित करने वाली शक्ति का नाम साहित्य है।

अगर रचनाकार के अलगाव का अर्थ कला-सन्दर्भों में उसके मौलिक व्यक्तित्व का निर्माण है, तो ऐसा अलगाव तो प्रतिभा का पर्याय है। साहित्यिक संस्कार परम्परा से अलग हटकर यदि कोई लेखक अपने स्वतन्त्र लेखन का विकास करता है तो यह अलगाव उसकी रचना-प्रक्रिया का विशिष्ट सर्जनात्मक पक्ष है। परम्परा की रूढ़ि-ग्रस्त मुद्राओं से अछूता रहकर साहित्यकार अपने व्यक्तित्व की विशिष्ट इयत्ता का निर्माण कर सकता है। ऐसा अलगाव वन्दनीय है। यहां यह अवश्य स्पष्ट होना चाहिए कि ऐसा अलगाव काल-प्रवाह की सडाँध से बचने का प्रयास है, परम्परा के ऐतिहासिक सत्य से हटने का प्रयास नहीं है। परम्परा इतिहास के रूप में मानव-चेतना में रक्त की तरह घुली-मिली रहती है, इससे अलगाव की कोई गुंजायश नहीं हैं। अलगाव केवल एकलयवादी संस्कार से ही हो सकता है। जिन लेखकों ने समय की लकीरों से हटकर अपना अलगाव घोषित किया साहित्य के मौलिक परिप्रेक्ष्य में उन्हें राहों के अन्वेषी बनने का गौरव प्राप्त हुआ।

अब परिवर्तित मूल्यों के बारे में चर्चा करें। इन दिनों व्यक्ति का नैतिक स्खलन परिलक्षित किया गया है। ऐसी विघटनकारी स्थितियां पहले नहीं थीं, यदि थीं तो कम गहरी और कम खेदजनक। आज व्यक्ति स्वयं को पराजित व पतित समझने को अभिशप्त हो गया है। उसका व्यक्तित्व अनेक धरातलों पर फिसलकर विकलांग हो गया है। अतः जीवन के स्वस्थ मूल्यों का आकार बौना हो गया है। शिष्टता, शालीनता, साधना और तपस्या जैसे गरिमामय शब्द पंगु हो चुके हैं, तथा अर्थ-सम्बन्ध रक्त संबंधों से अधिक पवित्र हो गये हैं। देशवासियों के चेहरों पर चरित्र-संकट और भ्रष्ट आचरण कि विद्रूपता स्पष्ट रूप में दिखने लगी है। इस जातीय संकट में मूल्यों और सौन्दर्य-तत्वों में बोध-गत परिवर्तन आना आवश्यक हो गया है। सौन्दर्य, हर्ष, उल्लास और विषाद की तथ्य-गत स्थितियां बदल गयी हैं। छाया-वादी दौर के भावुक समर्पण और आज के चतुर आनन्द-तत्व में स्पष्ट अंतर आ गया है। दो व्यवहार-पद्धतियों की सीमा-रेखाएं स्पष्ट हो रही हैं। चिंतन के कक्ष बदल गये हैं। भावुकता, रूमानियत, आवेश तथा शोकाकुलता का स्थान संयम व्यवहारिकता स्वार्थ तथा चातुर्य ने ले लिया है। जहां कहीं ईमानदारी है, स्वार्थ-हीनता है, व्यक्तित्व की प्रामाणिकता है, वहां-वहां गहरा अवसाद है भीतरी खाईयां हैं, कुण्ठा है। ये नयी अनुभूतियां सिद्ध करती हैं कि जीवन के रागात्मक सम्बन्ध बदल गये हैं। आदर्शों के हवामहल और जीवन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खुरदरी ज़मीन के बीच का व्यापक अन्तर स्पष्ट है। अतः कल तक जो लेखकीय मर्यादायें थीं, मूल्य थे, सौंदर्य-तत्व थे वे अब मृत हो चुके हैं। अभिव्यक्ति का स्वरूप नये तथ्यों के अनुकूल बदल जाना चाहिए।

कल तक-नयी कविता के प्रारम्भिक वर्षों तक,-कथ्य में एक प्रकार के भावुक आदर्श की छाया रही है, रूमानी भाव-प्रबलता रही है, रस-सिक्त आसक्ति रही है। आज के नये सम्बन्धों का साक्षात्कार इन माध्यमों से नहीं किया जा सकता। परिवर्तित सौन्दर्य-बोध के अनुसार ये बातें व्यतीत-जीवी हो गयी हैं। आज की यांत्रिकता का सामना रसानुभूतियों से नहीं किया जा सकता, बल्कि एक खुरदरी, साहसी और नंगी अभिव्यक्ति आज के अधिक उपयुक्त हो सकती है। यहां नंगी अभिव्यक्ति का अर्थ अश्लील अभिव्यक्ति नहीं हैं।

बदले सम्बन्धों को अभिव्यक्ति देने वाले शब्द बदलेगें और शिल्प बदलेगा। लेखकीय संस्कार बदलेंगें। आज मांसलता, नज़ाकत और कमनीयता के मुहावरे व्यर्थ होंगे। निर्मम जीवन की जटिलता, प्रतिबद्धता, विसंगति तथा वितृष्णा को व्यक्त करने के लिए नये मुहावरों की खोज आवश्यक है। नये आयामों का आविष्कार करना पड़ेगा। सृजन-क्षमता की पहचान नयी अभिव्यक्ति से ही हो सकेगी। इस नयी रचना को चमत्कारों, नुस्खों तथा विचित्र व्यवहारों की अतियों से बचना होगा रचनात्मक कुशलता को शेखचिल्ली के प्रलाप के पृथक करके देखना होगा। अतीत-जीवी मासूमियत तथा स्वप्निलता से जुड़े लोग अभी मुक्त नहीं हुए हैं, वे समय की धारा से कट गये हैं। अब उनके लिए केवल यही बचा है कि वे संस्कार-ग्रस्त मन से जीवन के सार्थक, जीवंत और प्रामाणिक अंतर्विरोधों की भर्त्सना करते रहें, अपनी सौन्दर्य-प्रियता के इन्द्र-जाल में मस्त रहें। जीवन को नयी रागात्मकता को जिन्होंने समझा है, तद्नुरूप उन्होंने नयी मूर्तियों को घढ़ना प्रारम्भ कर दिया है।

भारतीय परिवेश अपने रचनाकार के लिए चुनौती भी है और एक प्रश्न-चिन्ह भी। चुनौती के रूप में अपने कृतिकार से अपेक्षा करता है कि उसकी कृति में भारतीय व्यक्ति का स्वस्थ, सम्पूर्ण तथा प्रामाणिक रूपांकन हो। भारतीय परिवेश की संरचना आयातित नुस्खों के आधार पर न हो! औसत भारतीय का चित्रण-सार्त्र-कामू-काफ़्का के चरित्रों की प्रकृति के आधार पर नहीं हो सकता। प्रश्न-चिन्ह के रूप में यह परिवेश जानना चाहता है कि क्या इसकी व्यापकता तथा विस्तार का सम्पूर्ण चित्रांकन हो चुका है! कहीं इसके महत्वपूर्ण पृष्ठ अछूते तो नहीं रह गये हैं!

भारतीय परिवेश के राग-विराग विदेशी लटकों से अलग अस्तित्व रखते हैं। यहाँ का व्यक्ति केवल अनाज के अभाव से ही अर्द्ध-बुभुक्षित नहीं है, बल्कि ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा, कला, संस्कृति तथा साहित्य के क्षेत्रों में भी अतृप्त है। भाषा-संघर्षों, साम्प्रदायिक दंगों और भूमि-हीन राजनीतिक अस्थिरताओं में उसका व्यक्तित्व टूट-बिखर रहा है। आर्थिक नाकेबन्दी ने उसको मनुष्य की योनि से निकाल कर पशु की योनि में डाल दिया है। सामाजिक रूढ़ियों और उसके नये विश्वासों के बीच सीधा द्वन्द्व चल रहा है। अनेक स्थलों पर अंध-विश्वास के हाथों उसकी मान्यताओं का गला घोंटा गया है। यहां कि अधिकतर शादियां नीलामी की सभ्यता के क़रीब हैं। लोक-चेतना पर परम्परा एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाल की तरह बिछी हुई है। विद्रोह होता है तो खाली काफी हाउसों में, व्यवहार-जगत में बॉस की खुशामद होती है तथा चंद सुविधाओं के लिए सिद्धांतों को कत्ल किया जाता है। धर्म और ईमान के आवरण में बेइमानियां स्वास्थ्य ग्रहण कर रही हैं। ज़ाहिर है कि यह भारतीय परिवेश यूरप का का समानधर्मा परिवेश नहीं है। इस परिवेश की रचना इसके आदमी को आकृति देने पर ही हो सकती है। यहां की स्थितियों व आस्थाओं को समझे बिना ही यहाँ के आदमी की ऊटपटांग व्याख्या करना केवल चमत्कार की सृष्टि है. रचना का आनन्द नहीं है। यहां के आदमी को उसकी निजता में अनावृत करना आज के साहित्यकार का दायित्व है। इस दायित्व से मुक्ति का अन्य कोई उपाय या उद्योग नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० पुष्प पाल सिंह
हिन्दी विभाग, मोदी कॉलिज,
पटियाला।

व्यवस्थागत राजनीतिक भ्रष्टाचार और आधुनिक हिन्दी कहानी

आधुनिक हिन्दी कहानी के युगीन संदर्भों को को यदि राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित किया जाये तो स्पष्ट होगा कि कहानी में प्रत्येक महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना; हलचल और क्रिया-कलाप का अवश्यंभावी प्रभाव पड़ा है। कहानीकार जिस जीवन-परिवेश में रहता है, वह प्रत्येक दृष्टि से राजनीति से प्रभावित है। आधुनिक कहानी की मूलभूत विशेषता है यथार्थ के प्रति प्रतिश्रुति या प्रतिवद्धता और आज यथार्थ को सामाजिक और राजनीतिक विभाजन के पृथक्-पृथक् खातों में नहीं रखा जा सकता। वह आज इस रूप में मिला-जुला है कि यह की यह कहना कठिन है कि स्थिति विशेष के लिए सामाजिक या राजनीतिक कारण उत्तरदायी है। कहानीकार गोविंद मिश्र ने अपने कहानी-संग्रह घांसू की भूमिका में आज के यथार्थ की स्थिति को इतने 'मिक्सड' कहा है कि उसे राजनीतिक और सामाजिक शीर्षकों में पृथकतः नहीं देखा सकता[1]। इसलिए जब कहानी आज यथार्थ के विविध रंगों की प्रस्तुति में सन्नद्ध हुई तो उसमें राजनीतिक संदर्भ आने अपरिहार्य ही थे। आज साहित्य को जनता सामान्य जन और समाज से जोड़ने का आग्रह बढ़ा है। मुक्तिबोध ने "जनता के साहित्य का" अर्थ बताते हुए कहा कि ऐसा साहित्य जो जनता के जीवन मूल्यों को, जनता के जीवनादर्शों को प्रतिष्ठित करता हो, उसे अपने मुक्ति पथ पर अग्रसर करता हो। इस मुक्ति पथ का अर्थ राजनीतिक मुक्ति से लगा कर अज्ञान मुक्ति तक है। अतः इसमें प्रत्येक प्रकार का साहित्य सम्मिलित है, बशर्ते कि वह सचमुच मुक्ति पथ पर अग्रसर करे।[2] इस प्रकार आज का साहित्यकार अपने को राजनीतिक चेतना से असंपृक्त नहीं रख सकता। आज राजनीतिक उसके जीवन का प्रमुख अंश है। वह राजनीतिक जीवन के भ्रष्टाचार, गलाज़त, आपाधापी-सभी को अपनी लेखकीय दृष्टि के साथ कहानी में प्रस्तुत करता है।

आधुनिक हिन्दी कहानी में यह राजनीतिक चेतना नयी कहानी के दौर में प्रायः दिखाई नहीं देती। १९५० से ६२ के बीच सामान्य-जन की राजनीति में इतनी तीव्र रूचि नहीं थी और न ही वह उनसे प्रत्यक्षतः प्रभावित अनुभव करता था। किन्तु अक्तूबर १९६२ के चीनी आक्रमण ने समस्त भारतीय चेतना को झकझोर कर उसे एक मोहासक्त स्थिति से जगाया। पराजित और अपमानित राष्ट्र का मानस एक विक्षोभ से भर गया। फिर १९६५ ई० में हुए भारत-पाक-संघर्ष में भारत की विजय से एक अभूतपूर्व आत्म-विश्वास जन्मा। युग पुरूष नेहरू राष्ट्र को जो आत्म-विश्वास १७ वर्षों में नहीं दे पाये थे, वह अब १७ दिन के युद्ध में हुई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विजय में छोटे और नन्हें व्यक्तित्व श्री लाल बहादुर शास्त्री ने भारत को प्रदान कर दिया। साथ ही इस धारणा को बल मिला कि योग्य और सही नेतृत्व राष्ट्र को कहीं से कहीं पहुंचा सकता है। नेहरू जी भारतीय राजनीति के युग-पुरुष और भारत में नव-निर्माण के आदि संस्थापक थे किंतु उन्हें कभी भान भी नहीं हुआ कि पंचशील की अव हेलना करें हिन्दी चीनी भाई-भाई के नारे लगाता हुआ चीन कभी हमारी सीमाओं को रौंद भी सकता है। इस लिए जब चीन ने हमारी सीमाओं पर आक्रमण किया तो भारतीय मानस एकाएक चौंक कर जागता है। यहीं से स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में भारतीय मानस में एक व्यापक और तीव्र राजनीतिक चेतना जन्म लेती है। १९६६-६७ में पड़ा भीषण अकाल और उसके पश्चात् जीवन-जीने की परिस्थितियों का निरंतर विषमतर होते जाना, टिकट-वोट आपाधापी और अवसरवादिता आदि से हमारा राजनीतिक वातावरण प्रदूषित होता गया। १९६९ ई० तक केन्द्रीय सत्ता में अनिश्चियकारी स्थितियां और सुदृढ़ नेतृत्व का अभाव तब तक बना रहा जब तक श्रीमती इन्दिरा गान्धी ने कांग्रेस की प्रसिद्ध सिंडिकेट के निर्णय की उपेक्षा कर श्री वी०वी० गिरी को भारत के राष्ट्रपति के रूप में प्रतिष्ठित कराया (२० अगस्त १९६९ ई०), फिर १९७१ ई० के दिसम्बर में हुए भारत-पाक-युद्ध के परिणाम स्वरूप बंगला देश का अभ्युदय भी हमारे ताज़ा राजनीतिक इतिहास की एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है। किंतु कुछ इस युद्ध के परिणाम स्वरूप और कुछ मुद्रा-स्फीति आदि अन्य कारणों से १९७१ के बाद वर्षों में भारतीय अर्थव्यवस्था बुरी तरह चरमरा उठी। इसके साथ ही १९७४-७५ ई० में राजनीतिक अव्यवस्था भी अपने चरम पर पहुंच चुकी थी। हड़ताल, जलूस, घेराव, बन्द, तोड़-फोड़, हिंसा दैनंदिन जीवन के अनिवार्य अंग बन गए। प्रत्येक समस्या का निदान दफ्तर की मेज, विधान सभा भवनों एवं संसद में न होकर गलियों में खोजा जाने लगा। चापलूसी, प्रजातांत्रिक संस्थाओं एवं मूलाधिकारों आदि की समाप्ति, जनता, प्रेस और कलम की आवाज को कुंद और समाप्त करने के अनेकशः कारणों से समस्त देश में व्यापक असंतोष और आक्रोश की परिव्याप्ति ने पुनः भारतीय मानव को गहराई से झिंझोड़ दिया। मार्च १९७७ में हुए चुनावों में अशिक्षित कही जाने वाली भारतीय जनता ने चुनाव-परिणामों के विषय में राजनीति के पीड़ितों को भी विस्मय में डाल श्रीमती इन्दिरा गांधी की सत्ता का तख्ता पलट कर रख दिया। २४ मार्च १९७७ को श्री मोरारजी देसाई के प्रधान मंत्री बनने से एक ओर कांग्रेस का ३० वर्षीय एकछत्र राज्य समाप्त हुआ तो दूसरी ओर जनता ने 'जनता सरकार' में अपनी आशाओं की पूर्ति की कामना की। उसे लगा कि रामराज्य का जो स्वर्ण मृग तीस वर्षों से भागा भाग। फिर रहा था, वह अब स्वप्न न रह कर सत्य बन जायेगा। किंतु फिर एक बार जनता का मोहभंग हुआ। जनता ने देखा कि सरकार चाहे कांग्रेस की हो, चाहे जनता की, उसे सामान्य जनता की हित-चिंता से कोई सरोकार नहीं है। सब अपने-अपने न्यस्त स्वार्थों को पूरा करने में लगे हुए हैं, उनके लिए 'नागनाथ' और 'सांपनाथ' में कोई फर्क नहीं रहा। जनता सरकार की पारस्परिक फूट, घिनौनी राजनीति और कुर्सी हथियाने की स्वार्थान्ध नीतियों ने प्रत्येक स्तर पर ऊपर से लेकर नीचे तक व्यवस्था को और भी भ्रष्ट किया। फलतः और कोई विकल्प न होने से १९७९ के निर्वाचन में पुनः श्रीमती इन्दिरा गांधी सत्तारूढ़ हुई। किंतु इस सत्ता-परिवर्तन से भी सामान्य जन की तकलीफों को दूर करने की कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष चेष्टा नहीं हुई या जो प्रयत्न हुए उन्हें सफलता नहीं मिली। स्थिति जस की तस रही, या कहें 'जस की तस' से भी आगे बढ़कर निरंतर खराब होती जा रही है। जनता सरकारी आंकड़ों के सुख-समृद्धि के बढ़ते ग्राफ से तुष्ट नहीं हो पा रही है। सामान्य व्यक्ति निराशा और अवसाद की एक ऐसी स्थिति में फँसा हुआ है जिससे त्राण का उपाय उसे दूर-दूर तक दिखाई नहीं देता। इन सब स्थितियों ने व्यक्ति के यथार्थ को जो भयावह रूप प्रदान किया, उसकी सशक्त अभिव्यक्ति आधुनिक हिन्दी कहानी में, १९६५ ई० के आस-पास से विशेषतः हुई है।

इन वर्षों में साहित्यकार भी अपने को वामपथी एवं दक्षिण पंथी राजनीति से जुड़ा पाने लगे। नये युग और सामान्य मानव से जुड़ने की पेशकश में पूरे देश में वामपंथी चिंतन का जोर बढ़ा। कांग्रेस तक में वामपंथी सोच का एक पृथक् गुट बना। प्रत्येक राजनीतिक दल अपने-अपने ढंग से समाजवाद की व्याख्या करने लगे। साहित्यकार ने भी अपने को वामपंथी चिंतन से जोड़ कर गौरव ही अनुभव नहीं किया अपितु अपने लेखन की सार्थकता अनुभव की। साहित्य जगत में कुछ पत्र-पत्रिकाएं इस वामपंथी सोच को अग्रसर करने की दृष्टि से प्रकाश में आयीं। 'वाम'[3], 'सनीचर'[4], 'कलम'[5] आदि पत्रिकाएं तो प्रत्यक्षतः ही इस वामपंथी सोच से जुड़ी हुई थीं तो कुछ अप्रत्यक्ष रूप से 'प्रगतिशील', 'जनवादी' आदि विशेषणों से अभिहित होकर इस विचाराधारा से जुड़ गई थीं। इसी प्रकार 'समांतर' जैसे कथा-आंदोलनों ने सामान्य जन की हिमायत कर साहित्य की को जीवन के प्रति प्रतिबद्ध बताया। कुछ साहित्यकार तो दल विशेष के सदस्य थे। यह स्थिति भी कहानी को राजनीतिक क्षेत्र के जीवन-यथार्थ से सम्बद्ध करने में कारणरूप में रही।

भ्रष्ट राजनीतिक व्यवस्था

आज के राजनीतिक परिदृश्य की सबसे बड़ी विसंगति राजनीतिक व्यवस्था का भ्रष्ट होना है। संसद से सड़क तक, प्रत्येक स्तर पर पग-पग पर भ्रष्ट व्यवस्था है। इस भ्रष्ट राजनीतिक व्यवस्था के विविध रूपों को आधुनिक कहानीकार ने पूर्ण सच्चाई से उकेरा है। राजनेताओं का भ्रष्ट आचरण कहानियों में विविध रूपों में रूपायित हुआ है। जन-सेवा की आड़ में राजनेता किस प्रकार गुलछर्रे उड़ाते हैं, हिमांशु जोशी की 'कोई एक मसीहा' में इसका सशक्त चित्रण हुआ है। सरकारी ग्रान्ट लेने के लिए लाभु बेन सुरेश भाई को अपने आश्रम का दौरा करा रही हैं। सुरेश भाई की बहुत पहुँच है, दिल्ली तक। वे किसी का भी भविष्य बना कर कृतार्थ कर सकते हैं। आश्रम की कन्या सावित्री उन्हें 'आश्रम के लिए' समर्पित की जाती है जिसका रात्रि भर में वे मुक्त भोग करते हैं। प्रत्येक बार के दौरे में यही सब कुछ होता है। चलते समय सुरेश भाई इस सेवा भावी 'बिटिया सावित्री' को एक खद्दर की धोती अपने ओर से से पुरस्कार में देने को कहते हैं[6]। विमला शर्मा की 'दौरा' में राज्य मंत्री इसी प्रकार शिकायत लेकर मिलने आई लड़कियों से एकांत में 'फ्री' हो कर मिलते हैं[7]। इस प्रकार यह कहानी समाज के छद्मवेशी मसीहाओं, राजनेताओं की नकली खाल को उतार कर रख देती है। वस्तुतः राजनीति में वही आदमी सफल है जो या तो एक नम्बर का गुण्डा है या जो फिर 'गुंडा संस्कृति' को संरक्षण प्रदान करता हो। इस स्थिति को आधुनिक कहानी में व्यंग्य के धरातल पर सशक्त रूप में चित्रित किया गया है। महीप सिंह की 'एक गुण्डे का समय बोध'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानी का कथ्य यही है। राजनीति में शरीफ़ और गुण्डे का अंतर मिट गया है, अब शक्ल से पता लगाना कठिन है कि कौन गुण्डा है और कौन शरीफ़? राजनीति में गुण्डों का भी अपना 'काम्पटीशन' है। पेशेवर गुण्डों की इतनी नैतिकता रुथिवस होती है कि वे अपने गुरू और साथियों से दगा नहीं करते किन्तु राजनीति में तो यही समझ में नहीं आता है कि 'गुरू कौन है और चेला कौन है।' हर चेला गुरू को गुड़ बना कर खुद शक्कर बनने की कोशिश करता है[8]।' राजनीति में आ कर पेशेवर व गुण्डों की आत्मा भी अपने को कचोटती है कि यहां से अच्छे वे पहली जगह पर ही थे। आज उनके काम इसी प्रकार के रह गए हैं कि 'किसी पार्टी पर नेता के इशारे पर' किसी विधायक को दो-तीन दिन के लिए गायब कर दो और पांच-दस हज़ार रुपये ले लो। दल-बदल विधायक की रक्षा करो और उसे उसकी पहली पार्टी के लोगों से बचाओ और मज़े से पांच-दस हज़ार पर हाथ साफ कर लो। इसी तरह के सैंकड़ों धधें राजनीति की पेशेवर गुण्डागिरी में चल रहें हैं जिन्हें कहानी में जग्गू के समय बोध के माध्यम से व्यंग्य रूप में व्यक्ति किया गया है[9]। आज प्रत्येक दल और उसके नेता के पास ऐसे गुण्डे हैं। भोले-भाले युवक उनके चंगुल में फंस जाते हैं। ये राजनीतिज्ञ इन गुण्डों को केवल स्वार्थ के लिए संरक्षण प्रदान करते हैं, यदि कहीं इन गुण्डों की कारगुज़ारी से नेता नाम उछलता दिखायी देता है तो वह इन्हें गाज़र-मूली की तरह कटवा कर सफाया करा देते हैं। 'निरर्थक आग' (अनय) कहानी के शंकर बाबू कलकत्ते की अव्यवस्था में जन्मे ऐसे ही राजनीतिज्ञ हैं जो अपने ही पाले गुण्डे मानिक और दिनेश को किनारे लगवा देते हैं। ये बेचारे उस वर्ग से थे "जिनको जन्म गांव देता है, पर रोटी नहीं दे पाता है।" फिर शंकर बाबू, जैसे लोगों के पास आ कर इनका काम हाथ में छुरा, बम रख कर चाहे जिस दुकान मकान और व्यक्ति को त्रस्त और आंतकित करना रहा जाता है।[10] ऐसे गुण्डे इस गुण्डा राज्य में स्थान स्थान पर पनप रहे हैं। इब्राहीम शरीफ की 'जमीन का आखिरी टुकड़ा' में भी ऐसा 'इब्बू हरामजादा' है जो जिसका प्राप्य है, उसे उस तक नहीं पहुंचने देता है।[11]

इस गुण्डागर्दी के अतिरिक्त आज रिश्वतखोरी, भाई-भतीजावाद, कोटे-परमिट की लेन-देन की आपाधापी ने राजनीतिक वातावरण को बुरी तरह प्रदूषित कर रखा है। कहानीकारों की दृष्टि से जीवन-यथार्थ का यह पक्ष भी छूट नहीं पाया है। अशोक अग्रवाल की 'तन्त्र' में राजनीति की गलाजत पर सशक्त व्यंग्य किया गया है। मन्त्री और विरोधी दल के नेता दोनों ही आरोपों की जांच करने वाले अफसर को अपने-अपने ढंग से फुसलाते हैं। नोटों का प्रलोभन दे कर उसे उसके कर्त्तव्य से विमुख करने का प्रयास करते हैं। काम करने वाला ईमानदार अफसर इस व्यवस्था में बेबस हो कर जीता है। जब वह मन्त्री के मनोनुकूल पहले से मरे व्यक्ति की रिपोर्ट 'हत्या' के रूप में देने को तैयार नहीं होता है तो उसे 'आराम करने' की आवश्यकता महसूस करा कर कार्य मुक्त कर दिया जाता है। उसे व्यवस्था से लड़ने के लिए अपनी कीमत चुकानी पड़ती है।[12] राजनीतिक नेताओं द्वारा फैलाये गए भाई-भतीजावाद को भी अनेक कहानियों में विश्लेषित किया गया है। ध्रुव जायसवाल की केवल एक क्षति' के बच्चा बाबू के मंत्री मण्डल में आते ही उनके पिता मास्टर साहब के द्वार पर अपना काम कराने आने वाले लोगों की भीड़ इसीलिए लगी रहती है किन्तु बाबू किसी का काम नहीं करा पाते—उनका लखनऊ में शानदार बंगला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बन जाता है और 'बहू जी' के नाम एक बड़ा होटल चलता है।[13] श्रवण कुमार की 'सलाख पर घूमता आदमी' में भी आज का युग-सत्य यही बताया गया है कि 'किसी एम० पी० मिनिस्टर को चाचा-ताऊ बना लो और सब अपने आप होता जायेगा। बस इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट लाईसेंस किसी तरह हथियाना होता है बाकी अपने आप हो जाता है।[14] काशीनाथ सिंह की कहानी माननीय होम मिनिस्टर के नाम में भी देश में फैले इस भाई-भतीजेवाद की बखिया उधेड़ी गई है।[15]

जन-प्रतिनिधि, जनता के सेवक कहे जाने वाले ये राजनीतिज्ञ आज जनता की पहुंच से बहुत दूर हो चुके हैं। इन्होंने अपने चारों ओर ऐसा 'तिलस्म' खड़ा किया हुआ है कि इन तक पहुंचा ही नहीं जा सकता, अपनी फरियाद सुनाने की बात तो बहुत दूर की बात है।[16] जो जितना बड़ा प्रतिनिधि है वह जनता से उतना ही कटा हुआ रहता है। संसद सदस्य बन जाने पर नेता घोषणा तो यही करता है कि आम आदमी से उसका सम्बंध और ज्यादा गहरा हो जाता है किंतु वास्तविकता यह है कि हमारे मुल्क की बदकिस्मती है हर नेता और हर लेखक ऊंचाई पर पहुँचकर नीचे से कट जाता है। गिरिराज किशोर ने अपनी 'मंत्रीपद', 'ततैया' आदि कहानियों में इन नेताओं की जनसेवा की अच्छी पोल खोली है।[17] जनसेवा, समाजसेवा, प्रजातंत्र आदि के नाम पर इस देश के राजनीतिज्ञों ने अपने स्वार्थों की खेती काटने में कोई-कसर नहीं छोड़ी। अपनी काली-करतूतों के ऐसे ऐसे कालपात्र बनाये कि कभी कोई जमाना आयेगा, जब लोग देखेंगे कि जनतंत्र और समाजवाद के नाम पर इस देश में क्या क्या नहीं हुआ।[18] गाँधी के देश के ये जन सेवक गाँधी के नाम पर उन्हीं के स्वप्नों और आदर्शों की खुल्लम-खुल्ला हत्या कर रहे हैं। मुद्राराक्षस की दांत या नाखून या पत्थर में फंतासी के रूप में यह सत्य उजागर किया गया है कि गांधी जी की करोड़ों रुपए की लागत से बनी मूर्तियां जगह-जगह लगा कर शासन तक ने उन्हें देवता बना दिया किंतु उनके आदर्शों की निर्मम रूप से उपेक्षा ही की गई, पिछले कुछ बरसों में जहां तंत्र उसके प्रति उदासीन हो गया था, वहां लोग भी असंपृक्त हो चले थे। पहले बुड्ढे को मैले कपड़ों में देख कर लोगों के अफसोस हुआ था, बाद में वह आम बात हो गयी थी। बाबा को मार दिया और हरामी खड़े देख देख रहे हैं।[19] गाँधी जी और उनके आदर्शों पर चलने वाले आदर्श व्यक्तियों की आत्मा यह देखकर दुखित होती है कि वे जिस 'रामराज्य' को लाने के लिए जीवन-पर्यंत संघर्ष करते रहे थे उस राज और 'अंग्रेज़ी-राज' में कोई फर्क नहीं रह गया है। मानसरोवर के हंस (कमलेश्वर) के सेनापति चाचा के चरित्र के माध्यम से आज की राजनीतिक गलाज़त की कलई खोली गई है। जनता हमेशा इस व्यवस्था द्वारा छली जाती रही है किंतु आज अंतर यह है कि छलने वाले, साधुओं (नेताओं) का बाना धारण किए हुए हैं।[20] राजनेता मंत्री आदि जनसेवा के नाम पर जो पदलोलुपता, स्वार्थपरता, जनता को दोनों हाथों लूटने, भाई-भतीजावाद आदि का आचरण कर राजनीतिक व्यवस्था को जिस रूप में भ्रष्ट कर रहे हैं, आधुनिक कहानीकार ने विक्षुब्ध हो इस पतनोन्मुखी स्थिति का चित्रण कभी व्यंग्य, फंतासी और कभी अन्य प्रकार से अपनी कहानियों में किया है।

चुनाव, वोट और कुर्सी की राजनीति :

आज राजनेता लोक-सेवा से अधिक अपने लिए चुनाव का जुगाड़ करने, वोट और कुर्सी हथियाने के लिए ही सारी जोड़-तोड़ करता रहता है। पहले ... प्राप्त करने के लिए धरती और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकाश के कुलावे मिलाते हुए प्रयत्न करना, फिर चुनाव में साम, दाम, दण्ड, भेद, जाति-पाँति सभी अस्त्रों का प्रयोग कर वोट प्राप्त करना, चुनाव जीतने पर कोई कुर्सी, विशेषतः मंत्री-पद, हथियाना और फिर सत्ता के केन्द्र में बने रहने के लिए विविध रूप में प्रयत्नशील रहना आदि सब राजनीतिज्ञों के जाने-पहचाने पैंतरे हैं। कहानीकार इन सब स्थितियों का प्रत्यक्षदर्शी और भुक्तभोगी है। इसलिए आज कहानियों में इन भ्रष्टताओं का सटीक चित्रण प्राप्त होता है। 'घांसू' (गोविंद मिश्र) कहानी में चुनाव आ जाने पर फैलने वाली हलचल गहमागैमी, टिकट की राजनीति का सशक्त चिणत्र मिलता है, 'चुनाव आ गए थे। शहर का नक्श बदल रहा था। हर दिन देश के कोने-कोने से लोगों के जत्थे शहर में उतरते और जहां कहीं भी सड़कों के किनारे गिरोह में इधर-उधर जाते दिखते थे। लोगों के घरों में बारात-की-बारात टिकी होती। टिकट बंटने के दिन थे। सब लोग अपने-अपने नेताओं को पकड़ रहे थे। उनके घरों पर मेले का आलम था-ऐसा लगता था कि जैसे सैकड़ों लोग बारी बदल-बदल कर वहां धरना दे रहे थे। कुछ लोगों का तो पेशा ही चुनाव लड़ना बन गया है। ऐसे पेशेवर गैर सरकारी राजनीतिज्ञों स्थान-स्थान पर देखे जा सकते हैं। असगर वजाहत की 'मछलियां' कहानी के अभय सिंह ऐसे ही राजनीतिज्ञ हैं जो चुनाव में कभी खड़े नहीं होते लेकित हर चुनाव में उनकी पूछ होती थी। उनके घर के सामने जीपें खड़ी रहती थीं। उनके बरामदे में झंडे और पोस्टरों के गट्ठर पड़े रहते थे। उनकी कोठी के कंपाउंड में शामयाना लग जाता था और पूरी तलने के लिए कढ़ाव चढ़ जाता था। उन्हें यह हुनर अच्छी तरह मालूम था कि अपने को किसी दूसरे बड़े आदमी से किसी तीसरे बड़े आदमी का खास आदमी कैसे मनवा लिया जाये ऐसे व्यक्ति जनता और एम०पी० दोनों को धोखा देते हुए अपना काम चला रहे हैं, 'जनता' समझती है कि इनका एम० पी० पर बहुत असर है और एम० पी० समझता है कि इनका जनता पर बहुत असर है। यह कहानी राजनीति के इस पहलू को खूब उजागर करती है। सत्ता में जाने पर यदि कोई विधायक या सांसद सत्य का पक्ष ले कर सच्ची बात कहने का दुस्साहस करता है तो वह 'कुर्सी' या 'पद' द्वारा खरीद लिया जाता है। 'नया चश्मा' (गिरिराज किशोर) के शिवजी भाई के मुख्य मन्त्री पद देकर उनका मुंह बन्द कर दिया है। अपनी सत्ता का अस्तित्व बनाए रखने के लिए रामनेता विपक्ष से ही नहीं अपने दल के असंतुष्ट नेताओं से भी त्रस्त रहता हुआ उससे बचने का उपाय करते हैं। आम आदमी का शव (प्रदीप पंत) में प्रदेश के मुख्य मंत्री इन्हीं जोड़ोंतोड़ों में हैं कि वे पार्टी के खतरनाक असंतुष्ट नेताओं से कैसे त्राण पाये, ये लोग हमें हटाना चाहते हैं। ये लोग हमें हटा कर दूसरी सरकार बनाना चाहते हैं या फिर विपक्ष से मिल कर दूसरी सरकार बनाना चाहते हैं। हम इन्हें सीधे रास्ते पर लाएंगे।[14] यह वर्णन वस्तु स्थिति का कितना यर्थाथ चित्रण है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। आए दिन प्रदेशों में सरकार गिराये जाने और रोकने के प्रयत्न अब प्रकट रहस्य हैं। किंतु आश्चर्य तब होता हैं कि जब जनता इन सब बुराई करते हुए भी आगामी चुनाव में फिर इन्हें ही जिता देती है।——लोगों का चरित्र इतना गिर गया है कि ईमानदारी नाम की कोई चीज़ रह ही नहीं गई। सारा दिन, महीने और साल ऐसे लोग व्यवस्था को और बहुमत वाली पार्टी को गालियां देते रहेंगे परन्तु अंत में फिर उसी के प्रति अपनी श्रद्धा दिखायेंगे। आधुनिक कहानी में इन सब स्थितियों का मात्र यथावत् चित्रण ही नहीं कर दिया गया है अपितु उनकी प्रस्तुति का कोण ऐसा है कि वह लेखनीय सोच का परिचय देती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई पाठक की चेतना पर दस्तक देते हुए इस व्यवस्था को आमूल-चूल परिवर्तित करने की सोच विकसित करती हैं। इसी बिंदु पर ये कहानियाँ समाचार-पत्र को 'रिपोर्टिंग' से पृथक अपना साहित्यिक अस्तित्व स्थापित करती हैं।

संदर्भ :—

१. सामाजिक यथार्थ का ढांचा बहुत-कुछ राजनीति ही निर्धारित करती है। हमारे रोज़-ब-रोज़ जीवन पर कहर ढाने वाली यह राजनीति अपने आप में एक संस्था है, जीवन-प्रणाली है जिसके कायदे-कानूने हैं और जो समाज को मरोड़ते समय उस रूप में नहीं आती जिस में वह एक धन्धे के रूप में होती है—'घांसू'—गोविन्द मिश्र, लेखकीय सोच पृष्ट ७।

२: मुक्तिबोध, 'नये साहित्य का सोंदर्यशास्त्र', पृष्ठ ७९।

३. 'वाम'—संपा० चन्द्रभूषण तिवारी, आरा (विहार)

४. 'सनीचर'संपा० ललित कुमार शर्मा 'ललित', जी० टी० रोड औराई (वाराणसी)।

५. 'कलम'—सं० मण्डल-चन्द्रबली सिंह, भैरव प्रसाद गुप्त, मार्कण्डेय, हरीश भादानी, इसराइल अरुण माहेश्वरी।
—४८ एम० पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता-पृष्ठ ६।

३. हिमांशु जोशी 'रथ चक्र'—'कोई एक मसीहा'

७. विमला शर्मा, 'दौरा'—सारिका' जनवरी-१, १९७५

८. महीप सिंह, 'कितने सम्बन्ध'—'एक गुण्डे का समय बोध' पृष्ठ ७८

९. वही, वही,—'एक गुंडे का समय बोध' पृष्ठ ७९, ८०

१० अनय, 'निरर्थक आग'—'गल्पभारती', दीपावली विशेषांक १९७२।

११. इब्राहीम शरीफ, 'जमीन का आखिरी टुकड़ा', 'सारिका'—जनवरी १९७५

१२. अशोक अग्रवाल, 'उसका खेल'—'तन्त्र'।

१३. ध्रुव जायसवाल, 'केवल एक क्षाति'—सारिका, दितम्बर १९७४

१४. श्रवण कुमार, 'जहर'—'—' सलाख पर घूमता आदमी पृष्ठ ३७

१५. काशीनाथ सिंह, 'आदमीनामा'—'माननिय होममिनिस्टर के नाम पृष्ठ ४३

१६ गिरिराज किशोर, 'पेपरवेट'—तिलस्म।

१७. वही, 'हम प्यार करलें—'मन्त्री पद'—पृष्ठ ३२ और 'ततैया'

१८. हिमांशु जोशी, 'जलते हुए डैने', सारिका फरवरी १९७५

१९ मुद्राराक्षस, 'दांत या नाखून या पत्थर' सारिका अप्रैल १९७३

२०. कमलेश्वर, 'मानसरोवर के हंस', सारिका, अप्रैल १९७५

२१. गोविन्द मिश्र, 'घांसू'—'घांसू' पृष्ठ ११६

२२. असगर वजाहत, 'मछलियां'—सारिका, जून १ १९७८

१३. गिरिराज किशोर, 'पेपरवेट—नया चशमा।'

१४. सतीश जमाली 'प्रथम पुरुष'-अर्थ तन्त्र' पृष्ठ ६७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. एच. जी. सिंह
मनोविज्ञान विभाग,
गु. कां. विश्वविद्यालय, हरिद्वार ।

तुलसीदास का मानस रोग वर्णन - एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

तुलसी दास की काव्य प्रतिभा सर्वतोमुखी है । जग जीवन का कदाचित ही कोई पक्ष ऐसा हो जिसे उनकी लेखनी ने स्पर्श न किया हो । रघुवंशियों के आदर्श चरित्र से लेकर राक्षसों के दुश्चरित्र तक तथा मनुष्यों के सामान्य और असामान्य व्यवहार के भी वे चतुर चितेरे थे । यद्यपि वे मनोचिकित्सक न थे फिर भी उन्होंने मनुष्य के विकृत रूप को भली भाँति पहिचाना और उसके अन्तर्गत मानस रोगों का विस्तृत वर्णन किया । उत्तर काण्ड के दोहा संख्या १२० से आगे के प्रसंग में वे कुछ मानस रोगों का वर्णन उनके लक्षण, कारण और चिकित्साक्रम से विधिवत करते हैं । किन्तु ये मानस रोग चिकित्सकों द्वारा सामान्यतया वर्णित उग्र मानस रोगों से भिन्न हैं अतः प्रश्न उठता है कि उनका मानस रोग वर्णन कितना आधुनिक और वैज्ञानिक है । प्रस्तुत लेख में उनके इस वर्णन का आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा तथा आयुर्वेद दोनों की कसौटी पर मूल्यांकन किया जा रहा है ।

मानस रोगों के लक्षणों का वर्णन महाकवि इन शब्दों से प्रारम्भ करते हैं ।

"सुनहु तात अब मानस रोगा,
जेंहि ते दुख पावहिं सब लोगा ।"

और फिर २३ मानस रोगों का संक्षिप्त वर्णन करते हैं जिनमें नाम भेद से पुनरावृत्ति है । अतः उन्हें घटा कर चौदह प्रकारों में विभाजित कर सकते हैं यथा मोह, काम, क्रोध, लोभ, तृष्णा, ममता, ईर्ष्या, हर्ष, विषाद, दुष्टता, अहंकार, भय, वियोग और मान । अधिकतर उपमा अलंकार द्वारा लक्षणों का वर्णन किया गया है । उदाहरणार्थ मोह को सकल व्याधियों का मूल, काम को वात समान वेग व गतिशील, लोभ को कफ समान संचयवाला, क्रोध को पित्त समान जलाने वाला बताया है । हर्ष और विषाद ग्रह समान ग्रसित करते हैं । एषणाएँ तीन प्रकार की यथा धन, यश और पुत्र की होती है । इन व्याधियों से संत और मुनि भी पीड़ित होते हैं तथा ये समाधि अर्थात् व्यवहार की सम्यक् अवस्था प्राप्त करने में बाधक होतीं हैं, इत्यादि । लक्षण वर्णन के अन्त में वे कहते हैं

'मानस रोग कछुक मैं गाये,
हैंहि सबके लखि बिरलेन्हि पाये ।

इससे पहले भी यह कहते हैं कि—

"एहि विधि सकल जीव जड़ रोगी"

उद्धृत चौपाईयों में इन मानस रोगों का एक सामान्य गुण उभर कर सामने आता है कि ये सब रोग विभिन्न मात्रा में सभी लोगों में होते हैं किन्तु इतने सारे रोग जब सभी में होते हैं तो क्या इन्हें रोग कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता है? यह तो स्वाभाविक मानसिक विकारी विकारी दोष या भाव हैं जो दीर्घ और भयंकर मानसिक रोग होते हैं उनके नाम पाश्चात्य मनोचिकित्सा और आयुर्वेद में विलकुल दूसरे हैं।

पाश्चात्य मनोचिकित्सा शास्त्र में मानस रोगों को कई प्रकार से वर्गीकृत और वर्णित किया गया है जैसे दीर्घ और लघु, साध्य और असाध्य आदि। जे. एफ. ब्राउन ने अपनी 'साईकोडायनेमिक्स आफ ऐबनोरमल वीहेवीअर'' पुस्तक में दीर्घ मानस असामान्यताओं के वर्णन से पहले लक्षण शास्त्र के भाग में मनुष्य के ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक पक्ष की विकारयुक्त असामान्यताओं और लक्षणों का वर्णन किया है। जो कि अधिक मात्रा में वढ़ जाने से उग्र मानस रोगों का रूप धारण कर लेते हैं, अन्यथा लघुमात्रा में सबमें रहते ही हैं। भावात्मक पक्ष की जिन असामान्यताओं का वर्णन उन्होंने किया है उनमें से आठ यथा मोह, काम, क्रोध, तृष्णा, हर्ष विषाद, अहंकार और भय तुलसीदास के वर्णन में भी हैं। पाश्चात्य मनोचिकित्सा शास्त्र में दीर्घ, लघु रोगों और मानस दोषों व लक्षणों को प्रायः एक ही नाम ऐबनोरमेलिटी अर्थात् असामान्यता से पुकारा गया है। फ्रायड ने तो दैनिक जीवन की सामान्य भूलों की भी मनोविकृति कह कर वर्णित किया है। इस तरह सामान्य मानसिक भावात्मक दोषों को मानस रोग कह कर तुलसी दास का वर्णन करना पाश्चात्य दृष्टिकोण से असंगत नहीं है।

आयुर्वेदीय ग्रन्थकारों जैसे चरक, सुश्रुत, वाग भट्ट, चक्रपाणि, उल्हण, शार्गंधर, आढ़मल्ल आदि, ने शारीरिक रोगों के अतिरिक्त मानस रोगों का भी विस्तृत वर्णन किया है जिसके अन्तर्गत मानस भावों का वर्णन रोग, रोगोत्पादक भाव एवं रोग लक्षण के रूप में किया है। इनमें से नौ यथा काम, क्रोध, भय शोक, लोभ, मोह, अहंकार इच्छा और मद तुलसीदास के वर्णन में भी मिलते हैं। आयुर्वेद का यह भी कहना है कि यह भाव सभी सभी मनुष्यों में जन्मजात होते हैं किन्तु इनसे रोग तभी उत्पन्न होते हैं जब ये भाव निरन्तर दीर्घ समय तक उग्र रूप में बने रहते हैं। जहां इन भावों को रोग रूप में वर्णित किया है वहां इनके कारण तथा चिकित्सा भी बताई है। इस तरह आयुर्वेद में भी इन सर्व मनुष्यव्यापी मानसिक भावों को रोग रूप में वर्णित किया गया है। फिर तुलसी दास द्वारा इनका मानस रोग रूप में वर्णित करना संगति पूर्ण ही है। उपरोक्त से स्पष्ट है कि महाकवि ने मानस प्रकृतिजन्य भावों को मानस रोगों के रूप में वर्णित किया है जोकि मात्रा में अधिक हो जाने पर उग्र रोगों की परिधि में पहुँच जाते हैं। यह विचार पाश्चात्य मनोचिकित्सा शास्त्र व आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र दोनों दृष्टिकोणों से ठीक है।

मानस रोग—कारण वर्णन—

महाकवि तुलसीदास ने इन मानस रोगों को सभी मनुष्यों में होने वाला तीन बार कहा है। सामान्य मनुष्यों में ही नहीं आदर्श चरित्र के सन्तों और मुनियों में भी इन रोगों का होना बताया है। लेकिन इन्हें विरले ही पहिचान पाते हैं। जब सभी मनुष्यों में ये रोग दोष होते हैं तो ये प्रकृतिदत्त हुए अर्थात् वे मानस भाव रोगों को जन्मजात मानते हैं। पाश्चात्य चिकित्सा विशेषज्ञ ब्राऊन ने भी इस प्रकार के दोषों को भावनापक्ष की असामान्यतायें बताते हुए सभी मनुष्यों में मात्रात्मक भेद से आवश्यक रूप में होने वाला प्रकृतिजन्य कहा है। आयुर्वेद के विद्वान् भी इन मानस दोषी भावों को सभी मनुष्यों में जन्म से प्राप्त होने वाला मानते हैं। अर्थात् ये रोग प्रकृतिदत्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और जन्मजात हैं। इस प्रकार तुलसी का इन सामान्य और लघु मानस रोगों को सभी में होने वाला और जन्मजात कहना ठीक ही है। संक्षेप में सभी की दृष्टि में इनका कारण प्राकृतिक और जन्मजात है।

मानस रोग—चिकित्सा वर्णन—

तुलसी दास मानस रोग प्रसंग के अंतिम चरण में इन रोगों को दूर करने के कितने ही उपाय बताते हैं जैसे नियम व धर्मपालन, उच्च-आचरण, तप, ज्ञान यज्ञ, जप, दान करना आदि। लेकिन फिर कहते हैं कि इनसे भी पूर्णतया मानस रोगों से छुटकारा नहीं मिलता और अन्त में सर्वोत्तम उपाय राम की भक्ति बताते हैं। इनका कहना है कि यदि अच्छा गुरु मिल जाये, वेद वचन में विश्वास हो और सयम का पालन करते हुए श्रद्धा सहित राम की भक्ति की जाए तो ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं। इसके लिए उनके वचन हैं —

राम कृपा नासहिं सब रोगा,
जो एहि भांति बनइ संयोगा।
सद्गुरु वेद वचन विस्वासा,
संजम यह न विषय के आसा।।
रघुपति-भगति संजीवन मूरी,
अनुपान स्रद्धा मतिपूरी।
एहि विधि, भलेहि सो रोग नसाहीं,
नाहि त जतन कोटि नहीं जाहीं।

राम भक्ति से किस प्रकार आगे रोग दूर होंगे उसके लिए कहते हैं कि राम भक्ति से धीरे धीरे विषयों से विराग पैदा होगा, फिर सद्बुद्धि बढ़ेगी, शुद्ध ज्ञान की धारा बहेगी और अंत में सभी मानस रोगों से छुटकारा मिल जाएगा इस तरह रामभक्ति चिकित्सा का भावी रोग निवारक क्रम क्या होगा यह भी निरूपित कर देते हैं। अतः तुलसी दास लघु मानसिक रोगों की चिकित्सा रामभक्ति बताते हैं।

तुलसीदास द्वारा बताई चिकित्सा 'रामभक्ति' का जब मूल्यांकन करते हैं तो हमारा ध्यान सर्व प्रथम योग प्रक्रियाओं की तरफ जाता है क्योंकि मन का सन्तुलन करना और मानस विकृतियों का निवारण करना योग के मुख्य विषय हैं, जिनके उपाय स्वरूप ज्ञान, भक्ति, कर्म, हठ, राज आदि योगपात्र की उपयुक्तता हेतु उत्पन्न हुए हैं। तुलसी दास द्वारा बताई भक्ति चिकित्सा योग की चिर प्रतिठिष्त पद्धति भक्तियोग ही है। अन्तर केवस इतना ही है कि योग वैयक्तिक भेदों के अनुसार विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न देवी देवता की भक्ति उपचारित करता है और तुलसी दास ने केवल राम की ही भक्ति सबको करना बताया है जो वैयक्तिक मानसिक भेदों के कारण विभिन्न मात्रा में किसी को शीघ्र तथा किसी को देर से लाभ पहुँचाएगी।

आयुर्वेद वृहत्त्रयी विद्वानों ने विभिन्न मानस रोगों के लिए युक्ति, विपाश्रय, सत्वावजय और देव-विपाश्रय, चिकित्सायें बताई हैं। इनमें से देव विपाश्रय के अन्तर्गत बहुत सी निम्न चिकित्सायें आती हैं जिनका आदि स्रोत अथर्ववेद है- मन्त्र. तन्त्र, जप, उपवास, यज्ञ, संयम, ज्ञान, संकल्प, मणि, गमन, प्रायश्चित्त दान, भक्ति, पूजा, मंगलकर्म आदि। इनमें तुलसी द्वारा निरूपित ८ सामान्य उपचार ही नहीं उनकी विशिष्ट उपचार पद्धति पूजा व भक्ति भी सम्मिलित हैं।

अन्त में जब पाश्चात्य मनोचिकित्सा शास्त्र में वर्णित मनोचिकित्सा पद्धितियों की विस्तृत सूची देखते हैं तो धर्म चिकित्सा आदि ऐसी पुरानी चिकित्सायें भी मिलती हैं जोकि भक्ति व पूजा उपचारों का ही दूसरा नाम है। अतः तुलसीदास द्वारा बताई भक्तिचिकित्सा मूल्यांकन में अन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिकित्साओं के समान है जोकि योग, आयुर्वेद और पाश्चात्य मनोचिकित्सा पद्धतियों में विभिन्न नामों से मिलती हैं।

तुलसीदास मानस रोगों के विशेषज्ञ व चिकित्सक न थे अतः दीर्घ और उग्र मानस रोगों का वर्णन वे नहीं कर सके तथा सामान्य व लघु मानसिक दोषों का ही वर्णन उन्होंने रोग रूप में किया। इन मानसिक भाव दोषों का सम्बन्ध मनुष्य की मूलभूत प्रकृति से है जो उसे जन्म से ही धरोहर के रूप में मिलती है और इसलिए इन्हें वे असाध्य रोग कहते हैं। इन रोगों का उपचार क्षेत्र बहुत विस्तृत है। दीर्घ मानस रोग मनुष्य के सांसारिक कर्मों से उत्पन्न होते हैं अतः उनका उपचार भी सांसारिक व सरल है। लेकिन जन्मजात प्रकृति जन्य विकारों व दोषों को दूर करना बहुत दुष्कर कार्य है। इस गम्भीरता को तुलसीदास ने भली भांति पहचाना और उसके लिए उचित उपचार रामभक्ति अर्थात् भक्ति योग बताया है जिसके वे विशेषज्ञ और चिर अनुभवी थे। राम भक्ति और श्रद्धा से ओतप्रोत होकर उन्होंने समस्त काव्य सृजन किया, जिससे उनका नाम हिन्दी साहित्य में शशी की तरह शीतल शान्ति व सुख देने वाला है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि महाकवि ने जिन मानस रोगों का वर्णन किया है वे मनुष्य प्रकृति व जीवन के मूलभूत एवं दोषपूर्ण मनोभाव हैं जिनका जीवन के सुख व समृद्धि के लिए ठीक होना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा ये रोग उग्र रूप में सर्वत्र मनुष्य को दुखी व कष्टमय बनाये रखते हैं। सर्व प्रजानुरंजक राम भक्त तुलसी दास से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे बहुत थोड़े वर्ग के कष्टमय दीर्घ मानस रोगों का ही विवेचन और उपचार बताते हैं। वे सर्वजन हिताय सोचते और कार्य करते थे। अतः उनके लिए स्वाभाविक था कि उन्हीं रोगों का उपचार बताते जिनसे सर्व मनुष्य-पीड़ित रहते हैं। भक्ति योग से मनुष्य की आधार भूत प्रकृति बदल कर इह लोक और परलोक दोनों ही सुधर जाते हैं। अतः तुलसी दास का मानस रोग वर्णन पाश्चात्य मनोचिकित्सा शास्त्र, आयुर्वेद तथा योग तीनों ही दृष्टिकोणों के मूल्यांकन में उचित, विस्तृत ध्येय वाला तथा दुष्कर है और यह उनके अपने भक्ति योग का ही परिणाम है कि वे असाध्य मानस रोगों को पहिचान सके और उपचारित कर सके। ●

सन्दर्भग्रंथ :—

1. तुलसी दास — रामचरितमानस

2. ब्राउन.जे.ऐफ. — साईकोडायनेमिक्स आफ ऐबनारमल विहेवीअर मैकग्रोहिल बुक क. इंक लन्दन।

3. फ्रायड. एस — साईकोपैथोलोजी आफ एवरी डे लाइफ, दी होगार्थ प्रैस लि. लन्दन।

4. चरक, सुश्रुत, शार्गंधर, वाग्भट्ट, आदि आयुर्वेद संहिताएं।

5. सिंह एच. जी. — सईकोथेरेपी इन इण्डिया फ्रोम वैदिक टू मार्डन टाइम्स, नैशनल साइकोलोजीकल कारपोरेशन, कचहरी घाट, आगरा-4

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. बी. पी. शर्मा
हिन्दी विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ ।

हिन्दी साहित्य का संत काव्य-एक सिंहावलोकन

हिन्दी साहित्य का संत काव्य स्वामी रामानन्द द्वारा प्रचारित मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति आन्दोलन की उपज है, संस्कृत एवं संस्कृति निष्ठ वैष्णव आचार्यों के अपठित अथवा बहुश्रुत शिष्यों का हिन्दी संस्करण है। इस युग के युग पुरूष एवं उनके द्वादशादित्यरूप बारह प्रमुख शिष्यों-संत रविदास, धन्ना जाट, सैन एवं गांगरौंनगढ़ के राजा पीपा आदि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों एवं आलोचकों की दृष्टि से ओझल रहे। इस युग के चेतना गुरू स्वामी रामानंद एवं भारतीय संस्कृति में निष्ठावान् संत रविदास का हिन्दी साहित्य के इतिहास एवं आलोचनात्मक रचनाओं में सिवाय संकेत मात्र के कहीं नाम तक नहीं मिलता। सन्त काव्य पर उभयतः, सर्वतः कबीर ही छाये रहे हैं। इस का कारण यही रहा है कि पुरानी पीढ़ी के कुछ विद्वानों के परिश्रम से कबीर-वाणी विधिवत् सम्पादित होकर प्रकाश में आ गई और सन्त रविदास उपेक्षित रहे। मुझे केवल एक आश्चर्य है कि संत रविदास और कबीर दोनों पड़ोसी थे, समकालीन थे, साथ साथ खेले-कूदे और आजीवन साथ साथ रहे। केवल नौ वर्षों के अन्तर से दोनों का शरीरान्त हुआ, परन्तु प्रथम निगमागम सम्मत भारतीय संस्कृति पोषक एवं दूसरा विरोधी। पहला मूर्ति पूजक और दूसरा 'पात्थर भंजक'। इस के साथ ही दोनों की प्रकृति में जमीन असमान का अन्तर। एक अखड़-फक्कड़ एवं भारतीयता का तीव्र आलोचक और दूसरा शान्त-शीतल प्रकृति का था कबीर ने अपनी फटकार का निशाना संस्कृत वाङ्मय, संस्कृतज्ञ विद्वान् ब्राह्मणों एवं शास्त्रानुमोदित भारतीय संस्कृति को बनाया। मुस्लिम परिवार गत संस्कार और सहजयानियों एवं नाथ पंथियों से उत्तराधिकार में मिली भारतीयता विरोधी बपौती को इन्होंने आजीवन अपनी कथनी करनी का लक्ष्य बनाए रखा। कबीर द्वारा चलाई गई यह परम्परा आज भी निर्गुणी सम्प्रदायों से ज्यों की त्यों चली आ रही है। इसके इसके विपरीत संत रविदास[1] वाणी में भारतीय संस्कृति विरोधी ऐसा कुछ भी नहीं है। कबीर ने पाखण्ड खण्डन का झण्डा ऊंचा उठाया। भारतीय सभ्यता संस्कृति एवं हिन्दू संस्कारों के विधिविधानों पर कड़े प्रहार करना इनकी प्रवृत्ति थी। ब्राह्मणवाद, तीर्थस्थान, ब्रत, यज्ञोपवीत, भोजनालय की शुद्धि, सूतक, पातक एवं अन्य हिन्दू संस्कारों पर कबीर ने बड़े प्रहार किए हैं। किसी के माथे पर तिलक लगा देख कर कबीर की नाक भौं सिकुड़ जाती है। हालांकि भारतीय संस्कृति में तिलक लगाना ब्रह्म पूजा के समान है, क्योंकि वैदिक प्राणायाम विधि के अनुसार त्रिकुटि मध्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज्ञा चक्र में 'ओ३म्' का स्थान है। वेद शास्त्रों की निन्दा इन्होंने दिल खोल कर की है—

चारों वेद चहुं मत का विचार,
इहि भ्रमि भूलि परयो संसार।
स्रुति सम्रिति दोउ को विसवास,
बाझि परयौ सब आसा पास।

और विद्वत् मण्डली के गढ़ काशी के चौराहे पर खड़े होकर कबीर ने मूर्तिपूजा, भारतीय संस्कृति की निन्दा एवं संस्कृतज्ञ विद्वानों की भर्त्सना की है—

नींदे तीरथ नींदे वेदु,
नींदे नवग्रह सूरज चंदू।
नींदे संकर नींदे माई,
नींदे सारद गणपति साँई।
नींदे ग्यारसी होम सराधे,
नींदे ब्राह्मण जोग अराधे।
नींदे सकल धरम की आसा,
षट दरसन अरू बारह मासा।

—अनंतदासवैष्णव

परिणाम स्वरूप कबीर के परवर्ती निर्गुणी संत सम्प्रदायों का भारतीय सभ्यता संस्कृति की जड़ें काटना एक प्रतिपाद्य विषय बन गया। गुजरात के प्रसिद्ध संत कवि अखा जी कहते हैं—

षट दरसन खट-पट करे, तर्कवाद तकरीर।
वेद कतेब अदबद करे, ज्यों लावा लगत कुटीर।

षट् दर्शन खटपट करते हैं, तर्कशास्त्र व्यर्थ का वकवास करते हैं, वेद शास्त्र बुदबुदाते हैं और निगमागम का नाम सुनने ही मानों इस निर्गुणी सन्तों की कुटीरों में आग सुलग उठती है। सिक्ख सम्प्रदाय के 'आदि ग्रन्थ' में वेदों के सारभूत गायत्री मंत्र की किस भद्देरूप में बूढ़ी गाय की शक्ल में टाँग तोड़ी है :—

पांडे तुमरी गायत्री
लधे का खेत खाती थी
लेकर ठेगा-(डण्डा) टगरी-(टांग) तोरी
लांगत लांगत जाती थी।

इसी पद के अन्तिम चरणों में आदिदेव महादेव बूढ़े सफेद बैल पर चढ़ा जाता हुआ देखा था। इस बैल ने मोदी राशन विक्रेता की दुकान में घुस कर उस के लड़के को मार गिराया तुम्हारा रामचन्द्र भी आता हुआ देखा था। वह रावण से हार कर अपनी जोरु सीता को गंवा बैठा। हिन्दू अंधा है, मुसलमान कांणा है, केवल ज्ञानी समांणा है। हिन्दू मन्दिर की पूजा करता है, मुसलमान मस्जिद में नमाज पढ़ता है। नामदेव उसी की सेवा-पूजा करता है जो न मन्दिर में है और न मस्जिद में :-

पांडे तुमरा महादेव धउले।
बलदु चढ़िआ आवतु देख्या था।
मोदी के घर खाणा पाका,
बाका लड़का मारिआ था।
पाँड़े ! तुमरा रामचन्दु,
सो वी आपतु देखिआ था।
रावन सेती सरवर होई,
घर की जोरु गंवाई थी।
हिन्दू अन्हे तुरक काँणा,
गिआनी दुहां तों सयाणां।
हिन्दू पूजे देहरा मुसलमान मसीति,
नामे सोई सेविआ जिह देहरा न मसीति।

इस पद में गायत्री मंत्र एवं सभी देवताओं को पीछे फेंक कर केवल "ज्ञानी" व्यक्ति की प्रशंसा की गई है। यद्यपि आज तक कोई भी निर्गुणी संत 'ज्ञान' शब्द की शास्त्रीय व्याख्या नहीं कर सका। वास्तव में ऐसा भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के निन्दावाद का अभियान कबीर ने ही चलाया था। निरंकारी सम्प्रदायों में यह निन्दावाद यथावत् चला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आ रहा है। वस्तुस्थिति ऐसी रही है कि कबीर एक त्रिकोण बिंदू पर खड़े थे कि एक ओर वे सिद्धों-नाथपंथियों की दलदल में जा फंसते हैं, दूसरी ओर मुस्लिम परिवारगत परिवेश के कारण मुस्लमानी एकेश्वरवाद के हामी हैं और पत्थर पूजा का सख्त विरोध करते हैं। तीसरी ओर वह स्वयं गले में कण्ठी पहनता है और वैष्णव तिलक धारी बन कर रामानंदी वैष्णव भक्ति का पल्लु छोड़ना नहीं चाहता। एक ओर निर्गुण भावना उसे अपनी ओर खींचती है तो दूसरी ओर वैष्णव भक्ति पद्धति पर आधारित राम-भक्ति को वह छोड़ना नहीं चाहता। एक ओर हिन्दुत्व खिसक जाता है तो दूसरी ओर से मुस्लमानत्व सरक जाता है। वह ऐसे चौराहे पर खड़ा है कि चारों ओर देख सकता है। परन्तु मुसलमानी खुदापरस्ती के कारण "सुन्न मण्डल"-शून्याकाश में स्थिर हो जाता है; क्योंकि मुसलमान मजहब के अनुसार खुदा का स्थान सातवें आसमान पर है और नाथपंथियों की "बंक नालि"-कुण्डलिनी के द्वारा अमृत रस की चुस्कियां लेता है :-

अवधू ! गगन मण्डल घर कीजै।
अम्रित झरें सदा सुख उपजै,
बंकनालि रस पीजै।

वास्तव में किसी कवि के व्यक्तित्व का निर्माण तीनों तत्वों के आधार पर होता है-वंश-परम्परा, वातावरण और द्वन्द्व। कवि की कृति में उस के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना का अर्थ यही है कि उसकी पूर्व परम्पराओं, वातावरण एवं द्वन्द्व की क्रिया प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति कवि की रचना में उस का व्यक्तित्व छिपा रहता है। कबीर का जन्म यद्यपि शृंगेरी मठ के शंकराचार्य के सहवास से प्रतीची नामक देवांगना के गर्भ से हुआ अथवा विधवा ब्राह्मण-महिला के गर्भ से हुआ परन्तु उसका पालन पोषण एक मुस्लिम परिवार, जो गोवध भी करता था और बकर ईद भी मनाता था, में हुआ। इस परिवार के संस्कारों को वह कैसे छोड़ सकता था ? वातावरण की दृष्टि से-यद्यपि वह सिद्धों और नाथपंथियों के सम्पर्क में नहीं रहा परन्तु सिद्धों की 'वेद कितेब' निन्दा, एवं भारतीय संस्कारों की निंदा तथा नाथपंथियों की हठ योगादि प्रक्रियाएं उसने उत्तराधिकार रूप में अपनालीं थीं। सरहपाद ने गंगा, यमुना, प्रयाग, सरयू आदि तीर्थों पर भ्रमण व्यर्थ कहा है :

भौतिक देह के समान कोई तीर्थ नहीं है :

देहा सरसि तित्थ सुह अनं न दिट्ठओ।

कबीर ने भी तीर्थ भ्रमण एवं स्नान आदि को व्यर्थ बतलाया :

जे तूं हिरदे सुध मन ग्यानी,
तो कहां विरौले पानी।
तूंबी अठसठ तीरथ न्हाई,
कड़ूवापन तऊ न जाई।

गुरू नानक ने भी तीर्थ स्नान को व्यर्थ माना—

अठसठ तीरथ काया भीतर,
गगन गंग मुख कासी।
गुरू किरपा निरवान रहेगा,
खोज लहे सो उदासी।
अठसठ तीरथ समुद समावे,
यों जोगी को गुरुमुखी जरनां।
—गोरखनाथ

इन निर्गुणी सन्तों द्वारा निर्जीव तुंबी की मानव से तुलना एक अद्भुत कल्पना है। अठसठ तीर्थों की गिनती आज तक कोई सन्त नहीं कर सका, केवल 'अठसठ तीर्थ' निन्दा की परम्परा चल पड़ी और चल रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरहपाद ने पूजा विधि विधान, यज्ञ हवन पर तीखे व्यंग कसे हैं।

फलहीन यज्ञ करने से हानि ही होती है। इसके कडुवे धुएं से यज्ञ कर्त्ता ब्राह्मन की आँखे खराब होती हैं। ऐसे ब्राह्मनों को धर्म अधर्म का कुछ ज्ञान नहीं :-

मट्टी पाणि कुसलई पढ़न्तें;
घरहि बहसी अग्नि हणन्ते।

सरहपाद आगे कहते हैं कि यदि नग्न रहने से मोक्ष मिलता है तो कुत्ते गीदड़ों को मिलना चाहिये। तपोवन में ध्यानमग्न रहना एवं मंत्र जाप सभी भ्रम हैं और परमात्मपद ध्यान से परे है। अतः ध्यान एवं मंत्रोच्चारण की क्या आवश्यकता है? सरह ने निवृत्ति मूलक ब्राह्मण धर्म को अस्वाभाविक माना है एवं पंडितों एवं निगमागम की मिट्टी पलीत की है। कबीर भी कहता हैं कि नंगा होकर तपोवन में तप करने से यदि मोक्ष मिल सकता है तो हिरणों एवं वनचर हिंसक चतुष्पदों को मिलना चाहिए और गंगा-जल में विचरने वाले मेंढक और कछुओं एवं मछलियों को स्वर्ग मिलना चाहिए। इस प्रकार सिद्ध सरहपाद ने कबीर के लिए भारतीयता, वेदशास्त्र, तीर्थपूजा, ध्यान, यज्ञ निन्दा की व्यापक पृष्ठभूमि तैयार की। नाथपंथियों का अनुसरण करते हुए कबीर ऐसा मानते हैं कि रामभक्ति रूपी वैल गोरखनाथ द्वारा उपदिष्ट है :—

राम गुन बेलड़ी रे, अवधू गौरखनाथ।

परमतत्व के लिए 'गगनमण्डल मंह वास' का प्रयोग कबीर ने नाथपंथी अवधूत परम्परा से ग्रहण किया। अतः इन्होंने कहा :—

वेदविवरजित, भेद विवरजित पाप रू पुण्यम्
ग्यान विवरजित ध्यान विवरजित स्थूल सून्यम्।
ऐसा तत्व अनुपम्।

अतः कबीर की विचारधारा, कवित्व एवं व्यक्तित्व पर सिद्धों एवं नाथपंथियों की भारतीयता विरोधी विचारसारिणी स्पष्ट रूप में जम कर बैठी है।

कबीर के मानसालोक में मध्ययुगीन परिस्थितियों का परिवेश द्वन्द्व रूप में स्वभावतः आकर बैठ गया था। भारत की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक परिस्थितिएं अत्यन्त द्वन्द्वात्मक थीं। समाज में जाति भेद के कारण घृणा द्वेष, कटुता एवं हिंसा का वातावरण था। हिन्दू-मुसलमानों में पारस्परिक द्वेष घृणा बढ़ रही थी। बहलोल खां लोदी और इसका आतंकवादी बेटा सिकन्दर लोदी जैसे धर्मान्ध सुलतान भारतीयों की हत्याएं कर अट्टहास करते थे। देवमूर्तिएं तोड़ी जा रही थीं और देवालयों का मस्जिदीकरण हो रहा था। मुल्लाओं के कुरानी शरीयत पूर्व फतवों पर भारतीयों की हत्याएं करना एवं बलात् धर्म परिवर्तित करना साधारण वात थी। भारतीय समाज भयभीत था। हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों में टकराव एवं संघर्ष का समय था। मुस्लिम परिवार गत संस्कारों के कारण कबीर के मानसिक द्वन्द्व का झुकाव मुस्लिम संस्कृति की ओर अधिक रहा। आचार-विचार से वह दूर था। मुसलमानी अत्याचार और क्रूरता ने इस्लामी संस्कृति की अनेक वातों से वह विरक्त था, जैसे गोवध, रोजा, एवं वकर ईद। परन्तु इस्लाम मजहब की वह उपेक्षा भी नहीं कर सकता था। इसी कारण इसने भारतीय संस्कृति, सभ्यता की दिल खोलकर भर्त्सना की है। न हिन्दू, न मुस्लमान एक ऐसा सम्प्रदाय भी इस ने चलाया था। भारतीय संस्कृति के विनाशाय कबीर सुलतानी शासकों की भांति शासकों के जात्याभिमान में दनदना रहा था। हिन्दू धर्म के प्रचार के निषेधाज्ञा थी। इसी अपराध के कारण सिकन्दर लोधी ने बुधन नामक ब्राह्मण को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने महल के सम्मुख जिन्दा जला दिया था। कबीर के मन पर ऐसा कोई भय नहीं था। तीर्थों पर पर्व मनाने की मनाही थी। सर्वत्र भय और आतंक का वातावरण था। ऐसी परिस्थितियों में कबीर ने भारतीय संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट एवं विकृतिपूर्ण करने के लिये अपने जातीय सुलतानी शासकों का साथ दिया। उसका यह मानसिक द्वन्द्व था।

इसी जात्याभिमान के द्वन्द्व में उलझे अपठित कबीर ने भारत की धर्मभूमि काशी में चोराहे पर खड़े होकर सभी संस्कृतज्ञ एवं भारतीय संस्कृति के उपासक पंड़ितों को ललकारा—

क) हों कासी का जुलाहा,
बुझहू मोर गिग्राना ।

ख) पंडित वाद वदन्ते झूठा ।

इसी अहंकार में उसने सभी को डांट-फटकार सुनाई। मुझे खेद है कि हमारे हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने कबीर को क्रान्ति की सजीव मूर्ति कहा है। किसी ने क्रान्तिकारी समाज सुधारक, आदर्शपुरूष, कर्त्तव्य परायण, सत्य के अनन्य उपासक, दार्शनिक, दिव्यगुणों से ओत प्रोत एवं १५वीं शती का 'भारतीय लूथर' तक कह डाला। यदि यह भी कह दिया जाए कि कबीर अपने उपास्य देव राम-रहीम की भान्ति साधारण बुद्धि से परे की वस्तु 'नेति नेति' है तो भी इनके लिए प्रशंसात्मक विशेषणों में कमी रह जाती है। डाक्टोरेट उपाधियों के आकांक्षी सैंकड़ों अनुसंधित्सु 'गतानु गति को लोकः' उक्ति का अनुसरण करते हुए 'इनके क्रान्तिकारी समाज सुधारक व्यक्तित्व के कारण ही तत्कालीन समाज में पवित्रता, नैतिकता एवं स्वच्छता का संचार हुआ मानते हैं। और वह ऐसे अद्भुत व्यक्तित्व का आर्यभाव एवं युगावतार की विशेष क्षमता को लेकर अवतरित हुआ।" यहां तक कि स्व०आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी इन के विषय में घोषणा की थी कि "हिन्दी साहित्य के हजारों वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक पैदा नहीं हुआ। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब कुछ को फटकार कर चल देने वाले तेज ने कबीर को हिन्दी साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया।" अन्यथा मेरी विचाराधारा के अनुसार वह बातचीत में अत्यन्त शुष्क, तीक्ष्ण, उग्र, आक्रामक सुलतानी शासकों का प्रच्छन्न पौषक कठोर एवं मुसलमानत्व लिए एक नीरस व्यक्ति था। रामभक्ति की भावभूमि पर खड़े होकर भी वह बहुधा भगवान के नृसिंहावतार की प्रतिमूर्ति बना जाता है। भारतीय संस्कृति के पौषक तिलकधारी शास्त्रज्ञ विद्वान् को देख कर तो वह प्रचण्ड आग बबूला हो उठता है। भारत की सहनशीलता एवं उदारता भी द्रष्टव्य है कि भारतीय संस्कृति के भंजक-नष्ट-भ्रष्ट करने वाले इस व्यक्ति को भारतीयों ने केवल राम रहीम का उपासक होने के नाते सिर आंखों पर बिठाया।

१४ वीं १५ वीं शताब्दियों में भारत पर मुस्लिम आक्रमणों के कारण सर्वत्र अराजकता फैली रही। मंदिर टूटे, मस्जिदें बनी, धन सम्पत्ति लुटी बलात् धर्म परिवर्तन, हिन्दूओं का संघार, बलात्कार एवं अपहरण इस युग के अराजक जीवन के नियम से बन गए थे। भारत में सर्वत्र इस्लाम का झण्डा फहराने लगा था। १५ वीं शती के प्रारम्भ में स्वामी रामानन्द ने अपने शिष्यों का संगठन कर वैष्णव भक्ति आन्दोलन के माध्यम से भारतीय धर्म, संस्कृति के रक्षार्थ नव जागरण का बिगुल बजाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। इस समय राष्ट्र धर्म के रूप में बढ़ती हुई आक्रामक इस्लामी बाढ़ को रोकना इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य था। इस राष्ट्रीय आन्दोलन में भारत के सनातन मूल्यों की रक्षा का प्रयत्न है। यह कोई धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक आन्दोलन नहीं था। धार्मिक स्वतंत्रता की मांग के माध्यम से स्वामी रामानंद एवं शिष्यों ने व्यक्तिगत एवं सामाजिक स्वतंत्रता के लिये संघर्ष किया था वैष्णव भक्ति के मूल में सगुण निर्गुण 'राम' ब्रह्म रूप में भारत की नैतिक प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। भारत के मूल निवासियों को काफिर समझने वाली इस्लामी भोगवादी आंतकवादी प्रवृत्तियां भारत की राष्ट्रीय चेतना के लिए एक चुनौती थी। राष्ट्रव्यापी इस आन्दोलन ने भारतीय संस्कृति के चिरंतन मूल्यों की रक्षार्थ तप, त्याग, बलिदान, सहिष्णुता एवं ब्रह्म निष्ठा के आश्रय से बढ़ती हुई इस्लामी बाढ़ को रोका था। तत्कालीन भयंकर विनाशकारी, दमन एवं अराजकता भरे सुलतानी शासनकाल में आर्य मानस अपनी सनातन संस्कृति को सुरक्षित रख सका—यह किसी भी बड़े चमत्कार से कम घटना नहीं है। स्वामी राम ने आर्य संस्कृति की रक्षार्थ अपने शिष्यों को संगठित कर भारतीय मानव चेतना को राम भक्ति का आश्रय देकर राष्ट्र में सांस्कृतिक प्रचार-प्रसार का अभियान चलाया था। १५वीं सदी में विध्वंसवाद के खण्डहरों पर खड़ी भारतीय संस्कृति का पुनर्निमाण स्वामी राम के द्वारा ही होता है। इस वैष्णव भक्ति आन्दोलन के माध्यम से भारतीय संस्कृति को विकसित किया गया और पराजित भारतीयों के मन में आशा-किरण की चमक पैदा हुई। स्वामी रामानन्द ऐसे क्रान्तिकारी युग पुरूष थे जिन्होंने आंतक और अवसाद के गढ़े में पड़ी भारतीय जनता के मनोबल को ढ़ाढ़स देकर ऊपर उठाया। इस युग में सुलतानी शक्ति का आतंक, लोभ-लालच एवं लोलुपता के आकर्षण को त्याग अपनी संस्कृति से लगाव रखना एक बड़े साहस और त्याग का काम था। अन्यथा विदेशी आक्रमणकारियों के संघात से भारत के सामाजिक क्षेत्र में जो विघटन पैदा हो चुका था, उसका निराकरण एक बड़ा भारी काम था। स्वामी राम ने समस्त भारत का भ्रमण कर इस विनाशकारी ताण्डव नृत्य को अपनी आंखों से देखा था। अन्ततः काशी में पंच गंगाघाट स्थित अपने आश्रम से इस समस्त अभियान का संचालन किया। इस युगान्तरकारी वैष्णव सांस्कृतिक चेतना के महागुरू शीर्षस्थ युग पुरूष स्वामी रामानंद जी थे। इस युग को इस धारा में सिद्ध, वज्रयानी सहजयानी, नाथपंथी हठ साधनाएं एवं सूफीवाद ऐसे घुल मिल गए कि इन्हें पृथक् रूप से खोज पाना असम्भव है। वर्णाश्रम व्यवस्था के बन्धनों को ढीला कर स्वामी जी ने ऊंच और नीच सभी वर्णों से अपने शिष्यों को चुना। इन के आश्रमवासी पांच सो शिष्यों में रविदास, धन्ना, सेन आदि को प्रमुखता देकर वैष्णव भक्ति आन्दोलन को निम्न मुख्य उद्घोष दिया—

हरि को भजै से हरि का होय,
जात पात पूछे नहीं कोय।

इस भक्ति पद्धति में ब्रह्म के सगुण रूपों में समन्वय है, हृदय की कोमल एवं मधुर भावनाओं की प्रधानता है। इस का मुख्य स्वर प्रेमाश्रित भाव पक्ष है। इस आन्दोलन ने भारतीयों के मानस को प्रकाश एवं माधुर्य-भाव से सम्पृक्त कर रामोपासना में स्वधर्मनिष्ठ रहने को शक्ति प्रदान की। वैष्णव जन उपास्यदेव राम, कृष्ण दोनों के व्यक्तित्व में एवं उनके अप्रतिम शील सौन्दर्य एवं शौर्य में प्रतिष्ठित है। मध्ययुगीन भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं में राम-कृष्ण के सगुण, निर्गुणात्मक रूप का समन्वय भाव से गायन किया है। सुलतानी शासकों एवं मुल्लाओं के स्वर में कबीर ने भारतीय संस्कृति विरोधी एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुस्लिम एकेश्वरवाद का अभियान पृथक् से जारी रखा।

१५ वीं शती के अन्तिम चरण में स्वामी रामानंद का साकेत वास हो जाने पर सुलतानी शासकों द्वारा विनाश के ध्वंसावशेषों पर खड़ी भारतीय संस्कृति के बचाव के लिये "वैष्णवजन" आन्दोलन के भरणपोषण का भार इनकी शिष्य मण्डली पर आ पड़ता है। सन्त रविदास, सेन, धन्ना, और पीपा आदि स्वामी जी के अग्रणी शिष्य थे। कबीर यद्यपि स्वामी जी के विधिवत् दीक्षित शिष्य नहीं थे फिर भी इन्होंने "काशी में हम प्रगट भए रामानंद चेताए" की घोषणा करके 'वैष्णव जन' वेष में रहते हुए मुस्लिम एकेश्वरवाद एवं 'वेदकतेब' निन्दा का अभियान पृथक् से जारी रखा। कबीर से शास्त्रज्ञान को 'कागद देखी' कहकर उपेक्षित किया। ब्राह्मणवाद' का तीव्र विरोध किया। कबीर-वाणी में 'पाखण्ड खण्डन' का स्वर तीखा रहा। इस का कारण कबीर की अक्खड़ प्रकृति अथवा मुस्लिम परिवार गत संस्कार हो सकते हैं। इस के द्वारा चलाया गया यह पाखण्ड खण्डन 'ब्राह्मणवाद' विरोध के रूप में अथवा तीर्थ-व्रत, पूजा-पाठ एवं कर्मकाण्ड रूप में सन्त साहित्य का प्रतिपाद्य विषय बन गया जो आज भी निर्गुणी सम्प्रदायों में यथावत् चला आ रहा है। इसके विपरीत, सेन, धन्ना, पीपा आदि सन्तों, विशेष कर संत रविदास वाणी में ऐसा कुछ देखने में नहीं आया। भारतीय संस्कृति के पोषक ये सन्त कवि उपेक्षित रहे। अन्यथा इन वैष्णव सन्तों ने तत्कालीन निराश भरे वातावरण में हिन्दू समाज के भौतिक एवं सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्तर को बहुत ऊंचा उठाया और भारतीयों के मनोबल को ढाढस दिया। कबीर को छोड़ अन्य सभी सन्तों ने राम भक्ति को सगुण निर्गुण दोनों रूपों में भक्ति साधना का अन्तिम लक्ष्य माना है। रामानंद वैष्णव भक्ति पद्धति में राम के सगुणत्व को निर्गुणत्व का विरोधी न मान कर पूरक माना गया है। ब्रह्म के सगुण निर्गुण का समाधान भक्त की अपनी विकासात्मक भाव भूमि पर छोड़ दिया गया है। रामानुजाचार्य से स्वामी रामानन्द तक प्रचारित वैष्णव भक्ति का यही सार और तत्व है। सन्त रविदास एवं अन्य सन्त जनों ने अपनी वाणियों में इसी संस्कृति को प्रसारित किया जिसे हम वैष्णव संस्कृति का 'हिन्दी संस्करण' कह कहते। रविदास ब्रह्म के सगुण निर्गुण रूप की व्याख्या करते हुए कहते हैं :—

क) वरन अवरन कथे जिनि कोई,
सब जग पूरि रह्यो हरि सोई।

ख) सुगन अगुन दो समकरि जानऊं,
चहं दिसि दरसन तोरा।

वेद शास्त्रों एवं गंगा स्नान में आस्था निष्ठा रखते हुए सन्त रविदास का कथन है :

[1]नष प्रसेद जाकै सुरसरी धारा,
रोमावली अठारह भारा।
चारों वेद जाके स्मृति स्वासा,
भगति हेत गाव रेदासा।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति के उन्नायक गायक संतों की वाणियां हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में उपेक्षित रहीं और भारतीय संस्कृति के विरोधी निर्गुणी सन्त कबीर का स्वर तीखा रहा। इसीलिए आज के अनेक निर्गुणी सम्प्रदाय भारतीय संस्कृति की जड़ें उखाड़ने में जुटे हुए हैं। मेरा प्रश्न चिन्ह इतना सा ही है कि क्या कबीर समाज सुधारक, क्रान्तिकारी एवं तथ्यान्वेषी दिव्य गुणों से ओत-प्रोत आदर्श पुरूष था? ●

---

१. देखें संत गुरू रविदास वाणी। सम्पादित डा० बी.पी. शर्मा, ११७८, सैक्टर् २२-बी, चण्डीगढ़।

२, देखें—लेखक की रचना-सन्त रविदास की भक्ति साधना। विश्वभारती प्रकाशन, ११७६, सैक्टर २२-बी, चण्डीगढ़।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धूमिल की 'आस्था' का शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण

नीलम बजाज

प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग,

कमला नेहरू कॉलेज फार विमेन,

फगवाड़ा।

आधुनिक कविता जटिल मनःस्थितियों, बहुरंगी विषयों और भावों की कविता है, यही कारण है कि उसमें भाषा का भी सामान्य प्रयोग न होकर विचलित प्रयोग मिलता है। यूं तो आधुनिक कवि कविता में अनेक अव्याकरणिक प्रयोग करता है पर सामान्यतः विचलन से अभिप्राय है : मानक भाषा का सर्जनात्मक विरूपण। योसेफ़ वाचेक ने विचलन की परिभाषा करते हुए लिखा है-"काव्यात्मक वाक्य-विन्यास काव्यार्थ की दृष्टि से चालू भाषा के वाक्य विन्यास को मोड़ने की एक प्रक्रिया है, मोड़ते समय चालू भाषा के जो प्रत्याशित क्रम टूटते हैं उन्हें हम रचनात्मक पेशबन्दी या विचलन (क्रियेटिव फोरग्राउंडिंग या डिविएशन) कह सकते हैं।[1] विचलन के माध्यम से कवि मानक भाषा से इतर एक स्वतन्त्र संरचना का निर्माण करता है-एक समांतर संरचना, जो अक्षर, शब्द, वाक्य और अर्थ-सभी स्तरों पर मानकी भाषा के नियमों की अवहेलना करके अपने लिए नयी व्यवस्था का निर्माण करती है। भाषा की इस नयी व्यवस्था तक पहुंचने के लिए प्राचीन काव्य शास्त्रीय उपकरण पर्याप्त नहीं हैं। ऐसी कविता को समझने के लिए शैली वैज्ञानिक विश्लेषण स्वीकृत प्रयोगों से हो रही विच्युतियों के कारणों की तह तक जाता है और कविता में संगुम्फित विभिन्न अर्थों को अर्थापित करता है तथा इस प्रकार पाठक को कवि के मन्तव्य तक पहुंचाता है।

यहां विचलन (Deviation) के आधार पर धूमिल की 'आस्था' का शैलिकीय विश्लेषण प्रस्तुत है। कविता में विचलन की अभिव्यक्ति कई स्तरों पर देखी जा सकती है जैसे क्रम भंग होना, वचन, पुरुष, लिंग, काल की अन्विति का टूटा होना, एक जाति के पद का दूसरी जाति के स्थान पर प्रयोग अथवा वाक्य को सतही तौर अधूरा छोड़ देना[2] यह विचलन चूंकि अर्थ प्रेरित है, इस लिए केवल व्याकरण के स्तर पर नहीं, अर्थ के स्तर पर प्रयुक्त होकर ऊपर से विसंगत लगने वाले अर्थ को भी संगति दे देता है। यहाँ शब्द और अर्थ—दोनों स्तरों पर धूमिल की 'आस्था" का विश्लेषण किया जा रहा है।

धूमिल की लघु कविता "आस्था" इस प्रकार है—

रोशनी के दस्तावेज़
फट गए हैं
और टूट गई है
उपलब्धियों की वार्ता
फिर भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंधेरे की मुंडेर पर
अमरबेलि लहकी है :
मुझमें पूरे समूह का भय—
चीखता है
दिग्विजय ! दिग्विजय !!![3]

पूरी कविता विचलन पर आधारित है अतः केवल विचलन का विश्लेषण करने से ही पूरी कविता का अर्थ निकाला जा सकता है। यह विचलन हमें दो स्तरों पर दिखाई देता है— 1. शब्दों के संयोजन में, 2. अर्थ के स्तर पर। दस पंक्तियों की इस कविता को दो स्पष्ट भागों में बांटा जा सकता है। "रोशनी के दस्तावेज़" लेकर "उपलब्धियों की वार्ता" तक एक भाग है जिसमें कवि का समकालीन भावबोध है। रोशनी के दस्तावेज़ फट चुके हैं, उपलब्धियों की वार्ता भी समाप्त हो चुकी है। चहुं और रोशनी का अभाव है, अतः जीवन भी, जो रोशनी पर अवलम्बित है छिन्न-भिन्न हो चुका है। इस प्रकार इन पहली चार पंक्तियों में निराशाजनक परिस्थिति का विकट वर्णन है। परन्तु संतोलक शब्द "फिर भी" द्वारा अगली पाँच पंक्तियों में—"अंधेरे की मुंडेर" से लेकर "दिग्विजय" तक में फिर से कवि की दृढ़ आस्था का स्वर सुनाई देता है। पहली चार पंक्तियों और अन्तिम पाँच पंक्तियों में जबरदस्त विरोधी समान्तरता है। जीवन के ध्वस्त हो जाने पर भी कवि की आस्था रूपी अमरबेलि अंधेरे की एक छोर पर बिना किसी जड़ के (सम्बल) के बड़े मजे से लहक लहक कर मानों अंधेरे का तिरस्कार कर रही है। और कवि पूरे समूह के भय को अपने ज़हन में संजोकर बड़ी आस्था के साथ दिग्विजय का आह्वान कर रहा है।" "अमरबेलि" इस कविता का उन्मीलक शब्द (Key Word) है और दिग्विजय प्रतिपाद्य शब्द, जो कवि की आस्था का प्रतीक है।

समूची कविता में शब्दों के सामान्य अर्थ न लेकर विशिष्ट अर्थ लिए गए हैं। कवि ने अधिकांशतः सहभाव का विचलन दिखाकर इन विशिष्ट अर्थों का प्रतिपादन किया है। एक एक करके सभी पंक्तियों को विश्लेषित करने से यह बात साफ हो जाती है। कविता की पहली पंक्ति—"रोशनी के दस्तावेज़" में सहभाव का विचलन है। दस्तावेज़ एक फ़ारसी का शब्द है जिसका सामान्य अर्थ है—वह कागज़ जिसमें कुछ आदमियों के बीच के व्यवहार की बातें उनके हस्ताक्षरों के सहित लिखीं हो। इसको हम व्यवहार सम्बन्धी लेख कह सकते हैं। इस प्रकार के दस्तावेज़ ऐतिहासिक प्रलेखों के हो सकते हैं अथवा सम्पत्ति सम्बन्धी हो सकते हैं। रोशनी के दस्तावेज़ नहीं हुआ करते। दस्तावेज़ को रोशनी के साथ जोड़ने से कवि ने विशिष्ट काव्य भाषा की रचना की है। "दस्तावेज़ फट गए हैं" में सहभाव है क्योंकि दस्तावेज़ कागज ही होते हैं और "फट जाना" कागज का एक सामान्य धर्म है। "और" संयोजक शब्द है। "टूट गई है उपलब्धियों की वार्ता" में "वार्ता का टूट जाना" एक लाक्षणिक प्रयोग है। "वार्ता" एक अमूर्त चीज़ है जो टूट नहीं सकती। टूटती वही वस्तु है जो ठोस हो। लेकिन यहां वार्ता का टूटना ठीक वैसे ही लाक्षणिक प्रयोग है जैसे हम आम तौर पर रिश्तों का टूटना कहते हैं। इसमें भी संयोजन का विचलन है। "फिर भी" संतोलक शब्द है जो पहली चार पंक्तियों और अन्तिम पाँच पंक्तियों में संतुलन बिठा रहा है। "फिर भी" के पश्चात् अगली पंक्तियों में फिर कवि ने सहभाव से विचलन का चमत्कार दिखाकर संभावित अर्थ का दायरा बढ़ाया है! कवि लिखता है कि रोशनी के दस्तावेज़ फट जाने पर और उपलब्धियों की वार्ता टूट जाने पर भी "अंधेरे की मुंडेर" एक विशिष्ट काव्य भाषा प्रयोग है क्योंकि मुंडेर तो छत की होती है न कि अंधेरे की। इसी प्रकार "अमर बेलि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लहकी है'' में फिर संयोजन का विचलन है क्योंकि बेल का धर्म लहलहाना है न कि लहकना। ''लहकना'' क्रिया का सहभाव अग्नि से है जिसका अर्थ है-आग का इधर उधर लपट छोड़ना अथवा दहकना। ''अमर बेलि'' के साथ 'लहकना' क्रिया को जोड़ना फिर विशिष्ट प्रयोग है जो कि साभिप्राय है। आगे कवि लिखता है-मुझमें पूरे समूह का भय चीखता है दिग्विजय! दिग्विजय!! इन पंक्तियों में भी विचलन का चमत्कार है। एक व्यक्ति में पूरे समूह का भय समा जाना-असंभव तो नहीं पर कठिन अवश्य लगता है। इसमें अर्थगत विचलन है। ''भय चीखता है'' कर कर कवि ने फिर मानक भाषा से परे विशिष्ट काव्य भाषा की रचना की है। 'भय' भाववाचक संज्ञा है—एक अमूर्त वस्तु है। कोई जानदार प्राणी ही चीख सकता है भय नहीं। 'भय चीखता है, में सहभाव का विचलन है। इसी प्रकार अन्तिम पंक्ति-पूरे समूह का भय चीखता है दिग्विजय! दिग्विजय!! में भी विरोधाभास है। भयभीत व्यक्ति चीखेगा तो अपनी विवशता और पराजय ही उगलेगा लेकिन यहां तो भयभीत को दिग्विजय की संभावना दिखाई दे रही है। वह अपने भविष्य के प्रति आश्वस्त है। अतः यहां अर्थ में जबरदस्त विचलन है।

उपर्युक्त विश्लेषण से हमने जाना कि सारी कविता ही विचलन का एक सुन्दर उदाहरण है और जैसा कि आरम्भ में विचलन की परिभाषा में कहा गया कि विचलन मानक भाषा का सर्जनात्मक विरूपण है, यह विरूपण कविता को अर्थों के नए नए आयाम देता है अतः साभिप्राय होता है। प्रस्तुत कविता में भी विचलन का प्रयोग सर्वत्र साभिप्राय है।

*जब कवि रोशनी के दस्तावेज़ कहता है तो उसका अभिप्राय है कि जो रोशनी (उल्लास की) पहले हमारे लिए सुरक्षित थी, (क्योंकि जो बात एक बार दस्तावेज़ के रूप में आ गई, वह एक तरह से प्रमाणित (सुरक्षित) हो जाती है (उस रोशनी के दस्तावेज़ फट गए हैं। अर्थात् जो दस्तावेज़ी रोशनी हमारी सम्पत्ति थी, हमारे लिए सुरक्षित की, वह छिन चुकी है। चूंकि रोशनी के दस्तावेज़ फट गए हैं अतः ''वह रोशनी हमारी है'' ऐसा दावा भी हम नहीं कर सकते। फिर कवि कहता है 'और टूट गई है उपलब्धियों की वार्ता' अर्थात् बातचीत के सहारे जो कुछ प्राप्त किया जा सकता था, वह अवलम्ब भी गया। पर 'फिर भी' अंधेरे की मुंडेर पर अमर बेलि लहकी है अर्थात् चहुं ओर नैराश्य का अंधकार होने के बावजूद भी कवि की आस्था रूपी अमरबेलि इस अंधकार के अंतिम छोर पर निरावलम्ब समूह से समाज से अथवा सत्त से) बड़ी निडर होकर लहक रही है। शब्द 'अमरबेलि' का प्रयोग भी यहां साभिप्राय है यूं 'अमर बेलि' की जगह कवि किसी और सामान्य वेल का नाम भी ले सकता था पर उस के विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन 'अमर बेल' शब्द रखने से ही होता है। एक तो इसलिए कि अमर बेलि एक ऐसी बेल है जिसकी जड़ नहीं होती। इधर कवि के पास भी समाज आदि की तरफ से कोई सम्बंध नहीं है। दूसरे यह कि 'अमर बेलि' शब्द पहली चार पंक्तियों की समान्तरता में सही बैठता है। रोशनी के अभाव में कोई भी बेल हरी नहीं रह सकती। उसका पीला पड़ जाना निश्चित है। इसी लिए कवि ने यहां 'अमरबेलि' का विशिष्ट प्रयोग किया है क्योंकि अमरबेलि का रंग झुलसी हुई घास का रंग होता है। समाज में प्रफुल्लता की रोशनी के एकदम अभाव में कवि की आस्था रूपी बेल भी हरी भरी नहीं रह सकती। परिस्थिति का प्रभाव उस पर भी है भले ही वह अकेली निरवलम्ब उस अंधेरे (विकट परिस्थिति) से जूझ रही है और आग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की तरह लहक रही है, हर चीज़ को अपनी लपेट में (प्रभाव में) ले लेने को लालायित है। यह आस्था की 'अमरबेलि' इसलिए भी लहक रही है कि एक अकेले कवि में पूरे समूह का भय स्थानान्तरित हो गया है जिस से उसकी जूझने की हिम्मत भी बढ़ गई है। उसने पूरे समूह के भय को चुनौती दी है। उसकी दृढ़ आस्था है कि पूरे समाज के डरों से जूझता हुआ वह दिग्विजय करके ही रहेगा। दिग्विजय इस कविता का प्रतिपाद्य शब्द है जो कि दृढ़ावस्था का सूचक है।

इस प्रकार सम्पूर्ण कविता विचलन के माध्यम से एक विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन कर रही है और वह विशिष्ट अर्थ है—विपरीत परिस्थितियों में भी कवि का उज्ज्वल भविष्य के प्रति निष्ठावान होना। उपर्युक्त विश्लेषण से हमने पाया कि यह उपकरण कविता के मर्म को खोलने और उसकी साभिप्रायता को स्पष्ट करने में उपयोगी है। कविता का मर्म स्पष्टीकरण इस पद्धति से वस्तुनिष्ठ रूप से हो पाता है जहां किसी प्रकार के पूर्वाग्रह की कोई गुंजाइश नहीं रहती। शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण को जितना शुष्क, गणितीय और ऊबाउ कहते हैं, वह ऊब ऐसे विश्लेषण में नहीं आ पाती और ऐसा विश्लेषण सुबोध, सहजगम्य, वस्तुनिष्ठ, प्रामाणिक और पूर्वाग्रहहीन होता है। ●

---

1. योसेफ़ वाचेक : दि लिंग्विस्टिक स्कूल आफ़ प्राग पृष्ठ 100 (विद्यानिवास मिश्र : रीतिविज्ञान, पृष्ठ 80 मे से उद्धृत)
2. विद्यानिवास मिश्र : रीतिविज्ञान पृष्ठ 76,77.
3. कल सुनना मुझे : धूमिल पृष्ठ 10.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुलसी के काव्य में व्यवसायों एवं मनोरंजन के साधनों का वर्णन

डॉ० इंद्र पाल सिंह इंद्र
ए-14, यूनिवर्सिटी क्वार्टर्स
अमरावती रोड, नागपुर ।

साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य के हेतुओं में प्रतिभा, अभ्यास और व्युत्पत्ति का उल्लेख किया है। व्युत्पत्ति का तात्पर्य है—लोक-व्यवहार तथा विविध विषयों का ज्ञान। कवि को अपने काव्य में कभी-कभी वर्ण्य रूप में अनेक विषयों का वर्णन करना होता है और कभी कभी अपने किसी कथन को प्रेषणीय एवं प्रभावशाली बनाने के लिए अथवा उसकी पुष्टि के लिए अप्रस्तुत रूप में अनेक विषयों का आश्रय लेना पड़ता है। इसलिए कवि का बहुज्ञ होना वांछनीय है। तुलसी ने नानापुराण—निगमागमसम्मतम् यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' कहकर अपनी अध्ययनशीलता एवं अपने पाण्डित्य का उल्लेख तो कर ही दिया है, साथ ही उनके काव्य में विविध विषयों का वर्णन उनकी बहुज्ञता एवं उनके बहुश्रुत होने का प्रमाण भी देता है। कवि अपने समय में प्रचलित व्यवसायों, क्रीड़ा-कौतुकों, आचार-व्यवहारों, रीति-रिवाजों, विधि-निषेधों आदि का वर्णन यथावसर करता है। तुलसी ने भी अपने काव्य में अपने समय के प्रचलित व्यवसायों का उल्लेख किया है। यह आवश्यक नहीं कि उसके चरित्र-नायक के समय में भी वे व्यवसाय होते थे। कवि प्रसंगवश या अप्रस्तुत रूप से अपने समय के ही व्यवसायों का उल्लेख करता है। तुलसी ने भी वही किया है।

हमारे यहां लोक-मान्य कहावत है—'उत्तम खेती, मध्यम बान, अधम चाकरी, भीख निदान।' अर्थात् कृषि सर्वोत्तम व्यवसाय है, व्यापार तथा अपना स्वतन्त्र निर्माण कार्य दूसरी कोटि में आता है, चाकरी या सर्विस निकृष्ट है तथा भिक्षावृत्ति तो गर्हित है—अपंगों या विवशों का कार्य है। इसलिए तुलसी ने कृषि का सर्वाधिक उल्लेख किया है - शस्यसम्पन्न भूमि उपकारीजन की सम्पत्ति के समान शोभायमान होती है,[1] लेकिन कृषि वर्षा पर ही निर्भर है। जिस प्रकार भगवान् की भक्ति भक्त के हृदय को उत्फुल्ल कर देती है, उसी प्रकार वर्षा धान्य को लहलहा देती है,[2] सूखते हुए धान भी वर्षा के जल से हरे-भरे होकर हर्षित हो जाते हैं।[3] इसलिए समय पर वर्षा अतीव आवश्यक है। कृषि के पूर्णतया सूख जाने पर वर्षा निरर्थक और व्यर्थ हो जाती है। इसलिए तुलसी ने लिखा है—'का वर्षा जब कृषि सुखाने'[4] तुलसी की यह उक्ति तो इतनी प्रसिद्ध हो गई कि लोकोक्ति बन गई। समय और अवसर पर जब कोई कार्य नहीं किया जाता है, तो लोग इसी लोकोक्ति का प्रयोग करते हैं। वर्षा के साथ-साथ सम्पन्न कृषि के लिए चतुर किसान निराई करके हानिकारक घास आदि को निकाल फेंकते हैं।[5] फिर भी कृषक को कृषि-सम्पन्न होने की पूर्ण आश्वस्ति नहीं रहती, क्योंकि पकी हुई खेती को भी ईति की भांति रहती है।[6] ईति छः प्रकार की होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है—कभी अति वृष्टि से खेती गल जाती है, कभी अनावृष्टि से सूख जाती है, कभी टिड्डियां खा डालती हैं, कभी चूहे कुतर जाते हैं, कभी पक्षियों के गोल भक्षण कर जाते हैं, कभी युद्ध होने से सैनिकों के पैरों से कुचल जाती है । यही नहीं, अपितु उपल-वृष्टि या हिम-पात से भी गल जाती है[7] । इस लिए कृषि उत्तम होते हुए भी अत्यधिक कष्टसाध्य, फिर भी अनाश्वस्तिपूर्ण व्यवसाय है, किन्तु यही जीवनाधार भी है। हमारे शास्त्रों में देह को अन्नमय कहा गया है तथा जीवन की सार्थकता या परमानन्द की प्राप्ति के लिए अन्नमय कोष को प्रथम सोपान के रूप में स्वीकार किया गया है। इस लिए तुलसी ने अपने काव्य में कृषि को सर्वाधिक महत्व दिया है। उन्हें कृषि का सूक्ष्मतम ज्ञान प्रतीत होता है,वे कृषि सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली के भी ज्ञाता प्रतीत होते हैं। इस लिए वर-वधू के रूप में राम-सीता के सौन्दर्य की अनूभूति किसानों को भी कराने के लिए वे लिखते हैं-"रूप-रासि विरची विरंचि जनु, सिला लवनि रति-काम लही री[8] ।" कृषि सम्पन्न होने पर काटकर अन्न की जो ढेरी लगा देते हैं, उसे राशि कहते हैं। खेत में जो थोड़ी-बहुत बालियां गिर जाती हैं, उन्हें बीन लिया जाता है, उसे सिला कहते हैं और कटाई की जो मज़दूरी पूलों (बालियों सहित पौधों के गट्ठों) के रूप में श्रमिकों को दी जाती है, उसे लावनी कहते हैं। राम-सीता का सौन्दर्य राशि है, उसके समक्ष सौन्दर्य के प्रतिमान रति-काम का रूप सिला और लवनी (लावनी) है । कृषक-समाज को राम-सीता के सौन्दर्य की अनुभूति कराने के लिए इससे अधिक प्रभावशाली अप्रस्तुत योजना और क्या हो सकती है ? यह तुलसी जैसे कवि की प्रतिभा का ही कौशल है ।

तुलसी ने कृषि के उपकरणों को ही अप्रस्तुत रूप में अपनाते हुए कैकेयी के वरदान के कारण होनेवाली अयोध्या की विपत्ति की भी अनुभूति कराई है :—

"विपति बीजु बरषा रितु केरी,
भुंइ भई कुमति कैकई केरी।
पाई कपटु जलु अंकुर जामा,
वर दोउ दल दुख फल परिनामा[9] ।"

दासी रूपी वर्षा ऋतु से कपट रूपी जल पाकर कैकेयी रूपी भूमि में विपत्ति का बीज अंकुरित हुआ, जिसमें सर्व प्रथम दो वरदान रूपी दो दल उत्पन्न हुए और अन्त में दुख का फल प्राप्त हुआ। सांग रूपक की इस योजना से कवि ने कल्पना-कौशल द्वारा मंथरा कैकेयी की कुमंत्रणा के दुष्परिणाम की अनुभूति कराई है।

तुलसी अप्रस्तुत-योजना के लिए अनेक स्थलों पर कृषि सम्बन्धी वस्तुओं को अपनाया है। उन्होंने साधु-चरित्र को कपास के समान शुभ्र एवं उज्ज्वल बताया है।[10] कुम्हड़े की जई तर्जनी उंगली के संकेत मात्र से कुम्हला जाती हैं,[11] ऐसी मान्यता है,जिस का प्रयोग लक्ष्मण ने परशुराम के प्रति करते हुए अपनी शक्ति-सम्पन्नता का आभास दिलाया है। इसी भावना की अभिव्यक्ति इसी प्रसंग में मुनि विश्वामित्र ने परशुराम के क्रोध से लक्ष्मण को अविचलित देखकर मन ही मन की है, और उस के लिए ईख से निर्मित खांड (शक्कर) को अप्रस्तुत रूप में अपनाया है। जिस प्रकार शक्कर मुंह में रखने या पानी डालने से तुरन्त गल जाती है, उस प्रकार लक्ष्मण परशुराम के क्रोध-जल से गल जाने वाले नहीं हैं।[12] मूली अत्यन्त कोमल होती है, इस लिए राजा जनक द्वारा पृथ्वी को वीर-विहीन घोषित करने पर लक्ष्मण क्रोधाविष्ट होकर धनुष ही नहीं, अपितु पर्वत तक को मूली के समान तोड़ने की बात कहते हैं।[13] रावण अपने हृदय की कठोरता की प्रशंसा करते हुए मूली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को अप्रस्तुत रूप में अपनाकर कहता है कि मेरे हृदय के आघात से दिग्गजों के दांत मूली के समान टूट गये।[14] वर्ण और गुणसाम्य के आधार पर इस उपमा की योजना की गई है।

कृषि-कर्म का ही अंग माली का काम है। तुलसी ने जनकपुर, लंका और सुग्रीव के उद्यान के मालिकों का वर्णन किया है। जनकपुर की वाटिका में राम मालियों से पूछकर गुरु की पूजा के लिए पुष्प-चयन करते हैं[15]। लंका के माली हनुमान के द्वारा अशोक वाटिका उजाड़ने पर रावण से तथा मधुवन के माली अंगदादि वानरों के फल खाने पर सुग्रीव से शिकायत करते हैं[16]। माली के कार्य की कवि ने अप्रस्तुत-योजना भी की है। तुलसी ने संत-सभा को अमराई कहा है, जिसे सुन्दर मन रूपी माली नेत्रों से स्रवित स्नेह-जल से सींचता है[17]। इस सांग रूपक में कवि ने सज्जन-महिमा के साथ मन की पावनता का भी संकेत दिया है। माली निरन्तर केले को काटता रहता है, तभी वह फलता है, अन्यथा नहीं फलता[18]। इसी प्रकार नीच व्यक्ति निरन्तर दण्ड देने पर ही कार्य करता है, अन्यथा नहीं। इस अप्रस्तुत से नीच-स्वभाव की व्यंजना की गई है।

कृषि-कार्य जो इतना महत्वपूर्ण है, जिसका उल्लेख तुलसी ने सर्वाधिक किया है, वही उनके युग में ह्रासोन्मुख था, इसी कारण उन्होंने बड़ी वेदना के साथ 'कवितावली' में इस तथ्य का उल्लेख किया है—"खेती न किसान को[19]" राम-राज्य में वही खेती कल्पवृक्ष के समान फलवती हो रही थी[20]। ऐसी ही खेती काम्य है।

व्यवसायों में दूसरा स्थान वाणिज्य का है। तुलसी के समय में विभिन्न प्रकार का वाणिज्य प्रचलित था, इसलिए उन्होंने अपने काव्य में प्रसंगानुकूल उसका उल्लेख किया है। प्रायः वर्षा के अनन्तर शरद ऋतु के आगमन के साथ ही व्यापारी लोग भी अपने नगर से दूसरे नगरों को व्यापार के लिए जाने लगते थे।[21] वे लाभ की आकांक्षा से ही बाहर जाते थे, किन्तु कभी-कभी मूल गँवाकर भी लौटना पड़ता था। उस समय उनको महान वेदना होती थी। ऐसी ही वेदना सुमन्त को राम-लक्ष्मण सीता को वन में भेजकर अयोध्या लौटते समय हुई थी।[22] प्रत्येक वस्तु का व्यापारी अपने ही व्यापार में कुशल होता है, दूसरी वस्तुओं के व्यापार में उसकी गति नहीं होती। शाक-सब्जी का व्यापारी मणियों के गुणों के सम्बन्ध में नहीं जान सकता। ठीक उसी प्रकार सामान्य कवि साधु-महिमा का बखान नहीं कर सकता। तुलसी अपने को विनम्रता के कारण ऐसे कवियों की कोटि में रखते हैं।[23] वैसे वे जानते हैं कि काव्य और मणि-माणिक-मुक्ता उत्पन्न कहीं होते हैं और शोभा कहीं पाते हैं। मणि-माणिक-मुक्ता क्रमशः अहि, गिरि और गज से उत्पन्न होते हैं तथा नृप-किरीट और तरूणी-तन पर शोभा देते हैं और काव्य कवि के मानस से उत्पन्न होकर सहृदय के हृदय में शोभा देता है[24]। तुलसी स्वयं भी ऐसे जौहरी हैं कि विचारों का जल जब शारदा की कृपा से स्वाति नक्षत्र में हृदय-सागर में रहने वाली बुद्धि की सीप में बरस कर काव्य का मुक्ता बन जाता है, तो उन मुक्ताओं को युक्ति के साथ राम चरित् के श्रेष्ठ धागे में पिरोकर सज्जनों के निर्मल हृदय में पहनाकर उसे सुशोभित करते हैं[25]। कहीं उन्होंने राम-चरित्र को मणि-माणिक की संज्ञा दी है, जो गुरू-पद-नख-मणिगण-ज्योति से गुप्त खानों में भी प्रत्यक्ष दिखाई देने लगता है[26]। यह ज्ञान तुलसी जैसे जौहरी को ही हो सकता है। वे जानते हैं कि जौहरी सोने की परीक्षा कसौटी पर कसकर ही करता है। उसी प्रकार पुरुष की परीक्षा समय पड़ने पर ही होती है और भरत जैसे व्यक्ति ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस परीक्षा में खरे उतरते हैं[27]। तुलसी ने राम-राज्य का वर्णन करते हुए भी अयोध्या के बाजार में सराफों या जौहरियों का उल्लेख किया है[28]। और सभी प्रकार के वाणिज्य का उत्कर्ष बताया है।

तुलसी के समय में समुद्र-मार्ग से भी व्यापार होता था। उन्होंने अप्रस्तुत रूप में कई स्थानों पर सामुद्रिक व्यापार का उल्लेख किया है। उन्होंने शिव-धनुष को जहाज और राम के बाहु-बल को सागर कहा है, जिस में वे सभी राजा डूब गये, जो मोह-वश उस पर चढ़े थे[29]। क्योंकि उसका पार पाना असम्भव है। तुलसी ने राम-वन-गमन का वर्णन करते हुए लिखा है कि प्रथम दिवस तमसा-तीर पर रात्रि-निवास करते समय राम ने सुमन्त से कहा कि लोग सो रहे हैं, तुम रथ इस प्रकार से ले चलो कि उसके पहियों के चिह्नों का पता न चले। सुमन्त द्वारा इसी प्रकार रथ चलाने के बाद जब प्रातः काल अयोध्यावासियों ने राम को नहीं देखा, तो उनकी ऐसी दशा हुई, जैसे समुद्र-मेंडूबते हुए जहाज को देखकर वणिक समाज की होती है[30]। राम-वन-गमन के बाद मां कौशल्या राजा दशरथ को सान्त्वना देते हुए उन्हें अवध-जहाज का कर्णधार बताती हैं और कहती हैं कि आपके धैर्य और साहस से ही वियोग-उदधि पार किया जा सकता है, अन्यथा सारा परिवार उसमें डूब जायगा[31]। डूबता हुआ जब बच जाय, और पथिक समाज किनारे पर लग जाए तो उसे बड़ी प्रसन्नता होती है, ऐसी ही प्रसन्नता सीता का सन्देश लाते हुए हनुमान को देखकर वानरों को हुई[32]। संशय के सिन्धु से नाम-बोहित ही पार कर सकता है[33]। इन उल्लेखों से प्रमाणित होता है कि उस समय अन्य देशों के साथ भारत का समुद्र-मार्ग से भी व्यापार होता था। अन्य व्यापारियों का उल्लेख करते समय तुलसी ने राम-राज्य में बजाजों का भी उल्लेख किया है[34]।

उस समय भी हलवाई मिठाई बनाने-बेचने का व्यवसाय करते थे। तुलसी ने हनुमान को ही हलवाई बना दिया है। वे किस कुशलता से मिठाई बनाते हैं :—

"हाट-बाट-हाटकु पिघिलि चल्यौ घी-सो घनो,
कनक-कराही लंक तलफति ताय सौं,
नाना पकवान बलवान यातुधान सब,
पागि-पागि ढेरी कीन्हीं भली भांति भाय सौं[35]।

और "बालधी फिरावै, बार-बार झहरावै झरै
बुंदिया-सीं लंक पघिलाइ पागि-पागि हैं।[36]

और इस पकवान से उन्होंने पवन द्वारा परसवा कर अग्नि देवता की दावत की। इसी से मिलता-जुलता व्यवसाय सूपकारों का है। शिव के विवाह में सूपशास्त्र में निपुण कलाकारों से हिमाचल-नरेश ने बारात की ज्योनार कराई थी[37]। राजा प्रतापभानु के यहां सूपकार का कार्य कपट मुनि ने पुरोहित बनकर किया था[38]। राम-विवाह में भी राजा जनक ने सूपकारों द्वारा ही बारात के भोजन की व्यवस्था कराई थी।[39]

तुलसी के समय में अनेक वैद्य रोग-निदान एवं चिकित्सा द्वारा अपनी जीविका अर्जित करते थे। तुलसी ने इस व्यवसाय का उल्लेख विस्तार के साथ सूक्ष्मता से किया है। उन्होंने 'राम चरित मानस' के उतर काण्ड में अनेक मानसिक रोगों का वर्णन करते हुए उनकी उचित चिकित्सा बताई है तथा वैद्य और उसके कार्य के सांग रूपक द्वारा अपने इस विषय के ज्ञान का परिचय इस प्रकार दिया है :—

"सद्गुरू वैद वचन विस्वासा,
संजम यह न विषय।
रघुपति भगति सजीवन मूरी,
अनूपान श्रद्धा मति पूरी।
एहि विधि भलेहि सो रोग नसाहीं,
नाहिं त जतन कोटि नहिं जाई।
जानिअ तब विरूज गुसाईं,
जब उर बल विराग अधिकाई।"[40]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने मानस रोगों की तुलना शारीरिक रोगों से की है। यद्यपि उक्त प्रकार की चिकित्सा से रोग ठीक हो जाते हैं, तथापि यदि व्याकुल रोगी कुपथ्य मांगे और वह दे दिया जाय, तो वह काल-विवश हो जाता है और उस पर कोई भी भेषज कार्य नहीं करती।[41] रोग को ठीक करने के लिए रोगी के प्रति कठोरता का व्यवहार भी करना पड़ता है। यहाँ तक की मां असह्य पीड़ा होते हुए भी अपने हृदय को कठोर करके अपने बच्चे के व्रण की शल्य चिकित्सा कराती है।[42] तुलसी ने हनुमान को रसायनी वैद्य भी बना दिया है, जिन्होंने रावण रूपी राजरोग (राज्यक्ष्मा) के लिए किस प्रकार 'मृगांक' बनाया है—

"रावण सो राजरोगु बाढ़त विराट उर
दिनु दिनु विकल, सकल सुख रांक सो।
नाना उपचार करि हारे सुर, सिद्ध, मुनि,
होत न विसोक, औत पावे न मनाक सो।
राम की रजाइतें रसायनी समीरसुनु,
उतरि पयोधि पारि सोधि सरवाक सो।
जातुधान बुट, पुटपाक लंक-जानाररूप,
रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो।[43]

रावण रूपी राज-रोग की चिकित्सा तो हनुमान ने कर दी, किन्तु वैद्य के अनेक उपाय करने पर भी[44] तुलसी ने भव रोगों के विनाश के लिए राम-गुण-गान को विवुध वैद्य बताया है।

तुलसी के समय कपड़ों की बुनाई और सिलाई का व्यवसाय भी प्रचलित था। यहां तक कि ऊनी वस्त्र बुने जाते थे और कीड़े से रेशम प्राप्त करके वस्त्र बनाने की दक्षता भी उस समय प्राप्त थी। तुलसी ने दोनों का ही उल्लेख किया है।[45] उन्होंने अपनी भदेस कविता में राम की कीर्ति के गान को टाट के कपड़े में सुन्दर सिलाई का उपमा दी है,[46] जिस से इस व्यवसाय का पता चलता है। बढ़ई और लुहार के व्यवसाय का उल्लेख अप्रस्तुत रूप में हुआ है। माता कैकेयी की कुमंत्रणा को बढ़ई बताते हुए उन्होंने कहा है—'मातु कुमत बढ़ई अघमूला, तेहि हमार हित कीन्ह बसूला।'[47] और असन्त के लक्षण बताते हुए उसे कुठार कहा है, जिसे उसी के समान दण्ड भुगतना पड़ता हैं अनल दाहि पीटत घनहि परसु बदन यह दण्ड[48]। कुम्हार के व्यवसाय का स्पष्ट वर्णन तो नहीं हुआ, किन्तु लक्ष्मण द्वारा ब्रह्माण्ड को कच्चे घड़े के समान फोड़ने की बात कहने[49] तथा प्रतापभानु के राज-सुख को देखकर कपटी मुनि के हृदय को अंवा के समान जलता हुआ बताने से[50] इस व्यवसाय का आभास मिलता है। इसी प्रकार कर्म-कोल्हू के रूपक[51] और पीना[52] के उल्लेख से तेली के व्यवसाय का परिचय मिलता है। केवट और निषाद तो राम चरित्र का प्रमुख पात्र है। जो राम को बिना पैर घोए पार नहीं करना चाहता[53] और अपनी भक्ति-भावना से राम का मित्र बन जाता है। किरात और भीलों का उल्लेख भी वन-यात्रा के प्रसंग में हुआ है। कवि ने अप्रस्तुत रूप में भी इन का प्रयोग किया है। मंथरा अकार्य करने की योजना उसी प्रकार बना रही थी, जैसे मधु को देखकर कुटिल किराती उसे पाने का उपाय सोचती है[54]। उसी प्रकार कैकेयी भीलनी के समान राजा दशरथ के सुख रूपी विहगों को मारने के लिए वचन रूपी भयंकर बाज छोड़ना चाहती है[55]। कवि ने कहारों का भी वर्णन किया है, जो राम की बारात में कांवरों में अनेक प्रकार की वस्तुएं ढोकर ले जा रहे थे[56]। राम-जन्म-महोत्सव एवं राम-विवाह वर्णन के प्रसंग में नाई, भाट, नट मागध, बन्दी, सूत आदि का वर्णन किया है[57] जो सेवा द्वारा तथा यश-वर्णन द्वारा अपनी जीविका अर्जित करते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस समय पण्डित, पुरोहित, ज्योतिषी, ओझा इत्यादि का व्यवसाय भी प्रचलित था वशिष्ठ मुनि राम के गुरु भी थे और पुरोहित भी, किन्तु उन्होंने ही नामकरण[58], विवाह आदि सभी संस्कार कराये थे। शतानन्द राजा जनक के पुरोहित थे। ज्योतिषियों के द्वारा ही मुहूर्त बताने पर गोधूलि वेला में राम का विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ था[59]। राम का दर्शन करने के लिए स्वयं शिव ज्योतिषी बनकर मां कौसल्या के द्वार पर आये थे[60]। बालक राम को जब दीठि (दृष्टि) लग गई और उन्होंने दूध पीना छोड़ दिया, तो ओझा (वशिष्ठ) के झाड़ा देने पर वे ठीक हुए[61]। इन व्यवसायों के करने वाले प्रायः ब्राह्मण ही होते थे।

तुलसी ने काव्य, संगीत, चित्र और स्थापत्य कला का भी उल्लेख किया है, राम-विवाह में गायकों ने भी गान किया था। काव्य के तो अनेक सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए भी तुलसी ने अपने को कवि स्वीकार नहीं किया है। कवि को अपने अक्षरों (शब्दों) के अर्थ का ही बल होता है, किन्तु राम-भरत-मिलन का आनन्द कवि के शब्दों में भी व्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि कवि-मति उस प्रेम की छाया का भी अनुसरण नहीं कर सकती। ताल की गति के अनुरूप ही तो नट नाचता है और गाडर (वास) की तांत से सुराग नहीं निकल सकता[62]। उसी प्रकार तुलसी जैसे कवि की बुद्धि उस प्रेमानन्द का वर्णन नहीं कर सकती। इस अप्रस्तुत-योजना में कवि ने नट की कला, काव्य कला और संगीत कला का एक साथ ही आभास दिलाया है। रावण के भवन-निर्माण प्रसंग में तथा सीता के मण्डप-निर्माण प्रसंग में स्थापत्य कला का उल्लेख किया गया है[63]। 'विनय-पत्रिका' के 'केसव कहि न जाइ का कहिए' नामक प्रसिद्ध पद में चित्रकार का उल्लेख किया गया है[64]। इस से प्रतीत होता है कि कला तुलसी के समय में प्रचलित थी और इस से जीविका-उपार्जन भी किया जाता था।

तुलसी ने अपने काव्य में ऐसे व्यवसायों का उल्लेख भी किया है, जो गर्हित एवं पाप कर्म समझे जाते हैं। इन में सूदखोर महाजन का व्यवसाय भी है, जो विवश व्यक्तियों के शोषण पर आधारित है। ये महाजन ऋण देकर मनमाना ब्याज वसूल करते हैं। लक्ष्मण परशुराम से गुरु ऋण का ब्याज भी वसूल करने के लिए व्यंग्य पूर्ण शब्दों में कहते हैं—

"दिन चलि गयेउ व्याज बहु बाढ़ा।
अब आनिय व्यवहरिया बोली,तुरत देउं मैं थैली खोली[65]

ये महाजन दिन-दहाड़े के लुटेरे हैं। लेकिन तुलसी ने वास्तविक चोर और ठगों का भी उल्लेख किया है। जिस प्रकार धन चुराते हुए चोर को धन सहित उस का स्वामी पकड़ ले, उस की जो दशा होती है; वही दशा सुग्रीव और विभिषिण की भरत से भेंट करने पर हुई[66]। 'विनय पत्रिका' में भी तस्करों द्वारा धन लूटने का उल्लेख हुआ है[67]। उस समय ठग लोगों को विषमय लड्डू खिलाकर अचेत कर देते थे और लूट लेते थे व्यक्ति जैसे अपनी सुध-भूल जाता है, वैसे ही राम-लक्ष्मण के सौन्दर्य को देखकर जनक भी आत्म-विस्मृत हो गये[68]। इस प्रकार तुलसी ने अपने युग में प्रचलित व्यवसायों का प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत रूप से उल्लेख करके अपनी व्युत्पन्नता का परिचय दिया है।

मानव जीवन में जहां जीविका-उपार्जन के लिए व्यवसाय का महत्व है, वहां श्रम-परिहार के लिए एवं सद्यता और स्फूर्ति प्राप्त करने के लिए मनोरंजन भी आवश्यक है। तुलसी के चरित नायक राम-राजपुत्र थे, इसलिए उन्होंने उन्हीं के अनुरूप मनोरंजन के साधनों का वर्णन किया है। बालक राम तो गोली, भौंरा, चकडोरी तथा विभिन्न खिलौनों से अपना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोरंजन करते हैं[69]। किन्तु उनके जन्म-विवाह आदि के समय वाद्य, संगीत और नृत्य आदि की योजना होती है। 'गीतावली' के प्रारम्भिक छः पदों में जन्म-समय के गीत और नृत्य का कवि ने विस्तार से वर्णन किया है। राम द्वारा धनुष तोड़ने पर झांझ, मृदंग, शंख, शहनाई, भेरी, ढोल, दुंदुभी इत्यादि अनेक वाद्य बजने लगते हैं। देव-वधुएं गान करती हुई आकाश में नृत्य करने लगती हैं, और जनकपुर की युवतियां भी मंगल-गान गाने लगती हैं[71]। अयोध्या में जब यह समाचार मिलता है, तो वहां भी विधू वदनी कोकिल को लज्जित करती हुई मंजुल वाणी में मंगल गान गाती है।[71] और जब जनकपुर के लिए बारात चलती है, उस समय भी अनेक प्रकार के मनोहर गीत गाती हैं[72]। रावण के यहां तो युद्ध-काल में भी अखाड़ा जुड़ता है, जिसमें अप्सरायें नृत्य करती हैं और किन्नर उसके गुणों का गान करते हैं।[73] राम राज्य में भी नर्तक अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। कवि ने अभिनय का भी उल्लेख किया है। राम स्वयं ब्रह्म होकर मानव-चरित्र का अभिनय कर रहे हैं। उनका सारा चरित्र नर-लीला ही है, जिसका उल्लेख तुलसी ने स्थान-स्थान पर किया है, जिसे आलोचकों ने रस में व्याघात भी बताया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

> जथा अनेक वेष धरि,
> नृत्य करत नट कोई।
> सोइ सोई भाव दिखावहिं,
> आपुन होइ न सोइ।'[74]

उसी प्रकार भक्त के लिए भगवान प्राकृत नर-अनुरूप चरित्र करता है। राम की बारात में विदूषक भी मनोरंजन करते दिखाई पड़ते हैं।[75] राम के बाल रूप के सौन्दर्य को देखकर माता कौशल्या को ऐसा आनन्द होता है।[76] जनकपुर के नर-नारी भी राम-लक्ष्मण को देखकर मानते हैं कि राजा जनक के अच्छे पासे पड़े हैं। इस अप्रस्तुत-योजना से द्यूत-क्रीड़ा के मनोरंजन का ज्ञान होता है। उस समय कठपुतली का खेल भी मनोरंजन का एक साधन था। इसलिए कवि ने भगवान को सूत्रधार शारदा को उसकी कठपुतली की उपमा दी है।[77]

राम जब किशोरावस्था को प्राप्त करते हैं, तो वे राजकुमारों के अनुरूप मृगया द्वारा मनोरंजन करते हैं। उनकी मृगया-क्रीड़ा का वर्णन कवि ने कई स्थानों पर किया है।[78] वन-मार्ग में भी राम को बनवासी लोग मृगया खिलाने का प्रलोभन देकर रुकने के लिए कहते हैं।[79] राम भी खर-दूषण के दूत से कहते हैं—

> "हम छत्री मृगया वन करहीं,
> तुम से खल मृग खोजत फिरहीं।"[80]

मृगया खेलना राजाओं और राजकुमारों का मुख्य मनोरंजन था। राजा प्रतापभानु भी मृगया खेलते-भटक जाता है।[81] उस समय सामान्य आखेटक बाज पालकर उनके द्वारा पक्षियों का शिकार करते थे। रावण से युद्ध करते समय राम का अनुकूल रुख देख कर हनुमान को वैसी प्रसन्नता होती है, जैसी कि बाज को उसकी टोपी खोल देने पर होती है। उस समय मछलियों का शिकार खेलना भी मनोरंजन का एक साधन था, तभी तो तुलसी भगवान से प्रार्थना करते हैं—

> "कृपा डोरि बंसी पद-अंकुस,
> परम प्रेम मृदु चारो।
> येहि विधि वेधि हरहु मेरो,
> दुख कौतुक नाथ तिहारो।[82]

मन-मीन को विद्ध करने के लिए भगवान् से प्रार्थना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की गई है।

किशोर राम दूसरा खेल चौगान का खेलते हैं, उसका वर्णन भी कवि ने किया है[83]। अंगद रावण को समझाते हुए कहते हैं कि राम के वाणों से छिन्न तुम्हारे सिरों से भालू और बन्दर चौगान का खेल खेलेंगे[84]। गेंद के अन्य खेल भी सम्भवतः खेले जाते थे[85]। लक्ष्मण जनकपुरी में कन्दुक के समान ब्रह्माण्ड को उठाने की घोषणा करते हैं[86]। सागर पर पुल बनाते समय नल-नील बन्दरों के हाथों से पत्थरों को कन्दुक के समान ले लेते हैं।[87] इन मनोरंजन के साधनों के अतिरिक्त कुछ लोग पक्षी विशेषकर शुक-सारिका पालकर भी अपना मनोरंजत करते थे। सज्जन लोग शुक-सारिका को राम का नाम सिखाते थे और असज्जन गालियां सिखाते थे। राम-राज्य में अयोध्यावासियों ने भी अपने घरों में मोर, हंस, सारस, पारावत इत्यादि पक्षी पाल रखे थे, जो उनके वासकों का मनोरंजन करते थे।[88] 'गीतावली' में भी अयोध्यावासियों के भरत के साथ चित्रकूट जाने और वैसे ही लौट आने पर शुक-सारिका-संवाद का वर्णन मिलता है।[89] इस से प्रतीत होता है कि पक्षी-पालन एक सामान्य मनोरंजन था। श्रवण मास में झूले द्वारा तथा फाल्गुन में फाग-क्रीड़ा द्वारा राम भी अपना मनोरंजन करते थे।[90] इस प्रकार तुलसी ने मनोरंजन के विविध साधनों का वर्णन किया है।

इस से प्रमाणित होता है कि तुलसी न केवल शास्त्रज्ञ पण्डित कवि थे, अपितु लोक-ज्ञान से भी पूर्ण थे। इसलिए उन्होंने अपने काव्य में प्रसंगानुकूल अनेक व्यवसायों और मनोरंजन के साधनों का वर्णन किया है।

---

१. राम चरित मानस—४-१४-३।
२. वही १-२६२-२।
३. वही १-१९।
४. वही १-२६०-२।
५. वही ४-१४-४।
६. राम चरित मानस २-२५२-१।
७. वही १-३-४।
८. गीतावली १-१०६।
९. राम चरित मानस २-२२-३।
१०. वही १-१३।
११. राम चरित मानस १-२७२-२।
१२. वही १-२७५।
१३. वही १-२५२-३।
१४. वही ६-२४-३।
१५. वही १-२२७-१।
१६. वही ५-१७-१, ५-२७-४।
१७. वही १-३७।
१८. वही ५-५८।
१९. कवितावली ७-९७
२०. दोहावली १८४।
२१. राम चरित मानस ४-१६।
२२. वही २-९८-४।
२३. वही १-२-६।
२४. वही १-१०-२, ३।
२५. वही १-११।
२६. वही १-०-४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

27. वही २-२८२-३ ।
28. वही ७-२७-छन्द ।
29. वही १-२६१ ।
30. राम चरित मानस 2-85-2 ।
31. वही 2-153-4 ।
32. कवितावली 5-29
33. विनय पत्रिका 202 ।
34. राम चरित मानस 7-27-छन्द ।
35. कवितावली 5-24 ।
36. वही 5-14 ।
37. राम चरित मानस 1-98-2 ।
38. वही 1-172-1 ।
39. वही 1-327-4 ।
40. राम चरित मानस 7-121 3,4,5 ।
41. वही 1-132-1 ।
42. वही 6-9-3
43. वही 7-73-4 ।
44. कवितावली 5-25 ।
45. विनय पत्रिका 120 ।
46. राम चरित मानस 1-31-2
47. वही 2-5-2 तथा 7-95 ।
48. वही 1-13-5 !
49. वही 2-211-2 ।
50. राम चरित मानस 7-37 ।
51. वही 1-252-3 ।
52. वही 1-159-4 ।
53. विनय पत्रिका 143
54. गीतावली 1-193 ।
55. राम चरित मानस 2-99-2, कवितावली 2-5
56. राम चरित मानस 2-12-2 ।
57. राम चरित मानस 2-22 ।
58. वही 2-99-4 ।
59. वही 1-19-3-3, 1-208 ।
60. वही 7-47-3 ।
61. गीतावली 1-4 ।
62. राम चरित मानस 1-311-4 ।
63. गीतावली 1-14 ।
64. गीतावली 1-12
65. राम चरित मानस 21-250-1-3 ।
66. वही 1-173-3, 1-286-287 ।
67. विनय पत्रिका 119 ।
68. राम चरित मानस 1-275-2 ।
69. दोहावली 207 ।
70. विनय पत्रिका 125 ।
71. गीतावली 1-64 ।
72. गीतावली 1-43 ।
73. राम चरित मानस 1-262-1, 261-2
74. वही 1-296-1,2 ।
75. वही 1-300-3 ।
76. वही 6-9-4,5 ।
77. वही 7-72 ।
78. राम चरित मानस 1-301-4
79. गीतावली 1-28
80. राम चरित मानस 1-104-3 ।
81. राम चरित मानस 1-2041 ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

81. राम चरित मानस 2-135-4
82. वही 3-185।
83. वही 1-155-2।
84. कवितावली 6-60।
85. विनयपत्रिका 102
86. गीतावली 1-22, 45।
87. रामचरितमानस 6-30 6-29-3
88. वही 1-252-2, ।
89. वही 6-1-1।
90. वही 1-6-5
91. गीतावली 2-66-67।
92. गीतावली 7-18, 22।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री वशिष्ठ मुनि ओझा
३३-ग्राहम रोड
कलकत्ता ।

आधुनिकता और समसामयिकता

'आधुनिकता' वस्तुतः मानव प्रगति की सूचना है । "आधुनिकता" देशकाल बोधक आशयपूर्ण शब्द है । आधुनिकता की परिभाषा देते समय कुछ विद्वान अतीत से अलग हटकर एक नयी राह बनाते हैं एवं उसे 'आधुनिकता' की संज्ञा देते हैं एवं उसका अपना अलग महत्व बताते हैं । कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो आधुनिकता की व्याख्या अतीत समकक्षता के कारण उचित समझते हैं ।

नये जमाने के साथ चलने वाले कुछ फैशन-परस्त और चौंकाने वाले आलोचक भले ही अतीत से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लें पर कोई भी बुद्धि-जीवी अतीत को छोड़कर वर्तमान को अपने अन्दर नहीं समेट सकता । वर्तमान में बहुत कुछ हिस्सा अतीत का भी है । आज का अतीत गुजरे हुए कल का वर्तमान है । आज जिसे हम आधुनिक कहते हैं वह स्वयं कुछेक दिनों बाद अतीत के आईने में चमक उठता है और फिर उसी अतीत के आधार पर खड़ा वर्तमान हमें आधुनिकता का बोध कराता है । जबकि अतीत की सापेक्षता में ही आधुनिकता को देखने से उसकी मौलिकता नहीं मिटती । अतः आधुनिकता का वास्तविक अर्थ विगत सांस्कृतिक मूल्यों को अपने अन्दर समेट कर मानव की वर्तमान स्थिति और चेतनता को स्वीकार करना है । आज के संघर्षगामी जीवन में मनुष्य की संवेदना कुछ और दूसरे नये ढंग से अनुभव कर रही है ।

जब जिस युग का समय आया सभी ने अपने समय में आधुनिकता की संज्ञा को विभूषित किया। किन्तु यह बात सत्य है कि आज विज्ञान ने हमारे वातावरण और परिस्थितियों में इस कदर परिवर्तन ला दिया है कि सचेत होकर हम अपनी आधु-निकता के बारे में सोच रहे हैं । आज का युग महान् संकटों से गुजर रहा है । धर्म, विज्ञान, कला, भाषा, नैतिकता और दर्शन के क्षेत्र में जो संकट उपस्थित हुआ है वह बड़ा गम्भीर है । यही संकट आज के संवेदनशील मानव (काप) को आधुनिकता की ओर खींच रहा है । जब मनुष्य संकट बोध करने लगता है तो वह वर्तमान के प्रति जागरूक हो जाता है । सामाजिक अराजकता और सांस्कृतिक विघटन की परिस्थितियों से मजबूर मानव आज एक ऐसे मोड़ पर आ खड़ा हुआ है जहाँ केवल अंधकार ही अंधकार नजर आ रहा है, केवल एक रोशनी को छोड़ कर वह है आधुनिकता । यही कारण है कि मानव केवल आधुनिकता की ओर अबाध गति से बढ़ रहा है । आधुनिकता का मूल्य ऐतिहासिक दृष्टिकोण के साथ ही है । पुरातन युग और ऐतिहासिक बोध को मानसिक स्तर पर ला कर ही आधुनिकता को प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जा सकता है[1]। जो आधुनिकता ऐतिहासिक बांध के अभाव में अवतरित होती है, वह संकीर्ण आधुनिकता है । संकीर्ण आधुनिकता परम्परा से दूर सारहीन अभिव्यक्तिवाली होती है । मानवीय संदर्भ की दृष्टि से आधुनिकता प्रगति में आस्था रखती है। अतः आधुनिकता के लिये हमारी दृष्टि में मानव सापेक्षता तथा नैतिक और आचारणिक क्षेत्र में परिवर्तित, नवीन, हिन्दुओं के प्रति सहज रहना आवश्यक है। हमारी दृष्टि सम्पूर्ण युग बांध और सम्पूर्ण परिवेश से युक्त होकर नवीन मानव मूल्यों को शक्ति सम्पन्न करती हुई आधुनिकता को प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिकता ऐतिहासिक बोध के परिप्रेक्ष्य में प्रगति की ओर उन्मुख रहती है और गुणबोध को स्वीकारती हुई मानव को अधिक दायित्वशील और सचेतन बनाती है।

आज विज्ञान ने मानव जीवन में एक तूफान ला दिया है। पुरानी मान्यताओं की दीवार भरभरा कर ढह पड़ी है। मनुष्य के अन्दर विस्फोट हुआ। उसके चिन्तन एवं कार्य की दिशा बदली, जीने का ढंग बदला। इसमें कोई शक नहीं कि विज्ञान जहां भौतिक परिवर्तन लेकर आया वहाँ अपनी मौलिकता से रूढ़ मान्यताओं में क्रान्ति कर रहा है। नये-नये प्रयोगों द्वारा यह समझाने की कोशिश की कि नैतिक मान्यतायें मनुष्य द्वारा निर्मित और प्रचारित हैं। मनुष्य नये पन की खोज में प्रकृति को जीतता चला गया परन्तु भीतर ही भीतर वह उस अबूझ पहेली के बूझने में स्वयं ही हार पर हार, मार पर खाता चला गया। मनुष्यता की कीमत पैसों में आंकी जाने लगी। लाभ-हानि के पलड़े में हरेक वस्तु वजन होने लगी। उपर्युक्त परिस्थिति का कारण था औद्योगिक पूंजीवाद। एक ओर अनगढ़ विराट् भीड़ का दबाव और उसके कारण लेखक के भाव स्तर और अभिव्यंजना शिल्प का संकट दूसरी ओर औद्योगिक पूंजीवाद की चरम व्यावसायिक दृष्टि जो हर साहित्यिक कृति को बिक्री की दृष्टि से परखने लगी। तीसरी ओर राज्य का यह दावा कि मानव-सत्य का ज्ञाता,मूल्यों का अन्वेषक और नीति का निर्णायक केवल मनुष्य है। इस त्रिकोणात्मक संघर्ष में आधुनिक साहित्य-विघटन की संवेदना और तीखी एवं स्पष्ट होती गयी।

उपर्युक्त परिस्थितियों के बीच जकड़ा हुआ संवेदन-शील इन्सान कोई दूसरा रास्ता न पाकर आधुनिकता की ओर अग्रसर हो गया। एक अंग्रेजी समीक्षक जी० एस० फीपर की यह मान्यता ठीक ही है कि आधुनिकता को अपनीसुरक्षा के लिये अतीत से सम्बन्ध रखना चाहिये।

अतीत का पुरातन इतिहास जिस दिशा की ओर संकेत करता है उस से आगे बढ़ने के लिये युग-बोध की आवश्यकता अधिक होती है। कवि युग से अलग रहकर अपना काम नहीं चला सकता न अतीत से एकदम हटकर क्योंकि नए के लिये पुराने का ज्ञान आवश्यक है और अतीत को छोड़कर वर्तमान अंधेरा हो जाता है। वर्तमान को जानने एवं अग्रसर होने में अतीत का ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना आधुनिकता के लिये ऐतिहासिक बोध का। प्रत्येक पीढ़ी अपनी कुछ समस्यायें लेकर हमारे समक्ष आती है—उनका अपना परिवेश होता है। अतः आधुनिकता और नए युग का बोध-विकासात्मक गति का परिचायक है[2]।

आधुनिकता नये बोध के लिये वैज्ञानिक दृष्टि को भी स्वीकार कर चलती है। यह वैज्ञानिक दृष्टि साहित्य को जिस ओर ले जाने का क्रम उठाती है वह साहित्य की श्रेष्ठ दिशा है। आधुनिकता परीक्षण को भी हेय दृष्टि से नहीं देखती है आज के युग को वैज्ञानिक युगीन दृष्टि की आवश्यकता एवं आधुनिकता इसकी पूरक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिकता यथार्थ की गतिशीलता को स्वीकार करके चलती है। इतना ही नहीं वह यथार्थ की तथाकथित कटुता और उग्रता को सौन्दर्य दृष्टि से देखने के निमित्त प्रोत्साहित करती है। अतः आधुनिकता जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण है और यथार्थ क्षण प्रतिक्षण परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरता रहता है।

आधुनिकता मनुष्य के विचारों का विशुद्धीकरण कर मनुष्य को जो स्वयं ही आज निर्जीव मान्यतायों के बोध से सर को झुकाये असाध्य वेदना से छटपटाता है उसके स्वयं को एवं साहित्य के बोझ को हल्का करने में सहयोग देती है। आधुनिकता सम्पूर्ण विकास एवं गति का केन्द्र मनुष्य एवं उसकी उपलब्धि को मानती है। आधुनिकता के स्पर्श से ही मनुष्य शक्तिसम्पन्न होकर सब अनर्गल एवं निजीव मान्यताओं को हटाता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि आधुनिकता मानव के क्षण प्रतिक्षण होने वाले विकास के प्रति विशेष आस्थावान है।

डा० जगदीश गुप्त ने आधुनिकता का मूलाधार मानवतावादी को बताया है। बीते हुए युगों की तरफ एक दृष्टि फैंकने से ही ऐसा महसूस होता है कि पुरातन एवं आधुनिकता की संघर्षमुक्ति ही में कोई न कोई मानवीय दृष्टिकोण अवश्य रहा है। उदाहरणार्थ साम्प्रदायिकता, जातिवाद, उपनिवेशवाद, दासप्रथा, राजतन्त्र आदि ते सहन इसी लिये किया और समाप्त हो गई क्योंकि उपर्युक्त के साथ अनेक अमानवीय तत्व भी उत्पन्न हो रहे थे। यहाँ डा० गुप्त का विचार स्वप्नजाल न होकर एक सुव्यवस्थित आधुनिक दृष्टिकोण ही है।

समसामयिकता

आधुनिकता की ओर दृष्टि फेरते ही समसामयिकता का प्रश्न उठ पड़ता है। आधुनिकता बोध एवं समसामयिकता बोध परस्पर एक दूसरे से प्रेरित होते हैं। समसामयिकता भी आधुनिक युग का ही बोध है। आज जीवन किसी तेजी के साथ उन्नति और अग्रसर हो रहा है इसका अनुभव एवं प्रत्येक छोटे से छोटे क्षण को आत्मसात् करने का प्रयास करना है। मनुष्य अपने को इस प्रयास में रखता है ताकि छोटी-छोटी अनुभूतियां एवं उनसे उत्पन्न क्षणानुभूति को अपने हृदय दर्पण में संजोये रखना। मनुष्य उन खास क्षणों को सुरक्षित रखना चाहता है जो क्षण उनकी गतिशीलता से जुड़े होते हैं। समसामयिकता इसी क्षणानुभूति को ग्रहण करने में सहायक होती है। वर्तमान के महत्व की अनुभूति समसामयिकता से ही संबन्धित है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी अंश में वर्तमान की अनुभूति करता है। वह जो वर्तमान से कटा हुआ रहता है उसकी दृष्टि भविष्यधर्मा होती है। वे स्वप्न में पलते हैं एवं स्वयं को अतीत से जोड़े रहते हैं। ये व्यक्ति जीवन की गतिशीलता को तो पकड़ ही नहीं पाते साथ ही वर्तमान को पकड़ने में असमर्थ होते हैं।

आधुनिकता में हम जिस संवेदना की बात करते हैं वह किसी हद तक समसामयिकता में भी दिखाई देती है। किन्तु यह समानता भूल होगी कि समसामयिकता एवं आधुनिकता एक ही अर्थ प्रदान करते हैं। हम आधुनिक बनकर समसामयिकता से शत-प्रतिशत अपना संबंध नहीं जोड़ पाते हैं जबकि समसामयिक होकर आधुनिकता से अपना संबंध जोड़ सकते हैं। आधुनिकता युगानुरूप उपकरणों से सजती है एवं प्रत्येक युग में आधुनिकता के अनुकरण अलग-अलग हैं। समसामयिकता आधुनिकता को शक्ति प्रदान करती है। आज जो आधुनिक है वह कल आधुनिकता नहीं रहेगा। मान्यतायें रोज ही बदलती हैं। वह क्षण जो गुजरा वह पृथक् आधुनिकता की सीमा में आया फिर आगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बढ़ गया । उसे हम पुरातन कह बैठे एवं साथ ही नया कुछ आकर वह स्थान घेर लेता है । आज और कल की स्थिति में बड़ा अन्तर होता है ।

समसामयिकता देश काल के साथ-साथ उस क्षण की तीव्रानुभूति की पकड़ से है जो परिस्थितियों से उत्पन्न है । साथ ही जो सामायिक औचित्य की रक्षा करने में सबसे अधिक अपनी भूमिका अदा करती है । समसामयिक आधुनिक दुनियां से ही अपना संबंध रखता है तथा अपनी रचनाओं में इसी बोध को व्यंजित करता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि समसामयिक संघर्षों से संपृक्त होकर भी प्रमुखतः उन शक्तियों मूल्यों को स्वीकार करती चलती है है जो एक दूसरे से संघर्ष कर रहे होते हैं । समसामयिकता के विवेचन के पश्चात् निम्न निष्कर्ष सामने आते हैं :—

1. समसामयिकता का पहला सन्दर्भ प्रत्येक छोटे-छोटे क्षण को उस की समग्रता में अनुभूत करते चलना—क्योंकि जीवन के प्रत्येक क्षण का महत्व है । आज की अनुभूति का आधुनिक स्तर जीवन की छोटी-छोटी अनुभूति और उसमें निहित सत्य के प्रति जागरूकता की बात करता है । वक्त बदल चुका है साथ ही मान्यतायें भी बदल चुकी हैं । आज वह समय नहीं जब क्षणानुभूति में महत्व रखने वाला व्यक्ति किसी महान् गाथा में तोष पाये क्योंकि जीवन की गतिशीलता में ठहराव नहीं, धैर्य नहीं ।

2. समसामयिकता के आग्रह में वर्तमान के उन आयामों को मानवीय संवेदन और अनुभूति मिलती है जिसमें आकार प्रकार का महत्व न होकर प्रेषणीयता का महत्व हो जो अपनी प्रेषणीयता से दूसरे जीवन को प्रभावित कर सकती हो । जीवन का नैतिक दृष्टिकोण समसामायिकता के सन्दर्भ में ही आता है । समसामयिकता के प्रति जागरूक मानव को चेतना पक्षों के साथ ही विकास एवं प्रौढ़ता प्राप्त होती है ।

3. वर्तमान में जीना और बात है पर वह स्थिति जिसमें हम वर्तमान में होते हुए भी रहते हैं उसके प्रति सचेत एवं जागरूक रहना निहायत जरूरी है । साहित्य समसामयिक होता है । साहित्य रूपी आइने में देशकाल का सत्यरूप प्रकट हो जाता है । साहित्य देशकाल का यथार्थ चित्रण तो करता ही है साथ ही उससे आगे वह अपनी अभिव्यक्ति के द्वारा अच्छा सुझाव देता है । युग के साथ उसकी मान्यतायें बदल रही हैं और हम प्रतिक्षण आगे बढ़ रहे हैं । इस बदलते हुए रूप को पहचान कर उसके साथ साथ कदम से कदम मिलाकर चलना प्रत्येक समसामयिक कवि का कार्य है । बदलते हुए रूप से मनुष्य भी बदलता है एवं दायित्वों का बोझ भी दूसरे प्रकार का हो जाता है । इस प्रकार अभिव्यक्ति के लिये भी समसामयिकता को पाना आवश्यक है ।

4. समसामयिकता के संदर्भ में ही आकर यथार्थ की तीव्रता एवं गतिशीलता प्राप्त होती है । यथार्थ की ठोस भूमि पर जब कल्पना लोक से उतरना पड़ता है मानवीय सम्भावनाओं को किसी न किसी पक्ष को समसामयिकता के स्तर पर रख कर ही देखा जा सकता है । समसामयिकता बोध एक ऐसा बोध है जो मानवीय सम्भावनाओं के प्रति स्पष्ट और सही ढंग को विकसित करता है ।

5. आज जीवन की गति बदल गई है और हमें आवश्यक है कि इस बदले हुए गति शीलता को पहचानते एवं सक्रिय होकर तत्परता से अपनाते चलें । जीवन की गति की तीव्रता अधिकाधिक गतिशील तत्वों को लेकर चलती है अतः जीवन की गति शीलता को सुरक्षित रखने के लिये आत्मबोध, आत्माभिमान बोध को उपेक्षित दृष्टि से नहीं देखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिकता यथार्थ की गतिशीलता को स्वीकार करके चलती है। इतना ही नहीं वह यथार्थ की तथाकथित कटुता और उग्रता को सौन्दर्य दृष्टि से देखने के निमित्त प्रोत्साहित करती है। अतः आधुनिकता जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण है और यथार्थ क्षण प्रतिक्षण परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरता रहता है।

आधुनिकता मनुष्य के विचारों का विशुद्धीकरण कर मनुष्य को जो स्वयं ही आज निर्जीव मान्यतायों के बोध से सर को झुकाये असाध्य वेदना से छटपटाता है उसके स्वयं को एवं साहित्य के बोझ को हल्का करने में सहयोग देती है। आधुनिकता सम्पूर्ण विकास एवं गति का केन्द्र मनुष्य एवं उसकी उपलब्धि को मानती है। आधुनिकता के स्पर्श से ही मनुष्य शक्तिसम्पन्न होकर सब अनर्गल एवं निर्जीव मान्यताओं को हटाता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि आधुनिकता मानव के क्षण प्रतिक्षण होने वाले विकास के प्रति विशेष आस्थावान है।

डा० जगदीश गुप्त ने आधुनिकता का मूलाधार मानवतावादी को बताया है। बीते हुए युगों की तरफ एक दृष्टि फैंकने से ही ऐसा महसूस होता है कि पुरातन एवं आधुनिकता की संघर्षमुक्ति ही में कोई न कोई मानवीय दृष्टिकोण अवश्य रहा है। उदाहरणार्थ साम्प्रदायिकता, जातिवाद, उपनिवेशवाद, दासप्रथा, राजतन्त्र आदि ते सहन इसी लिये किया और समाप्त हो गई क्योंकि उपर्युक्त के साथ अनेक अमानवीय तत्व भी उत्पन्न हो रहे थे। यहाँ डा० गुप्त का विचार स्वप्नजाल न होकर एक सुव्यवस्थित आधुनिक दृष्टिकोण ही है।

समसामयिकता

आधुनिकता की ओर दृष्टि फेरते ही समसमायिकता का प्रश्न उठ पड़ता है। आधुनिकता बोध एवं समसामयिकता बोध परस्पर एक दूसरे से प्रेरित होते हैं। समसामयिकता भी आधुनिक युग का ही बोध है। आज जीवन किसी तेजी के साथ उन्नति और अग्रसर हो रहा है इसका अनुभव एवं प्रत्येक छोटे से छोटे क्षण को आत्मसात् करने का प्रयास करना है। मनुष्य अपने को इस प्रयास में रखता है ताकि छोटी-छोटी अनुभूतियां एवं उनसे उत्पन्न क्षणाभूति को अपने हृदय दर्पण में संजोये रखना। मनुष्य उन खास क्षणों को सुरक्षित रखना चाहता है जो क्षण उनकी गतिशीलता से जुड़े होते हैं। समसामयिकता इसी क्षणानुभूति को ग्रहण करने में सहायक होती है। वर्तमान के महत्व की अनुभूति समसामयिकता से ही संवन्धित है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी अंश में वर्तमान की अनुभूति करता है। वह जो वर्तमान से कटा हुआ रहता है उसकी दृष्टि भविष्यधर्मा होती है। वे स्वप्न में पलते हैं एवं स्वयं को अतीत से जोड़े रहते हैं। ये व्यक्ति जीवन की गतिशीलता को तो पकड़ ही नहीं पाते साथ ही वर्तमान को पकड़ने में असमर्थ होते हैं।

आधुनिकता में हम जिस संवेदना की बात करते हैं वह किसी हद तक समसामयिकता में भी दिखाई देती है। किन्तु यह समानता भूल होगी कि समसामयिकता एवं आधुनिकता एक ही अर्थ प्रदान करते हैं। हम आधुनिक बनकर समसामयिकता से शत-प्रतिशत अपना संबंध नहीं जोड़ पाते हैं जबकि समसामयिक होकर आधुनिकता से अपना संबंध जोड़ सकते हैं। आधुनिकता युगानुरूप उपकरणों से सजती है एवं प्रत्येक युग में आधुनिकता के अनुकरण अलग-अलग हैं। समसामयिकता आधुनिकता को शक्ति प्रदान करती है। आज जो आधुनिक है वह कल आधुनिकता नहीं रहेगा। मान्यतायें रोज ही बदलती हैं। वह क्षण जो गुजरा वह पृथक् आधुनिकता की सीमा में आया फिर आगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बढ़ गया। उसे हम पुरातन कह बैठे एवं साथ ही नया कुछ आकर वह स्थान घेर लेता है। आज और कल की स्थिति में बड़ा अन्तर होता है।

समसामयिकता देश काल के साथ-साथ उस क्षण की तीव्रानुभूति की पकड़ से है जो परिस्थितियों से उत्पन्न है। साथ ही जो सामायिक औचित्य की रक्षा करने में सबसे अधिक अपनी भूमिका अदा करती है। समसामयिक आधुनिक दुनियां से ही अपना संबंध रखता है तथा अपनी रचनाओं में इसी बोध को व्यंजित करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समसामयिक संघर्षों से संपृक्त होकर भी प्रमुखतः उन शक्तियों मूल्यों को स्वीकार करती चलती है है जो एक दूसरे से संघर्ष कर रहे होते हैं। समसामयिकता के विवेचन के पश्चात् निम्न निष्कर्ष सामने आते हैं :—

1. समसामयिकता का पहला सन्दर्भ प्रत्येक छोटे-छोटे क्षण को उस की समग्रता में अनुभूत करते चलना—क्योंकि जीवन के प्रत्येक क्षण का महत्व है। आज की अनुभूति का आधुनिक स्तर जीवन की छोटी-छोटी अनुभूति और उसमें निहित सत्य के प्रति जागरूकता की बात करता है। वक्त बदल चुका है साथ ही मान्यतायें भी वदल चुकी हैं। आज वह समय नहीं जब क्षणानुभूति में महत्व रखने वाला व्यक्ति किसी महान् गाथा में तोष पाये क्योंकि जीवन की गतिशीलता में ठहराव नहीं, धैर्य नहीं।

2. समसामयिकता के आग्रह में वर्तमान के उन आयामों को मानवीय संवेदन और अनुभूति मिलती है जिसमें आकार प्रकार का महत्व न होकर प्रेषणीयता का महत्व हो जो अपनी प्रेषणीयता से दूसरे जीवन को प्रभावित कर सकती हो। जीवन का नैतिक दृष्टिकोण समसामायिकता के सन्दर्भ में ही आता है। समसामयिकता के प्रति जागरूक मानव को चेतना पक्षों के साथ ही विकास एवं प्रौढ़ता प्राप्त होती है।

3. वर्तमान में जीना और बात है पर वह स्थिति जिसमें हम वर्तमान में होते हुए भी रहते हैं उसके प्रति सचेत एवं जागरूक रहना निहायत जरूरी है। साहित्य समसामयिक होता है। साहित्य रूपी आइने में देशकाल का सत्यरूप प्रकट हो जाता है। साहित्य देशकाल का यथार्थ चित्रण तो करता ही है साथ ही उससे आगे वह अपनी अभिव्यक्ति के द्वारा अच्छा सुझाव देता है। युग के साथ उसकी मान्यतायें बदल रही हैं और हम प्रतिक्षण आगे बढ़ रहे हैं। इस बदलते हुए रूप को पहचान कर उसके साथ साथ कदम से कदम मिलाकर चलना प्रत्येक समसामयिक कवि का कार्य है। बदलते हुए रूप से मनुष्य भी बदलता है एवं दायित्वों का बोझ भी दूसरे प्रकार का हो जाता है। इस प्रकार अभिव्यक्ति के लिये भी समसामयिकता को पाना आवश्यक है।

4. समसामयिकता के संदर्भ में ही आकर यथार्थ की तीव्रता एवं गतिशीलता प्राप्त होती है। यथार्थ की ठोस भूमि पर जब कल्पना लोक से उतरना पड़ता है मानवीय सम्भावनाओं को किसी न किसी पक्ष को समसामयिकता के स्तर पर रख कर ही देखा जा सकता है। समसामयिकता बोध एक ऐसा बोध है जो मानवीय सम्भावनाओं के प्रति स्पष्ट और सही ढंग को विकसित करता है।

5. आज जीवन की गति बदल गई है और हमें आवश्यक है कि इस बदले हुए गति शीलता को पहचानते एवं साक्रिय होकर तत्परता से अपनाते चलें। जीवन की गति की तीव्रता अधिकाधिक गतिशील तत्वों को लेकर चलती है अतः जीवन की गति शीलता को सुरक्षित रखने के लिये आत्मबोध, आत्माभिमान बोध को उपेक्षित दृष्टि से नहीं देखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि समसामयिकता में ही आत्माभिमान एवं आत्मबोध आकार पाते हैं। आत्माभिमान एवं आत्मबोध के अस्तित्व का आकार प्रस्तुत होता है।

समसामयिकता और आधुनिकता—आज जीवन की प्रत्येक मान्यतायें बदल रही हैं। जीवन इतना विषाक्त एवं द्वन्द्वात्मक हो गया है कि प्रत्येक मनुष्य स्वयं को समझ नहीं पा रहा है। आज युग के विकसन शील सभ्यता के तत्वों के अनुरूप अपने को नए रूप में ढालते चलना ही आधुनिकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिकता वर्तमान के सम्बन्ध में भविष्य की ओर उन्मुख विकसित बोध है। किन्तु एक बात हमें ध्यान में रखना ही है कि आधुनिकता बड़ी तीव्रता से समसामयिकता के प्रति सचेत रहती है किन्तु आधुनिकता नवविकसित मूल्यों को स्वीकार नहीं करती जबकि समसामयिकता उन मूल्यों को स्वीकार करती है जो संघर्ष की स्थिति में होते हैं। आधुनिकता एक युगविशेष का भाव है जबकि समसामयिकता वर्तमान की स्थिति से उत्पन्न आयाम है। आधुनिक होते हुए भी हम समसामयिक नहीं हो सकते क्योंकि समसामयिकता विचारों की परिधि में आती है। यह तो सिद्ध हो ही चुका है कि आधुनिकता विस्तृत एवं विशाल परिधि में है जबकि समसामयिकता संकुचित एवं सीमाबद्ध परिधि में है। आधुनिक भावबोध की बहुलता का परिचय बिना समसामयिकता के प्राप्त नहीं हो सकता।

समसामयिकता में क्रियाशील होने के भाव के साथ ही अतीत एवं भविष्य दोनों से हटकर युगबोध की स्थिति विशेष अथवा क्षणविशेष के प्रति ममत्व का भाव है।

नयी कविता में आधुनिकता और समसामयिकता बोध की स्थिति :—

नयी कविता की अधिकांश विषय वस्तु संवेदना शिल्प और समसामयिकता का ही परिणाम है। आधुनिक बोध के अन्तर्गत आजकी समसामयिकता को ही देख रहा है। उसके अनुभव भी इसी आधार पर हो रहे हैं।

"वह व्यक्ति और समाज का
उत्तम मंथन काल है
संक्रान्ति की घड़ियाँ बनी हैं—
बंधी हुई है देह
मन को बांधने बढ़ते पतन के हाथ
है फेन विष का फैलता ही जा रहा
अब डूबता अन्तिम ग्रहण की छाँह में
आलोक——
जिसका कि पृथ्वी नाम है।[3]

उपर्युक्त कविता यह सिद्ध कर देती है कि नयी कविता आज अपने युगीन सन्दर्भ में जीवन दृष्टि, सौन्दर्य बोध एवं लघु मानव को जिस रूप में प्रस्तुत कर रही हैं, वह आधुनिकता की ही स्थिति है। यदि थोड़ी गहराई में जायें तो पता चलेगा कि आधुनिकता से अधिक यह समसामयिक बोध को वाणी दे रही है। नये-नये सन्दर्भों में जीते हुए भले हम भले ही कोई बड़ी बात नहीं कह पायें किन्तु इतना तो स्पष्ट हो जाता हैं कि हम उसके प्रति सचेत हैं। प्रत्येक क्षण जो परिस्थितियों से उत्पन्न है उस क्षण की अनुभूति करते हुए जीना इस बात का साक्षी है कि छोटे से छोटे क्षण को भी मूल्यवान बनाकर जीवन यापन कर रहे हैं। देखिये—

हम एक हमारा है,
दो भिन्न दिशाओं में।
हमसे होकर सदियों के,
प्रश्न गुजरते हैं।
हम एक व्यवस्था हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षणभंगुर जीवन की
जो हर क्षण को सपनों में,
जीवित रखते हैं ।

नयी कविता जिन विशिष्टताओं को लेकर हमारे समक्ष गुजर रही है वो आधुनिक भाव बोध एवं समसामयिकता दोनों से ही प्रभावित है। आज का कवि समकालीन बोध से परिचित होने के साथ ही एक नया स्वर-नयी किरण-नया रूप एवं नयी ज्योति सभी के हृदय में भर देना चाहता है।

★

---

१. डा० धर्मवीर भारती-आधुनिक साहित्य बोध पेज ७।
२. नन्द दुलारे बाजपेयी :—राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य सम्बन्ध।
३. गिरिजा कुमार माथुर—धूप के धान पेज ३।
४. कुंवरनारायण-नयी कविता के प्रतिमान पेज २६६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ॰ रूपकिशोर मिश्र
थाने कर बिल्डिंग, सालीवाडा
पो॰ संगमनेर, जिला अहमद नगर,
(महाराष्ट्र)

काव्य का आस्वाद : कुछ नये सन्दर्भ

सामान्यतः 'आस्वाद' शब्द का अभिप्राय है किसी वस्तु या पदार्थ के जिह्वा से स्पर्श होने पर मानव-मन में उत्पन्न होने वाली अनुभूति। वह अनुभूति इस ज्ञान का प्रतीक है कि वस्तु का 'आस्वाद' कैसा है ? वह मधुर है, तीक्ष्ण है अथवा लवणयुक्त आदि। इस प्रकार खाद्य पदार्थ के आस्वादन से हमें उसके गुण, महत्व या 'स्वाद' का बोध होता है।

काव्य एवं साहित्य के सन्दर्भ में 'आस्वाद' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त मूलभाव को आत्ममात् करके ही प्राचीनकाल में प्रचलित है। अन्तर केवल इतना है कि काव्य तथा साहित्य में किसी तरल या ठोस पदार्थ की अपेक्षा किसी काव्यकृति, साहित्यिक रचना के अनुभावन से अनुभावक के मन में जो प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, उसके मन पर जो प्रभाव पड़ता है अथवा उसके हृदय में जो अनुभूति होती है, शास्त्रीय शब्दावली में वह उस कृति या रचना का 'आस्वाद' है।

संस्कृत साहित्य में काव्य का आस्वाद 'रस 'या आनन्द माना गया है। यह आनन्द अलौकिक और अनिर्वचनीय है, [यह धारणा भी प्राचीन आचार्यों की रही है। भरतमुनि के रससूत्र 'विभावानुभाव' व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः' के द्वारा काव्य में आनन्दानुभूति को प्रमुख माना गया है। आचार्य मम्मट ने 'सद्यः परनिवृत्तये' के द्वारा आनन्दप्राप्ति को काव्य का सर्वोपरि लक्ष्य माना है। आचार्य विश्वनाथ तथा तद्युगीन अन्य आचार्यों ने इस काव्यानन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' की संज्ञा दी है।

रसानुभूति के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि काव्यास्वादन के समय आस्वादक जब अपने व्यक्तित्व का विस्मरण कर, पूर्ण रूप से काव्य में निमग्न हो जाता है तब काव्य-संवेदना के द्वारा इस में तमस एवं राजस वृत्तियों का तिरोभाव तथा सात्विक वृत्ति का उद्रेक होता है। उस समय काव्य और उसके आस्वादक की सत्ता अभिन्न होती है और वह काव्य के द्वारा आनन्द प्राप्त करता है जिसे संस्कृत आचार्यों ने 'रस' कहा है। यह रसानुभूति साधारणीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सम्पन्न होती है।

इसी 'रस' शब्द के अर्थ में विद्वानों ने समय समय पर अपने चिन्तन और युग सापेक्षता के आधार पर 'काव्यास्वाद' काव्यानंद,काव्यानुभूति, रसानुभूति, रसास्वाद, रसबोध प्रभृति शब्दों का प्रयोग किया है। अद्यतन युग में प्रचलित सौंदर्यबोध, आधुनिक बोध, काव्यात्मक भावबोध, नवभावबोध, साहित्यिक बोध,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभाव, सह-अनुभूति आदि का अभिप्राय भी काव्यास्वाद ही प्रतीत होता है।

युगीन सन्दर्भ में काव्यास्वाद का विवेचन निम्नलिखित आधारों पर किया जा सकता है :—

1. काव्य का आस्वाद रस
2. 'रस' आज की कविता का आस्वाद नहीं है।
3. काव्य का आस्वाद-सौन्दर्यबोध।
4. काव्य का आस्वाद-आधुनिक बोध।
5. काव्य का आस्वाद-'सह-अनुभूति'।
6. काव्य का आस्वाद 'काव्यात्मक प्रभाव'।

काव्य का आस्वाद रस—

शुक्लोत्तर हिन्दी साहित्य में समसामयिकता के परिप्रेक्ष्य में रस सिद्धान्त के विवेचन तथा निरूपण के सन्दर्भ में 'काव्यास्वाद' का विवेचन भी किया गया है। रस सिद्धांत स्वरूप विश्लेषण (डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित), रस सिद्धांत (डॉ० नगेन्द्र), रसविमर्श (डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी), हिन्दी काव्य शास्त्र में रससिद्धांत (डॉ० सच्चिदानंद चौधरी) रससिद्धांत और सौन्दर्यशास्त्र (डॉ० निर्मला जैन) रसशास्त्र और साहित्य समीक्षा (डॉ०कृष्णदेव झारी) काव्यास्वाद का विवेचन (डॉ० कृष्णवल) प्रभृति ग्रन्थों एवं विभिन्न लेखों में काव्यास्वाद पर शास्त्रीय दृष्टि से, पाश्चात्य मनोविज्ञान की दृष्टि से और बदलते हुए आधुनिक परिवेश में विचार किया गया है। परिणामस्वरूप विभिन्न विद्वानों के मत से काव्य का आस्वाद 'रस' है। बाबू गुलाबराय,[1] डॉ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र[2], सुधांशु[3], रामदहिन मिश्र[4], बलदेव उपाध्याय[5], नंददुलारे वाजपेयी[6], डॉ आनन्द प्रकाश दीक्षित[7], डॉ० नगेन्द्र[8], डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी[9] इसी मत के समर्थक है। शिवदान सिंह चौहान[10], अज्ञेय[11] एवं मुक्तिबोध[12] ने भी 'रस' का समर्थन किया है, किन्तु इन में से कतिपय विद्वानों ने 'रस' के परम्परागत स्वरूप से असहमति व्यक्त की है। साथ ही इन्होंने सौन्दर्यबोध का महत्व भी स्वीकार किया है।

'रस' के समर्थक उपर्युक्त विद्वानों के काव्यास्वाद सम्बन्धी मतों पर विचार करने से निम्नलिखित तथ्य उभर कर सामने आते हैं—

क) काव्य का आस्वाद रस है।

ख) रस एक है।

ग) रस अनिर्वचनीय, अलौकिक, अखंड अथवा संश्लिष्ट है।

घ) काव्य से अनिवार्यतः आनन्द प्राप्त होता है।

ङ) रस सार्वभौम और सार्वकालिक सिद्धांत है।

च) अनुभूति रस का प्राणतत्व है।

छ) करूणादि के द्वारा भी आनन्दानुभूति होती है।

यहां यह स्पष्ट कर देना उचित है कि उपर्युक्त पक्षों पर रस के समर्थ व्याख्याता एकमत नहीं हैं। उदाहरणार्थ डॉ० दीक्षित के अनुसार आत्मविश्रान्ति ही रस है। डॉ० नगेन्द्र ने 'रस' को प्रीति और आनन्द के अर्थ में ग्रहण किया है। पं० बलदेव उपाध्याय रस को 'परब्रह्म के आनन्द की अभिव्यक्ति मानते हैं[13] वाजपेयी जी के अनुसार 'सौन्दर्य-संवेदन ही रस है[14]। कतिपय विद्वानों ने काव्य में तन्मयता की स्थिति को ही रस माना है। कुछेक के मत से सहृदय द्वारा कवि की अनुभूति का ग्रहण ही काव्यानन्द है[15]।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार से रस की अलौकिकता तथा करूणादि के द्वारा आनन्दानुभूति के सम्बन्ध में भी इन विद्वानों में मतभेद है।

इसमें यह स्पष्ट है कि रस-स्वरूप के सम्बन्ध में स्वयं रसवादी भी निश्चित नहीं हैं। और उनके परस्पर विरोधी मतों ने स्वयं रस को उलझन में डाल दिया है। इस विवेचन से तीन तथ्य और भी प्रकाश में आते हैं। प्रथम तो यह कि संस्कृत में ही नहीं, आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी इस की परिधि विस्तृत और व्यापक रही है। दूसरे विद्वानों ने परम्परागत इस का समसमायिक सन्दर्भ में पुन-र्विश्लेषण कर उसे जीवन्त बनाये रखने का प्रयत्न किया है। तीसरे, काव्यस्वाद के रूप में 'रस' को ही प्रतिष्ठित रखने के लिए उनका पूर्वाग्रह भी स्पष्ट है। इसके लिए उन्होंने अद्यतन यथार्थ के युग में भी रस को दार्शनिक भित्ति और अलौकिक संसार के परि-प्रेक्ष्य में ही रूपायित किया है। इसलिए संस्कृत साहित्यशास्त्र की भांति हिन्दी में भी एक सम्प्रदाय या वर्गविशेष के बीच ही काव्य का आस्वाद 'रस' मान्य है। एक और भी महत्वपूर्ण तथ्म यह है कि रस का स्वरूप 'षड्रस (मीठा, नमकीन, कड़वा, तीखा, कसैला और खट्टा) का है, किन्तु रसवादियों ने रस को केवल मीठे के प्रति, आनन्द, के अर्थ में प्रयुक्त कर उसे एक विशिष्ट सीमा में परिबद्ध कर दिया है यदि रस के अन्तर्गत उपर्युक्त सभी भेदों को स्वीकार किया जाय तो 'रस' निश्चय ही संस्कृत और हिन्दी कविता का ही नहीं बल्कि संसार की प्रत्येक भाषा के काव्य का आस्वाद हो सकता है। और इस प्रकार वह सार्वकालिक और सार्वभौम सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो सकेगा।

2. रस आज की कविता का आस्वाद नहीं—

हिन्दी के प्रगतिशील आलोचकों ने वस्तुवादी दर्शन के परिप्रेक्ष्य में काव्य के आस्वाद 'रस' पर विचार करते हुए परम्परागत रस चिन्तन को अस्वी-कार कर उसे युगसापेक्ष्य धरातल पर देखने का प्रयत्न किया है और रस की अलौकिकता, रस की आनन्दरूपता आदि की नयी व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। आचार्य भरतमुनि के 'विभानुभाव व्याभिचारि परिवृत्तिः स्थायीभावो रसनाम" लभते से ये विद्वान सहमत नहीं हैं।

इन्हीं से मिलता-जुलता स्वर नई कविता के सर्जकों और आलोचकों का भी है। नव्य हिन्दी काव्य के सर्जन और विवेचन के अन्तर्गत काव्य-विषयक प्राचीन मतों को पुनः समीक्षा की कसौटी पर कसने की प्रवृत्ति, नयी कविता, नयी कला और नयी आलोचना की देन है। नयी कविता की सर्जन-प्रक्रिया, इसके प्रयोजन तथा उसकी शिल्पगत विशिष्टताओं के कारण वे रस को काव्य का आस्वाद नहीं मानते। यही कारण है कि 'रसवादी कविता' से भिन्न कविता को उन्होंने नयी कविता कहा है। डा० रामविलास शर्मा.[16] डा० रागेंयराघव[17], अज्ञेय डा० जगदीश गुप्त[18], लक्ष्मीकांत वर्मा[19], मुक्तिबोध, डा० रघुवंश आदि के मत से आज की कविता का आस्वाद 'रस' नहीं है। सर्वप्रथम आचार्य भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में विभानुभाव व्यभिचारि संयोगा-द्रस निष्पतिः के द्वारा 'रस' सिद्धाँत को व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित किया था। परवर्ती आचार्यों ने यत्किंचित् परिवर्तन के साथ इसी भरत-सूत्र को मान्यता दी है। इस भरत-सूत्र के सम्बन्ध में निम्न-लिखित तथ्य स्पष्ट है—

क) विभाव, अनुभाव, व्यभिचारि भाव एवं स्थायी-भाव के सम्मिलन से ही रस-निष्पति सम्भव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इनमें से एक के भी अभाव में रस व्युत्पन्न नहीं हो सकता।

ख) भरतमुनि ने रस का यह लक्षण मूलतः दृश्य काव्य या नाटक के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। उनके मत से 'रसोन्मेष' ही नाटक का परम लक्षण है। और नाट्य के विस्तृत विवेचन के कारण ही भरतमुनि ने अपने ग्रंथ का नाम 'नाट्यशास्त्र रखा है। किन्तु आज दृश्य काव्य और श्रव्यकाव्य की सीमाएं पूर्णतः पृथक् हैं। उनकी सर्जन प्रक्रिया में भी स्पष्ट रूप से अन्तर है। उनका प्रस्तुतीकरण भी भिन्न आधारों पर होता है। दृश्यकाव्य को आस्वादक देख सकता है, सुन सकता है उसका पठन भी कर सकता है। पर श्रव्यकाव्य का श्रवण एवं पठन ही संभव है, उसे अभिनय के रूप में नहीं देखा जा सकता।

ग) भरत ने रस के लक्षण में भाव तत्व को ही प्रमुख माना है, इसमें बुद्धितत्व का उल्लेख उन्होंने नहीं किया।

घ) भरत का उपर्युक्त रस-सूत्र प्रधानतः प्रबन्ध काव्य के लिए संभव है क्योंकि विभाव, अनुभाव आदि का संयोजन प्रबन्ध काव्य में ही अधिक सम्भव है, आज की आठ दस पंक्तियों की लघु आकार की कविता में नहीं। साथ ही प्रबन्ध काव्य की रचना और उसका शिल्प. मुक्तक काव्य के भिन्न है। वर्तमान में प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा मुक्तक काव्य का ही सर्जन अधिक हो रहा है।

अतः 'रस' उस काव्य का तो आस्वाद हो सकता है जिसमें 'भरत सूत्र' की उपर्युक्त चारों विशेषताएं विद्यमान हों। किन्तु इनसे भिन्न स्थिति एवं उद्देश्य से विरचित कविता के आस्वाद रूप में 'रस' की प्रतिष्ठा संदिग्ध ही है।

इस सन्दर्भ में यह भी स्पष्ट है कि 'रस अलोकिक है' का अभिप्राय यह है कि रसानुभूति सामान्य या लोक अनुभूति से कुछ अंशों में भिन्न होते हुए भी वह इस लोक से ही सम्बद्ध है। उदाहरणार्थ रावण आदि के अत्याचारों को काव्य में पढ़कर हमारे मन में उनके प्रति द्वेष भाव या क्रोध उत्पन्न होता है अतः रस पूर्णतः अलौकिक नहीं है।

यह मत भी भ्रमपूर्ण है कि काव्य के आस्वादन से सर्वदा आनन्द का ही अनुभव होता है। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक काव्य-रचना के आस्वादन से और हर स्थिति में, हर उम्र में आनन्द ही नही मिलता। विशेषकर अद्यतन काल की कविता में तो यह सम्भव नहीं है।

एक और प्रश्न भी यहां विचारणीय है कि आज काव्य के अतिरिक्त, साहित्य की अन्य रूप-विधाएं निबन्ध, कहानी' उपन्यास, नाटक, एकांकी नाटक आदि भी प्रचलित है। इनका आस्वाद रस या आनन्द नहीं माना जाता तो फिर काव्य के साथ ही रस को क्यों अनिवार्य माना जाता है? क्या यह पूर्वाग्रह और परम्परा का पालन नहीं है?

करूणादि के द्वारा आनन्दानुभूति मानने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि काव्यास्वादन के क्षणों में हम अन्य विषयों को छोड़कर काव्यगत भावों का ही आस्वादन करते हैं। वैसे तो जैसे हम शृंगारर के काव्यगत भावों का आस्वादन करते हैं। ह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रृंगार-प्रधान गीत सुनते हैं तो हमारा मन प्रसन्न होकर झूमने लगता है। जब व्यंग्य प्रधान चुभीली कविता सुनते हैं तो हम कहकहे लगाते हैं। किन्तु अकाल भूकम्प या श्मशान से जलती हुई चिता का दृश्य चित्रित करने वाली कविता को सुनकर हम में करुणा उत्पन्न हो सकती है, हमारी आंखें नम हो सकती हैं, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि तब हम आनन्द में मग्न होकर झूमते नहीं कहकहे भी नहीं लगाते। और यदि इस से भी आनन्द की अनुभूति होती है तो वस्तु की वास्तविक अनुभूति आस्वादक को कराना या उसका बिम्ब उपस्थित करना काव्य का लक्ष्य नहीं माना जा सकता। अतः काव्य से सदैव आनन्द या हर्षानुभूति ही होती है यह मानना सत्य की उपेक्षा करना है।

इसी प्रकार तात्विक दृष्टि से यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि काव्य से सहृदय में सदैव समान रसानुभूति होती है। क्योंकि हर सहृदय की संवेदनशीलता, बौद्धिकता और उसके परिवेश के विविध स्तर होते हैं इस लिए उनमें समानता नहीं भिन्नता होती है। फलतः आज का सहृदय वर्ग भी अनेक उपवर्गों एवं श्रेणियों में विभक्त है और इनमें से प्रत्येक की शिक्षा-दीक्षा, अभिरुचि, चिन्तन-दृष्टि तथा ग्रहणशीलता आदि में अन्तर है अतः एक ही कविता के द्वारा सबको समान अनुभूति कैसे हो सकती है? आचार्य भरत का मत भी उपर्युक्त कथन के विपरीत नहीं है—

"दुःखर्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्
विश्रान्तिजननं कालं नाट्यमेतद् भविष्यति।"
नाट्यशास्त्र अध्याय-१।११४

काव्यास्वाद के सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र की यह स्थापना भी तर्कसंगत नहीं है कि 'आत्मा का आस्वाद होने के कारण रस का मूल रूप अखण्ड और एक है किन्तु भावों की अनेकता के कारण रस के बाह्य रूप भिन्न हो जाते हैं।[20] कारण यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से श्रृंगार, हास्य, वीर आदि रसों की उत्पत्ति एक ही विधान के द्वारा नहीं होती। एक रस के लिए जो अनौचित्य है और रसोत्पति में बाधक है, वही 'अनौचित्य अन्य रस के परिपाक के लिए अनिवार्य होता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि 'रस' एक है? रस एक है और उसके रूप-भेद भी हैं यह मत दर्शनशास्त्र के इस मत से कहां भिन्न है कि परमात्मा एक है और उसके स्वरूप अनेक हैं। इस प्रकार आज भी रस को दार्शनिक एवं आध्यात्मिक धरातल पर ही व्याख्यायित किया जा रहा है। तथ्य यह है कि यदि रस एक है तो उसकी उत्पत्ति का विधान भी एक ही होना चाहिए। या तो औचित्य के द्वारा रसोत्पत्ति हो या अनौचित्य के द्वारा, किन्तु ऐसा नहीं है।

'रससिद्धांत' मूलतः भावतत्व पर आधृत है जबकि नयी कविता में वैचारिकता और बौद्धिकता का प्राधान्य है। प्रथम का उद्देश्य जनमानस का परिष्कार, यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति, तथा अन्तः बाह्य संघर्ष का चित्रण है, आनन्द प्रदान करना नहीं। रसवादी कविता मुख्यतः कल्पना और आदर्श पर आधृत है, उसकी दृष्टि अतीतोन्मुखी है जबकि नयी कविता की दृष्टि वर्तमान और भविष्य की ओर है। रसवादी कविता में कथा प्रधान है पर अद्यतन युग के काव्य में कथा की अपेक्षा मानव के चरित्रचित्रण पर बल दिया जाता है फिर रस प्रबन्ध काव्य में आस्वाद हो सकता है, पर मुक्तक कविता का नहीं। डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित का कथन है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मुक्तक काव्य में साधारणीकरण सम्भव है किन्तु मुक्तकों में रसात्मकता हो यह अनिवार्य नहीं है।[21]

इस सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि नयी कविता ने जिन भावों, विचारों, स्थितियों एवं युगसत्य से पाठकों को परिचित कराया है रसवादी कविता उनका वर्णन करने में असमर्थ रही है। उदाहरणार्थ शुक्लजी काव्य के साथ विज्ञान को सम्बद्ध नहीं कर सके हैं[22]। डा० नगेन्द्र के सम्मुख भी कुछ ऐसी परिस्थितियां हैं जिनका साधारणीकरण सम्भव नहीं है और बिना साधारणीकरण के रसानुभूति हो ही नहीं सकती।[23]

निष्कर्ष यह है कि मानव-मन की अद्यतन सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर्दशाओं एवं विविधताओं का सम्यक् चित्रण रससिद्धान्त के द्वारा साहित्य में सम्भव नहीं है। साथ ही रसवादी साहित्य की एक परम्परागत पद्धति है वह पद्धति अथवा पैटर्न भी आज की यथार्थ विसंगतियों, विकृतियों, कुंठाओं, कुत्साओं एवं विषय स्थितियों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ है।

3. काव्य का आस्वाद-सौन्दर्य बोध

नयी कविता के सन्दर्भ में 'रससिद्धान्त' को अक्षम एवं अनुपयोगी सिद्ध करते हुए विभिन्न विद्वानों ने "सौन्दर्यबोध" अथवा सौन्दर्यानुभूति को नयी कविता का आस्वाद माना हैं। अज्ञेय, डा० रघुवंश मुक्तिबोध, लक्ष्मीकांत वर्मा, नेमिचन्द्र जैन तथा डा० रांगेयराघव ने रसानुभूति की अपेक्षा सौन्दर्यानुभूति पर वल दिया है। लेकिन सौन्दर्यबोध सम्बन्धी इनका मत वैविध्यपूर्ण है।

अज्ञेय 'सुन्दर' का आस्वादन बुद्धि का व्यापार मानते हैं।[24] इस प्रकार काव्य के क्षेत्र से वे भाव-तत्व का बहिष्कार करते हैं जो समीचीन नहीं है। साथ ही यह सौन्दर्यबोध स्वरूप एवं सत्य का उद्रेक करने वाला भी नहीं है बल्कि आज की सौन्दर्यानुभूति दमित और कुंठित भावनाओं की अभिव्यक्ति है[25] जो व्यष्टि तथा समष्टि के लिए हितकर नहीं हो सकती। डा० जगदीश गुप्त के मत से भाव और बौद्धिक प्रश्न के समावेश से ही सौन्दर्यबोध सम्भव है[26] सौन्दर्यबोध से डा० रघुवंश का अभिप्राय जीवन के संतुलन से है[27]। नेमिचन्द्र जैन का मत भी इससे भिन्न नहीं है।[28] लक्ष्मीकांत वर्मा सौन्दर्यानुभूति का सम्बन्ध वस्तु की अद्वितीयता तथा पाठक की दृष्टि से स्थापित करते हैं[29]। मुक्तिबोध के अनुसार सौन्दर्यानुभूति जीवनानुभवों के गुणात्मक रीति से परिवर्तित रूप का नाम है[30] एवं आत्मवाद दशा का परिहार और आनन्दात्मक अनुभव, सौन्दर्यानुभूति के दो लक्षण हैं[31]। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि यही दो लक्षण रसानुभूति के भी हैं। आत्मवाद दशा का परिहार साधारणीकरण के द्वारा होता है और इसका फल रसानुभूति अथवा आनन्दात्मक अनुभव हैं। इस प्रकार मुक्तिबोध ने रसानुभूति तथा सौन्दर्यानुभूति को एक मानकर ही विवेचन किया है जबकि तात्विक दृष्टि से इनमें अन्तर है। डा० रांगेयराघव के मत से सौन्दर्यबोध समाज-सापेक्ष होता है[32]।

साहित्य में सोन्दर्यानुभूति का सिद्धान्त वास्तव में पश्चिम की देन है। सौन्दर्यानूभूति के स्वरूप के सम्बन्ध में दार्शनिकों तथा साहित्यशास्त्रियों में वहां भी मतभेद है। क्रोचे ने तो अनुभूति या संवेदन की अपेक्षा अभिव्यक्ति को ही सुन्दर माना है। सौंदर्यानुभूति में भावतत्व की अपेक्षा बुद्धितत्व का प्राधान्य होता है। परिणामस्वरूप हमारी चेतना को वह झंकृत तो करती है लेकिन मानव-मन पर उसका प्रभाव व्यापक और दीर्घजीवी नहीं होता। यह भी स्पष्ट कर देना उचित है कि सौन्दर्यबोध का सिद्धान्त जड़ या निरपेक्ष नहीं, वह युग और समाज सापेक्ष होता है। यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वानों ने इसे अलौकिक, अनिर्वचनीय न कहकर, इसे इसी लोक से सम्बद्ध माना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8. **काव्य का आस्वाद आधुनिक बोध —**

हर युग की कविता की वस्तु और उसके शिल्प में परिवर्तन अवश्यम्भावी होता है। यह परिवर्तन छायावादी एवं प्रगतिवादी काव्य में भी हुआ था। और तब प्राचीन साहित्य सिद्धान्तों को नकारने के स्वर भी स्पष्ट रूप से प्रस्फुटित हुए थे। किन्तु नयी कविता के उद्भव और विकास के साथ परम्परागत जीवन पद्धति तथा पुराने साहित्य सिद्धान्तों का सामंजस्य और भी कठिन हो गया। कारण यह है कि नयी कविता का उद्देश्य, उसकी वस्तु और उसका शिल्प, उसकी सर्जन प्रक्रिया पूर्णतः आज के यथार्थ और बौद्धिक धरातल पर आघृत है। प्राचीन और अर्वाचीन के बीच परिस्थिती अभिरुचि, जीवन के संस्कार, परिवेश और परिप्रेक्ष्य में अत्यधिक भिन्नता है। यही कारण है कि नयी कविता का आस्वादन, विवेचन और मूल्यांकन 'रससिद्धान्त' के द्वारा सम्भव नहीं हैं। क्योंकि 'भरत, का रससिद्धान्त तत्कालीन जीवन के अनुरूप था, आज का जीवन और चिन्तन उससे बहुत भिन्न है। अतः नयी कविता के परिप्रेक्ष्य में 'विभिन्न विद्वान काव्यस्वाद के रूप में 'आधुनिकबोध' पर बल देते हैं[33]। इसे ही भावबोध, काव्यबोध, साहित्यिकबोध भी कहा जाता है।

'आधुनिक बोध' रसानुभूति एवं सौन्दर्यानुभूति के समकक्ष कोई परम्पराविहत या शास्त्र सम्मत सिद्धान्त या मत नहीं है। बल्कि इसके अनुसार प्राचीन तथा अतीतोन्मुख अनुभूतियों को काव्य में अभिव्यक्त करने की अपेक्षा नवीन जीवन स्थितियों एवं नयी संवेदनाओं के प्रतिपादन को प्रमुख माना जाता है। इस प्रकार कल्पना और आदर्श प्रधान परम्पराओं के स्थान पर यथार्थ जीवनानुभूतियों को काव्यवद्ध करने पर बल दिया जाता है। परम्परागत सुख, शान्ति और सन्तोष को युगीन सन्दर्भ में अनुपादेय घोषित कर सामाजिक जड़ों में व्याप्त अशांति, विसंगति, विद्रोह, कुंठा एवं दमित भावनाओं की अभिव्यक्ति को अनिवार्य माना जाता है। आज साहित्य के द्वारा अन्याय और शोषण को सहन करना अथवा तटस्थ भाव से देखते रहने की अपेक्षा उनके विरुद्ध आवाज उठाना, क्रान्ति का उद्‌घोष करना और संघर्ष का सामना करना है जिससे सम्यक् रूप से सामाजिक बुराइयों का अन्त हो सके और नये सन्दर्भों में मानव, युगीन संचेतना को आत्मसात कर जीवन का सर्वांगीण विकास कर सके आज के साहित्य से यही अपेक्षित है। इसी से विशिष्टता से सम्पृक्त होकर साहित्य मौलिक और नवीन होगा।

यह भी स्पष्ट कर देना उचित है कि 'जीवन के संतुलन' तथा समाज-सापेक्ष साहित्य का सौन्दर्य-बोध उपर्युक्त आधुनिक भावबोध से भिन्न नहीं है। अतः आधुनिकता का बोध ही आज की कविता का सौन्दर्यबोध है।

5. **'काव्य का आस्वाद'—सह-अनुभूति—**

डा० जगदीश गुप्त काव्यास्वाद के रूप में रसानुभूति के स्थान पर 'सह अनुभूति' के सिद्धान्त की स्थापना पर बल देते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि 'कवि और भावक दोनों के व्यक्तित्वों के सह-अस्तित्व में अनुभूति की प्रेषणीयता सम्भव होने के कारण इसे 'सह-अनुभूति' कहना न निराधार है, न अनुपयुक्त[34]। सह-अनुभूति के लिए वे व्यक्तित्व और विवेक का परिहार होना भी आवश्यक नहीं मानते[35] हैं।

इस सम्बन्ध में हमारा विनम्र निवेदन यह है कि 'सह-अनुभूति' किसे कहते हैं, उसकी परिभाषा क्या है, उसका स्वरूप क्या है और क्या वह स्वयं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगदीश जी का मौलिक मत है, इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। इस प्रकार 'सह-अनुभूति' सम्बन्धी डॉ० जगदीश गुप्त का विवेचन अस्पष्ट एवं अपूर्ण है। यत्र-तत्र उपलब्ध संकेतों के आधार पर कहा जा सकता है कि रसानुभूति से डॉ० गुप्त का अभिप्राय कल्पनाजन्य एवं आदर्शात्मक अनुभूति से है और सह-अनुभूति से उनका अभिप्राय वास्तविक या यथार्थ अनुभूति से है।[36]

डा० जगदीश गुप्त कवि और प्रमाता के बीज सह-अस्तित्व की घोषणा कर, सह-अनुभूति के रूप में अनुभूति की प्रेषणीयता पर बल देते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सह-अनुभूति काव्यास्वाद न होकर, काव्यास्वाद की प्रक्रिया का सिद्धांत है। साधारणीकरण भी काव्यास्वाद की प्रक्रिया का सिद्धांत है। अन्तर केवल इतना है कि 'रस' के समर्थक 'साधारणीकरण' का उल्लेख करते हैं और नयी कविता के समर्थक सम्प्रेषण का। सह-अनुभूति, रसानुभूति के भी मूल में निहित हैं।[37] जगदीश जी के इस कथन से भी यही प्रतीत होता है काव्यगत भाव या विचार का आस्वादन तभी संभव है जब कि उसे 'सम' अथवा 'सामान्य' के धरातल पर प्रस्तुत किया जाय। अतः सह-अनुभूति का सिद्धांत सम्प्रेषण अथवा साधारणीकरण का सिद्धांत है किन्तु वह काव्य का आस्वाद नहीं कहा जा सकता।

हमारे उपर्युक्त निष्कर्ष का आधार डा० जगदीश गुप्त का यह कथन भी है कि 'सह-अनुभूति के बिना सौन्दर्य-बोध सम्भव नहीं है'।[38] अर्थात् सह-अनुभूति अपने आप में काव्य का आस्वाद नहीं है बल्कि काव्य के सौन्दर्यबोध अथवा सौन्दर्यानुभूति के लिए सह-अनुभूति अनिवार्य शर्त है, वैसे ही जैसे रसानुभूति के साधारणीकरण आवश्यक है। डा० कृष्णबल ने अपने ग्रन्थ 'काव्यास्वाद का विवेचन' में नयी कविता के आस्वाद रूप में डा० जगदीश गुप्त द्वारा प्रतिपादित 'सह-अनुभूति' के सिद्धांत का समर्थन किया है।[39] जब कि वास्तविकता यह है कि सह-अनुभूति का सिद्धांत सम्प्रेषण का सिद्धांत है, वह स्वयं काव्य का आस्वाद नहीं है। साथ ही सह-अनुभूति का सिद्धांत डा० जगदीश गुप्त की मौलिक देन न होकर पाश्चात्य साहित्य-चिंतक थ्योडोर लिप्स, वर्ननली और पिल्हेम बोरिंगर की एम्पेथी की विचारधारा के अधिक निकट है।

६. काव्य का आस्वाद-काव्यात्मक प्रभाव

काव्य के आस्वाद रसानुभूति, सौन्दर्यभूति प्रभृति सिद्धातों के अतिरिक्त आस्वादक को 'प्रभावित करना' या उस पर 'प्रभाव डालने' को स्थापना डा० धर्मवीर भारती तथा डा० केदारनाथ सिंह ने स्पष्ट रूप से की है। डा० भारती के अनुसार कविता का मुख्य कार्य आज के युग में, रूढ़ अर्थों में, रसोद्रेक मात्र न रहकर 'प्रभाव डालना' हो गया है। यह प्रभाव स्थायी होता है।[41] उनके प्रभाव की परिधि में भाव और ज्ञान दोनों ही आ जाते हैं। डॉ० केदारनाथ सिंह के मन से भी आज की अधिकांश बौद्धिक कविताएं हमें कभी-कभी बहुत प्रभावित करती हैं।[42]

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र,[43] दिनकर[44], डॉ. रामविलास शर्मा[45] के मत से भी काव्य एवं साहित्य का कार्य आस्वादक को प्रभावित करना है। प्रकारान्तर से अज्ञेय[46] मुक्तिबोध[47] तथा डॉ. जगदीश गुप्त[48] ने भी काव्य के आस्वादक पर पड़ने वाले प्रभाव को स्वीकार किया है।

पाश्चात्य साहित्य चिंतक लौंजाइस[49], हौरेस[50] जान ड्राइडन[51], विलियन वर्डस्वर्थ[52] आई. ए. रिचर्डस[53] ने भी काव्यात्मक प्रभाव की सत्ता स्पष्ट रूप से स्वीकार की है।

इस प्रकार 'काव्यात्मक प्रभाव' का महत्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार किया है। हिन्दी कविता के सन्दर्भ में जब हम काव्यात्मक प्रभाव पर विचार करते हैं तो यह निर्विवाद तथ्य है कि सन 1950 ई० के लगभग से नयी कविताधारा का जो विकास हुआ है, वह अपनी पूर्व परम्परा से भिन्न दिशा का सूचक है। उस में आनन्दानुभूति की अपेक्षा यथार्थ जीवन का अंकन है जिससे हम से प्रभावित तो होते हैं किन्तु प्रफुल्लित या प्रसन्न हों ही, यह आवश्यक नहीं है। उसके पठन एवं श्रवण से हमारा विवेक जाग्रत होता है, हम काव्यगत विषय पर सोच-विचार करने के लिए विवश हो जाते हैं, हम काव्यगत विषय पर सोच-विचार करने के लिए विवश हो जाते हैं। किन्तु रस चिन्तन को अलौकिक रसानुभूति, सौन्दर्यानुभूति आदि शास्त्रीय शब्दावली के द्वारा अभिव्यंजित नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए निम्नलिखित काव्य पंक्तियां प्रस्तुत हैं जिनमें ईश्वर के प्रति अनास्था का भाव प्रकट किया गया है :—

"मर गया ईश्वर,
विषमता का सहायक मर गया
आदमी के हाथ में ही आदमी का भाग्य देकर
विश्व का देवी विधायक मर गया
मर गया ईश्वर।
यह हुआ कैसे मगर ?
साइन्स नि किरणों ने मारा, मर गया
हम का पर्दा उघाड़ा, मर गया;
आदमी ने जब तलक पूजा अंधेरे में उसे,
जिन्दा रहा
रोशनी के सामने ज्यों ही पुकारा
मर गया।"[54]

एक उदाहरण जिसमें डॉ. देवराज ने आज के क्लर्क की आर्थिक विषमता का हृदयस्पर्शी चित्रण किया है...

"सवेरे-सांझ चाय पीता है,
डालड़ा खा, खुशी से जीता है।
कौन जाने शरीर में क्या हो गया है
दिल है खाली, दिमाग रीता है।
कलम से, मन से, काम करता है,
यों ही हर दिन को शाम करता है
है समझदार भी की साहब को
बा-अदब झुक सलाम करता है।
होसले दिल के थके जाते हैं
बाल जल्दी ही पके जाते हैं
बोट देता है, बहस करता है
जीस्त के दिन खिसक जाते हैं।[55]

स्पष्ट है कि उपर्युक्त काव्य पंक्तियों से हम प्रभावित होते हैं और बहुत दूर तक प्रभावित होते हैं। इनसे हमारा मन और हमारी बुद्धि दोनों प्रभावित होते हैं, हमें यथार्थ का ज्ञान होता है। कुछ कर्म करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। किन्तु हर्ष प्रसन्नता रस या आनन्द का अनुभव उसी अर्थ में नहीं होता जिसका उल्लेख रसवादी आचार्यों एवं आलोचकों ने किया है। उनकी दृष्टि से उपर्युक्त कविताओं में विभाव, अनुभाव, संचारिभाव का सम्यक विधान न होने से 'रसोद्रेक' नहीं होता। न सही, किन्तु इनमें जीवन्त तत्व हैं, जिसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते। अतः, बदलते हुए परिप्रेक्ष्य में काव्य के द्वारा आस्वादक के मन पर पड़ने वाले 'काव्यात्मक प्रभाव' की, काव्यास्वाद के सन्दर्भ में उपेक्षा नहीं जा सकती। यह भी उल्लेखनीय है कि रसवादी भी अनुभूति को काव्य का प्राणतत्व मानते हैं, और अनुभूति उपर्युक्त काव्य पंक्तियों में भी है। इसलिए नयी कविता काव्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूलतत्व 'अनुभूति को छोड़कर आगे नहीं बढ़ी है, वह उसके साथ है।

दूसरे, साहित्यिक कृति के द्वारा व्युत्पन्न प्रभाव को आज केवल काव्य-विधा तक सीमित नहीं माना जा सकता। एकांकी नाटक, कहानी, उपन्यास आदि के माध्यम से भी सहृदय को प्रभावित करना ही अभीष्ट है। यदि इनके द्वारा पाठक के मन पर कोई छाप नहीं पड़ती, वह प्रभावित नहीं होता, उसके अन्तर्जगत् में हलचल नहीं होती, कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती तो उस 'रचना' का मूल्य ही क्या है? और क्या वह रचना जीवन्त तथा लोकप्रिय हो सकेगी। निष्कर्ष यह है कि कल्पनाजन्य एवं आदर्शवाद की भित्ति पर रचित काव्य, साहित्य में मनोरंजन एवं आनन्दानुभूति हो सकती है किन्तु जीवन की वास्तविकता को उसके विविध पक्षों को आत्मसात करके चलने वाला साहित्य मनोरंजन तथा आनन्दानुभूति कराने में समर्थ हो या नहीं पर वह हमें प्रभावित अवश्य करता है। वह हमारे मन को प्रभावित करता है इसलिए काव्यात्मक प्रभाव को ही मनोवैज्ञानिक प्रभाव कहा जा सकता है। 'रस' को प्रमुख माननेवाले विद्वानों के अनुसार यह काव्यात्मक प्रभाव ही 'रसात्मक प्रभाव' है।

काव्यात्मक प्रभाव आस्वादक में सद्भाव जाग्रत करता है, वह उसके भावों का उत्कर्ष करता है। इस प्रकार आज के सन्दर्भ में काव्य अपने लक्ष्य को पूर्ण कर लेता है। 'काव्यात्मक प्रभाव' से अभिप्राय यहाँ बाह्य चमत्कार, आकर्षण अथवा 'प्रभाववाद' से नहीं है अपितु (Psychological Touch) मनोवैज्ञानिक प्रभाव अर्थात् जो हमारी चेतना को, अन्तर्वृत्तियों को प्रभावित करता है। प्रभावित होने से ही हमारी भावनाओं एवं वृत्तियों में संशोधन एवं संवर्धन होता है और यही मनुष्य को उसकी सम्पूर्णता में प्रतिष्ठित कर सकेगा। अन्यथा उस साहित्यिक रचना का मूल्य ही क्या है जो मानव-जीवन के उत्कर्ष में सहायक न हो।

निष्कर्ष—

१. जिस कविता में भावतत्व प्रमुख हो, कवि की दृष्टि अतीतोन्मुखी हो, कथा-कथन की जिसमें प्रधानता हो एवं जो प्रबन्ध काव्य है, उसी कविता का आस्वाद 'रस' या 'आनन्द' हो सकता है।

२. रसवादी कविता आज भी लिखी जाती है. यह नहीं कि उसका सर्जन पूर्णतः रुक गया हो। फिर भी काव्य के आस्वादन एवं विवेचन का एकमात्र मानदण्ड रससिद्धांत नहीं है।

३. आधुनिक बोध, सौन्दर्यबोध अथवा काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करने वाली आज की कविता का आस्वाद भावात्मक स्तर पर नहीं बौद्धात्मक स्तर पर होता है। क्योंकि आज की कविता का उद्देश्य मनुष्य के ज्ञान और बोध का विकास करना है, उसकी बौद्धिक चेतना को जागृत करना है। इसके अनुशीलन से इसमें कुछ करने की कर्म की प्रेरणा उत्पन्न होती है। पर आज हम काव्यगत भाव में पूर्णतः निमग्न नहीं होते। आज हम काव्य में अभिव्यक्त स्थितियों पर सोचने के लिए विवश होते हैं जबकि रसवादी कविता में भाव में सहृदय का तन्मय होना अनिवार्य माना जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1. गुलाब राय, अध्ययन और आस्वाद, पृष्ठ 10
2. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग दूसरा, पृष्ठ 228
3. लक्ष्मी नारायण सिंह सुधांशु-जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धाँत पृष्ठ 65
4. रामदहिन मिश्र, काव्य दपर्ण, चतुर्थ संस्करण पृष्ठ 153
5. बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्य शास्त्र, प्र. खंड पृष्ठ 491
6. नंददुलारे वाजपेपी, नया साहित्य : नये प्रश्न-1963 ई. सं. पृष्ठ 123
7. डॉ. आनंद प्रकाश दीक्षित, रस सिद्धांत: स्वरूप विश्लेषण द्वि. सं. पृष्ठ 247
8. डॉ. नगेन्द्र, रस सिद्धांत, पृष्ठ 111, 121
9. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, रस विर्मश, प्र. सं. पृष्ठ 150-151
10. शिवदान सिंह चौहान, आलोचना के सिद्धाँत, 1960 ई. सं. पृष्ठ 46
11. अज्ञेय, त्रिशंकु, पृष्ठ 44
12. मुक्तिबोध, नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 90
13. बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र, 1960 ई. सं. पृष्ठ 491
14. नंददुलारे वाजपेयी नया साहित्य : नये प्रश्न पृष्ठ 18
15. डॉ. रांगेयराघव, काव्य, कला और शास्त्र पृष्ठ 7
16. डॉ रामविलास शर्मा संस्कृति और साहित्य, पृष्ट 196
17. डॉ. रांगेयराघव प्रगतिशील साहित्य का मानदंड, पृष्ठ 312
18. डॉ. जगदीश गुप्त, नयी कविता स्वरूप और समस्याएं, पृष्ठ 96-97, 84
19. लक्ष्मीकांत वर्मा, नये प्रतिमान पुराने निकष, पृष्ठ 35, 77
20. डॉ. नगेन्द्र, रस सिद्धांत, पृष्ठ 267
21. डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित रस सिद्धांत, स्वरूप विश्लेषण, पृष्ठ 114
22. रामचन्द्र शुक्ल चिंतामणि, भाग-1 सन 1971 ई. सं. पृष्ठ 114
23. डॉ. नगेंद्र-रससिद्धांत, पृष्ठ 211
24. अज्ञेय-हिन्दी साहित्य-एक आधुनिक परिदृश्य पृष्ठ 10-11
25. अज्ञेय तारसप्तक तृतीय संस्करण की भूमिका
26. डॉ. जगदीश गुप्त, नयी कविता: स्वरूप और समस्याएं, पृष्ठ 6
27. डॉ. रघुवंश साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य पृ. 23
28. तार सप्तक, नेमिचन्द्र जैन का वक्तव्य।
29. लक्ष्मीकांत वर्मा नये प्रतिमान, पुराने निकष पृष्ठ 207
30. मुकितबोध नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध पृष्ठ 38
31. वही, पृष्ठ 165
32. मुक्तिबोध, नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 40
34. डॉ. जगदीश गुप्त नयी कविता स्वरूप और समस्याएं, पृष्ठ 103
35. वही पृष्ठ 95
36. वही, पृष्ठ 95-98
37. वही, पृष्ठ 6
38. वही
39. डॉ. कृष्णबल, काव्यास्वाद का विवेचन पृष्ठ 299
40. डॉ. निर्मला जैन रससिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र पृष्ठ 190

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

41. सं. अज्ञेय दूसरा सप्तक डॉ. धर्मवीर भारती का वक्तव्य, पृष्ठ 178-179
42. वही, तीसरा सप्तक डॉ. केदारनाथ सिंह का वक्तव्य, पृष्ठ 182 183
43. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र हिन्दी का सामयिक साहित्य पृष्ठ 104-105
44. रामधारी सिंह दिनकर काव्य की भूमिका पृष्ठ 1
45. डॉ. रामविलास शर्मा प्रगति और परम्परा, पृष्ठ 50
46. धर्मयुग 13 अगस्त सन 1972 ई. पृ. 23
47. मुक्तिबोध कामायनी एक : पुनर्मूल्यांकन पृष्ठ 29
48. डॉ. जगदीश गुप्त नयी कविता, स्वरूप और समस्याएं पृष्ठ 400
49. सं. डॉ सावित्री सिन्हा पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा के सिद्धान्त, पृष्ठ 48
50. डॉ. शांतिस्वरूप गुप्त पाश्चात्य काव्यशास्त्र परम्परा, पृष्ठ 48।
51. वही, पृष्ठ 102
52. वही, पृष्ठ 126
53. वही, पृष्ठ 190
54. श्री रणजीत ये सपने ये प्रेत पृष्ठ 11
55. सुरेशचन्द्र सहल नयी कविता और उसका मूल्यांकन, पृष्ठ 116।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ सीताराम सिंह
अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
बी.एस.एस.कोआपरेटिव कालेज,
वेगुसराय ।

मध्यवर्गीय मानसिकता और रोमांटिक व्यक्तित्व : अंतः सम्बन्ध

चेतना की तीन अवस्थाओं को मनोवैज्ञानिकों ने अत्यधिक महत्व दिया है। इतिहास, वंश और वातावरण के प्रभाव ग्रहण की क्रिया चेतना की इन्हीं अवस्थाओं से संपादित होती है। अवचेतन, अचेतन और चेतन इन अवस्थाओं में मानव-चेतना निवास करती है। अवचेतन में इतिहास,संस्कृति और उस युग के महान् व्यक्तित्व की गाथाएं विराजमान रहती हैं। अचेतन में चेतन के अवरुद्ध विचार और अवचेतन से निःसृत विचार विद्यमान रहते हैं। अचेतन के विचार चेतन में आने की कोशिश करते हैं चेतन की इन अवस्थाओं से व्यष्टिनिष्ठ गुत्थियों को ही नहीं सुलझाया जाता है, व्यक्ति के परीक्षण द्वारा वंश, वातावरण और संस्कृति के प्रभाव को रेखांकित किया जा सकता है। यह बौद्धिक परख है। मनोविज्ञान के द्वारा व्यक्ति की मनोवृत्ति की परख होती है। व्यक्ति-विशेष में सामाजिक और रचनात्मक व्यक्तित्व के परीक्षण के पश्चात उसके सम्बन्ध में एक प्रतिमान तैयार किया जा सकता है। हो सकता है कि वह प्रतिमान एक वर्ग का भी हो और युग की मनीषा और कर्तृत्व की परख भी उस प्रतिमान से हो। यह कार्य मात्र मनोवैज्ञानिक नहीं रह जाता, उसका सामाजिक और युगीन विचार के परिप्रेक्ष्य में महत्व होता है। कामबोध, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक गति की नब्ज है जो कार्यों और विचारों की अभिव्य-

क्ति में पहचाना जाता है। दिनकर का जन्म जिस ऐतिहासिक वातावरण में हुआ, वह पराधीनता का युग था। पराधीनता और आर्थिक अभाव के अन्तराल ऐतिहासिक बिरासत और राष्ट्रीय दायित्व को राष्ट्र नेता बतला रहे थे। सामाजिक और धार्मिक सुधार के साथ राजनीतिक पराभवता से मुक्ति के लिए वैचारिक वातावरण राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, ऐनीबेसेण्ट, विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती आदि ने निर्मित कर दिया था। राजा राममोहन राय से उभरने वाला सांस्कृतिक स्वर राष्ट्रीय जागरण का मंगल मन्त्र बन गया। बंगाल में राष्ट्रीय जागरण सर्वप्रथम और तीव्र गति से उठा। वेदान्त के परिप्रेक्ष्य में नये भारत का निर्माण हो रहा था। उसके सामाजिक और धार्मिक निर्माण की पृष्ठभूमि में स्वाधीन व्यक्तित्व और आदर्श राज्य की कल्पना साकार होने वाली थी। भारत में मात्र राष्ट्रीय आन्दोलन के वातावरण ही नहीं सृजित हो रहे थे, पाश्चात्य दर्शन के आलोक में आधुनिक समाज की संरचना की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हो गयी थी। इस संरचना में पुनरुत्थानवाद का महान योग था। अंग्रेजी शिक्षा और नीति ने भारत में नये आर्थिक वातावरण को निर्मित कर दिया जिसमें प्राचीन और मध्ययुगीन आर्थिक प्रक्रिया लुट गयी। कच्चे माल तक अंग्रेजों के अधीनस्थ हो गये। अंग्रेजों ने आर्थिक शोषण और वाणिज्य के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में राजनीतिक विस्तार किया। आर्थिक दृष्टि से भारत को जितना दुर्बल अंग्रेजों ने बनाया, उतना मध्ययुग के शायद ही आक्रामकों ने बनाया होगा। निरन्तर शोषण और दमन से निष्प्रभता और असहायता की जो मनोदशा देश में निर्मित हो रही थी पुनरुत्थानवादी चिंतकों ने अतीत के आलोक में वर्तमान के दर्द को सहन करने योग्य बना दिया और राजनीतिक जागरण का वातावरण तैयार किया। स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का जो स्वर फ्राँस में अनुगुंजित हुआ, वह विश्व के पराधीन देशों का जागरण मन्त्र बन गया था। रूसी और फ्रांसीसी क्रांति की सफलता ने जन-बल की महिमा को प्रतिष्ठापित किया। रूसी साम्राज्य की जापान जैसे छोटे राष्ट्र से पराजय ने एशिया में नया उत्साह और रचनात्मक वातावरण पैदा कर दिया।

मध्यवर्ग के उदय और इतिहास पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि कई अनावश्यक प्रसंग भी जुड़ जाएंगे। उदय और इतिहास अब विवादास्पद प्रसंग रह भी नहीं गया है। आधुनिक युग में मध्य वर्ग का उदय आकस्मिक घटना मानी जाती है। वस्तुतः मध्यवर्ग का उदय किसी निश्चित काम में नहीं हुआ है। इस वर्ग का इतिहास राजतन्त्र के प्रारम्भ काल से लिखा जाएगा। वर्ग विभाजन

पूंजीवादी और सामन्तवादी नीति के कारण होता है। वर्ग से सामाजिक और आर्थिक अस्तित्व की तिथि निरधारित होती है। भारतीय इतिहास राजतन्त्री व्यवस्था का इतिहास है। विज्ञान की औद्यगिक क्रन्ति की लपट संपूर्ण यूरोप में फैल गई थी। इस लपट में कितने राष्ट्र तप कर समृद्ध हो गये और धातुहीन राष्ट्र टुटपुंजिया बन गया। समृद्ध राष्ट्र माल की बिक्री के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजार को खोलने लगे दूसरे-दूसरे देशों में समृद्ध राष्ट्र ने बाजार बसाया। इसी बाजार ने उपनिवेशवादी नीति को जन्म दिया। औद्योगिक क्रान्ति के बाद नये प्रकार का साम्राज्यवादी विस्तार होने लगा। भारत इस नये विस्तार में पराधीन हो गया। यूरोप में माल की बिक्री और नीति के प्रतिपादन के लिए नये वर्ग का उदय हुआ। यह वर्ग पूंजीपति और मजदूर वर्ग के बीच का वर्ग था कारखानेदार का माध्यम बनकर इस वर्ग ने आर्थिक लाभ लेना अपना उद्देश्य बना लिया। मार्क्स ने इस वर्ग की व्याख्या की। उसने कहाकि यह वर्ग बुद्धिमान अवसर वादी और नीतिहीन वर्ग होता है। यह वर्ग पूंजीपति वर्ग से लाभ लेना चाहता है। पूंजीपतियों से जब उसे खतरा होता है तो क्रांति का उपयोग करता है। इसकी नीति उपयोगितावादी ही हो सकती है। यह वर्ग प्रगतिशील सामाजिक चेतना का अंतः से दिखावा करता है। पूंजीवादी प्रवृत्ति के कारण सामाजिक और आर्थिक समानता को अंतः से अस्वीकार करता है। यह वर्ग सामन्त पूंजी वादी व्यवस्था की कब्र पर अपने समाज की स्थापना अवश्य चाहता है। जो साम्यवादी समाज नहीं हो सकता। यह साम्यवादी क्रांति को गुमराह करता है और सामंती व्यवस्था की समाप्ति का आकांक्षी होता है। भारत में ऐसे वर्ग का उदय औद्योगिक क्रांति के आलोक में नहीं हुआ। यहां के मध्यवर्ग छोटे किसान, लघु उद्योग करने वाले और पंडितजन थे। भारतीय वर्ग की स्थायी जीविका थी। आर्थिक अनिश्चितता की भयावह स्थिती स्थायी रूप से नहीं आयी भारत में मुसलमान आक्रमकों ने सामाजिक जीवन को सुरक्षित रखा। किसानों पर जमींदारों का दबाब रहता था। वह दबाब मालगुजारी और उपहार तक सीमित था। किसान और निम्न जाति के लोग अपने जातीय कर्म के अनुकूल उद्योगों का विस्तार करते थे। अंग्रेजों ने जमीन पर से सामंतों जमीनदारों का स्वामित्व समाप्त कर दिया जमीन की उसने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंदोबस्ती भी जमींदार वर्ग के लोगों ने ली। वे किसानों के बीच जमीन बंदोवस्ती करते थे। अंग्रेजी शिक्षा से निर्मित शिक्षित वर्ग अंग्रेजी नीति के प्रसार में सहयोग प्रदान करने लगे। भारत में छोटे छोटे किसान सेठ, साहूकार, शिक्षित और नौकरी पेशा के लोगों को मध्यम वर्ग कहा जाने लगा। भारतीय पुनरूत्थान की जो लहर उठी, लहर को तेज करने में इस वर्ग का महान योग रहा। कारण यह वर्ग शिक्षित था। अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा अंग्रेजी साहित्य और विचारधारा से इस वर्ग ने भारतीय जनता को अवगत कराया। अंग्रेजी भाषा के द्वारा यूरोपिय ज्ञान विज्ञान और राजनीतिक गतिविधियों को जानना इस वर्ग ने प्रारम्भ कर दिया भारतीय विचारधारा और राष्ट्रीय आन्दोलन को इस वर्ग से दिशा मिली। भारत में इस वर्ग ने क्रांतिकारी भूमिका अदा की। यह सत्य है कि फ्राँसिसी क्रांति मध्य वर्गीय नेतृत्व से लक्ष्यहीन हो गई। क्राँति की सफलता के बाद स्वाधीनता के वर्ष कुछ ही महीनों के हुए। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मध्यवर्गीय नेतृत्व में सफल हुआ था। जनता ने फ्राँसिसी जनता की तरह अपने को पुनः कानून और सत्ता में समर्पित कर दिया। मध्यवर्ग की अपनी मनोदशा होती है। इसका विद्रोह अन्तः से फूटता है। वह नयी व्यवस्था और सामाजिक आदर्श को अपने अनुकूल बनाने के लिए विद्रोह करता है। साधन हीनता और उच्चवर्ग की प्रतियोगिता में हीन रहने के कारण समझौतावादी विद्रोही बन जाता है। इस वर्ग का विद्रोह वर्गीय मानसिकता का प्रतिमान हो जाता है। इसके विचार प्रतीकात्मक होते हैं। ये विचार सामयिक्ता को स्वीकार करते हुए ऐतिहासिक संदर्भ से जुड़ जाते हैं। परम्परा की बोतल में प्रगतिशील विचार के पानी भरने का स्वांग करते हैं। वस्तुतः यह स्वांग समझौतावादी नीति है। विचार की नवीनता दिखाना है। इनके प्रतीक और बिम्ब उसी दिखावे को सार्थक करने के लिए होते हैं। राजनीति और अर्थतन्त्र में परिष्कार चाहते हैं। सर्वहारा वर्ग की तरह परिवर्तन नहीं। मध्यवर्ग से परम्परा की जो कड़ियां टूटती हैं वे इस वर्ग के सामाजिक सम्मान और अर्थतांत्रिक ढांचे के विपरीत होती हैं। इसकी प्रगतिशीलता की सीमा यही है। थकान और अभावबोध के कारण इस वर्ग में सामाजिक विचलन पाया जाता है। सामाजिक अप्रतिमानता इस वर्ग का लक्षण हो जाता है। विरोध और नवनिर्माण को अपने अस्तित्व के अनुकूल करना चाहता है।

हमारा आदिम मानव साधनहीन और ज्ञान हीन था। भोजन और आखेट उनका कर्म था। पशु पालन युग में आने के बाद पशुचारण उनका प्रमुख कर्त्तव्य हो गया विकास की अवस्था को उन्होंने तय किया। वे चारवाहे का कार्य तय करते हुए आमोद प्रमोद भी करते थे। प्रारम्भिक काल से ही मानव ने कर्तव्य और आनन्द को महत्व दिया है। कर्त्तव्य और आनन्द के अन्तराल वह जीवन की ओर बढ़ता जा रहा है। सामान्यतः मानव को मनषा यही रही है। कष्ट सहिष्णुता और आनन्दोपभोग उसकी प्रवृत्ति बन गई है। आमोद आनन्द की साधन बन गया। कृष्ण-काव्य में गोपियों के लिए वही कृष्ण, मुरली, मुकुट और कछनी के आमोद थे। ग्वालों के लिए श्री कृष्ण और गाय आमोद थे। कारीगर कला को क्रीडा-कौतुक भी मानते हैं। जोखिम तथा कठिनाइयों से युक्त कर्मों में भी आनन्द की खोज मानव की प्रवृति बन गयी है। मानव-सभ्यता के विकास से सामाजिक जीवन जटिल होता गया। कार्य, जीवन की एकरूपता और पूर्णता नष्ट होती गयी। प्रभुता-सम्पन्न व्यक्ति समाज का नियन्त्रक बना। समाज-नीति को अपने इंगित पर नचाना प्रारम्भ कर दिया। कार्य अर्थाश्रित होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ के स्वामी उच्चवर्ग के व्यक्ति होते हैं। निम्न वर्ग जीविका के लिए श्रम करता है। वह श्रम बेचता है। उसका जीवन कष्टप्रद, नीरस, अप्रिय और परतन्त्र होता है। औद्योगिक देश में उद्योग पर पूंजीपतियों का स्वामित्व रहता है। विश्व के साम्यवादी देशों को छोड़ कर यह अवस्था आज भी है। पूंजीपति उत्पादन और उत्पाद्य सामग्री के प्रसार और बिक्री की व्यापक योजना बनाते हैं। कारखानों के विस्तार के साथ-साथ बाजार भी बढ़ता है। बाजार नगर बनता है। गांव का चौराहा बाजार के सामान हो जाता है। सिनेमा, थियेटर और सर्कस की बड़ी-बड़ी योजना बनती रहती है जिसका उद्देश्य आर्थिक लाभ और मनोरंजन प्रदान करना होता है। नगरों के स्वामी पूंजीपति होते हैं। उनकी पूंजी सर्वत्र बिछी रहती है। सेठ, साहूकार, वेतनभोगी और किसान मध्यवर्ग के अन्तर्गत आते हैं। पूंजीवादी जाल का विस्तार इनके द्वारा होता है। अपने जीवन ती सार्थकता मध्यवर्ग इसी में मान लेता है। वह अपनी पूंजी का भी विस्तार चाहता है लेकिन पूंजीपति अवरोधक बने रहते हैं, पूंजीपतियों के विरोध की भावना इस वर्ग में उठती है। उसका स्थान यह स्वंय लेना चाहता है।

भारत में कर्म के अपने दृष्टिकोण रहे हैं। गीता, उपनिषद् आदि ने निष्काम कर्म को एक स्वर से स्वीकार किया है। सन्त कबीर ने कहा कि जीविकोपार्जन के लिए मानव को कर्म करना चाहिए। पूंजी उसे उतनी ही हो कि परिवार खा-पी सके। कर्म सम्बन्धी दूसरा दृष्टिकोण रोमांटिक है। वह है, कार्य जीवन को रमणीय बनाने के लिए होना चाहिए, न कि जीवन कार्य के लिए हो। मध्यवर्ग कार्य को धनोपार्जन और जीवन की सार्थकता के रूप में ग्रहण करते हैं। छोटे छोटे व्यवसायिक बड़े पूंजीपति पर आश्रित होते हैं। उनकी स्वनन्त्वता समाप्त सी लगती है। कर्मचारी अपनी स्वतन्त्वता का अंशतः विक्रय करता है। अपनी योग्यता का उपयोग अपने लिए नहीं करता है। शिक्षितों की संख्या वृद्धि के कारण शिक्षा का स्तर ऊंचा होता जा रहा है। श्रम-विभाजन के फलस्वरूप कार्य की प्रक्रिया सरल होती जा रही है। "मनुष्य से उसके उत्पादन की प्रक्रिया का पृथक्करण आधुनिक पूंजीवाद तथा आधुनिक श्रम-विभाजन का परिणाम है। कार्य कर्त्ता उत्पादन तथा उत्पादन के औजारों का स्वामी नहीं होता। कार्य को स्वीकार करने में वह अपने समय, शक्ति तथा कौशल का दूसरों के हाथ विक्रय करता है। कुछ वेतनभोगी मध्यवर्गीय व्यक्तियों को अपनी मुस्कान, आकर्षक व्यक्तित्व, शिष्टाचार आदि भी सौदे के अंग होते हैं। जब से औजार का स्थान कलों ने ले लिया है, मनुष्य को कलों के अनुसार चलना पड़ता है। वह अपना व्यक्तित्व खोता जा रहा है। उसका कार्य किसी एक ही प्रक्रिया को बार बार दुहराना रह गया है। प्रबन्ध की नौकरशाही के कारण कार्य में इस यांत्रिकता का क्षेत्र कारखाने ही नहीं कार्यालय एवं विक्रय कक्ष भी हो गए हैं— ये दो बड़े क्षेत्र जिनमें वेतन भोगी मध्यवर्गीय लोग मुख्यतः कार्य करते हैं। (ले. वहीनाथ सहाय, सफेदपोश मध्यवर्ग पृ. सं. ८२) वेतनभोगी मध्यवर्ग कार्य को जीवन तत्व के रूप में ग्रहण नहीं करते हैं। कार्य को निरर्थक मानकर उसे असंतोष के साथ पूरा करते हैं तथा जीवन की सार्थकता की खोज इस कार्य में नहीं करते। वह कार्य से विराग अर्थात यथार्थ से दूर हो कर छाया प्रकृति और सौन्दर्य लोक में अपनी लालसा सौन्दर्य तृषा और अन्तः करण की तृप्ति की खोज करते हैं। उसकी मनोदशा रोमाँटिक मनोदशा सी लगती है। मध्यवर्ग कार्य को ठोस, जीवन तत्व और अन्त प्रेरित नहीं मानते। अपनी अनिवार्यता और आनन्द तृषा को इस जीवन से दूर प्रकृति, एकान्त और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन में प्राप्त करना चाहता है। पुनः प्रकृति को समझने, एकान्त को भोगने और दर्शन के ढ़ंग अन्तः प्रेरित होते हैं। दर्शन की पारम्परित व्याख्या न कर, उसमें अपनी स्वतन्त्रता, सौंदर्य और आनन्द की खोज करते हैं। प्रकारान्तर से यह मनोदशा रोमांटिक मनोदशा है। इस लिए रोमाँटिसिज्म और मध्यवर्गीय मानसिकता में अन्तः सम्बन्ध माना जाना चाहिए।

* प्रस्तुत निबंध मेरे पीएच. डी. की उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध के दूसरे अध्याय का अंश है। इसे मैंने संक्षिप्त कर दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूरदास का काव्य और ब्रजमंडल का लोक-जीवन

डॉ० मुरारि लाल शर्मा
'सुरस'

मध्यकालीन वैष्णव भक्त कवियों में शिरोमणि सूरदास ने कृष्ण-भक्ति की जो पावन कालिन्दी प्रवाहित की वह संगीत और माधुर्य से मण्डित लोक-भाषा के रूप में सहज ग्राह्य हुई। वल्लभ संप्रदाय के भक्ति-सिद्धान्तों के प्रति आस्थावान कवि सूरदास के काव्य-क्षितिज में लोक मानस के विविध पक्षों को उजागर किया गया है। समसामयिक सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों के क्रोड़ में जन-जीवन के सर्वाधिक समीप इस काव्य का सूक्ष्म अध्ययन अभी भी प्रपेक्षित है।

विद्वानों ने सूर को व्रज की लोक-संस्कृति का कवि माना है। कुछ लोग इसे ग्रामीण संस्कृति की संज्ञा देते हैं क्योंकि सूर-काव्य में नगरों की शोभा एवं महनीयता का कम किन्तु व्रज के ग्रामीण जन-जीवन, सभ्यता, पशुओं, गो-बच्छों, उनके चरागाहों के साथ द्वादश वनों की सुषमा और उनकी रमणीयता के अनेक मनोहारी चित्र प्रस्तुत किये गए हैं। कालिन्दी के तट पर स्थित कदम्ब आदि पर कालिकारी मारते, उछलते, फुदकते, चहचहाते पक्षियों की शोभा के भी दृष्यांकित हैं। उन्हीं के समीप कन्दुक-क्रीड़ा करते कृष्ण एवं उनके बाल-सखाओं की अनेक विधिलीलाओं और उनकी खीझ, व्यंग्यादि का सजीव चित्रण किया गया है। वनों में नाचते मोर, साथ ही पपीहा, कोकिल, कीर, पारावत तथा दादुर का शब्द, पावस में भीगती गोप कुमारियों की विरहोद्दीप्त उच्छ्वासों और उनके दिये गए उपालम्भों की विविध श्रृंखलाएं क्या किसी रूप में भुलाई जा सकती है?

सूर के समय लोक-जीवन के अध्ययन के लिए तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक वातावरण तथा उस समय के व्रज में उपलब्ध साँस्कृतिक जीवन के विविध रूपों को समझना आवश्यक है।

सामाजिक एवं धार्मिक वातावरण—

सूरदासयुगीन समाज में नाथपंथी योगियों का बड़ा जोर था। वे आसन, ध्यान, धारण और समाधि आदि के द्वारा साधना करते तया मुद्रा, भस्म, विषाण, मृग-चर्म, आदि धारण करने थे।[1] इन योगियों की दृष्टि में इंगला, पिंगला और सुषम्ना नाड़ियों में होता हुआ जीवात्मा ब्रह्म सायुज्य को प्राप्त करता है। सर्वजगत् में व्याप्त ब्रह्म अलख निरंजन पर अन्तर्ज्योति से साक्षात्कार करते।[2] वे उस निर्गुण, निराकार, अलख और अव्यक्त की साधना अपनाने पर जोर देते थे जो त्रिगुणातीत है, कुल, वर्ण, नाम-रूप से रहित है। माता-पिता-स्त्री जैसे कोई भी उसके साँसारिक सम्बन्ध नहीं हैं। सुख दुख से रहित वह ब्रह्म सत्य है और जागत् मिथ्या है। वही ब्रह्म घट-घट व्यापी, अविगत, अविनाशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और पूर्ण है[3]। इस निर्गुण ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती।[4] सूर ने उद्धव-गोपी-संवादमें इन सभी बातों की ओर संकेत किया है।

इस प्रकार सूर-काव्य में योगियों और निर्गुणियों के जो संकेत मिलते हैं उनसे स्पष्ट है कि उस युग में कृच्छ्र कुछ साधना प्रधान योग मार्ग और ज्ञान-प्रधान निर्गुण मार्ग का समाज में वर्चस्व था। सूरदास ने इन दोनों की दुरूहता एवं दुर्बोधता को बार-बार गोपियों से कहलाकर प्रेम मय भक्ति मार्ग अपनाने पर जोर दिया है। वस्तुतः सूर-काव्य में ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता, समाज और परिवार की सापेक्षता के साथ प्रभु के प्रति प्रेम की अनन्यता, राजनीति और अर्थ नीति से हटकर कृष्ण के प्रति भावापन्नता, विलासमयी प्रवृत्ति और जीवन की विफलता को छोड़कर हरि-भक्ति के प्रति समर्पण-भावना के तत्त्वों का अद्भुत् संयोजन मिलता है। ज्ञान को ही सर्वस्व मानने वाले शास्त्रविहीन योगमार्गी साधकों की निर्गुणात्मक चेतना; वैराग्य-भावना और निराधार प्रेम का जिस बारीकी से सूरदास ने अपने काव्य में खण्डन किया है, वह तत्कालीन लोक-मानस का सच्चा दर्पण है। कबीर ने रूढ़ियों और आडम्बर के मूलोच्छेदन का बीड़ा उठाया तुलसी ने भी अलख और अव्यक्त के नाम पर जनता को भटकाने, बहकाने वाले साधु वेशधारी लोगों के प्रति विगर्हणा व्यक्त की। तत्कालीन समाज को भक्ति-पथ की ओर उन्मुख करने के लिए सूर ने उद्धव-गोपी-संवाद का सहारा लिया और निर्गुणमार्गी साधना का सयुक्तिक खंडन किया।

सूर-काव्य का समाजशास्त्रीय दृष्टि से यदि अध्ययन किया जाय तो तत्कालीन युग के कई नये तथ्य स्पष्ट होंगे। कवि ने अप्रत्यक्ष रूप से अपने युग के समाज और उस समय की विलासांध मनोवृत्ति की ओर संकेत किया है।[5] 'चौपरि जगत मढ़े जुग बीते' से प्रारम्भ होने वाले पद में माता के गर्भ में आने से लेकर मृत्यु पर्यन्त का वर्णन में जीवन की विफलता की मनोरंजक कहानी है। इस प्रकार के विचार विनय के अन्य पदों में भी व्यक्त किये गए हैं[6]। जिन से स्पष्ट है कि सूर ने अपने समाज में व्याप्त विलासिता की निरर्थकता बता कर मनुष्य को भक्ति-पथ की ओर उन्मुख करने के लिए कृष्ण-कथा के विविध सरस प्रसंगों की बार-बार आवृत्ति की और उनमें प्रस्तुत लौकिक-अलौकिक तत्वों के सामंजस्य से समाज को रससिक्त कर दिया।

लोक-जीवन एवं लोक-संस्कृति

सूर के काव्य में जिस ब्रजभूमि का वर्णन है उसमें मथुरा, वृंदावन, गोकुल, गोवर्धन, नंदगांव तथा बरसाना को लिया गया है। कवि ने इन स्थानों के मंदिरों व वहां के निवासियों में प्रचलित संस्कार, पर्व और उत्सवों की एक अनवरत शृंखला को कृष्ण-कथा के परिप्रेक्ष्य में अनेक रूपों में नित्य नई अभिव्यक्तियों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। सूर ने व्रज की 'अपनपौ भरी इसी संस्कृति' में हमें 'राधा कृष्ण' की बाल एवं किशोर लीलाओं के साथ उनका महिमामय दिव्य अलौकिक रूप दिखाया जो आज भी व्रजवासियों का सर्वस्व है। गोवर्धन पर स्थित श्रीनाथ जी का मंदिर और उसमें कीर्तन सेवा के लिए नियुक्त अष्टछाप के आठ कवियों की रसमयी रचनाओं में सबसे ओजस्वी एवं प्रभावोत्पादक सूर की वाणी ने व्रज के वातावरण में कृष्ण-राधा की लीलाओं के प्रति आकर्षण एवं विस्मयविमुग्धकारणी मोहिनी उत्पन्न की। व्रज की इसी संस्कृति से प्रभावित होकर 'कोटिक हूं कलधौतके धाम' त्याग देने वाले रसखान, कृष्ण की रूप-छवि पर मुग्ध होकर अपना सर्वस्व न्योछावर करने वाली मुगलानी ताज तथा कृष्ण-रूपी चन्द्रमा के लिए चकोर बन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाने वाले रहीम ग्रादि मुसलमान कवि भी धन्य हो गए।

व्रज में मनाये जाने वाले संस्कार एवं उत्सव

सूरदास की कविता में व्रजभूमि में मनाये जाने वाले विविधसंस्कारों एवं उत्सवों की विस्तृत विवरणिका मिलती है जिससे पता चलता है कि **पुत्र जन्मोत्सव** की सूचना मिलने पर व्रजनारियां वधावा लेकर नंद-यशोधा के घर गई। द्वार पर दुंदुभि बजने लगी। **सखियों** ने मंगल-गान गाये, नाल छेदन हुग्रा। स्वर्ण-निर्मित थाल में दूब, दही ग्रौर रोचन रखा गया। ऐसे मंगलोत्सव पर व्रज-भूमि में सामान्यतः मनाये जाने वाले प्रारम्भिक मांगलिक कार्यों—बंदनवार बाँधना, दही-हल्दी मिलाकर छिड़कना, वेद-ध्वनि करना, द्वार पर साँतिये (स्वस्तिक) बनाकर सात सींकों में चिपकना ग्रादि—का विवरण सूरसागर के दशमस्कंध में छंद ३० से ३५ तक तथा सूरसारावली में छंद ४०३ से ४१२ तक में दिया गया है। इन दोनों रचनाग्रों के वर्णनों में साम्य है। ऐसे शुभावसर पर विप्रों के चंदन लगाकर उन्हें वस्त्रादि पहनाना तथा ग्रनेक बहुमूल्य रत्नादि दान करना, विप्र, सूत, मागध, बंदी तथा याचकगण का ग्राशीर्वाद लेना, मालिनी का बंदनवार बाँधना, ब्राह्मणों को २ लाख गौएं दान करना, याचकों को मुंहमांगी वस्तुएं देना, ढाढ़ी एवं ढाढ़िनि का नाच करना, यशोदा नंद का उनकी पहरावनी करना तथा मोतियों से भरे थाल दान में देने ग्रादि का वर्णन किया गया है। वृषभानु के जगा को बख्शीश के रूप में कंचन एवं रत्नजटित झगा दिया गया। (पद ३६)। सोहर गाई गई। पास-पड़ोस तथा नगर के लोग हर्षातिरेक से नाचे तथा विविध प्रकार के वाद्यों का शब्द होने लगा। मालिन ने ग्राँगन में केला रोप कर तोरण बांधा। सुनार शुद्ध स्वर्ण का ढोलना बना लाए जिसके बीच में हीरा ग्रौर लाल जड़े हैं। फिर दधिकांदो हुग्रा। **छठी के दिन** केले लगाकर बंदनवार बाँधें गए। दाई को लाख टका, झुमके ग्रौर साड़ी दी गई। नाईन ने महावर लगाया। विश्वकर्मा (बढ़ाई) पालना बनाकर लाया शुभ दिन देखकर पुत्र को पालने में झुलाया गया। सखियों ने मंगल-गान गाए। पुत्र के काजल लगाया गया। (पद ४०) **नामकरण** के दिन विप्र, चारण ग्रौर बंदीजनों क द्वार नन्द-द्वार पर दूर्वा ग्रौर हल्दी बांधने का संकेत है। साथ ही गर्ग मुनि के द्वारा बनाये गए जन्म-पत्र की सूचना ग्रौर पुत्र के गुण-लक्षणों तथा उसके द्वारा भविष्य में किये जाने वाले कार्यों की ग्रोर भी संकेत किया गया है। (पद ८५ से ८७ तक)। **अन्नप्राशन** के लिए विप्र को बुलाकर शुभ दिन निश्चित किया गया। स्त्रियों ने मंगल बधावे गाये। महरि यशोदा ग्रौर महर नंद का नाम ले लेकर गालियाँ गाई गई। नन्द घर पर ज्योनार हुई जिसमें षट्रस व्यंजन, मिष्टान्न तथा पकवान परोसे गए। घर ग्राए सभी ग्रतिथियों का नंद ने स्वागत-सत्कार किया। यशोदा ने कृष्ण का उबटन किया ग्रौर उसके बाद स्नान कराया। कृष्ण के शरीर में झंगुली, सिर पर लाल चौतनी तथा दोनों हाथों में कंकण पहनाये गए। गोपों के इकट्ठे होने पर स्वर्ण थाल में भरी हुई खीर लाई गई जिस में घृत ग्रौर मधु डाला गया। नंद ने इसे कृष्ण को खिलाया। समस्त परिजन एवं गोपों ने ग्रपनी-ग्रपनी रूचि के ग्रनुसार भोजन किया ग्रौर संतुष्ट हुए। (पद ८८) **वर्ष गांठ** के ग्रवसर पर ग्रांगन को लीप कर चौक पूरा गया। फूल ग्रौर तमोल मंगाये गए। मंगल वाद्य बजने लगे। उबटन के बाद कृष्ण को स्नान कराया गया फिर वस्त्रा· भूषण पहनाये गए। माता ने पुत्र की ग्रांखों में काजल लगाकर माथे पर डिठौना लगाया। (पद ६४) **कर्ण छेदन** के ग्रवसर पर गुड़ की भेली लाई गई। कृष्ण के कान छिदने पर माता यशोदा ग्रश्रु-पूरित नेत्रों से व्याकुल दिखाई दी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्ण के कानों में स्वर्ण निर्मित आभूषण पहनाये गए। (पद १८०)।

विवाह के समय वर कृष्ण ने मोर मुकुट का मौर धारण किया। वेद-मंत्रों के पाठ के साथ पाणि-ग्रहण संस्कार हुआ, भाँवरें पड़ीं, स्त्रियों ने गालियाँ गाईं, कंकण खोला गया। इस प्रकार विवाह के समय की जाने वाली अनेक प्रथाओं का ब्यौरेवार वर्णन किया गया है। (पद १०७२-१०७३)।

पूजा, व्रत, स्नान, शकुन एवं तीर्थ-यात्रा

इन संस्कारों के अतिरिक्त सूरदास जी ने व्रजवासियों के इष्ट देवताओं—गौरी, शिव, सूर्य, शालिग्राम, गोवर्धन आदि की पूजा-अर्चना का उल्लेख किया है[7] व्रज में मनाये जाने वाले व्रत और पर्वों में श्रावणी, अनन्तचतुर्दशी, जन्माष्टमी, करवाचौथ, अहोई, देवोत्थान एकादशी, कात्यायनी व्रत, नवरात्र पूजा एवं यमुना-स्नान की महिमा का अनेक पदों में गायन किया गया है। व्रज में माने जाने वाले विविध शकुन-अपशकुनों की ओर भी यथास्थान संकेत मिलता है। बलराम की तीर्थ यात्रा के विवरण से स्पष्ट है कि उस युग में भी इसे बहुत महत्व प्रदान किया जाता था।

सामाजिक एवं धार्मिक उत्सव

आज की ही भांति सूर के समय में भी गोवर्धन-पूजा सामाजिक एवं धार्मिक उत्सव के रूप में प्रचलित एवं मान्य थी। सूर ने गोवर्धन-पूजा के लिए अन्नकूट, षड्रस व्यंजन, माखन, दही, दूध, पकवान आदि का वर्णन किया है। इन उत्सवों पर बजाये जाने वाले विविध वाद्यों—पखावज, बीन, बांसुरी, डफ, महुअरि तथा मृदंग आदि और उनसे प्राप्त आनन्दोलास को विविध रूपों में अंकित किया गया है। गोवर्धन-पूजा के साथ ही दीपमालिका का भी वर्णन है। अनेक ऋतूत्सवों वर्षा, हिंडोला, वसंत ऋतु का फाग तथा होली आदि का वर्णन भी सूर-सागर तथा सारावली में बहुलता से मिलता है। सूर के पदों के आधार पर आज भी व्रज-प्रदेश में रासलीला प्रदर्शित की जाती है।

इस सामाजिक उत्सवों के साथ बालकों के दैनिक खेलों आंख-मिचोनी, भाग-दौड़, कबड्डी, गेंद तथा भौंर-चकडोरी आदि-का यथास्थान उल्लेख है। इनके अतिरिक्त नैमित्तिक खेलों—जल विहार, दंगल आदि का भी विवरण मिलता है।

सूरदास की कविता में व्रज में पाये जाने वाले वृक्षों में कदंब, तमाल, वकुल, वट, द्रुमबेली आदि, पक्षियों में मोर, चातक, पिक, पारावत, चकोर, हंस शुक, सारिका, खंजन आदि, विविध वर्णी गायों तथा अन्य वन्य पशुओं का विवरण मिलता है। सूर-काव्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि कवि ने नर-नारियों के अंग-प्रत्यंगों पर धारण किये गए विविध रंगों के वस्त्रों तथा रत्न-जटित आभूषणों का उल्लेख किया है। उन दिनों स्त्री-पुरुष दोनों ही आभूषण धारण करते थे।[8] व्रज में उन दिनों प्रचलित अनेक प्रकारके नृत्य गान एवं लोकगीतों की ओर भी यथास्थान संकेत किया गया है। सूरदास ने लोकगीतों की धुन पर कुछ पद भी लिखे हैं। सूर-काव्य में उन दिनों व्रज में प्रचलित व्यंजनों का पता चलता है।[9] तैयार किए जाने वाले षट्रस भोजन तथा ५६ भोजन के अंत में कपूर से सुवासित पान खाने का भी उल्लेख है। प्रातकाल के कलेवा, दोपहर के भोजन तथा रात्रि समय की ब्यालू के विविध खाद्यों के पृथक्-पृथक् वर्णन हैं। होली के अवसर पर लोग वारुणी का भी सेवन करते थे। दानलील के प्रसंग में लौंग, नारियल, दाख, सुपारी, हींग, मिर्च, पीपर, अजवायन, जयफल, सोंठ, चिरायता, बहेरा आदि के नाम गिनाये गए हैं।

सूर-काव्य में संगीत में निबद्ध विभिन्न राग-रागिनियों में पद दिये गए हैं। इसमें उपंग, ताल, पखावज, मुरज, खाव, बीना, किन्नारी, मृदंग, ढोल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि वाद्यों का भी उल्लेख है। इनके अतिरिक्त वास्तुकला-चित्रकला तथा मूर्तिकला से सम्बन्धित कलाकृतियों का भी किंचित विवरण दिया गया है। आज भी व्रज में स्त्रियां दीवारों पर सफेद खड़िया और गेरू आदि से चित्र रचना करती हैं। पूजन के समय गोवर्धन, गौरी-गौरा और गणेश आदि की मूर्तियां बनाई जाती हैं। सूर के समय में व्रज की परिक्रमा की जाती थी। सात्विक भावना से प्रेरित इस परिक्रमा से शारीरिक ताप और पाप नष्ट होते हैं—

श्रीमुख बानी कही विलम्व,
अब नैंकु न लावहु।
व्रज परिक्रर्मा करहु,
देह कौ पाप नसावहु ॥

वही, पृ ६४३०, पद १११०

सूर-काव्य से उद्धृत उपर्युक्त विवरण से व्रज के लोक जीवन और वहां की संस्कृति का भली प्रकार पता चलता है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि शिशु और बालक रूप में लीला करने वाले कृष्ण के किशोर और प्रौढ़ जीवन की लीलाओं ने व्रजवासियों में भक्ति-भाव की वह पयस्विनी प्रवाहित की जिसके कारण वे जन-नायक के रूप में चित्रित किये गए और इसी के फलस्वरूप आज का समाज भी भक्ति-भाव से समन्वित है। वस्तुतः सूर का काव्य व्रज के लोक-जीवन और लोक-संस्कृति का एक प्रमाणिक कोश है। सूर के काव्य की सहजता, सरलता और आत्मीयता का ही यह परिणाम है कि ५०० वर्ष बीत जाने पर भी कवि और भक्ति सूर व्रज के समाज, संस्कृति और जीवन से ऐसे संपृक्त हो गए हैं कि सूर, कृष्ण और व्रज भूमि तीनों एकाकार हो गए हैं। व्रजभाषा के कृष्णभक्ति कवियों—विशेषतः सूर का ही यह पुण्य-प्रताप है कि हमारे आज के भौतिकवादी युग में भी कृष्ण की लीलाएँ जन-जीवन के उतनी ही समीप हैं जितनी कि सूर-युग में थी।

---

1. आसन, ध्यान, वायु-आराधन अलि मन चित तुम ताए।
अतिहि विचित्र सुबुद्धि सुलच्छन गुनी जोग मत गाए।
मुद्रा, भस्म, विषान, त्वचामृग, व्रज जुवतिनिहिं भाए। सूरसागर पृष्ठ 1371 पद 3505

2. यह संदेस कह्यौ है माधौ, करि विचार जिय साधन साधौ।
इडा, पिंगला सुषमना नारी। सून्य सहज मै बसत मुरारी।
ब्रह्म भाव करि सब मैं देखौ। अलख निरंजन ही कौं लेखौं।
पद्मासन इक चित मन ल्यावो। नैन मूंदि अंतर्गति ध्यावौ।
हृदै कमल मैं ज्योति प्रकासी। सोइ अच्युत अविगत अविनासी। वही, पृष्ठ 1519 पद 4049

3. गोपी सुनहु हरि संदेस।
कह्यौ पूरन ब्रह्म ध्यावहु त्रिगुन मिथ्या भेष।
ज्ञान बिनु नर मुक्ति नाहीं यह विषय संसार।
रूप रेख न नाम जल थल बरन अबरन सार।
मातु पितु कोउ नाहिं नारी जगत मिथ्या लाइ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सूर' सुख दुख नहीं जाकें भजौ ताकौं जाई। वही, पृष्ठ 1420 पद 3685

4. निर्गुन ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है, वेद पुरानन गाई।

5. आलिगन चुम्बन परिरंभन नख छत चारू परस्पर हासी।
उर परसत सब अंग विलोकत क्रीड़त दुख सुख जीके।
चोली चीर अलक भूषण फिरि साजत पिय भव नीके।
नख-सिख साजि सिंगार सकल त्रिय सुन्दर बदन निहारत।
विविध विलास सकल कौतुक रस छ दस अंक अरि डारत।
जोवन-मद जन-मद मादक मद धन मद बिध मद भारी।
काम विबस पर नारि भजत दुइ पंच सरहि फिरि मारी।

6. वही, पद संख्या 57,58,59,60,61,63,64-दशम स्कन्ध

7. व्रज वनिता करि कौं कर जोरैं। सूरसागर, दशम स्कंध, पृष्ठ 529, पद 782।
मित्र मौं मांगि कृष्ण पति लीजे। रूद्रहिं सेवहु मन-वच क्रम अब।
गौरी-पति-पूजन मन दीन्हौ। वही, पृष्ठ 534 पद 799।
रवि करि नित्य सिवहिं मन लीन्हौ। हृदय मांझ अवलोकन कीन्हौं।
त्रिपुर-सदन त्रिपुरारि त्रिलोचन। गौरीपति पशुपति अघ-मोचन।
गरल-असन अहि-भूषण-धारी। जटा धरन, सिर गंगा प्यारी। वही, पृष्ठ 536 पद 799
तात गोवर्धन पूजहु जाइ। वही, 546 पद 825
पृष्ठ 542 से 546 तक गोवर्धन पूजा के पद दिये गए हैं।

8. **स्त्रियों के आभूषण**— मोतीमाला, कंठश्री, कर्णफूल, तिलक, हमेल, करधनी, नूपुर, बिछुवा, नगजटित चौकी, बाजूबंद, कंकन, घांड, बेसरि, दुलरि, तिलड़ी, टीका आदि।
पुरूषों के आभूषण— हीरा, लाल, जटित मकराकृति कुंडल, कंठमाला, मुद्रिका, दुर, वैजयंती माला आदि।

9. खीर, खाँड, खीचरी, पापड़, मधुर महेरी, भात, हींग से भावित ढरहरी मूंग, तुलसी डालकर तपाया हुआ सद मक्खन, करी, विविधप्रकार के अचार, भाजी, साग, पेठा, खीरा, वरा, पकौड़ी, रायता, बेसन, आजवायन मिली रोटी, पूड़ी, कचौड़ी, लपसी, मालपुआ, लड्डू, सेब, घेवर, गोझा, मेवा, जलेबी' दही, मलाई, सिखरन, (श्रीखंड), धुमार दिया हुआ मट्ठा आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा पीएच०डी० के स्वीकृत शोध-विषय

अप्रैल 1980 से मार्च 1981 तक

क्रम संख्या	शोधार्थी का नाम	विषय
1	सरला शर्मा	राजपूत चित्र कला शैलियां और रीतिकालीन हिन्दी काव्य
2	आशारानी	हिन्दी उपन्यास रचना विधान और विकास
3	सीता सैनी	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्ध काव्यों में नैतिक मूल्यों के स्वरूप
4	सुधा देवी	हिन्दी कथा साहित्य में मध्यकालीन भारत
5	ऊषा शर्मा	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी निबन्ध साहित्य मे व्यंग्य: 1947-1975 (हरिशंकर पारसाई, शरद जोशी, रवीन्द्र नाथ त्यागी, नरेन्द्र कोहली, सुदर्शन माजिठिया के सन्दर्भ में)
6	विश्व बन्धु	हिन्दी का आत्म कथा साहित्य : स्वरूप विवेचन तथा विकासक्रम
7	अमरसिंह वधान	समकालीन हिन्दी कहानी और सचेतन दृष्टि
8	सन्तोष महाजन जी	गुरूमुखी लिपि में उपलब्ध पंजाब का हिन्दी राम काव्य
	सन्तोष कुमारी बन्सल	
9	कान्ता अरोरा	हिन्दी कहानी का मूल्यांकन व्यष्टि बोध और समष्टि बोध के सन्दर्भ में
10	सावित्री देवी	दिनकर का काव्य : एक मूल्यांकन (रोमाँटिक बोध के संदर्भ में)
11	युगल किशोर	दिनकर की काव्य चेतना
12	शशी प्रभा	The structural study of contemporary Hindi Drama
13	अत्री इन्द्रा रानी	राज कवि शंभु एवम् उनका काव्य
14	पीताम्बर दत्त शर्मा	A Descriptive analysis of garhwali (with special reference to Rathwali Dialect)
15	शरद चन्द्र बहुगुणा	आधुनिक कहानी में मानवीय संवेदना के विविध स्वरूप और उनका विकास (1936 से 1972 तक)
16	शकुन्तला देवी	उपन्यासकार वृन्दावन लाल वर्मा के नारी पात्रों का स्वरूप
17	मुलख राज जैन	पंजाब के हिन्दी जैन कवियों का सर्वांगीण अध्ययन और मूल्यांकन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पीएच०डी० रजिस्टर्ड

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1. कुमारी अनुपमा शर्मा : समकालीन हिन्दी नाटक-मिथक और यथार्थ ।
2. कुमारी निरुपा रानी : रामधारी सिंह दिनकर के काव्य की पौराणिक पृष्ठभूमि ।
3. श्री विनोद कुमार शर्मा : सत्रहवीं शताब्दी की एक हस्त लिखित प्रति सुखमणी संसार नाम (लिपि गुरुमुखी) का सांस्कृतिक अध्ययन ।
4. श्रीमती दयावती ठाकुर : तुलसी के काव्य में उनके जीवन तथा व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ।
5. श्रीमती सुषमा रानी गुप्ता : हिन्दी उपन्यासों में महाकाव्यात्मक चेतना ।
6. श्री सतीश कुमार : हिन्दी में लम्बी कविता की अवधारणा एवं विकास ।
7. श्री मंगत राम भाटिया : नीति परायग पुस्तक मालाओं का मूल्यांकन मानव मूल्यों की दृष्टि से ।
8. श्री बृज भूषण शर्मा : छायावादोत्तर हिन्दी कविता में नैतिक चेतना ।
9. कुमारी रेखा सुधीर : हिन्दी उपन्यास को पजाब की देन (1960-1980)
10. श्री मती अविनाश खन्ना : साठोत्तरी कहानी में जनवादी चेतना ।
11. कुमारी मधु कपूर : आचार्य अमीरदास रचित श्री कृष्ण साहित्य सिन्धु का पाठालोचनपूर्वक संपादन ।
12. श्री राकेश पाल जिन्दल : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन के आधार ।
13. कुमारी विष्णु प्रभा : नरेश मेहता का काव्य स्रोत तथा समकालीन प्रासंगिकता ।
14. श्री रजनीश कुमार : समकालीन हिन्दी एवम् पंजाबी नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन (1960-1980)
15. श्री देवराज शर्मा : निराला के साहित्य में मूल्यों का संक्रमण और विद्रोह ।
16. श्रीमती सरला शर्मा : भारतीय काव्य शास्त्र की देहवादी आलोचना तथा पश्चिमी रूपवादी आलोचना: एक तुलनात्मक अध्ययन ।
17. कुमारी आशा छिब्बर : साठोत्तरी हिन्दी नाट्य साहित्य में व्यंग्य ।
18. श्री रमेश कुमार वैद : समकालीन हिन्दी नाट्य साहित्य का समाज-मनोवैज्ञानिक अध्ययन (उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीश चन्द्र माथुर, मोहन राजेश, लक्ष्मी नारायण लाल, सुरेन्दर वर्मा मणिमधुकर, मुद्राराक्षस, शंकर शेष के विशिष्ट संदर्भ में)
19. श्री नागदत्त डिमरी : पन्त के परवर्ती काव्य का शास्त्रीय अध्ययन (युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि, युगान्तर, उत्तरा, रजतशिखर, शिल्पी, अतिमा, स्वर्णा पानी) ।

३२-३३ संयुक्त अंक, मार्च १९८१

मूल्य : दस रुपये

प्रकाशक तथा वितरक

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,

पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ ।

हिन्दी विभाग पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़

डा० धर्मपाल मैनी द्वारा सम्पादित और देवनागरी प्रिंटर्ज, 20 वेदमंदिर मारकीट, दरेसी लुधियाना द्वारा मुद्रित ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब यूनिवर्सिटी चण्डीगढ़

.4.82

८-३५

परिशोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

अनुक्रम

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय :-

लक्ष्मीनारायण शर्मा 1 हिन्दी शोध : एक पुनर्विचार

विचार गोष्ठी : आधुनिकता तथा आधुनिकता बोध

रमेश कुंतल मेघ : 3 भारतीय आधुनिकता के वृत्त में नव-जागरण तथा परकीयकरण

मैथिली प्रसाद भारद्वाज 15 नगरबोध, आधुनिकताबोध तथा संक्रमण द्वन्द्व

वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता 26 आधुनिकता व्यावहारिक पक्ष

अतुलवीर अरोड़ा 32 आधुनिकता की परिस्थिति और साहित्य का रचना-संदर्भ

विनय 37 आधुनिकताबोध और हिन्दी आलोचना

नरेन्द्र मोहन 46 आधुनिकता कहानी के सदर्भ में

यश गुलाटी 57 आधुनिकता के संदर्भ में हिन्दी कविता

सत्यपाल सहगल 65 आधुनिकता और आधुनिकता बोध

शोध निबन्ध

ब्रज लाल गोस्वामी 68 विश्वविद्यालय में हिन्दी शोध: स्वरूप और अपरूप

मथुरादत्त पाण्डेय 79 सूरकाव्य में प्रकृतिभूत रस तथा उसका परिपाक

सर्वेक्षण

वीणा गुप्ता, सरस्वती ठाकुर
शुभ लता, संगीता पुरी 88 पंजाब विश्वविद्यालय में सम्पन्न शोध-कार्य सर्वेक्षण तथा वर्गीकरण
किरण वेदी, उमा देवी

निर्देशक

डा० मैथिली प्रसाद भारद्वाज

हस्तलेख परिचय तथा समापन टिप्पणी

नरेश 113 जीवनराम कृत वनबास लीला

परेश 124 निर्मल वर्मा की नवीन चिन्ता सरणि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी शोध : एक पुनर्विचार

रचनात्मक साहित्य सम्बन्धी अन्य तथ्यपरक अथवा प्रविधिपरक विधाओं की भांति हिंदी शोध का प्रारम्भ भी सही अर्थों में आधुनिक काल में ही हुआ। ज्ञान-विज्ञान के नवीन क्षितिजों के संधान एवं विवेचन-विश्लेषण की भाषागत प्रक्रिया बहुआयामी होने के कारण शोध अथवा खोज की प्रामाणिकता, तथ्यपरकता तथा वैज्ञानिकता के अतिरिक्त वर्गीकरण व विशेषीकरण का महत्व आज के युग की मूल प्रतिपत्तियां कही जा सकती हैं। शोध के क्षेत्र में यह विशिष्टताएं ऐसे मानदण्डों के रूप में ग्रहीत हैं जिनके आधार पर तत्सम्बन्धी विभिन्न दृष्टियों, निकषों, कसौटियों तथा प्रविधियों का निर्माण होता है।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उपर्युक्त परिगणित मानों, सरणियों, पद्धतियों की स्वीकृति वर्तमान जीवन की नियत अपरिहार्यता है। इतना होते हुए भी शोध और विशेषतः हिन्दी शोध के क्षेत्र में अभी तक शोधक, निदेशक, शोध-संस्थाएँ, विश्वविद्यालय आदि राष्ट्रीय स्तर पर पारस्परिक संवाद की स्थिति तक प्राप्त नहीं कर सके हैं। सम्पूर्णता में सहमति अथवा कम से कम प्रविधि-परक एकरूपताओं की मान्यता के लक्ष्य भी सैद्धांतिक अथवा व्यावहारिक स्तर पर स्वीकार नहीं हो सके हैं। शोध सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिमानों को भी व्यापक स्तर पर ग्रहण नहीं किया गया है। फलस्वरूप हिन्दी शोध के जन्म काल यानी बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक से लेकर आठवें दशक के बाद तक के सात से अधिक दशकों की अवधि में प्रस्तुत तथा स्वीकृत लगभग पाँच हज़ार हिन्दी शोधप्रबन्धों के अधिसंख्य शोध-लेखकों ने विषय-चयन से लेकर उसके परिसीमन, सामग्री के एकत्रीकरण-संयोजन, विभिन्न शोध सूत्रों के निर्धारण एवं व्यावहारिक प्रतिपादन और अन्ततः सम्पूर्ण प्रस्तुतीकरण में 'मारग सोइ जो कहं जो भावा' पद्धति का आश्रय लिया है। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार शोध-प्रविधि के परिपालन की दृष्टि से यह सभी शोधप्रबन्ध अपने प्रतिमान स्वयं हैं। इस प्रकार के शोधप्रबन्धों की संख्या संभवतः शताधिक भी न हो जिनमें स्वीकृत शोधप्रविधि, शोध दृष्टि तथा शोधार्थी की प्रतिज्ञाओं का पालन अथवा निर्वाह आद्यंत प्राप्त होता है।

ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं-प्रशाखाओं, क्षेत्रों तथा विद्याओं में बहुमुखी व बहु-आयामी प्रगति के कारण इस अवस्था को एक सीमा तक अस्वाभाविक तो नहीं, किन्तु चिंतनीय अवश्य कहा जा सकता है। अब समय आ गया हैं जबकि हिन्दी के अपने शोधशास्त्र का निर्माण अत्यावश्यक है। इस दिशा में विभिन्न प्रकाशित प्रबन्धशास्त्रीय ग्रंथों, शोध पत्रिकाओं के सामान्य तथा विशेषांकों, विभिन्न विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध शोध निदेशकों द्वारा किये गए प्रयास अत्यन्त महत्वपूर्ण व उपयोगी होते हुए भी अपर्याप्त हैं।

शोधकार्य निरन्तर गतिमान एक संश्लिष्ट, शृंखलाबद्ध, तारतम्ययुक्त प्रक्रिया है। अन्वेषण और अन्वेषणोपरांत प्राप्त तथ्यों, सत्यों, सूत्रों तथा बिन्दुओं की उपयुक्त स्वीकृति शोध का मूलाधार है। जब अन्वेषण ही शोध की आस्था है, तो इसके सन्दर्भ में किसी भी प्रकार की अतिवादी दृष्टि सहायक नहीं होगी। अतः एक ओर साहित्येतर विधाओं के लिये स्वीकृत अन्त-र्राष्ट्रीय-राष्ट्रीय प्रविधियों को हिन्दी में सम्पूर्णता में लागू करना अवैज्ञानिक होगा जो प्रत्येक क्षेत्र के पृथक् विशेषीकरण-वर्गीकरण सिद्धांत के विपरीत पड़ता है; दूसरी ओर शोधशास्त्रीय व प्रविधि के स्वीकृत सामान्य सिद्धांतों को भी स्वीकार न कर पाना इस क्षेत्र में अराजकता की स्थिति को बनाए रखना होगा जैसा कि आज अधिकांशतः हो रहा है।

— *लक्ष्मीनारायण शर्मा*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'विचार गोष्ठी'

आधुनिकता तथा आधुनिकता बोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० रमेश कुंतल मेघ
आचार्य एवं अध्यक्ष,
हिंदी विभाग,
गुरु नानक देव यूनिवर्सिटी
अमृतसर

भारतीय आधुनिकता के वृत्त में नव-जागरण तथा परकीयकरण

आधुनिकता की समस्या ऐतिहासिक भी है-परम्परा में आधुनिकता के संक्रमण की।

भारत की सभ्यता में विलक्षण आधुनिक तत्वों की पहचान और फिर उनके उद्गमों की तलाश ने हमारे आधुनिक इतिहासलेखन शास्त्र (हिस्टोरियोग्राफी) तथा आधुनिकताधर्मा साहित्य में एक अनवरत परिसंवाद जारी रखा है।

राजा राम मोहन राय (1772-1833) भारत में आधुनिक युग के जन्मदाता थे। वे एक हिंदू जमींदार थे जो क्लासिकल दर्शन में पगे होकर सांस्कृतिक नवजागरण तथा सामाजिक सुधार के स्वप्नद्रष्टा थे। मूलतः उनमें वैयक्तिकता (इंडिजुअलिटी – व्यक्तिवाद या इण्डिविजुअलिजम् नहीं) की रोमांटिक चेतना थी। एक ओर उन्होंने सभी धर्मों में प्रचलित अन्धविश्वासों, कर्मकांडों और मूर्तिपूजा आदि का विरोध किया। एकेश्वरवाद का प्रचलन किया। उपनिषदों एवं वेदान्त में ही हिन्दू धर्म का सच्चा स्वरूप सिद्ध किया और केवल निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल दिया। इस तरह उन्होंने हिन्दू धर्म के सच्चे स्वरूप की ऐतिहासिक खोज की और फिर खुद को एक सच्चा (आधुनिक) हिन्दू होने का दावा किया। दूसरी ओर उन्होंने सामाजिक कुरीतियों को मिटाने का बीड़ा उठाया :- "विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन, कुलीनों में बहुविवाह की भर्त्सना, शिक्षा में समानता का प्रसार, नारियों के समान अधिकारों का समर्थन। 'ब्रह्मो' समाजियों में वैज्ञानिक शिक्षा-प्रणाली के अभाव का विरोध किया। कानून, चिकित्सा, प्राकृतिक विज्ञानों, पाश्चात्य-भाषाओं एवं विज्ञान तथा दर्शन के ग्रहण पर बल दिया। इस तरह उन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता और उदार सुधारवादिता का समारम्भ किया।"[1] तीसरी ओर शासन एवं राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने अपना शासन स्वयं कर लेने की क्षमता लाने पर संवैधानिक रीति से राजनैतिक आन्दोलन चलाने पर, तथा भारत में औद्योगिक विकास करने पर (ताकि भारत की पूंजी का प्रतिवर्ष इंग्लैंड निर्गमन बन्द हो) बल दिया। यहां सामंतीय और जमींदारी व्यवस्था की दरारों की पहचान मिलती है। आर्थिक हाशिये ज्यादातर लापता हैं।

भारतीय सभ्यता के "विलक्षण आधुनिक तत्वों" के रूप में हम इन्हें खोज कर पहचान सकते हैं। इटली के "रिनेसां" से बंगाल के नवजागरण या रिनेसां की तुलना हमें बहुधा ऐतिहासिक भ्रांतियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में फंसाती रही है ।[2] अब हमें आधुनिक भारतीय मानस के निर्माण को ही केन्द्र में रखना होगा ।

पश्चिमी रिनेसां में भी परम्परा से प्रयाण हुआ था । सामंतीय युग की चारित्रिक संस्थाओं और आदर्शों में परिवर्तन तथा संशोधन हुआ । ग्राम के बजाय नगरधुरी पर व्यापारिक पूंजी तथा आर्थिक समृद्धि का विकास हुआ । नगरों में संस्कृति केन्द्रीभूत हुई और देहात अंधेरे में डूबते गये । सार्वजनिक शिक्षा की नींव नहीं पड़ी जिससे जनसमूह अन्धविश्वासों और अज्ञान के शिकार बने रहे । अतः पश्चिमी रिनेसाँ भी मूलतः नगर केन्द्रित था तथा उसका प्रसार अभिजात वर्गों एवं मध्य वर्ग में ही हुआ था । यह अभिजन-केन्द्रित आन्दोलन था; तथापि मध्यकालीन सामूहिकता के स्थान पर इस आंदोलन में वैयक्तिकता (अहम् बोध एवं गर्वबोध) का अभ्युदय हुआ । पृथ्वी-केंद्रित ब्रह्माण्ड के स्थान पर सूर्यकेंद्रित ब्रह्माण्ड के ज्ञान ने मानवीय ज्ञान के क्षितिज को अनंत कर दिया, तथा ईश्वर के स्थान पर मनुष्य केन्द्र में प्रतिष्ठित हो गया ।

जाहिर है कि राजा राम मोहन राय ने जिन तीन आयामों का विन्यास किया है वे आधुनिक मानस के निर्माता हैं । उनमें परम्परा से आधुनिकता की ओर जो प्रयाण है वह भारतीय सामाजिक पर्यावरण के अभियोजित है । हमारी भारतीय आधुनिकता भी नगर केंद्रित है । पुराणपंथी धर्म की कर्मकाण्डी तथा अन्धविश्वासी प्रथाओं से उद्धार के लिए संघर्ष करती है । उपनिषदों और वेदांत की नई व्याख्याओं के साथ पश्चिम के विज्ञान एवं ज्ञान को समन्वित करती है । सामाजिक उन्नति को सामाजिक सुधारों द्वारा सिद्ध करने का कार्यक्रम प्रस्तुत करती है तथा औद्योगिक विकास की प्रथम कामना करती है । जनशिक्षा और ग्राम पंचायतों के आर्थिक पिछड़ेपन से मुक्ति, नारी समानता और स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता और उदारता, नागरिक प्रशासन और राजनैतिक अधिकार तथा राष्ट्रीय भाषाओं में लिखा गया मानवोद्धारक साहित्य; ये हमारे सर्वप्रथम 'आधुनिक तत्व' हैं जिनकी समष्टि 'भारतीय आधुनिकता' है । इन्हें हम आधुनिकता के सक्रिय आदर्श (घटक) भी कह सकते हैं ।

(क)

एशिया और विशेष रूप से भारत की आधुनिकता की दशायें पश्चिम से भिन्न हैं । एशिया के राष्ट्रों की निर्धनता एक त्रासदीय नाटकीय रोमांच है । राजा राम मोहन राय के समानांतर ही कार्ल मार्क्स (1818-1883) भारतीय समाज की ग्रामधुरी में पंचायती व्यवस्था का विश्लेषण कर रहे थे । वे रमणीय ग्रामीण समुदाय पौर्वात्य तानाशाही की दशा में जिंदा थे जिससे पूंजी का संचयन नामुमकिन था और जिससे अवरुद्धता तथा पिछड़ापन परिव्याप्त था । पौर्वात्य तानाशाही की नींव होनेके कारण उन रमणीय ग्रामीण समुदायों में मानव मस्तिष्क संकीर्ण और संकुचित था, रुढियों एवं अन्धविश्वासों का शिकार था तथा सामंतों एवं जमींदारों के दुहरे शोषण के चारों में पिस रहा था । केवल कृषि और दस्तकारी ही उद्यम थे । कृषि में अधिशेष था तो दस्तकारी में उत्पादकता की कमी थी । सामान्य किसान और दस्तकार को मंडी की सहूलियतें नहीं थीं । पंचायत (संस्था) उत्पादन के इन लघु साधनों के इस्तेमाल तथा वितरण पर पूरा नियन्त्रण रखती थी । शहरी कारीगरों की स्थिति - कुशलता और उत्पादन की दृष्टि से - थोड़ा भिन्न थी (इरफान हबीब) । लघु पैमाने वाले उत्पादकों में गतिशीलता नहीं होती,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निष्क्रियता (स्टैगनेशन) रहती है। साहसिक उद्यमशीलता नहीं होती, रूढ़िबद्धता छाती है। नये विचारों का संघात नहीं होता, बद्धमूलक संस्कार जड़ता लाते हैं। भारत में (अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में) पितृसत्ता वरीयता और सामंतवाद को तोड़ने वाले घटक (मजूरीवाला श्रम, साक्षरता, औद्योगीकरण वर्णाश्रम का विघटन) नहीं उभर पा रहे थे। कृषकों का पूर्वपूंजीवादी दमन उत्तरोत्तर उपनिवेशवादी-पूंजीवादी शोषण से भी जुड़ता गया। शहरी औद्योगिक मजदूर वर्ग की अनुपस्थिति थी। जमींदारों ने व्यापारी तथा नौकरशाही बूर्ज्वा वर्गों में गठजोड़ किया। सम्भवत: ऐसे में भारत का ऐतिहासिक विकास भी गैर-पूंजीवादी मार्ग पर नहीं हुआ। हमें लंबे अर्द्धसामंतीय और अर्द्धपूंजीवादी दौर से गुजरना पड़ रहा है।

(ख)

ऐसे परिवेश में भारतीय आधुनिकता की छवि शताब्दियों पुरानी परम्परा से सामंतवाद-उपनिवेशवाद के दमनशोषक चक्रों से, निर्धनता और पिछड़ेपन से कढ़ कर आई है। राजा राम मोहन राय ने भी करोड़ों शूद्रों तथा करोड़ों किसानों-कारीगरों को उपेक्षित सा किया। उन्होंने भी पूंजीवादी औद्योगीकरण तथा रमणीय भारतीय जीवन के स्वप्नलोकों के आधुनिक मॉडलों में ही भारतीय आधुनिकता के स्वरूप की अधिरचना की, तथापि अशालीन और अशोभन और अनघढ़ जीवन जीनेवाले करोड़ों हरिजन (शूद्र) किसान, कारीगर, मजदूर आदि भी गैर बौद्धिक एवं गैर-सांस्कृतिक ढंग से परम्परा के जुए तले दबे भी थे तथा सहजत: सामंतविरोधी, पूंजीवाद विरोधी और वर्ण विरोधी थे। इस तरह तथ्य एवं घटनाओं के वृत्त में वे भी परम्परा से आधुनिकता की ओर शनै: शनै: अनजाने ही प्रयाण कर रहे थे। तथापि उनकी आधुनिकता की दशा और अपेक्षा कुछ और थी: भद्र लोगों और कलाकारों की आधुनिकता से भिन्न। "आधुनिकीकरण-अमल" के अन्तर्गत दोनों ही तकनीकि आर्थिक विकास की माँग करते हैं। 'आधुनिकीकरण आदर्शों' के अन्तर्गत दोनों ही कुरीतियों रूढ़ियों और पिछड़ी मानसिकता से उद्धार चाहते हैं। दोनों ही जीवन शैली तथा श्रम-फलागम के प्रति अपने दृष्टिकोणों को संवारते-सुधारते-बदलते हैं। अत: एक ही सामाजिक दशा में आधुनिकता दो ध्रुवांतों में बंट जाती है। उनके अन्तर्विरोध उद्घाटित हो जाते हैं।

हमारी आधुनिकता में जिन ऐतिहासिक आदर्शों तथा अभिवृत्तियों को स्वीकार किया गया वे "नवजागरण" की धुरी से उभरी हैं। उनमें शोषण और अन्याय का विरोध है तथा उनका मानववाद कबीर--रैदास-तुलसी-जायसी की विरासत को लिये हैं। इस नवजागरण वाली आधुनिकता ने हमारे आधुनिक भारत के लिए आधुनिकता की यह कसौटियां दी :— आशावाद (तिलक) गरीबी और अज्ञानता से संघर्ष (विवेकानन्द) इहलौकिकता और राष्ट्रीयता (तिलक, गांधी) प्रकृतवाद और वैज्ञानिकता (दयानन्द) व्यक्तिवाद और मानववाद (रवीन्द्र नाथ ठाकुर) सामाजिक सुधार और आर्थिक जीविका (गांधी)। इन्हें हम अपनी एशियाई आधुनिकता के तत्त्व या मूल्य कह कर सम्बोधित करें तो भी असंगत नहीं है। दैवी के बजाय मानवीय का विकास, धार्मिक रूढ़ियों के बजाय तर्क की वरीयता, सामूहिक भेड़िया धसान के बजाय वैयक्तिकता की पहचान गरिमा, सामंतीय व्यवस्था के बजाय जन सामाजिकता वाली व्यवस्था आदि ही परम्परा से आधुनिकता के संक्रमण पथ हुए।

इस संक्रमण प्रक्रिया में हमें परम्पराओं अर्थात् ऐतिहासिक बोध को आधुनिकता का अनिवार्य अंग और अनुअंग मानना ही होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम्परावर्ती मूल्य उन विश्वासों तथा आचारों में निहित हैं जो हमें अतीत से मिले हैं। अतः काल की दृष्टि से जब परम्परा का संक्रमण आधुनिकता में होगा तो द्वंद्व उभरेगा। द्वंद्वों का निराकरण केवल अतीत की पुनर्व्याख्याओं द्वारा ही होगा। इस पुनर्व्याख्या में संक्रमण के साथ-साथ परिवर्तन की प्रक्रिया भी शामिल होगी। अतः परम्परा की पुनर्व्याख्या और परम्परा का परिवर्तन दोनों ही आधुनिकता में अनुप्रवेश कराते हैं। परम्परा का यही पक्ष द्वंद्वात्मक अतएव गत्यात्मक है। परम्परागत समाज ऐसी गत्यात्मकता से ही आधुनिक अभिवृत्तियों तथा जीवनशैलियों को ग्रहण करते है। यदि परम्परा को शाश्वत, अचल और अमर मान लिया जाय तो अतीत के अंध विश्वासों तथा संस्थाओं को सुरक्षित रखने के लिए संघर्ष छिड़ जाता है। यह ऐतिहासिक गत्यात्मकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। इसे हम परम्परावाद या प्रतिक्रियावाद कहते हैं। यह आधुनिकता विरोधी है। जातीय परम्परा की खूबी एक ही होती है। वह है उसकी नमनीयता या लचीलापन अर्थात नवीन से संयोजन। परम्परावाद के वृत्त में लोग न तो अतीत के आचरण को संशोधित करते हैं और न ही नवीन व्यवहारों को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वे प्रगति और परिवर्तन के अर्थात् एक आधुनिकता (की दिशा) के विरोधी हो जाते हैं। अतः हमें परम्परा से आधुनिकता की ओर प्रयाण में परम्परावाद के विरुद्ध अभियान करना ही होता है।

"आधुनिक समाज और संस्कृति" प्रगामी समाज और संस्कृति का उन्मेष भी करते हैं। उनका चारित्य होता है कि वे प्राकृतिक विज्ञानों, समाज विज्ञानों साहित्य एवं कला के क्षेत्रों में नये ज्ञान की संवृद्धि करें। उनमें यह समर्थता होती है कि वे इस नये ज्ञान से मानवीय धुरी में कुछ जोड़ें ताकि मानवीय उद्धार तथा सामाजिक क्रांति घटित हो सके। आधुनिक समाज के 'आधुनिकीकरण-आदर्शों का तात्पर्य यह है कि चिंतन की वे नयी विधियां विकसित हों जिनमें भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन और ज्ञान विज्ञान (हाई टैक्नॉलिजी के आयात समेत) इस प्रकार समन्वित हो कि परंपरा आधुनिकीकृत हो सके। फलस्वरूप सामान्य जनशक्ति नये औजार, नये प्रतीक तथा रूप, नयी धारणायें, नयी तकनॉलिजी, नये (लघु भारी) उद्योग, नयी आर्थिक अवधारणायें, नयी राजनैतिक प्रणाली की सर्जना कर सके। जाहिर है कि विशाल जन समूह 'परम्परावाद" (ट्रेडिशिनलिज्म) तथा 'रहस्यात्मक कुहासे' से क्रमशः अमल तथा ज्ञान द्वारा विमुक्त होता चले। आधुनिकता की ये दो महत्तम शर्तें हैं। इन आदर्शों एवम् शर्तों को दैनिक जन जीवन शैलियों में उत्तरोत्तर उत्तमोत्तम ढंग से अंगीकार करने वाला समाज ही एक प्रगतिगामी तथा आधुनिक समाज घोषित होता है।

हमारी आधुनिकता में धर्म के सच्चे स्वरूप का, उदार सामाजिक सुधारों का भारतीय और पश्चिमी दर्शन एवं विज्ञान के समन्वय का तथा राष्ट्रगर्वित राजनैतिक आर्थिकता में देसी पूँजी संचयन का चतुरंग विन्यस्त हुआ था जिसने मानव वाद, उदारतावाद, राष्ट्रीयतावाद तथा व्यक्तिवाद का उत्थान किया। हमारी प्राथमिक आधुकिता 'नव-जागरण' के महाभियान में पल्लवित पुष्पित हुई। यह सही है कि आधुनिकता के अंगीकार की जटिल प्रक्रिया में पहले यह प्रकार्य धर्म तथा सामंतीय मूल्यों की एकनिष्ठता किया करती थी। आजकल परंपरा की पुनर्व्याख्या के लिए एक ओर वैज्ञानिक इतिहास के दर्शन की आधुनिक विचारधाराएं हैं और दूसरी ओर साहित्य/संस्कृति के समाजशास्त्र का अनुप्रयोग। आधुनिक के वैचारिक लोक के ये सूर्य चन्द्रमा हैं। दोनों ही मानववादी (इहलौकिक) तथा सामाजिक (यथार्थ) हैं और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम्परावाद तथा रहस्यात्मक कुहासे के प्रतिपक्षी हैं। आशावाद और तर्कशील और शिवत्व के मूल्य त्रिकोण का केन्द्र बिन्दु यही है। हमारी "प्राथमिक आधुनिकता" : यह 'राममोहन राय-मॉडल' है।

(ग)

हमारी 'द्वितीय आधुनिकता' का समारंभ लगभग राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के दूसरे चरण (1918-1927) से होता है जब क्रांतिकारी संघर्ष तथा राजनैतिक जन संगठन फैले।

इसके नये लक्षणों का प्रभाव आजादी के बाद छठे दशक (1951-1961) की दो योजनाओं में सामान्य जन जीवन पर पड़ने लगता है। इस चरणमें आधुनिकीकरण के 'नेहरूमॉडल' की प्रतिपालना शुरु होती है जिसके अन्तर्गत (1) बालिग मताधिकार तथा प्रौढ़ शिक्षा द्वारा प्रजातन्त्र को गहराना, (2) धर्मनिरपेक्षता एवं पंचशील द्वारा विश्वशांति और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देना, (3) पंच-वर्षीय योजनायों द्वारा एक मिश्रित अर्थ रचना कायम करके आर्थिक स्वतन्त्रता एवंनिर्धनता के उन्मूलन द्वारा समाजवाद लाना तथा (4) औद्योगीकरण, धर्म-निरपेक्षता, मानवीय परम्पराओं द्वारा एक आधुनिक समाज का नवनिर्माण करना है। किंतु कृषि उत्पादन में वृद्धि तथा 'हैवी उद्योगों की स्थापना की सफलता के बावजूद आर्थिक विकास एवं आधुनिकीकरण यह मॉडल वैसा सफल नहीं हो सका, सन् 1962 के बाद तो विशेष रूप से। इस मॉडल ने मूलभूत समाजार्थिक मूलाधार की संरचना में तथा नागरिक प्रशासन में कोई परिवर्तन नहीं किया जिससे रूपांतरण के डायनमों 'जन' नहीं बन सके, वे ही शातिर 'नौकरशाह' रहे। मिश्रित अर्थतंत्र द्वारा बहु संरचना वाली (मल्टी स्ट्रक्चरल) सामाजिक प्रगति का जो अनुमान था, उसके स्थान पर प्रमुखत: पूंजीवादी संरचना तथा उसका एकाधिकारवादी [मोनोपली] पूंजीवाद वाला वाला महास्वरूप, और फिलहाल, बहुराष्ट्रीय पूंजीवाद [मल्टीनेशनल]भी विकसित होता चला है। परम्परा गत समाज में प्रमुख वर्गों का बेहद जटिल स्तरीकरण हुआ जिससे नौकरशाही धनिकवर्ग के साथ-साथ नव-समृद्ध या नये कुबेरों [नियो रिच समूह] राजनीति अर्थतन्त्र एवं संस्कृति में छा गये जिनका जन पक्षीय सामाजिक परिवर्तन परंपरा के आधुनिकीकरण तथा संस्कृति के लीलाकमल के खिलने आदि से कोई सक्रिय सरोकार नहीं था। असांस्कृतिकीकरण, असामाजीकरण तथा असांस्कृतिकीकरण के इन्द्रजाल में हमारी द्वितीयक आधुनिकता धस-धस गई है।

हमारे आजकल के भारत (जिसे हम 'आधुनिक' नहीं कह सकते) की दशा क्या है ? अपने निम्न आमदनी वाले देश में [197-78 में] 50·82% ग्रामीण जन, 38·19 शहरी लोग तथा 48·13% कुल जनता निर्धनता को रेखा के नीचे दबी है अर्थात गरीबी के निर्विकल्प ब्रह्म का अंश है। अभावों (स्केर्सिटी) से लड़खड़ाने वाली अर्थरचना में एक ओर तो काले धन (वांचू-कमेटी के अनुसार सन् 68-69 में रू. 70000रुपये) ने एक समानान्तर अदृश्य अगम रहस्यात्मक अर्थव्यवस्था चला रखी है तो दूसरी ओर भ्रष्टाचार ने नैतिकता, संस्कृति एवं मानवता के ताने-बाने जीर्ण-शीर्ण कर डाले हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में पंद्रह हजार करोड़ रूपयों की लागत के बाद भी लगभग बत्तीस करोड़ रूपयों का घाटा रहा, क्षेत्रीय असमानताएं कायम रहीं, मंडी का सही नेतृत्व भी अनुपस्थित रहा तथा राष्ट्रीय संस्त्रोतो में भी इजाफा नहीं हुआ जिससे अभावों से ग्रस्त आर्थिकता मुक्त होती। इसके ऊपर हमारी वृद्धि दर पिछले तीन सालों से लगभग 3.7 प्रतिशत रही है जोकि 5 प्रतिशत नहीं हो सकी क्योंकि राष्ट्रनीति और संरचना में कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ अर्थात् निजी क्षेत्र की आर्थिक ताकत को अपेक्षतः घटाया नहीं गया। इससे गिरती हुई संवृद्धि तथा संवर्द्धित होती हुई गरीबी के फन्दों से भारत का छुटकारा नहीं हो सकता। सबसे ऊपर सन् 1981 में हमारी जनसंख्या 57.2 करोड़ हो गई है जो इस शती के अन्त तक 95.00 करोड़ हो जाएगी।

अतएव योजनाबद्ध किन्तु मिश्रित अर्थतन्त्र ने हमारी आर्थिक वृद्धि को अवरुद्ध कर दिया है और फलस्वरूप हमारे मानवीय पक्ष का भी क्षय किया है जिसमें हमारी द्वितीयक आधुनिकता में परकीयकरण (एलियेनेशन) अवमानवीयकरण (डिह्यूमेनाइजेशन) तथा अकृतता (एनामी) की त्रिमुखी विलक्षण संघटनाएं छा गई हैं।

अतएव वर्तमान सामंतीय - वा - पूंजीवादी संरचना के मूलाधार पर समाजवाद की स्थापना की बात ही एक भ्रांति, आत्मछल, मायामोह आदि है। इसने हमारी यथार्थता को ही भ्रांति एवं छल तथा मोह में रूपांतरित करके बुद्धिजीवियों, बुद्धिकर्मियों तथा कलाकारों में आत्मनिर्वासन तथा असंगति की दशाएं पैदा कर दी हैं। आज हिंसा और सैक्स, आतंक और आक्रोश, विद्रोह और प्रतिरोध, मोहभंग और अजनबीपन, छद्‌मुखौटे और सुरक्षा कवच भ्रांति और धोखे हताशा और मृत्यु दैनिक जीवन के तथ्य घटनाएं एवं यथार्थ बन चुके हैं।

निष्कर्षतः हमारी द्वितीयक अधुनिकता की जो मध्यवर्गीय परिणति हुई है उसके दो ध्रुवांत "अलगाव" (अथवा परकीयकरण : कार्लमार्क्स) तथा "अकृतता" (दुर्खीमः 1858-197?) हैं। इसके आधु... तत्व उल्लिखित हिंसा से लेकर मृत्यु तक हैं। इसे हम 'अस्तित्ववादी ... माडल'

या "आधुनिकवादी माडल" मानते हैं। समकालीन चिंतन-सृजन में इस पश्चिमी प्रादर्श (माडल) का वर्चस्व-सा स्थापित हो गया।

(घ)

अलगाव (परकीयकरण) तथा अकृतता मिलकर अस्तित्वादी वैज्ञानिक आधुनिकता का लक्षण संश्लेष (सिंड्रोम) बनाते हैं जो कला, जीवन और समाज को संकुचित करता है। यह लक्षण संश्लेष आधुनिकता की सर्वश्रेष्ठ गुणवत्ता अर्थात तर्कशीलता (रीजन) का क्षय कर देता है और उसके स्थान पर फूहड़ता की तर्कहीनता को प्रतिष्ठित करता है: यथार्थता के आतंक एवं जटिलता से पलायन करके उसे भ्रांति एवं फंतासी में अन्यथाकृत करता है :- ज्ञान और कथ्य को निरर्थक मानकर रूप एवं प्रयोग की तकनीकी चमकदमक व शैल्पिक उहापोह की व्यर्थता फैलाता है, और सामाजिक संरचना तथा अर्थरचना के ऐतिहासिक रूपायनों को विश्लेषित किये बगैर सामाजिक परिवर्तन तथा मानुषी उद्धार को असम्भव तथा अस्वीकृत करता है। यह सिन्ड्रोम मनुष्य को ऐतिहासिक-सामाजिक संदर्भों से काट कर उसे मात्र अमूर्त मानव बनाकर संत्रास और अकेलेपन की उसकी अभिशप्त नियति घोषित कर देता है जिसमें वैचारिक प्रतिबद्धता एवं सामूहिक संघर्ष का निषेध है और मृत्यु के वरण में ही स्वतन्त्रता है। हताशा के मनोविज्ञान फूहड़ता (एब्सर्डिटी] की जीवनशैली तथा अलगाव के संत्रास को सार्वभौम बनाने वाली इस आधुनिकता में प्रधान रूप से विवेकहीनता, अजनबीपन, अकेलापन, सनकीपन, निहिलिज्म, संशयात्मकता, निरर्थकता और शून्यता के तत्व हैं। आर्थिक क्षेत्रों में नैतिक अराजकता [दुर्खीम] तथा शोषण उत्पीड़न की बधकता [मार्क्स] ने मानवीय स्वतन्त्रता तथा ... सिद्धि की दशाओं का निषेध कर डाला।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज से 'लगाव' तथा समुदाय से 'अपना-पन' धुंधला होता गया।

हम इस आधुनिकता को न तो मिथक मानते हैं न विदेशी। न ही हम इसे सम्पूर्ण मानते हैं और न ही अयथार्थ। यह आधुनिकता एकांगी है, अपूर्ण है, मात्र निषेधात्मक और केवल अहंपूजक है। इस आधुनिकता का संसार मूलतः मध्यवर्गीय व्यक्ति के ऐतिहासिक पिछड़ेपन तथा मनोवैज्ञानिक कुस्वप्नों से स्वयंभूत है। इसे सामाजिक एवं आर्थिक संरचनाओं की कसौटियों का अस्वीकार है। इस आधुनिकता में प्रशासन की व्यवस्थाओं और सरकार के चरित्र सत्ता को अपने सदर्भों से बाहर फेंककर आर्थिक और राजनैतिक प्रसंगों को संस्कृति तथा मनुष्य का विरोधी मान लिया गया। फलतः यह आधुनिकता विलायती पसंद नव कुबेरों और सत्तीयधारी मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों एवं कलाकारों की होकर संकुचित हो गई। इसमें गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी, जातिप्रथा, अन्याय आदि के कारण एवं समाधान लगभग लापता होते गये। एवज में सारी सत्ता और व्यवस्था से विरोध तथा सभी वैचारिक प्रतिबद्धता से परहेज रहा। यह कहीं-कहीं कुछ ठीक होकर भी निर्विकल्प निर्धनता के दलदल और नरक में धंसे हुए अड़तालीस प्रतिशत किसान-मजदूर-निम्नमध्यवर्गीय भारतीयों की आधुनिकता नहीं बन सकी। इसमें आशावाद, आदर्शवाद, सामाजिक परिवर्तन, वैचारिक प्रतिद्वता, व्यावहारिक अमल, परम्परा की पुनर्व्याख्या आदि अनुपस्थित से हैं। सत्ता और व्यवस्था के इर्दगिर्द एक रहस्यात्मक कुहासा फैला दिया गया है। समाज में किसी भी सकारात्मक प्रतिकर्म को निरर्थक समझा गया तथा व्यक्ति का अलगाव व्यथा में या कड़ुवाहट में या प्रतिरोध में या शत्रुता में घटित किया गया।

लगता है परम्परावाद (ट्रेडिशनलिज्म) की भांति 'आधुनिकवाद' (माडर्निज्म) का संवर्धन हुआ जिसमें अमूर्त मनुष्य की अभिशप्त नियति तथा अस्तित्ववादी स्वतंत्रता शाश्वत है। इसमें यथार्थता एक भ्रांति है तथा सामाजिक व्यवस्था एक मोहभंग है। इसमें तर्कशीलता निरर्थक है और सामाजिक परिवर्तन मात्र मजबूर अनुबद्धता [इंगेजमैंट] है। इसमें परम्परा एवं इतिहास का न तो पुनरुत्थान है, और न ही पुनर्व्याख्या। इस आधुनिकवाद के प्रत्यय पश्चिम की युद्धोपरांत सभ्यता की अकृतता तथा आधुनिकोत्तर समाजों के अकेलेपन से आयातित किये गये। जिन बुद्धिजीवियों और कलाकारों ने इनका अधिग्रहण या अपहरण किया वह पश्चिमीकरण (वेस्टर्नाइजेशन : श्रीनिवास) के एशियाई वृत्त में हुआ। यह अतिशयोक्तिपूर्ण और आतंक पूर्ण प्रोक्तियों से विपचित-विचर्जित हुआ। जाहिर है कि आधुनिकता के इस आधुनिकवाद वाले स्वरूप में आधुनिक संवेदना और समकालीन यथार्थ दर्शन असंप्रेषणीय और अप्रामाणिक हैं। आत्मनिर्वासित बुद्धिजीवी मूलतः आत्मकेन्द्रित और अहंलीन हैं। साहित्य, संस्कृति, कला में आधुनिकता का यह चरण देश की औद्योगिक प्रगति तथा विशाल सामाजिक संघर्षों के समानांतर नहीं है, और ऐसा होता भी नहीं है। इस आधुनिकवाद में करोड़ों मनुष्यों, लोकजनों, हरिजनों और आदिजनों के जीवन को बेहतर बनाने तथा न्याय पाने की मूलभूत लड़ाई प्रतिबिम्बित नहीं हुई। यह लड़ाई प्राथमिक और धारावाहिक है। यह आधुनिकवाद आत्मरति का शिकार हुआ जिसमें व्यक्ति अपने को अकेला अजनबी अर्थात अनोखा एवं अनुपम पाता है। इसे हम सब अपनी आधुनिकता का बोध कैसे मान लें? अशालीन, अनगढ़ और असुन्दर जीवन जीने वाले भी साहित्य कला से बाहर के तथ्यों एवं घटनाओं एवं कर्मों में आधुनिकता का दैनिक सामना सामना करते हैं, भले ही उन्हें चालू साहित्यिक [illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानसिक अंतर-प्रक्रियाओं में इसकी पहचान या दावेदारी न हो। आधुनिकता तो गैर साहित्यिक तथा साहित्यिक दोनों ही प्रकार के मानवीय व्यवहारों तथा प्रतीकात्मक कर्त्तव्य में गोचर होती है जो परम्परागत जीवन को परिवर्तित, तथा रूपांतरित कर रही है।

(ङ)

परकीयकरण के अन्तर्गत जो 'अजनबीपन' की दशा है वह मूलतः गरीबी, अशिक्षा, जात-पांत, अन्याय-शोषण आदि के कारण किनारे फेंक दिये जाने के कारण उपजती है। किन्तु इसके दूसरे हाशिये पर 'अलगाये' जाने की जो अन्तर्मुखी अनुभूति है वह अवास्तविक या अनुपस्थित भी हुआ करती है। यदि वह न भी हो तो कलाकार को भ्रांति या प्रतीति होती है कि उसकी कोई महत्ता शेष नहीं रही। उसकी कोई अस्मिता नहीं है और यह कि वह महज फिजूल है। सभ्यता मनुष्य के अवचेतन तथा आद्यादिम पर विजयी हो जाती है मानो यह स्वयं से ही आत्म-निर्वासित हो। यही कलाकार का अभिशाप है। अतः उसका आक्रोश या वेदना दोनों ही परकीयकरण घटाते हैं। इससे सृजनात्मकता के प्रति निराधार शत्रुता की स्थापना हुई है, कारण कि, कलाकार के आतंक, संत्रास, अकेलेपन, अस्वीकृति आदि के विद्रूपणों को सभी स्वीकार नहीं कर पाये। फलतः छठे एवं सातवें दशक में कलाकार की स्वायत्तता सामाजिक शत्रुओं में ढलती गई।

इसके संग-संग कृति की आधुनिकता के सवाल उठते हैं। आधुनिक युग में लिखी जाने वाली किसी कृति में आधुनिकता का समावेश लाजमी नहीं है। अत: क्या काल के आधुनिक ढंग से अलग आधुनिक तत्वों को पहचानने का कोई साधन है? 'कामायनी' को आधुनिक मानने वाले नन्द दुलारे वाजपेयी और उसे आधु[illegible] मानने वाले गजानन माधव मुक्तिबोध की पहचानों में कौन-सा फर्क है? अपनी पीढ़ी द्वारा उपेक्षित निराला को अगली पीढ़ी द्वारा अपना मसीहा पहचानने में क्या अंतर है? आखिर हम एक कृति में आधुनिकता किसे मानें?

वह कौन सी आधुनिक संवेदना अथवा अभिव्यञ्जना है जो आधुनिकता का यथेष्ट गुण है। रचना के शब्द, बिंब, प्रतीक, या भाषा, माध्यम, शिल्प रूप आदि अवयवों में से आधुनिकता की पहचान कौन कराते हैं? निरर्थकता, अस्वीकृति, अजनबीपन, शून्यता आदि हमें रचना की आधुनिकता से कितना परिचित कराते हैं? क्या कथ्यहीनता वाले गल्प रूपों, दुरूह प्रतीकों वाले पद्य रूपों तथा आडंबरपूर्ण बौद्धिकता वाले नव चिंतन में मौलिक आधुनिकता की पहचान है? क्या कृति अनबूझता और अप्रेषणीयता ही साहित्यिक आधुनिकता है? क्या यह रचना की अरूपता नूतन प्रयोग, मौलिक अराजकता आदि में अंतर्निहित हैं? कथ्यहीन अभिव्यक्ति तथा पाठकविहीन कृति अपने चारों ओर महज समाज की बजाए एक गोष्ठी में संचरणशील होती है जिसमें केवल साहित्यकारों के टोलों में ही—परस्पर आधुनिकता के मुहावरों की समझ पैदा हो जाती है। यह आधुनिकता अजनबीपन को परम्परा के विरुद्ध नहीं है। इससे कथ्यहीन आधुनिक कृति में रूप की प्रधानता है तथा यथार्थता की जटिलता में फांतासी का अति रंजित दिवास्वप्न है।

चूहेमार आधुनिकता वाली ऐसी स्वनिष्ठ (स्वायत्त) कृतियों में 'शब्द' की रचना में स्वयं शब्द को सार्थकता से खोखला कर दिया गया तथा 'शिल्प' के विन्यास में सायास प्रयोगों की नूतनता ही रूढ़ि से विद्रोह मान ली गई है। अतः भाषा की सहज संप्रेषण [illegible] सामाजिक परोपकारों एवं सिद्धांतों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का निषेध आधुनिकता नहीं है। आंचलिक अप्रचलित अनुपम अनगढ़ शब्द, बिंब, प्रतीकों द्वारा अर्थ का खंडन करना भी आधुनिकता सिद्ध नहीं होती। अत एव केवल अभिव्यक्ति के साधनों से रचना की आधुनिकता सिद्ध नहीं होती। अपने को अनोखा मानना भी आधुनिक चेतना नहीं है। लेखक पाठक और रचना के बीच लक्षण संश्लेष में साहित्य के प्रतीकात्मक रूप की आधुनिकता है। केवल शिल्प और शब्द ही आधुनिकता की परिभाषा के तत्व नहीं हो सकते। केवल अनास्था और परंपरा विरोध भी साहित्यिक रचना की धुरी बनकर भी आधुनिकता की शर्त नहीं बन सकता। जीवन की ऐतिहासिक सच्चाई तथा सामाजिक न्याय की लड़ाई ही रचना तथा व्यवहार में आधुनिकता के आयाम हैं। इस अन्तर को राजकमल चौधरी की 'मुक्ति प्रसंग' तथा मुक्ति बोध की 'अंधेरे में' शीर्षक कविताएं उद्भासित करती हैं।

निष्कर्ष रूप में : आधुनिकता के आधुनिक मॉडल न तो समाज सांस्कृतिक नवजागरण से समुपरंजन है, न परम्परा का पुनरुत्थान एवं पुनर्व्याख्या है, न धर्म की मानववादी खोज, और विज्ञान द्वारा तर्कशील का प्रसार है, न चिंतन एवं विचारधारा का ऐतिहासिक कर्म वाला प्रतिबिम्बन है, न ही सामाजिक संरचना के परिवर्तन एवं रूपांतरण में सक्रिय साझेदारी है, और न ही जातीय विरासत एवं जनजीवन के प्रति जिम्मेदारी है। यह आधुनिकवाद कर्त्ताओं, कृतीजनों तथा कर्मियों का न होकर मानो मानसिक कमलभक्षकों अर्थात् निष्क्रिय एवं निषेधवादी भोक्ताओं का है।

(च)

भारतीय आधुनिकता की परम्परा का शीर्ष आदर्श 'लोकायतिक लोकधर्मी मॉडल' है।

यह मॉडल राम मोहन राय मॉडल, नेहरु-मॉडल की लड़ी को गूंथता हुआ आधुनिकता के जातीय-मार्क्सीय अनुप्रयोगों का समाहार करता है। यद्यपि इसका समानांतर आविर्भाव भगत सिंह [1907-1931] तथा प्रेमचन्द [1880-1936] के समय में 1928 में हुआ था, लेकिन इसका परिणामकारी प्रभाव सन् 1950 में पड़ने लगा। इस मॉडल में राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के विज्ञान और संस्कृति के, ग्राम और नगर के, समाज और व्यक्ति के विकास और क्रांति के, परम्परा और आधुनिकता के, सिद्धांत और व्यवहार के मूलाधार और सुपरिगठन के ज्ञान और कर्म के, अन्तर्वर्गों (केटेगरीज) की यथार्थता तथा अन्तर्विरोधता स्वीकार की गई है और उनकी ऐतिहासिक अवश्यंभावनाएं भी पहचानी गई हैं।

साहित्य के आधुनिकवादी मॉडल में परम्परा तथा परम्परावाद दोनों से विच्छेद हुआ है किंतु उसमें यथार्थता और समाज-परिवर्तन के केन्द्रीय सवालों पर रहस्यात्मक-फांतासीय कुहरा फैलता गया है। यह सामंतीय तथा पूंजीवादी संरचनाओं के सह-अस्तित्व के कारण भी हुआ है जिनके साथ-साथ समाजवादी संरचना के प्रयोगों की अबूझ दावेदारी भी की गई। इससे छद्म-छल तथा मोहभंग फैला। कलावस्तु के तन्त्र और गठन में यह रचना की आधुनिकता के रूप में प्रसारित हो गया, तथापि औद्योगिक उत्पादन तथा सामाजिक आधुनिकीकरण के गैर-साहित्यिक तथ्य एवं घटनाएं नाटक तथा टेलिविजन के माध्यम में तो ग्रहण की गई किन्तु साहित्यकला माध्यमों का आधुनिकीकरण नहीं हुआ। शब्द से सार्थकता की यात्रा की बजाए शब्द से शिल्प प्रयोगों की साज-सज्जा की जाने लगी।

पिछले तीस सालों के राष्ट्रीय अनुभवों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही सिद्ध हुआ है कि बहु-संरचना वाला मिश्रित सामाजिक विकास असफल रहा क्योंकि सामंतीय पूंजी वादी संरचना मौजूद रही तथा लगभग चौंसठ करोड़ हिन्दुस्तानियों में लगभग अड़तालीस प्रतिशत लोग निर्विकल्प दरिद्रता में धसे-फंसे हैं, लगभग आधे लोगों की मासिक आय आज भी पचास रूपये है। अतः सवाल है कि क्या आंदोलनों तथा आधुनिक जन संचार-माध्यमों से जागरूक नई आने वाली पीढ़ी निर्धनता-रेखा के नीचे जिन्दगी बसर करना आगे बर्दाश्त करेगी ? स्पष्ट है कि अब सुलहकुल [समझौता वादी) राजनीति एव विप्लवी (रेडिकल) सामाजिक परिवर्तन साथ-साथ नहीं चल सकते। अतएव इस आधुनिकता के माडल में यकुम-संरचना की प्रधानता होगी जो लोकायतिक-लोकधर्मी अर्थात् समाजवादी होगी। इसमें कलारूप और जनजीवन की वस्तु के बीच प्रवल सिन्ड्रोम होंगे। सामंतीय अवशेषों से विमुक्ति के लिये विप्लवी भूमि-सुधार अनिवार्य है। इनके विना राजनैतिक लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकते। इसके बिना कृषक वर्गबद्ध नहीं होंगे। परिवर्तन वाले राजनैतिक संस्त्रोत भी नहीं बन सकेंगे, और अधिकाधिक कार्यवाहियों में हिस्सा नहीं बंटा सकेंगे।

अतएव आज आधुनिकीकरण एवं आधुनिकता की दशा के लिये राजनैतिक आर्थिकता ही बुनियादी सवाल हैं। क्या समूची समाज-संरचना का रूपान्तरण करने के लिये कोई दूसरा रास्ता बना है, सिवाय इसके कि सम्पत्तिशाली वर्गों और वर्णों (जातियों/संप्रदायों) पर आमने-सामने प्रहार किया जाय। भारत की निर्विकल्प दरिद्रता को केवल एकरेखाक विकासात्मक वृद्धि के माडलों द्वारा नहीं पछाड़ा जा सकता। (दि फ़्रेसाइन् आर फ्रेंकल "इंडियाज़ प्रोलिटिकल इकानॉमी : 1947 - 77)

हमारी इस आधुनिकता में भाषा तथा धर्म के सुदीर्घ अंतर्विरोध हैं जो वर्गीय तथा राष्ट्रीय एकता वाली आधुनिक चेतना के अभ्युदय में साधक हैं। भाषाओं को योजना द्वारा, आधुनिक व्यवहारों में ढालने पर उनका आधुनिकीरण होता है तथा धर्म को राजनैतिक आर्थिकता से पृथक् करने पर परम्परा से आधुनिकता में रूपांतरण होता है। अतएव धर्म की भूमिका को सामाजिक उद्धार से अलगाना होगा। अतएव धर्म की अपेक्षा(विशेषतः लोकचित्त और लोकशिक्षण को प्रसारित करने वाली भाषाएं)हमारी समकालीन आधुनिकता का जन माध्यम है। यह राम मोहन राय-माडल का संशोधन है।

हमारी इस आधुनिकता के केन्द्रीय लक्ष्य भी "नेहरू-मॉडल" वाले हैं :- गरीबी का उन्मूलन, आत्मनिर्भरता का विकास तथा राष्ट्रीय सांस्कृतिक एकता की रक्षा। इसके लिये जिस ढंग से आधुनिकीकरण होता है उसमें विज्ञान की रूपांतरणकारी भूमिका होती है। पिछड़ी हुई या मझोली टेकनालाजी से हमारा सामूहिक उद्धार नहीं हो सकता क्योंकि अब एकरेखाक विकास वाला पश्चिम माडल सीमित समय में हमारे समाज को पिछड़ेपन और विषमताओं से नहीं उबार सकता। अत: जब तक हम समाजवादी दिशा में बढ़ने का संकल्प नहीं करेंगे तब तक हम पिछड़ेपन में भी बंधे रहेंगे अर्थात् परम्परावाद और कई व्यवस्थाओं के घपले से उत्पन्न अविवेकी रहस्यात्मक कुहासे में लगातार पथभ्रष्ट तथा मोहभग्न होते रहेंगे। हमारे जन और जीवन की गुणवत्ता तथा जीवनशैली को बदलने में सक्रिय विचारधारा की भूमिका का फैशनेवल या दुराग्रही निषेध अनैतिहासिक तथा असामाजिक होगा। हमारी यह आधुनिकता मनुष्य के "सम्पूर्ण उद्धार" के प्रति कटिबद्ध है, व्यक्ति के पूर्ण ऐंद्रियक उन्मेष के प्रति सचेतन है। यह तभी होगा है जब गरीबी बीमारी, पिछड़ापन बेरोज-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारी अन्याय शोषण उत्पीड़न, अंधविश्वास, अशिक्षा, आत्मनिर्वासन के दशानन का संहार किया जाय। इसमें कलाकर्मियों के साथ साथ प्रकृति-वैज्ञानिक तथा समाजवैज्ञानिक तीनों का सक्रिय योगदान ही आधुनिकता की वैचारिक एवं मनोवैज्ञानिक महा-भूमिका स्थापित करता है। अतः राममोहन माडल में जो पश्चिमी विज्ञान और भारतीय दर्शन का योगायोग है, उसमें हम अंतर्ज्ञानानुशासनों का सहकार जोड़कर भारतीय आधुनिकता की समकालीन प्रासंगिकता प्राप्त करते हैं। अतःयह आधुनिकता यथार्थता के प्रति-करण अथवा सामाजिकता की अस्वीकृति की बजाय गरीबी की दशा के प्रति चिंतित आक्रोशी, विद्रोही है। फिल्मों के माध्यम में सत्यजित रे, श्याम बेनेगल, मृणाल सेन आदि ने इसे सिद्ध भी किया है।

समकालीन आधुनिकता पुनः पुनश्च परम्परा वाद से संघर्ष करती है किन्तु परम्परा की पुनर्व्याख्या तथा पुनरुत्थान करती है इटेली के रिनेसां तथा भारत के आधुनिक नवजागरण दोनों में ही ऐसा पुनर्जागरण हुआ है। अतः हम आधुनिकवादी आधुनिकता के चक्र को अस्वीकार करते हैं जिसमें परम्परा एवं इतिहास मानवीय अस्तित्त्व तथा स्वतंत्रता के विपरीत है। हमारी इस आधुनिकताधीन नियति पुनश्च प्राथमिक आधुनिकता के नवजागरण अथवा पुनर्जागरण अथवा रिनेसाँ से जुड़ने की है ताकि इतिहास समाज के अक्षों में गतिशील आम भारतीय के यथार्थ जीवन की समूची आधुनिक अभिव्यंजना हो।

हम यह भी जानते हैं कि इटेली के रिनेसां का पतन इसलिये भी हुआ था कि वह गरीबी में कमर तक धंसता गया, जगमगाते शहरों की समृद्ध संस्कृति मे अंधा हो गया तथा विशाल जनसमूह को अशिक्षा एवं अंधविश्वासों के अभिशाप से उद्धारित नहीं कर सका। आपसी लोकायतिक लोकधर्मी आधुनिकता की संरचना ही ऐसी है कि वह ग्रामीण और शहरी समुदायों के बीच की खाई को पाटती है। यह संस्कृति और श्रम के मानविकी और टेक्नालजी (प्रोद्योगिकी) के व्यवहार और आदर्श के अंतर्विरोधों का निराकरण करती है। यह परकीयकरण के अजनबीपन तथा अलगाव दोनों का क्रमशः उन्मूलन करती है। यह शिक्षा तथा कौशल पर आधारित आधुनिकता वर्ग और वर्ण के भी विरुद्ध है। यह सामाजिक परिदृश्य के निर्माण तथा शिक्षण से प्रतिश्रुत आधुनिकता में व्यक्ति का व्यक्तिवाद (अहंलीनता-अहंपूजा) न होकर व्यक्तिसत्ता है जो निर्वर्गीय होने के आत्मसंघर्ष में जूझती है।

यह प्रतिबद्ध बुद्धिजीवियों, कर्त्ताओं तथा कर्मियों की सक्रिय तथा सकारात्मक आधुनिकता है जिसकी भारतीय परम्परा राममोहन राय-प्रादर्श नेहरू प्रादर्श आधुनिकवादी प्रादर्श से संक्रमित होकर निरन्तर विकसित, संशोधित और संवर्धित होती चली आ रही है। ●

संदर्भ :-

1. डैविड काफ: दि ब्राह्मी समाज एंड दी मेकिंग माडर्न इंडियन माईंड" प्रिंस्टन, युनि. प्रैस, प्रिंस्टन, 1979. उपसंहार
2. पश्चिमी (अटेलियन दिवस 15 शती) मूलतः प्राचीन संस्कृति का मानवीय धुरी पर पुन-रुत्थान था। इसे "मानववाद" (ह्यूमेनिज़म) कहा गया। मनुष्य के व्यक्तित्व की गहराइयों की छानबीन ने "व्यक्तिवाद" (इंडिजुअलिज्म) का उन्मेष किया। रिनेसां-आन्दोलन मध्ययुगों से स्पष्ट विच्छेद था। यह ध्वंसवादी था। यह ईसाई रोमन साम्राज्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरुद्ध था। यह पोंगापंथ-पुराणपंथ के विरुद्ध था। इसमें नये मूल्यों तथा जीवन के नये दर्शन (इरास्मस का सुधारवाद, गेलिलियो का विज्ञानवाद, लियोनार्दो का शैक्षणिक सौंदर्यवाद आदि) का समावेश हुआ। यह उदारतावाद बुद्धि की आलोचनात्मक एवं विवेकात्मक क्षमताओं के विकास तथा दैवी एवं स्वर्गिक के स्थान पर इहलौकिक एवं मनुष्य-प्रकृति के आधुनिक विज्ञानों की ओर प्रयाण था। [दे. विलियम जे. बाउस्मा "दि इंटरप्रिटेशन आफ रिनेसां ह्यूमेनिज्म)" पब्लिकेशन नं 18 अमेरिकन हिस्टोरिकल एसोशिएशन मैकमिलन न्यूयार्क 1959 पृ० 5-6

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नगरबोध, आधुनिकताबोध तथा संक्रमण द्वंद्व

डा० मैथिली प्रसाद भारद्वाज
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ ।

1. विषय

मानव की समस्त चिंतन प्रक्रिया, सामाजिक संरचना एवं नैतिक मूल्य दृष्टि उसकी अर्थ-व्यवस्था के आधार पर रूपाकार ग्रहण करती है । देश काल, भौतिक परिवेशगत भेद भी अर्थव्यवस्था के समक्ष गौण एवं अल्पप्रभावपूर्ण रह जाते हैं । इसीलिए यूरोप, भारत तथा अरब देशों में प्रत्यक्ष सम्पर्कों का अभाव होने पर भी क्लासिक काल में अर्थव्यवस्था के सामंती कृषि-आधारित ढांचे के कारण सामाजिक संरचना, नैतिक मूल्यवत्ता तथा धार्मिक-बौद्धिक क्रियाव्यवहार में एकान्त समता उपलब्ध होती है । इस समस्त भूभाग में क्लासिकी अर्थव्यवस्था के ह्रास तथा मध्यकालीन क्लासिक-विरोधी एवं लोकाभिमुख समाज-व्यवस्था का विकास भी समान एवं समानान्तर ही होता है । इसी प्रकार औद्योगिक-यांत्रिक तथा वैज्ञानिक विकास के साथ आरम्भ हुआ आधुनिक युग विश्व भर में सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों तथा जीवन दृष्टि को समान एवं समानांतर रूप में प्रभावित करता है । आधुनिकता की इस भौतिक एवं बौद्धिक विकास प्रक्रिया का सम्बन्ध नगरीकरण के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है । वस्तुतः नगरीकरण को आधुनिकता का कारण भी कहा जा सकता है और परिणति भी । यह असंदिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि किसी देश अथवा देश के किसी भी वर्ग की आधुनिकता की चेतना का मापदण्ड उसके नगरबोध के द्वारा सहज ही आंका जा सकता है । प्रस्तुत लेख में नगरबोध की प्रक्रिया तथा परिणामित आधुनिक बोध का विवेचन अध्ययन की सीमारेखा है ।

2. पूर्व धारणा

यह मान कर चला जा सकता है कि आधुनिकता की प्रक्रिया एवं बोध केवल मात्र बौद्धिक चिंतन के विषय नहीं हो सकते । सुशिक्षित, चिंतनशील तथा विश्व भर के आधुनिकतावादी दर्शनों का अध्येता नगर परिवेश के अनिवार्य दबावों से अलग, सामंती परिवेश में जीवनयापन करने पर आधुनिकता से संपूर्णता से सम्बद्ध नहीं हो सकता । उसका बोध केवल बौद्धिक विलास तथा रोमांसिक कल्पना मात्र रह जायेगा । इसके विपरीत नगर-महानगर का साधारण अल्पशिक्षित या अशिक्षित व्यक्ति भी व्यावहारिक रूप में आधुनिक होगा, क्योंकि उसका सम्पूर्ण वैयक्तिक-सामाजिक व्यवहार नगरीय अर्थव्यवस्था, सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों एवं परिवर्तित मूल्यों के आधार पर संरचित व संचालित होगा । यह प्रक्रिया कुछ धीमी भले ही हो सकती है परन्तु होगी यह अनिवार्य ही ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी चेतन सत्ता को हमारा भौतिक अस्तित्व अनिवार्य रूप में प्रभावित करता है और इस दृष्टि से आधुनिकता की चेतना के आधार रूप में नागरिक अस्तित्व पहली तथा मूलभूत शर्त बन जाती है।

3 नागरीकरण की प्रक्रिया

आज की यांत्रिक औद्योगिक सभ्यता को नगरीकरण तथा नगर - सभ्यता का पर्याय कहा जा सकता है। दोनों एक दूसरे के कार्य भी हैं और परिणति भी। मुख्यत: कृषि पर आधारित लघु-समाजों का उन बड़े समुदायों की ओर स्थानान्तरण जिनके जीवन का मुख्य आधार उद्योग, व्यवसाय तथा प्रशासन एवं अन्य सम्बद्ध कार्य होते हैं, नगरीकरण कहलाता है। उद्योग और व्यवसाय जिस सीमा तक कृषि तथा कृषि प्रभावों से मुक्त होंगे, नगरीकरण उतना ही सुदृढ़ होता जायेगा।[1] नगर समाज सीमित भौगोलिक क्षेत्र में एकत्रित, ऐसा मानव समुदाय है जो औद्योगिक वस्तुओं के निर्माण, उनके वितरण तथा अन्य सम्बद्ध सेवा कार्यों द्वारा संचालित होता है। विशेषीकरण का उच्चतर एवं संश्लिष्ट सामाजिक राजनैतिक व्यवस्था इसकी अनिवार्य परिणतियां हैं।[2] किंग्सले डेविस के अनुसार मानव इतिहास में मानव समाज की भाषा, धर्म, वर्ग-विभाजन तथा परिवार आदि अन्य उपलब्धियों की अपेक्षा नागरीकरण की प्रक्रिया बहुत ही अर्वाचीन है। यह भी कहा जा सकता है कि मानो मानव के सम्पूर्ण अस्तित्व के पिछले कुछ क्षणों में नगरीकरण का विकास हुआ है।[3]

कृषि से असम्बद्ध तथा इस दृष्टि से अनुत्पादक एवं परजीवी मानव ही नगरवासी होता है। परन्तु मानव की मूलभूत आवश्यकतायें—भोजन, वस्त्र, ईन्धन और छाजन सब कृषि-भूमि से उपलब्ध होती हैं। ये सभी वस्तुएं दैनिक जीवन-यापन के लिये अनिवार्य हैं तथा आकार और भार की दृष्टि से इनका संवाहन एवं आरक्षण भारी श्रम की मांग करता है। इससे यह प्रश्न सीधे रूप में सम्बद्ध है कि नगर के अनुत्पादक वर्ग के लिये आस-पास का ग्राम्य कृषि क्षेत्र अपनी उपज क्यों देगा? और यदि खाद्य सामग्री, ऊन, कपास, लकड़ी आदि वह देगा भी तो अविकसित संचार और यातायात के साधनों की स्थिति में इस भारी सामान को कितनी दूरी से किस मात्रा तक नगर में पहुंचाया जा सकेगा?

इन प्रश्नों का सीधा उत्तर यह है बिना किसी प्रकार के भय या दबाव के कोई अपनी उपज का एक कण और श्रम का क्षण भी किसी के लिये देने को उद्यत नहीं होगा। इसके लिये तीन तत्व नगर विकास के आधार बनते हैं;— "सामाजिक व्यवस्था में शारीरिक बल का भय", "धार्मिक मतवादी आस्था" तथा "सम्पूरक उत्पादन"। शारीरिक बल से युक्त व्यक्ति अपने आस पास बलशाली व्यक्तियों का समूह इकट्ठा करता है। वह निकटवर्ती अन्तर्देश के कृषिजीवी समाज को अन्य आक्रान्तावर्ग से संरक्षण भी देता है और स्वयं आक्रांत करके उनकी उपज का सहभोगी भी बन सकता है। उस उपज को अपने केन्द्रीय आवास पर लाकर वहां वह अपनी और सहयोगी असिजीवियों को सेवा के लिए दास वर्ग का संयोजन तथा विकास करता है। इसमें आरम्भिक अवस्था में कुछ निजी सेवक तक हो सकते हैं, परन्तु विकसित अवस्था में धोबी, कहार, नाई, माली, चर्मकार, भंगी, भिश्ती, गंधी, स्वर्णकार, वणिक; बढ़ई तथा इस वर्ग के अन्य सेवा सर्ग का विकास होता है, जो अन्न वस्त्र आदि की दृष्टि से स्वयं भी अनुत्पादक वर्ग हैं इथा अन्तर्देश की कृषि पर निर्भर करता है। इस सेवावर्ग के लिए भुक्ति प्रदान करना भी प्रशासकवर्ग का कर्तव्य हो जाता है और कृषक समाज में उनकी उपज का अधिकाधिक अंश प्राप्त करना प्रशासकों के लिए और भी अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्वपूर्ण हो जाता है। इसके लिए यह आवश्यक हैं कि कृषि इतनी विकसित हो चुकी हो कि कृषक समाज अपनी आवश्यकता से कुछ अधिक उत्पन्न कर सके। यदि प्रशासक वर्ग स्वयं कृषक के भोजन व वस्त्र में से ही बलपूर्वक अपहरण करने लगें तो कृषक समाज वह स्थान छोड़ कर भागने के लिए बाध्य होता है जो स्वयं प्रशासक वर्ग व उसके नगर जीवन के लिए घातक है।

जैसा कि पीछे कहा गया है कि भोजन वस्त्र आदि आकार एवं परिमाण-बहुल वस्तुएं हैं, इसलिये इनका संवाहन अतिरिक्त श्रम की अपेक्षा करता है। मानव अपनी पीठ पर सीमित मात्रा व दूरी तक ही यह सामान ले जा सकता है। अधिक दूरी होने पर वह अपने सामान का अधिक भाग स्वयं यात्रापथ पर खा जायेगा। ऐसी अवस्था में नगर का संभरण व आपूर्ति असंभव हो जाते हैं। इसके लिये किसी प्रकार के सुरक्षित व स्थायी यात्रा पथों का निर्माण और उनकी रक्षा, पहिये से चलने वाले व पशुओं के द्वारा खींचे जाने वाले भारी संवाहक वाहनों का तथा बड़े आकार की नौकाओं का विकास आवश्यक होता है। यह भी आवश्यक है कि इन यात्रा पथों को निकटवर्त्ती शासकवर्गों की लूट पाट से सुरक्षित बनाया जाये। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नगर-विकास के लिए सुदृढ़ प्रशासनिक अवस्था, कुशल संचार साधन, कृषक को निजी आवश्यकता से अतिरिक्त उपज देने वाली कृषि व्यवस्था तथा अन्तर्देश को सुरक्षित रखने व उपज वसूल करने में सक्षम सैन्य व्यवस्था अनिवार्य प्रथम शर्तें हैं।

धार्मिक व मज़हबी व्यवस्था में नगर किसी मन्दिर, मस्जिद, तीर्थस्थान, धर्मगुरु, चर्च, पोप आदि के गिर्द विकसित हो सकते हैं। इसके लिये अन्तर्देश के कृषिजीवी वर्ग की सम्बद्ध संस्था [illegible] व्यक्ति के प्रति श्रद्धा, उनके शुभकर तथा अशुभकर होने के प्रति आस्था तथा भय, कृषि का पर्याप्त उपजाऊ होना तथा परिवहन मार्गों व साधनों का विकसित होना अनिवार्य हो जाता है।

व्यापार के केन्द्र के रूप में जब तक नगर एक क्षेत्र की अतिरिक्त उपज दूसरे क्षेत्र की उपज से आदान-प्रदान के केन्द्र रूप में सीमित रहते हैं तब तक उनमें विकास की संभावनायें अत्यल्प रहती हैं। ऐसी व्यवस्था में सर्वप्रथम तो कृषक समुदाय अपनी आवश्यकताओं को ही सीमित करके जी सकता है, और सीमित मात्रा में स्वयं अपनी अतिरिक्त उपज का आदान-प्रदान कर सकता है। इस दृष्टि से नगरों का यथार्थ विकास तो तब आरम्भ होता है जब उद्योग व यान्त्रिकी द्वारा नगर समुदाय कृषि से इतर वर्ग का इतना अधिक उत्पादन व निर्माण कर सकता है जो ग्राम्य जीवन को अधिक सुखकर, सुविधासम्पन्न एवं कृषि उत्पादन व परिवहन को अधिक लाभकर बनाने में सहयोगी होकर अतिरिक्त कृषि उपज को तथा अन्य कच्चे मालों को नगर की ओर आकृष्ट करता है।

इसमें सन्देह नहीं कि विश्व-नगर विकास के प्रथम दो चरणों में उपर्युक्त सभी तत्त्व बहुत ही अविकसित एव अल्पविकसित रूप में विद्यमान रहे हैं।

4 नगरीकरण : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

4.1 नगरीकरण : प्रथम चरण : पुरातत्व संबन्धी प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि भूमध्यसागर के आसपास, पश्चिमी तथा दक्षिणी एशिया में कुछ कस्बे व नगर ईसा से काफी पहले विकसित हुए थे। परन्तु इन नगरों के आकार व जनसंख्या में वृद्धि के मार्ग में अनेक रुकावटें थीं। बड़े नगरों के लिये [illegible] से अधिक कुशल तकनीक व यान्त्रिकी का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकास अनिवार्य था। इसके लिए सामाजिक संरचना विशुद्ध कबीलाई से आगे बढ़कर पर्याप्त संश्लिष्ट एवं वर्गविभाजित होनी चाहिये थी। कुशल यातायात के साधन अपेक्षित थे तथा ऐसी सामाजिक एवं राजनैतिक संरचना की आवश्यकता थी जो कृषि व कृषि से इतर वर्गों को अलग करके उनमें विशेषीकरण के अवसर, सुविधायें व मजबूरियां पैदा कर सकती।[4] कुछ विशिष्ट भूभागों में 6000 व 4000 ईसापूर्व बैल वाले हल, पहिये वाली गाड़ी, रहट, पाल वाली नाव, धातुकर्म, सिंचाई तथा वन्यवनस्पतियों को कृषि योग्य बनाने जैसे नये आविष्कारों व खोजों ने मानवीय अर्थव्यवस्था को काफी उत्पादक व दृढ़ बना दिया था। इसके साथ ही कृषि-जीवी तथा कृषि इतर वर्गों के क्रमिक विभाजन व विकास ने नगर-अस्तित्व के आधार की रचना की, जिसमें ऐसे लोग जो स्वयं अपना अन्न पैदा नहीं करते थे काफी बड़ी संख्या में सीमित स्थान में इकट्ठे रहने में सक्षम हो सके।[5] यह भी कल्पना की जाती है कि इस प्रकार की बड़े आकार की बस्तियों को संभव बनाने वाले कुछ आविष्कार जेसे-लेखन, हिसाब-किताब, धातुकर्म, विज्ञान, सूर्य के आधार पर वर्ष गणना तथा नौकरशाही, इन नगरों व कस्बों में ही संभव हुए। 3000 ईसापूर्व तक जब ये आविष्कार भारत, मिस्र, इराक आदि में अपना प्रभाव डाल रहे थे तो इन क्षेत्रों में 'वास्तिवक' नगर अस्तित्व मे आ रहे थे।[6] परन्तु ऐसे नगर संख्या में बहुत कम थे, इनका क्षेत्रफल एक चौथाई से कुछ वर्गमीलों तक और जनसंख्या कुछ हजार तक ही सीमित थी। परन्तु अपने अपने सम्पूर्ण क्षेत्र के लिये ये नगर महत्वपूर्ण केन्द्र के रूप में मान्य थे। बीस शताब्दियों की यथास्थिति तथा परिणामित सड़न के परिणामस्वरूप ये नगर लुप्त हो गये। चाइल्डे का कथन है कि इन प्रथम नगरों ने सांस्कृतिक विकास को कुण्ठित ही किया क्योंकि ये नगर समाज स्वयं पूर्ण रूप में अनुत्पादक बने रहे तथा इन अनुत्पादक, मजहबी व राजनीतिक वर्गों ने कृषक समाज का बहुत दोहन किया। वस्तुतः कृषक समाज को पशु स्तर तक गिरा दिया गया था।[7] नगरों के इस कुण्ठित विकास तथा मृतप्राय अस्तित्व के ये कारण हो सकते हैं—कृषि श्रम-प्रधान थी तथा कृषि साधन एवं पद्धतियां आदिम अवस्था में थीं। यातायात के साधन भी श्रम-प्रधान थे। एक नगर-निवासी का अस्तित्व अनेक कृषकों व श्रमिकों की कड़ी मेहनत पर निर्भर करता था। कृषि तथा अर्थव्यवस्था की यह प्रगतिहीन स्थिति मजहबी - राजनीतिक अधिकारियों की भीषण लूट-पाट के द्वारा और भी विषम बना दी गई थीं।

इस प्रकार इन आरम्भिक नगरों का आकार निकटवर्ती अन्तर्देश से श्रमप्रधान साधनों द्वारा प्राप्य खाद्य, ऊन-कपास तथा अन्य आकार बहुल वस्तुओं की उपलब्धि की मात्रा के द्वारा निर्धारित होता था। अन्तर्देश में सदा विद्रोह की अथवा निकटवर्ती कबीलों या नगरों द्वारा विजित होने की आशंका व संभावना भी नगरजीवन को सदा भयपूर्ण व स्थायित्वहीन बनाये रखती थी। नगर-विकास के अवरोध के अन्य कारण थे औषधी विज्ञान का अभाव जो महामारी की अवस्था में नगरों के समूल नाश का कारण हो सकता था, कृषक वर्ग की कृषि भूमि के साथ अति मानसिक लगाव जिससे जनसख्या स्थानान्तरण प्रायः नहीं होता था, विस्तृत पैमाने पर शिल्प, उद्योग, निर्माण तथा उत्पादन का अभाव, कृषक समुदाय पर प्रशासन का कड़ा नियन्त्रण जो अन्तर्देश में मुक्त वाणिज्य व्यवसाय के लिए घातक था, तथा सब वर्गों की अतिरिक्त मतवादिता व रूढ़िवद्धता। इस सब से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में नगर जीवन बहुत मामूली व महत्वहीन बात थी। इन नगरों की कुल जनसंख्या देश या क्षेत्र को सम्पूर्ण जनसंख्या की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१ या २ प्रतिशत मात्र होती थी तथा एक नगरवासी के अस्तित्व के लिये कृषि पर ९० से अधिक व्यक्तियों को कड़ा श्रम करना पड़ता था।

4.2 नगरविकास : दूसरा चरण :

छःसौ ईसा पूर्व से 400 ईसापूर्व के बीच नगरीकरण का दूसरा तथा अधिक महत्वपूर्ण विकास यूनानी रोमी प्रदेश में हुआ। इस काल में आरम्भिक धातुओं के स्थान पर कृषि यंत्र तथा अस्त्र-शस्त्र निर्माण में लोहे का प्रयोग आरम्भ हुआ। यातायात के साधनों का विकास हुआ। मुद्रा सुलभ हो गई, उपनिवेशों का व्यवस्थित व क्रमिक अधिग्रहण हुआ तथा प्रशासनिक ढाँचे में बहुत सुधार व परिष्कार हुए। इस सबसे आरम्भिक नगरों के विकास मार्ग की अनेक वाधाओं का निराकरण हुआ तथा नगर केन्द्र संख्या, जनसंख्या यथा आकार अब दृष्टियों से बहुत विस्तृत एवं विस्तीर्ण होते गये। एथेन्स, साइराक्यूज़ तथा कार्थेज एक लाख से तीन लाख जनसंख्या वर्ग के नगर थे। रोमनों ने ही वस्तुतः प्राचीन जगत की समग्र नगर संभावनाओं को "अपनी साम्राज्य जीतने, उसे व्यवस्थित करने तथा प्रशासित करने की योग्यता के द्वारा"[8] प्राप्त किया। उन्होंने अपने साम्राज्य की राजधानी रोम तक दास, खाद्य-सामग्री, अन्य वस्तुएं तथा संस्कृति तक पहुंचाने के लिए शक्ति और व्यापार दोनों का सहारा लिया। थोड़े ही समय में रोम की जनसंख्या कई लाख हो गई। परन्तु रोम और कुस्तुन्तुनियाँ भी अपनी कृषि निर्भरता की मूलभूत कमजोरी के कारण उन आक्रमण-कारियों द्वारा पराभूत हो गये जो स्वयं कम-नगरीकृत थे। इसके साथ यूरोप मे नगर तथा नागर जीवन के लिये एक सुदीर्घ अन्धकाराछन्न काल का आरम्भ हुआ।

4.3 नगरीकरण : तृतीय तथा आधुनिक सोपान

चौहदवीं शताब्दी में यूरोप में कस्बों व नगरों का पुनर्जन्म हुआ। यह बहुत विनम्र आरम्भ था क्योंकि फ्लोरेंस, वीनस, एन्तवर्प, लन्दन, न्यूरम्वर्ग तथा फ्रांकफुर्त में से किसी की जनसंख्या भी कुछ हजार से अधिक नहीं थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही यूरोप में सच्चा नगरीकरण अथवा वास्तविक नगर-क्रांति आरम्भ हुई, जबकि क्षेत्र की जनसंख्या का काफी बड़ा भाग स्थायी तथा व्यवस्थित रूप में नगरों में रहने लगा। भारत, ईराक, मिस्र, ईरान, यूनान तथा रोम के प्राचीन नगरों के विकास-मार्ग की उन बाधाओं पर अब विजय प्राप्त करली गई जिनके अनुसार यह नगर आदिम कृषि व्यवस्था से बंधे थे, इनमें दस्तकारी का अभाव था तथा अपने अस्तित्व के लिये नगरवासियों की अंतर्देश पर अति-रिक्त तथा कंठित करने वाले सैन्य बल का प्रयोग करना पड़ता था कृषि और परिवहन की अभूतपूर्व उन्नति ने,नये भूभागों और नये व्यापार मार्गों के उद्घाटन ने, उन्नत व सुव्यवस्थित दस्तकारी द्वारा क्षमता में वृद्धि ने तथा कालांतर में मशीनों पर आधारित कलकारखानों में उत्पादन की क्रांतिकारी पद्धतियों के विकास ने वस्तुतः नगरीकरण की प्रक्रिया के बांध ही खोल दिए। वाणिज्य और व्यापार के विकास ने सीमित अन्तर्देश और संभरण क्षेत्र की समस्या को क्रमशः समाप्त कर दिया तथा महा-नगरों के लिए सारे विश्व को ही अन्तर्देश के रूप में परिवर्तित करने के बढ़ते हुए प्रयत्नों ने तो अभिवृद्धि-शील नगरीकरण के लिए सुदृढ़ आधार ही प्रस्तुत कर दिया।

किंग्सले डेविस के अनुसार आज के नगरों का संभरण क्षेत्र तथा अन्तर्देश केवल कुछ मीलों तक सीमित न होकर सारा विश्व ही बन चुका है।[9]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकास अनिवार्य था। इसके लिए सामाजिक संरचना विशुद्ध कबीलाई से आगे बढ़कर पर्याप्त संश्लिष्ट एवं वर्गविभाजित होनी चाहिये थी। कुशल यातायात के साधन अपेक्षित थे तथा ऐसी सामाजिक एवं राजनैतिक संरचना की आवश्यकता थी जो कृषि व कृषि से इतर वर्गों को अलग करके उनमें विशेषीकरण के अवसर, सुविधायें व मजबूरियां पैदा कर सकती।[4] कुछ विशिष्ट भूभागों में 6000 व 4000 ईसापूर्व बैल वाले हल, पहिये वाली गाड़ी, रहट, पाल वाली नाव, धातुकर्म, सिंचाई तथा वन्यवनस्पतियों को कृषि योग्य बनाने जैसे नये आविष्कारों व खोजों ने मानवीय अर्थव्यवस्था को काफी उत्पादक व दृढ़ बना दिया था। इसके साथ ही कृषि-जीवी तथा कृषि इतर वर्गों के क्रमिक विभाजन व विकास ने नगर-अस्तित्व के आधार की रचना की जिसमें ऐसे लोग जो स्वयं अपना अन्न पैदा नहीं करते थे काफी बड़ी संख्या में सीमित स्थान में इकट्ठे रहने में सक्षम हो सके।[5] यह भी कल्पना की जाती है कि इस प्रकार की बड़े आकार की बस्तियों को संभव बनाने वाले कुछ आविष्कार जैसे-लेखन, हिसाब-किताब, धातुकर्म, विज्ञान, सूर्य के आधार पर वर्ष गणना तथा नौकरशाही, इन नगरों व कस्बों में ही संभव हुए। 3000 ईसापूर्व तक जब ये आविष्कार भारत, मिस्र, इराक आदि में अपना प्रभाव डाल रहे थे तो इन क्षेत्रों में 'वास्तिवक' नगर अस्तित्व मे आ रहे थे।[6] परन्तु ऐसे नगर संख्या में बहुत कम थे, इनका क्षेत्रफल एक चौथाई से कुछ वर्गमीलों तक और जनसंख्या कुछ हजार तक ही सीमित थी। परन्तु अपने अपने सम्पूर्ण क्षेत्र के लिये ये नगर महत्वपूर्ण केन्द्र के रूप में मान्य थे। बीस शताब्दियों की यथास्थिति तथा परिणामित सड़न के परिणामस्वरूप ये नगर लुप्त हो गये। चाइल्डे का कथन है कि इन प्रथम नगरों ने सांस्कृतिक विकास को कुण्ठित ही किया क्योंकि ये नगर समाज स्वयं पूर्ण रूप में अनुत्पादक बने रहे तथा इन अनुत्पादक, मजहबी व राजनीतिक वर्गों ने कृषक समाज का बहुत दोहन किया। वस्तुतः कृषक समाज को पशु स्तर तक गिरा दिया गया था।[7] नगरों के इस कुण्ठित विकास तथा मृतप्राय अस्तित्व के ये कारण हो सकते हैं—कृषि श्रम-प्रधान थी तथा कृषि साधन एवं पद्धतियां आदिम अवस्था में थीं। यातायात के साधन भी श्रम-प्रधान थे। एक नगर-निवासी का अस्तित्व अनेक कृषकों व श्रमिकों की कड़ी मेहनत पर निर्भर करता था। कृषि तथा अर्थव्यवस्था की यह प्रगतिहीन स्थिति मजहबी - राजनीतिक अधिकारियों की भीषण लूट-पाट के द्वारा और भी विषम बना दी गई थीं।

इस प्रकार इन आरम्भिक नगरों का आकार निकटवर्ती अन्तर्देश से श्रमप्रधान साधनों द्वारा प्राप्य खाद्य, ऊन-कपास तथा अन्य आकार बहुल वस्तुओं की उपलब्धि की मात्रा के द्वारा निर्धारित होता था। अन्तर्देश में सदा विद्रोह की अथवा निकटवर्ती कबीलों या नगरों द्वारा विजित होने की आशंका व संभावना भी नगरजीवन को सदा भयपूर्ण व स्थायित्वहीन बनाये रखती थी। नगर-विकास के अवरोध के अन्य कारण थे औषधी विज्ञान का अभाव जो महामारी की अवस्था में नगरों के समूल नाश का कारण हो सकता था, कृषक वर्ग की कृषि भूमि के साथ अति मानसिक लगाव जिससे जनसख्या स्थानान्तरण प्रायः नहीं होता था, विस्तृत पैमाने पर शिल्प, उद्योग, निर्माण तथा उत्पादन का अभाव, कृषक समुदाय पर प्रशासन का कड़ा नियन्त्रण जो अन्तर्देश में मुक्त वाणिज्य व्यवसाय के लिए घातक था, तथा सब वर्गों की अतिरिक्त मतवादिता व रूढ़िबद्धता। इस सब से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में नगर जीवन बहुत मामूली व महत्वहीन बात थी। इन नगरों की कुल जनसंख्या देश या क्षेत्र को सम्पूर्ण जनसंख्या की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१ या २ प्रतिशत मात्र होती थी तथा एक नगरवासी के अस्तित्व के लिये कृषि पर ६० से अधिक व्यक्तियों को कड़ा श्रम करना पड़ता था।

4.2 नगरविकास : दूसरा चरण :

छःसौ ईसा पूर्व से 400 ईसापूर्व के बीच नगरीकरण का दूसरा तथा अधिक महत्वपूर्ण विकास यूनानी रोमी प्रदेश में हुआ। इस काल में आरम्भिक धातुओं के स्थान पर कृषि यंत्र तथा अस्त्र-शस्त्र निर्माण में लोहे का प्रयोग आरम्भ हुआ। यातायात के साधनों का विकास हुआ। मुद्रा सुलभ हो गई, उपनिवेशों का व्यवस्थित व क्रमिक अधिग्रहण हुआ तथा प्रशासनिक ढाँचे में बहुत सुधार व परिष्कार हुए। इस सबसे आरम्भिक नगरों के विकास मार्ग की अनेक बाधाओं का निराकरण हुआ तथा नगर केन्द्र संख्या, जनसंख्या यथा आकार अब दृष्टियों से बहुत विस्तृत एवं विस्तीर्ण होते गये। एथेन्स, साइराक्यूज़ तथा कार्थेज एक लाख से तीन लाख जनसंख्या वर्ग के नगर थे। रोमनों ने ही वस्तुतः प्राचीन जगत की समग्र नगर संभावनाओं को "अपनी साम्राज्य जीतने, उसे व्यवस्थित करने तथा प्रशासित करने की योग्यता के द्वारा"[8] प्राप्त किया। उन्होंने अपने साम्राज्य की राजधानी रोम तक दास, खाद्य-सामग्री, अन्य वस्तुएं तथा संस्कृति तक पहुंचाने के लिए शक्ति और व्यापार दोनों का सहारा लिया। थोड़े ही समय में रोम की जनसंख्या कई लाख हो गई। परन्तु रोम और कुस्तुन्तुनियाँ भी अपनी कृषि निर्भरता की मूलभूत कमजोरी के कारण उन आक्रमण-कारियों द्वारा पराभूत हो गये जो स्वयं कम-नगरीकृत थे। इसके साथ यूरोप में नगर तथा नागर जीवन के लिये एक सुदीर्घ अन्धकाराछन्न काल का आरम्भ हुआ।

4.3 नगरीकरण : तृतीय तथा आधुनिक सोपान

चौदहवीं शताब्दी में यूरोप में कस्बों व नगरों का पुनर्जन्म हुआ। यह बहुत विनम्र आरम्भ था क्योंकि फ्लोरेंस, वीनस, एन्तवर्प, लन्दन, न्यूरम्वर्ग तथा फ्रांकफुर्त में से किसी की जनसंख्या भी कुछ हजार से अधिक नहीं थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही यूरोप में सच्चा नगरीकरण अथवा वास्तविक नगर-क्रांति आरम्भ हुई, जबकि क्षेत्र की जनसंख्या का काफी बड़ा भग स्थायी तथा व्यवस्थि रूप में नगरों में रहने लगा। भारत, ईराक, मिस्र, ईरान, यूनान तथा रोम के प्राचीन नगरों के विकास-मार्ग की उन बाधाओं पर अब विजय प्राप्त करली गई जिनके अनुसार यह नगर आदिम कृषि व्यवस्था से बंधे थे, इनमें दस्तकारी का अभाव था तथा अपने अस्तित्व के लिये नगरवासियों की अंतर्देश पर अति-रिक्त तथा कंठित करने वाले सैन्य बल का प्रयोग करना पड़ता था कृषि और परिवहन की अभूतपूर्व उन्न-ति ने,नये भूभागों और नये व्यापार मार्गों के उद्घाटन ने, उन्नत व सुव्यवस्थित दस्तकारी द्वारा क्षमता में वृद्धि ने तथा कालांतर में मशीनों पर आधारित कलकारखानों में उत्पादन की क्रांतिकारी पद्धतियों के विकास ने वस्तुतः नगरीकरण की प्रक्रिया के बांध ही खोल दिए। वाणिज्य और व्यापार के विकास ने सीमित अन्तर्देश और संभरण क्षेत्र की समस्या को क्रमशः समाप्त कर दिया तथा महा-नगरों के लिए सारे विश्व को ही अन्तर्देश के रूप में परिवर्तित करने के बढ़ते हुए प्रयत्नों ने तो अभिवृद्धि-शील नगरीकरण के लिए सुदृढ़ आधार ही प्रस्तुत कर दिया।

किंगसले डेविस के अनुसार आज के नगरों का संभरण क्षेत्र तथा अन्तर्देश केवल कुछ मीलों तक सीमित न होकर सारा विश्व ही बन चुका है।[9]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिछली डेढ़ शताब्दियों में यह विश्व व्यापार तथा कृषि अर्थव्यवस्था में हुई अभूतपूर्व वृद्धि के कारण सम्भव हुआ जिसके कारण नगर समुदाय अब वैविध्य पूर्ण तथा विस्तीर्ण क्षेत्रों पर निर्भर होने में सफल हो गया है। एक समय था जब एक नगर निवासी के अस्तित्व के लिए ६० से ६५ कृषकों व श्रमिकों को खेतों पर कठिन कठोर श्रम करना पड़ता था, जबकि १६६० में विश्व की कुल जनसख्या का ३० प्रतिशत 20 हजार या इससे अधिक जनसंख्या वाले नगरों में रह रहा था।[10] यह सब सतत विकासमान कृषि यांत्रिकी, तथा व्यापार तथा औद्योगिक निर्माण के विस्तार तथा भारी व लम्बी दूरी के यातायात व परिवहन साधनों के कुशल संयोजन के द्वारा ही संभव हुआ है। बाह्य् आयात के अतिरिक्त महानगरों का आस्तित्व आन्तरिक यातायात के कुशल साधनों पर भी निर्भर करता है। एक दिन के लिये भी महानगर की बसें, रेलें, कारें आदि यदि बन्द हो जायें तो सम्पूर्ण जीवन अस्तव्यस्त हो सकता है। पुराने नगरों के लघु आकार के लिये इस प्रकार के यातायात का अभाव भी एक प्रमुख कारण रहा है।

अब स्थिति यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर अब तक हर पच्चीस वर्षो में नगर जनसंख्या दोगुनी होती जा रही है। जहां कुल विश्व जनसंख्या 1800-1960 की कालावधि में तिगुनी हो गई है, वहां इसी काल में नगर जनसंख्या में 37 गुणा वृद्धि हुई है।[11] नगरों की जनसंख्या में भी भारी वृद्धि हुई है। सन् 1800 में एक लाख या अधिक जनसंख्या वाले नगरों की विश्व संख्या 50 थी, जबकि आज दस लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों की संख्या ही इससे बहुत अधिक है। एक लाख या इस से अधिक जनसंख्या वाले नगरों की संख्या आज 900 से अधिक है। 1800 की कुल विश्व नगर संख्या के मुकाबले आज कई अकेले-अकेले देशों की नगर संख्या कहीं अधिक है।[12]

विद्वानों का विचार है कि वर्तमान वृद्धि-दर से 200 ईसवी तक 20 हजार या इससे अधिक जनसंख्या वाले नगरों का कुल विश्व जनसंख्या में प्रतिशत 45 तथा 2050 ईसवी में 90 होगा। और यदि 20 हजार से कम जनसंख्या वाले कस्बों को भी परिगणित किया जाये तो इस शताब्दी के अन्त तक ही अनेक राष्ट्र शतप्रतिशत नगरीकृत हो चुके होंगे। कृषि के अधिकाधिक यांत्रीकृत होते जाने तथा कृषि के लिये कम से कम व्यक्तियों की आवश्यकता रहने की वर्तमान अवस्था में उपर्युक्त अनुमान गलत प्रतीत नहीं होता। यह भी कल्पना की जानी है कि अन्न और रेशे को उत्पादन की उन पद्धतियों से पैदा किए जाने की संभावना हैं जिसमें ऐसे पदार्थ प्रयुक्त होंगे जो पौधे की अपेक्षा अधिक कुशलता और उपादेयता से सूर्य शक्ति का उपयोग कर सकेंगे। यदि यह संभव हुआ, जिसकी पर्याप्त आशा है, तो कोई कारण नहीं कि निकट भविष्य में सारी मानवता ही सम्पूर्ण रूप से यांत्रीकृत होकर दीर्घाकार महानगरों में निवास करें।[13]

यह नागरिक विकास अब केवल उत्तर-पश्चिम यूरोप की जातियों तक सीमित न रहकर सम्पूर्ण विश्व मानवता का समान एवं समानान्तर मूल्य बन चुका है। यूरोपीय जातियों के संसर्ग एवं प्रभाव के अंतर्गत एशिया-अफ्रीका में भी नगरीकरण, यांत्रीकरण, औद्योगीकरण अथवा आधुनिक सभ्यता का समारम्भ हुआ और आज स्थिति यह है कि विकास शील देशों की नगरीकरण की गति से यूरोपीय देशों की समकालीन गति से प्रायः दोगुनी हो गई है।[14] अब यह पूरी तरह स्वीकार किया जा चुका है कि आर्थिक विकास तथा अविकसित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाजों के उद्धार का कष्टकर मार्ग नगरीकरण, यांत्रीकरण अथवा आधुनिकीकरण के साथ पूरी तरह जुड़ा हुआ है।[15]

5. नगरबोध : उपलब्धियां तथा समस्यायें

5.1 **उपलब्धियां** : नगरीकरण से सम्बद्ध आधुनिकता की उल्लेखनीय उपलब्धियां उन नगर समस्याओं की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण एवं वरेण्य हैं, जिन समस्याओं का वास्तविक-अवास्तविक भय दिखलाकर अनेक बार कुछ अनजान लोग 'फिर गांव में चलो' का नारा लगाते हैं। इसमें एक बात ध्यान में रखने की है कि यदि सम्पूर्ण सभ्यता का किसी दुर्घटना वश अचानक विनाश होजाये तो बात अलग है, अन्यथा अब ग्राम और नगर के मध्य केवल नगराभिमुख मार्ग ही उन्मुक्त है। अब यह एकतरफा रास्ता ही मानवता के लिये उपलब्ध है, तथा ग्राम की ओर लौटना न मानव जाति के लिए श्रेयस्कर ही है और न सम्भव ही। नगरबोध और आधुनिक बोध को एक दूसरे का पूरक कहा जा सकता है। मध्यकालीनता से आधुनिकता के संक्रमण की प्रकिया ग्राम व्यवस्था से नगर व्यवस्था के संक्रमण से अविच्छिन्न है। भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में ही नहीं मानविकी तथा मानव सम्बन्धी सूक्ष्म चिन्तना के क्षत्रों में भी ऐतिहासिक, भौतिक एवं वैज्ञानिक विकास के सिद्धातों की स्वीकृति आधुनिकता के प्रथम अनिवार्य परिणति है। यह बोध समग्र मध्यकालीन बोध के समक्ष प्रश्नचिन्ह लगाकर उसे अव्यवहार्य, अविश्वसनीय तथा अप्रासंगिक बना देता है। क्लासिकी एवं मध्यकालीन आदर्शों, आस्थाओं, सम्बन्धों और मान्यताओं के समक्ष असमाधेय प्रश्न चिन्ह लग जाते हैं। आधुनिक बोध मानव को अनेकविध धार्मिक, कर्मकांडी तथा सामन्ती विधिनिषेधों से मुक्त कर देता है। मत, मजहब और क्षेत्रीयता के सीमित वृत्तों की परिसीमा को लांघ कर मानव प्रथम बार अन्तर्राष्ट्रीय मानवतावादी बोध और दृष्टि से साक्षात्कार करता है। अन्धविश्वास से हटकर विशुद्ध व्यावहारिक उपयोगितावादी दृष्टिकोण विकसित होता है। यह अस्था प्रकट की जा सकनी है कि मानव के इस इमेनिसीपेटिड जीवन तथा आधुनिक भविष्य की गारंटी केवल बृहत्तर नगरीकरण की चुनौती का स्वीकार ही हो सकती है। इस प्रक्रिया का अवरोध, जो सामान्यतः अब संभव नहीं है, आधुनिकता से पुनः मध्यकालीनता की ओर लौटने का कारण बन सकता है।

5.2 संक्रमणकालीन समस्यायें

नगरीकरण का मानव के सुखद भविष्य के एकमात्र साधन के रूप में बहुत प्रशस्तिगान होता है। परन्तु कष्ट के बिना लाभ प्रायः असंभव है। आज के त्वरित नगरीकरण ने तो विश्व के सामने ऐसी समस्याओं का पहाड़ खडा कर दिया है जिनमें से कुछ समाधेय, कई दुरुह तथा अनेकों पागल बना दंने वाली हैं। लेवीमास्फोर्ड के अनुसार महानगरों में लोगों ने स्वयं को ऐसी मोड़ के रूप में इकट्ठा कर लिया है कि न तो उनके लिये समुचित प्राकृतिक या सांस्कृतिक साधन उपलब्ध हैं न शुद्ध हवा है और न शाँत-सुखद नींद। आकाश और धूप जिनके लिये निषिद्ध है। जिन्हें मुक्त भ्रमण, सहज क्रीड़ा तथा स्वाभाविक यौन सम्बन्धों का भी निषेध है। इन महानगरों को अभावनगर कहा जाना अधिक उपयुक्त होगा। उपर्युक्त भौतिक समस्याओं के परिणामस्वरूप उद्भूत तथा इनसे सम्बद्ध सामाजिक, मानसिक, भावात्मक और नैतिक समस्याओं ने तो सचमुच नगरीकरण को ही आज विश्व की सबसे बड़ी समस्या बना दिया है।[16]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5.21 नगरबोध वनाम आधुनिक बोध :

नगरीकरण का मुख्य-प्रभाव जीवन की नितांत नवीन पद्धति, आवास की परम्परा से पूर्णतया हटी हुई नवीन व्यवस्था तथा भिन्न-भिन्न प्रकार की सामाजिक और नागरिक आवश्यकताओं के रूप में अनुभव हो रहा है। मानवता के लिये अपने सम्पूर्ण ज्ञात इतिहास में आमूल परिवर्तन का यह पहला ही अनुभव है। एकरस ग्राम्य, कृषि- केन्द्रित, मज़हबी तथा सामंती वातावरण से अल्पकाल में ही मानवता के उद्योग-केन्द्रित, यन्त्रीकृत, सेक्यूलर, अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि सम्पन्न नागरिक जीवन में परिवर्तन ने मानवता के सामने दैत्याकार समस्यायें खड़ी कर दी हैं।

परिवर्तित सामाजिकबोध : नगरों-महानगरों में सबसे बड़ी उथल पुथल तथा क्रांति तो सामाजिक और पारिवारिक सम्बन्धों के क्षेत्र में अनुभव की जा रही है। औद्योगिक-नागरिक संस्कृति से पूर्व की ग्राम्य जनसंख्या वस्तुतः समुदाय (कम्यूनिटी) न हो कर, एक समाज न होकर, एक बहुपक्षीय, बहुवर्गीय समुदाय है। नगरीकरण से उद्भूत तथा वैज्ञानिक दृष्टि पर आधारित आधुनिकीकरण अपने साथ केवल परिवर्तित भौतिक परिवेश और क्रांतिकारी रूप में परिवर्तित अर्थव्यवस्था ही नहीं लाता,बल्कि मानव की सामाजिक राजनैतिक व्यवस्था और उसके चिन्तन-व्यवहारमें भी आमूल परिवर्तन प्रस्तुत करता है। ग्राम समाज में भाव एवं विचार-प्रेषण की प्रक्रिया प्रत्यक्ष सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों पर आधारित होने के कारण पूर्णतया वैयक्तिक और प्रत्यक्ष होती है और सहानुभूति, साँझेदारी, आपसदारी, अनुशंसा-प्रशंसा और भावात्मकता-भावुकता जागृत करती है। दूसरी ओर नागरिक समुदाय ऐसे व्यक्तियों का समूह होता है जो निश्चित भौगोलिक परिधि में प्रतिस्पर्द्धा और होड़ द्वारा संचालित परस्पर निर्भरता द्वारा रूपाकार ग्रहण करता है। इस लिये जीवन की होड़ की यह प्रक्रिया निर्वैयक्तिक अप्रत्यक्ष, वस्तुवादी और उपयोगितावादी होती है और इसमें किसी प्रकार के गंभीर, स्थायी और परम्परित सामाजिक सम्बन्धों की आवश्यकता नहीं होती। सामाजिक अंतर्सम्बन्धों को होड़ की यह प्रक्रिया ही रूपायित करती है।[17] पश्चिम में इस संक्रमण के कारण नगर-निवासियों के सामाजिक जीवन और अंतर्सम्बन्धों में भयंकर तनाव का प्रतिफलन हुआ है जिसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं— टूटे घर, विशृंखलित परिवार, उपेक्षित तथा परित्यक्त बच्चे, बाल अपराध, वैवाहिक अस्थिरता, अपराध-वृद्धि, विकृत यौन-व्यवहार, मादक द्रव्यों की अवैध खपत, वेश्यावृत्ति, वैयक्तिक अस्थिरता, तथा असुरक्षा, संत्रास, भय,मानसिक विकृति, विभक्त व्यक्तित्व, भीड़ के व्यवहार की उग्रता व अनिश्चयात्मकता तथा विध्वंसक प्रवृत्तियों का विकास। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि इनमें से कुछ तो सीधे नगर जन्य समस्यायें हैं, परन्तु अधिकांश का सम्बन्ध मानव की संक्रमणशील, दिग्भ्रमित मानसिकता से है। एकदम कई हजार वर्षों की अपनी जानी-पहचानी आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और राजनैतिक व्यवस्था तथा परिवेश से उखड़ कर नितांत नवीन अंतर्सम्बन्धों में स्वयं को पाने वाला मानव इस प्रकार की दिशाहीनता और परिणामित भय व अशांति का सहज शिकार हो सकता है। परंतु यह सुनिश्चित अस्थाई स्थिति है। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। भारतीय संदर्भ में ग्राम की सवर्ण-अछूत वादी मानसिकता से बद्ध व्यक्ति नगर के व्यस्त समुदाय में आकर अपने शुद्धतावादी आचरण को सुरक्षित नहीं रख पाता। उसका एकदम अस्तव्यस्त हो उठना स्वाभाविक है। यह उसके लिए भीषण समस्या तथा जीवन-मरण का नैतिक प्रश्न ही बन सकता है। परन्तु दो एक पीढ़ी महानगरीय परिवेश में रहने के बाद उसके वंशों के लिए यह केवल अभिहस्य एवं मूर्खतापूर्ण पारिवारिक रूढ़ि की स्मृति भर रह जायेगी। उपर्युक्त अधिसंख्यक समस्याओं के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध में यही बात समान प्रामाणिकता के साथ कही जा सकती है।

5.23 परिवर्तित प्रशासनिक अनुभव :

नगरों-महानगरों में शासन-व्यवस्था भी एक अनिवार्य परन्तु दुरूह एवं संकुल नौकरशाही के रूप में परिणत हो गई है। अति-यांत्रीकरण तथा मानव-निरपेक्षता इसके अनिवार्य अंग है, जिनसे ग्राम्य मानसिकता पूर्णतया अपरिचित रही है। इसके परिणामस्वरूप नियमोपनियमों की जड़-व्याप्ति और समाज की परिवर्तन आकांक्षा के बीच तनाव व संघर्ष, निर्णयों में व्यवधान, प्रभाव-क्षेत्रों का दबाव तथा तज्जनित बेईमानी, घूसखोरी, लाल फीताशाही आदि का विकास होता है। प्रशासन की अतिसंकुलता, अकुशलता, भावहीनता और सहानुभूति शून्यता का शिकार ग्राम्य मानसिकता वाला नागरिक दिनों-दिन स्वयं को व्यक्तित्वहीन, पुंसत्वहीन, रीढ़-विहीन, लिजलिजा, आस्थाविहीन और चेहराविहीन अनुभव करता है। इस अवस्था में उसका अपने जीवन की ही अभिशप्त समझना अर्थवत्ता प्राप्त करता है।

5.24 आधुनिक मानसिकता का द्वन्द्व :

आधुनिकता का यह साक्षात्कार मानसिक-भौतिक स्तर पर आज के नागरिक जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना के रूप में प्रतिफलित हो रहा है। भौतिक परिवेश को बदलना अपेक्षतया सरल, अल्प-समय एवं अल्प-प्रयास-कामी प्रक्रिया है। इसके संदर्भ में मानव मन का बदलाव अधिक समय तथा प्रयास की मांग करता है। एक या दो पीढ़ी पूर्व तक ग्राम या कस्बाई परिवेश से महानगर में स्थानान्तरित व्यक्ति भौतिक रूप में तो स्वयं को अत्याधुनिक, विज्ञान व तकनीक द्वारा संचालित वातावरण को स्वीकारते हुए पाता है, परन्तु मानसिक भावात्मक स्तर पर वह मध्यकालीन बोध, सामंती परिवार व्यवस्था और मतवादी आग्रहों से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाता। यही कारण है कि नवीन मानवतावाद के सम्पूर्ण सैद्धांतिक स्वीकार के बाद भी गोरे-काले का भेद, धनी-निर्धन का फर्क व्यावहारिक स्तर पर असंगत नहीं हो सका है। जनतन्त्र के प्रति सैद्धांतिक आस्था के बावजूद भी सामंती परम्पराएं वृहत्तर लोक के लिए दमघोंटू स्थितियों का निर्माण कर रही हैं। नर-नारी समता के सैद्धांतिक स्वीकार और विवाह की सामंती संस्था के असंगत हो जाने पर भी आर्थिक संघटना और पारिवारिक संरचना का मध्यकालीन ढांचा विचित्र पारिवारिक विशृंखलता और यौनाचार की द्विवविधा को जन्म दे रहा है। आर्थिक विषमता सम्बन्धी भाग्य,कर्म तथा ईश्वरीय न्याय पर से आस्था खण्डित हो जाने पर भी व्यवहार में भेद की अतिशय वृद्धि मानवता के बृहत वर्ग के लिये नए प्रकार की गुलामी का संस्कार करने में प्रवृत्त है। अनास्थाशील हिप्पी, विश्व भर की क्रुद्ध, आक्रामक, बुभुक्षित तथा युयुत्सु नई पीढ़ी, राजनैतिक स्तर पर माओवादी, दब्रेवाद, ग्वेरावादी तथा नक्सलपंथी, और साहित्य एवं कला के क्षेत्र में भूखी पीढ़ी, श्मशानी पीढ़ी आदि इसी बौद्धिक मुक्तिबोध परन्तु भौतिक गुलामी, पुंसत्व-हीनता, रीढ़हीनता और व्यक्तित्वहीनता की उपज एवं अभिव्यति है। सामंती मध्यकालीन व्यवस्था में शोषित और आक्रान्त मानव अपनी नियति के स्वीकार द्वारा पशुवत जीवन को सहन और स्वीकार कर सकता है। वही व्यक्ति आधुनिक बोध के साथ साक्षात्कार के समानान्तर अपनी नगण्यता तथा अस्तित्वहीनता के स्वीकार से कुण्ठाग्रस्त होकर निर्वीर्य होने के लिये बाध्य होता है, अथवा सम्पूर्ण समाजव्यवस्था तथा मानवता के ही अस्वीकार की स्थिति में आकर पलायनवादी या विध्वंसक होने में ही अपनी नियति देखता है। नगरीकरण से अभिन्न आधुनिकता, सामंती, मध्यकालीन सामाजिक-पारिवारिक संबन्धों की अनुपयोगिता की प्रकट स्वीकृति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ उनसे पूर्ण मुक्ति की विफलता द्वारा उद्भूत द्वन्द्व तथा द्वैध को रेखांकित करती है, घर-परिवार तथा व्यक्ति की विश्रृंखलता के स्वीकृति के दंश से उसका साक्षात्कार करवाती है। विवाह-संस्था पर प्रश्न-चिन्ह, इसकी उपयोगिता का अस्वीकार परन्तु विकल्प की अप्राप्ति आधुनिकता का विशिष्ट अभिशाप है। वैध-अवैध यौन सम्बन्धों के परम्परित मूल्य को नकार कर भी परिवर्तन अक्षमता द्वारा यौन विकृति तथा नगरजन्य नपुन्सकता को पूर्णतया स्वीकार करने की मुद्रा आधुनिक मानव ने अपना ली है। वह संत्रस्त है, वैयक्तिक स्तर पर हर क्षण असुरक्षा में जीता है तथा अपने व्यक्तित्व की इस विक्षिप्तता और विसंगति के स्वीकार के लिये बाध्य है। वह अनुभव करता है कि वह समाज में न होकर भीड़ में है, हिंस्र पशुओं की भीड़ में वह सब का सजातीय होने पर भी नितांत अकेला है। अपने इस त्रास, भय, आशंका, असुरक्षा,व्यक्तित्वहीनता को यह वाणी तथा व्यवहार में मुखर स्वीकृति दे रहा है। जीवन मूल्यों में वह समस्त परम्परित स्वीकार को अस्वीकार्य मानता है तथा परम्परित अस्वीकार को स्वीकार करता है, परन्तु व्यवहार में अपने शिखण्डीत्व को भी स्वीकार करके विषदंशित सा तड़पने के लिए बाध्य है। मूल्यहीनता उसका मूल्य है और असंगत मूल्यों की जकड़न उसकी नियति। पीछे वह लौट नहीं सकता और आगे की गली उसे अंधकाराच्छन्न दिखाई देती है। नगर-जन्य आधुनिकता की यह विश्व भर की समान एवं समानान्तर अनुभव राशि है।

6. उपसंहार

यह स्पष्टतः रेखांकित किया जा चुका है कि औद्योगिक, यांत्रिक तथा नगरीय विकास किसी प्रकार की घटना-दुर्घटना या षड़यन्त्र का परिणम न होकर मानव की आर्थिक--सामाजिक विकास प्रक्रियां का सहज प्रतिफलन है। यह परिवर्तन अवश्य कुछ अतिरिक्त तेजी से हुआ व हो रहा है और इसने अधिकांश देशों में मानव को मध्यकालीनता की निर्जीव केंचुली उतारने का अवसर तक नहीं दिया। मानव को मानो अंधेरी कोठरी से सीधे जगमगाते प्रांगण में धकेल दिया गया है, जिसकी चकाचौंध में उसका किंचित भ्रमित होना स्वभाविक है। परन्तु यह पहला अवसर है जबकि अपने गुण-दोषों,सबलताओं-सीमाओं के साथ मानव अपना सही साक्षात्कार करने की मुद्रा व स्थिति में आ रहा है। भावुकता और आस्था की अपेक्षा वह बुद्धि तथा तर्क की प्रधानता स्वीकार कर रहा है। मध्यकालीन बोध से आधुनिक बोध के संक्रमण की इस प्रक्रिया में वैज्ञानिक दृष्टि, इतिहासबोध तथा कार्यकारण बोध के आधार पर मानवीय अंतर्सम्बन्धों के नव-आकलन की सुविधा संक्रमणकालीन दिवविधा के कुहासे को क्रमशः हटाने में सहयोगी सिद्ध हो रही है। क्लासिकी तथा मध्यकालीन मान्यताओं की धुन्ध से बाहर निकलकर अपने वर्तमान जीवन के यथार्थ परिचय द्वारा आधुनिक जीवन को सही परिप्रेक्ष्य में जीने का सम्बल मानव प्राप्त करता प्रतीत हो रहा है। शोषण, भेद-भाव और विषमता की सामाजिक-धार्मिक शक्तियों के उन्मूलन का प्रबल संघर्ष आधुनिक नगरीय मानव का मुख्य स्वर होता जा रहा है। भय, त्रास, कुण्ठा और मृत्युबोध के स्वरों को संक्रमण-साक्षात्कार का अस्थायी परिणाम माना जा सकता है। मानव में मानवता के प्रति आस्था तथा उसकी जीवैषणा के स्वस्थ तथा व्यवहार्य आकलन-क्षमता की अतिवृद्धिशील संभावनाओं के साथ आधुनिकता तथा नगरीकरण को संभवतः मानव इतिहास की सर्वोच्च तथा सर्वोत्तम उपलब्धि कहा जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्भ सूची :

1. एन्साइक्लोपीडिया आफ सोशल सांयसेस, भाग 15, न्यूयार्क,1951, पृ० 189.
2. हैलेनबैंक, सी० विल्बर, अमेरिकन अरबन कम्यूनिटीस, न्यूयार्क : हार्पर, 1963, पृ० 32.
3. डेविस, किंग्सले, 'द आरिजिन एण्ड ग्रोथ आव अर्बेनाइजेशन इन द वर्ल्ड' (अध्याय) मेयर, एच० एम० तथा कोहन, सी० एफ० (संपा.) रीडिंगस इन अर्बन ज्याग्रफी में, इलाहाबाद, 1967, पृ० 59.
4. हाजर, फिलिपि० एम०, 'अर्बेनाइजेशन : एन ओवरवियू' (लेख), हाजर, फिलिप० एम० तथा शनोर, लियो.एफ (संपा) द स्टडी आव अर्बेनाइजेशन, में न्यूयार्क, 1966, पृ० 2.
5. डेविस, किंग्सले, पूर्वोद्धृत, पृ० 60,62.
6. वही, पृ० 61.
7. चाइल्डे वी० गार्डन, मैन मेक्स हिमसेल्फ, लंदन, 1961, पृ० 227.
8. डेविस, किंग्सले, पूर्वोद्धृत, पृ० 62.
9. वही, पृ० 62-63.
10. ब्रोस, गेराल्ड, अर्बेनाइजेशन इन न्यूली डैवलपिंग कंटरीज, सारणी-6, पृ० 33.
11. यूनाईटेड नेशनज, 1967, रिपोर्ट आन द वर्ल्ड सोशल सिचुएशन, न्यूयार्क ; यू. एन. 1967.
12. डेविस, किंग्सले, पूर्वोद्धृत, पृ 64.
13. वही, पृ 65
14. डिपार्टमेंट आव इकानामिक एंड सोशल अफेयर्स, रिपोर्ट आव द ऐडहाक ग्रुप आव ऐक्सपर्टस आन हाउसिंग एंड अर्बन डैवलेपमैंट, न्यूयार्क : यू. एन., 1962, पृ 19.
15. बोस, आशिष, अर्बेनाइजेशन इन इंडिया, ऐन इन्वेंट्री आव सोर्स मैटीरियल, नई दिल्ली : गोवर्धनदास अग्रवाल, एकेडेमिक बुक्स लि० 1970, पृ 69-70
16. गार्डन मिचेल, सिक सिटीज न्यूयार्क : मैकमिलन 1963, पृ 1
17. हाजर, फिलिपि. एम., अर्बेनाइजेशन इन रिलेशन टू सोशल चेंज एंड सोशल प्राब्लम्स,बैंकाक, यू. एन. सेमिनार, 1956, पृ 75-76.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता
हिंदी विभाग,
पंजाब यूनिवर्सिटी
चण्डीगढ़

आधुनिकता : व्यावहारिक पक्ष

(परिवर्तित परिस्थितियों में अधुनातन स्त्री-पुरुषों की परिवर्तमान भूमिका के संदर्भ में)

यह कोई शोध-पत्र नहीं है, आधुनिकता को समझने की एक छोटी सी कोशिश है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि इसमें आधुनिकता की अर्जित समझ को व्यावहारिक जीवन पर लागू कर उस की व्याख्या का प्रयत्न मात्र किया गया है। आधुनिकता की इस समझ को रूप देने में डा० इन्द्रनाथ मदान, डा० रमेश कुन्तल मेघ, डा० दधीचि, डा० कृष्णबलदेव वैद, डा० प्रेमसागर शास्त्री, डा० गंगा प्रसाद विमल तथा डा० अतुल वीर अरोड़ा के चिन्तन ने विशेष रूप से सहायता दी है। बीच बीच में इनसे शब्द भी उधार लिये हैं। इस के लिए पहले ही इन के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहूंगा।

आधुनिकता के उन सभी उलझे हुए सूत्रों से बचने की कोशिश की गई है जिन के कारण स्पष्टदीखने वाले व्यावहारिक पक्ष धुंधले पड़ जाते हैं और आधुनिकता एक पहेली बन जाती है। इन सूत्रों को सुलझाने का काम यहां आए दिग्गज विद्वानों को सौंपता हूं।

आधुनिकता को समझने की इस छोटी सी कोशिश में सब से पहले जो सवाल टकराता है, वह है आधुनिकता से क्या अभिप्राय है? सामान्य दृष्टि से इसका उत्तर है : जो प्राचीन नहीं, परम्परित नहीं, आधुनिक है। दूसरे शब्दों में, जो वर्तमान और समसामयिक है, आधुनिक है। आधुनिकता काल सापेक्ष्य है। कुछ विद्वान आधुनिकता का अर्थ, मात्र औद्योगीकरण या पश्चिमीकरण समझते हैं। अन्य इसे मात्र एक फैशन मानते हैं।

परन्तु आज आधुनिकता के नाम पर जो चिन्तन और लेखन, सिद्धान्त और व्यवहार सामने आ रहा है—उस से इतना स्पष्ट है कि आधुनिकता का अर्थ 'मात्र' इतना नहीं, इससे कहीं व्यापक है।

इस के व्यापक अर्थ को पहचानने के लिए आज की जीवन-स्थितियों से उद्भूत चिन्तन धाराओं पर विचार करना आवश्यक है। वैज्ञानिक प्रगति तथा तकनीकी विकास के कारण भारतीय परिवेश में परिवर्तन उपस्थित है। इस परिवर्तन के फल स्वरूप बदले हुए परिवेश नई, जीवन दृष्टि तथा परिवर्तित जीवन मूल्यों के साथ जो युग सामने आया है उसे ही आधुनिक युग कहा जा रहा है। आधुनिकता को समसामयिकता का पर्याय नहीं माना जा सकता। आधुनिकता शब्द का प्रयोग किसी काल विशेष में समय खण्ड को बांधने के लिए करना इस के साथ पूरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय न करना होगा । आधुनिकता का सीधा सम्बन्ध बोध के साथ है । आधुनिकता, सत्य को ग्रहण करने की एक व्यापक दृष्टि है जिस का सम्बन्ध कहीं-न-कहीं देश और काल, नीति-अनीति के प्रत्यय से जुड़ा है ।

वैज्ञानिक प्रगति तथा तकनीकीकरण का सीधा जन-जीवन के साथ सम्बन्ध होना आज की सब से अधिक महत्वपूर्ण घटना है । विज्ञान तथा तकनीकीकरण का केवल हमारे चलने, उठने, बैठने, सोने, खाने, पीने के साथ ही सम्बन्ध नहीं है; हमारे सोचने विचारने हमारे आदर्श प्रतिमानों, हमारे जीवन मूल्यों के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है । दूसरे शब्दों में तकनीकी प्रगति के साथ वैचारिक प्रगति भी हुई है । विज्ञान की प्रगति ने केवल भौतिकवादी चिंतन को ही विकसित नहीं किया पर इस के साथ साथ तात्त्विक चिंतन को भी गतिशील किया है । जब तक हम चिंतन के इस पक्ष का सही मूल्यांकन नहीं करते तब तक हम वैज्ञानिक चिंतन के सही अर्थ एव उसके स्वरूप को हृदयंगम नहीं कर सकते । असल में वैज्ञानिक चिंतन एक दृष्टि है जो हमें तार्किक अनुभव के बल पर मानव, विश्व तथा मूल्यों के प्रति एक सजगता प्रदान करती है । यदि चिंतन शब्द को व्यापक परिप्रेक्ष्य में लिया जाए तो इसे 'दर्शन' भी कह सकते हैं। इस वैज्ञानिक दर्शन में बौद्धिक जागरूकता प्राप्त होती है और यह बौद्धिकता तर्क जनित एवं अनुभव जनित होती है । क्योंकि प्रत्येक मानवीय ज्ञान अपनी उच्चतम परिणति में चिन्तन की ओर उन्मुख हो जाता है और यह उन्मुखता दर्शन का ही क्षेत्र है । वैज्ञानिक 'ज्ञान' भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है, क्योंकि इस ज्ञान में विश्व, प्रकृति, ईश्वर और अस्तित्व जैसे प्रश्नों पर विचार किया गया है; और इस प्रकार नवीन प्रतिमानों की ओर संकेत किया गया है। साथ ही भारतीय दर्शन और उस पर पड़ने वाले विज्ञान के प्रभाव की चर्चा करते हुए यह भी स्वीकार किया गया है कि समकालीन सांस्कृतिक जीवन के लिए विज्ञान में ओजस्वी विकास किये बिना केवल आध्यात्मिक मूल्य, विधि और प्रक्रिया का बोझ ढोने से समकालीन चेतना अपने तत्कालीन जीवन को दिशा देने में असमर्थ रहेगी । इसे यों भी कहा जा सकता है कि मनोविज्ञान, विकासवाद, सापेक्षवाद, अस्तित्ववाद ने जीवन-जगत सम्बन्धी हमारी समझ को बढ़ाया है । जीवन को परखने के लिए एक नयी वैज्ञानिक दृष्टि दी है । इस दृष्टि के आलोक में इतिहास एवं संस्कृति को, प्रचलित मान्यताओं एवं विश्वासों को नये सिरे से आंकने की आवश्यकता है । जैसे नई संतान के उत्पन्न होने से परिवार में आपसी सम्बन्ध बदल जाते हैं, ठीक उसी प्रकार नये ज्ञान-विज्ञान के आगमन से जहां अनेक प्राचीन धारणाओं पर प्रश्न चिन्ह लग गये हैं वहां मानव मात्र के परस्पर सम्बन्धों पर भी इस का प्रभाव पड़ा है ।

डा. इन्द्रनाथ मदान के अनुसार भारतीय परिवेश में आधुनिकता का जन्म एक अवैध संतान के रूप में हुआ है—इसे पश्चिम की देन समझा जाता है । भाव यह है कि डारविन का विकासवाद, फ्रायड का मनोविज्ञान, कार्ल मार्क्स का मार्क्सवाद, आईनस्टाइन का सापेक्षवाद—सब पश्चिम की देन हैं । और इन के चिन्तन का सब से पहले पश्चिम के समाज पर ही प्रभाव पड़ा । भारत में बीसवीं शताब्दी में ही नगरों में रहने वाले मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का ध्यान इस ओर गया । यह बुद्धि जीवी किसी भी राष्ट्र की संचेतना के वाहक होते हैं । स्वाधीनता के बाद भारत के महानगरों में एक शहरी समाज ने रूप लिया । आधुनिकता की प्रक्रिया का सम्बन्ध इन महानगर निवासियों के साथ है । इस प्रक्रिया में महानगर निवासी जाने-अनजाने, भीतर-बाहर बहुत कुछ पुराना छोड़ते हुए नयी जीवन पद्धति को अपनाते हुए नये जीवन मूल्यों को रूप देने लगे । इसे यों भी कहा जा सकता है कि आधुनिक दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम्परा को प्रवाह के रूप में स्वीकार करती है, जो निरन्तर आगे की ओर बढ़ता है, जिसमें परिवर्तन अनिवार्य है, जीर्ण पुरातन का त्याग संशोधन तथा मूल्यांकन की पद्धति से नव नव रूपों के विकास की आकांक्षा, वैविध्य और नवीनता के प्रति आकर्षण आधुनिकता के सहज अंग हैं। रूढियों के प्रति विद्रोह और नवजीवन के विकास के प्रति आग्रह यहां अनिवार्य है।

कुछ विद्वान आधुनिकता को एक मूल्य के रूप में स्वीकारते हैं। परन्तु इस दशा में आधुनिकता एक स्थिति विशेष का गुण बनकर रह जाएगी। जबकि डा. मदान जैसे विद्वानों ने इसे गतिशील माना है। इसे एक प्रक्रिया के स्वरूप में स्वीकारा है, प्रत्येक जड़ और रूढ़ होती धारणा, स्थापना, सिद्धांत और मान्यता पर प्रश्न चिन्ह लगाने की प्रक्रिया, जो निरन्तर चलती रहती है आधुनिकता को रूप देती है। इसी लिए आज के व्यक्ति के सन्मुख प्रश्न ही प्रश्न हैं, समस्याएं ही समस्याएं हैं—समाधान नहीं है। इन समस्याओं में घिरे आदमी के हिस्से आया है अवसाद विषाद, निराशा, अकुलाहट और छटपटाहट—आक्रोश और खीझ।

जिजीविषा में विश्वास ही आजके युग की आस्था है। आज का व्यक्ति मानव-नियति को अभिशप्त मानकर भी जीने के लिए जूझता है, जीवन के स्वरूप को तुच्छ समझकर भी उसे भोगता है और झेलता है।

वस्तुतः आधुनिक काल मानव केन्द्रित चिंतन का काल है। पश्चिमी जगत में मध्यकाल की समाप्ति करने में जिन विचारधाराओं ने विशेष योग दिया उनमें मानववाद एक प्रमुख एक विचारधारा है। मध्यकाल में धार्मिक घटाटोप के कारण समस्त मूल्यों और प्रतिमानों का स्रोत किसी न किसी दिव्य शक्ति को माना जाता था। मनुष्य को उस दिव्य प्रतिमान के सामने गिरा हुआ प्राणी माना जाता था। मानववादियों ने इस मान्यता का तिरस्कार किया। उन्होंने यह घोषित किया कि सम्पूर्ण मनुष्य ही मनुष्य का प्रतिमान है। यहां मनुष्य के आदर्शवादी रूप को ही मान्यता मिली। बाद में मनुष्य के उदात्त रूप तथा उसकी पाशविकता के बीच—एक मानवीय रूप की खोज की गई। यह मनुष्य यथार्थ मनुष्य के निकट का मनुष्य था। उन्नीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक उपलब्धियों ने, डारविन के विकासवाद एवं रूसो आदि अन्य मनीषियों की स्थापनाओं ने ईश्वर के स्थान पर मनुष्य को चिंतन का केन्द्र एवं सभी मूल्यों का अधिष्ठाता बना दिया। राजतन्त्र की अपेक्षा जनतन्त्र में मनुष्य ने जीवन की चरितार्थता के सुअवसर देखे। धर्म के स्थान पर राष्ट्रीयता और विश्वभ्रातृत्व (समता, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व) को उच्चतर सिद्ध किया। इस मानव केन्द्रित चिन्तन ने नयी विचार पद्धति दी है। इस नयी विचार पद्धति के अनुसार राजा, अर्थात् शासनकर्ता ईश्वर का प्रतिनिधि न होकर प्रजा का प्रतिनिधि है। शासक जन सामान्य प्रशासन करने के लिए नहीं जन सामान्य की सेवा के लिए है। ईश्वर ने एक व्यक्ति को धनी तथा दूसरे को निर्धन नहीं बनाया-- यह दूषित समाज व्यवस्था का परिणाम हैं। इस व्यवस्था को ठीक भी किया जा सकता है। देवी उतरने, भूत चिपटने के कारण कोई पागल नहीं है। यह मानसिक विकृति का परिणाम है। यही मानव केन्द्रित चिंतन नये मूल्यों का मूलाधार है। वैज्ञानिक दृष्टि से जीवन-जगत को नये सिरे से व्याख्यायित करने का प्रयास है। यह बात अलग हैं कि नयी वैज्ञानिक उपलब्धियों, नित नये अन्वेषणों; सामाजिक समस्याओं, राजनैतिक घटनाओं, एवं आर्थिक परिवर्तनों के फल स्वरूप मानव का अर्थ निरन्तर बदल रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवतावाद का आदर्शवादी मानव, लघु मानव बन गया है। मानव विसंगतियों का पुंज मात्र बन गया है। इसी अनवरत एवं द्रुत परिवर्तनशीलता के कारण ही बुद्धिजीवियों में मूल्यों के विघटन का शोर है और नये मूल्यों के अस्तित्व में न आने से निराश्रित होने की विकलता है।

संक्षेप में आधुनिकता, वास्तव में नवीनतम परिस्थितियों के संदर्भ में उठे प्रश्नों एवं समस्याओं के उत्तर या समाधान खोजने की ललक का नाम है, अपर्याप्त उत्तरों और अधूरे समाधानों पर प्रश्न चिन्ह लगाने की क्षमता का वाचक है और अनुत्तरित एवं असमाहित को झेलने के साहस का पर्याय है। यह स्थिति नहीं अपितु निरन्तर परिवर्तमान प्रक्रिया है। परिस्थितियां निरन्तर बदलती रहती हैं और पुराने उत्तरों या समाधानों पर निरन्तर प्रश्न चिन्ह लगाने पड़ते हैं और नये मूल्य निरन्तर बनते बिगड़ते रहते हैं। इसी कारण डा. मदान ने आधुनिकता को एक मूल्य न मानकर—इसे एक प्रक्रिया माना है। वैज्ञानिक जीवन दृष्टि से जीवन जगत को पहचानने और परखने की प्रक्रिया माना है।

इस चिन्तन शैली का प्रभाव, इस विचार समूह का प्रभाव समग्र जीवन पर पड़ा है। देश के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक धार्मिक जीवन पर पड़ा है। राजनैतिक क्षेत्र में समाजवाद और प्रजातन्त्र ने स्वरूप लिया है। औद्योगीकरण ने आर्थिक धरातल पर विशेष परिवर्तन उपस्थित किया है। नारी के समान-अधिकार ने सामाजिक जीवन को भी एक नया रूप दिया है। धर्मनिरपेक्षता ने धार्मिक कट्टरता पर चोट की है। राष्ट्रीयता संकीर्णता समझी जाने लगी है—अन्तर्राष्ट्रीयता, के फलस्वरूप विश्व के कुटुम्ब होने की कल्पना साकार हो रही है।

व्यावहारिक धरातल पर आधुनिकता की परीक्षा करने के लिए सामान्य आधुनिक नारी के समाज में स्थान और उसकी व्यक्तिगत समस्याओं पर विचार करने से सम्भवत: अधिक स्पष्टता प्राप्त हो। पराश्रिता नारी आधुनिक युग में आत्मनिर्णायक एवं आत्मनिर्भर हुई है। जहां पहले समाज ने नारी के पुत्री, पत्नी और माता के तीन रूपों की ही मान्यता दी थी, आज उसके अविवाहित एवं प्रेमिका रूप को भी स्वीकार किया जा रहा। अविवाहित नारी का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। कन्या का अविवाहित होना अपवाद ही हुआ करता था। उस का कोई अलग समाज में स्थान नहीं था। उसकी अपनी अलग कोई समस्या न थी। आज अविवाहित नारी का अलग अस्तित्व है, अपना अलग व्यक्तित्व है। वह अब माता पिता पर आश्रित न रह कर—उनको आर्थिक सहायता देने लगी है। कार्यशील अविवाहित नारी का परिवार में अपने निकम्मे निठल्ले भाईयों की अपेक्षा अधिक आदर होने लगा है। आत्मनिर्भर और अकेला जीवन व्यतीत करने के कारण उसके स्वभाव में परिपक्वता एवं कठोरता का आभास होने लगा है। आज की कार्यशील नारी को आर्थिक विवशताओं के आगे अपनी भावनाओं का गला घोंटना पड़ता है। जीवन की यांत्रिकता से मुक्ति पाने और अपनी भावात्मक आवश्यकता के लिए आज अविवाहित नारी प्राय: प्रेम का सहारा लेती हैं। क्योंकि प्रेम उसके एकाकी जीवन की अनिवार्य आवश्यकता बन गया है। प्रेम उसके लिए—शौकिया पाली जाने वाली भावना नहीं है। प्रेम के स्वरूप में भी अंतर आ गया है। प्रेम से अभिप्राय है साहचर्य से मिलने वाला शारीरिक और मानसिक सुख, उसका प्रेम सम्बन्ध वायवी न रहकर जीवन के यथार्थ और भौतिक धरातल पर उतर आया है। दूसरे शब्दों में प्रेम को आज की नारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यावहारिक, बौद्धिक और भौतिक दृष्टि से देखने लगी है।

आधुनिकता ने नारी के पत्नी रूप को सबसे अधिक प्रभावित किया है। पहले नारी के जीवन की सार्थकता सफल वैवाहिक जीवन से आंकी जाती थी। नारी अपना पूरा जीवन पति और ससुराल के अनुरूप स्वयं को ढालने में ही बिता देती थी। पति-पत्नी का सम्बन्ध आश्रयदाता और आश्रिता का था। संरक्षण का मोह ही पत्नी के समस्त व्यवहार को रूपायित करता था आज स्वयं अपना भार उठाने में समर्थ नारी को पुरुष का साथ आर्थिक विवशता के कारण नहीं स्वीकारना पड़ता। अत: पति-पत्नी के के परस्पर सम्बन्धों के आधार बदल गये हैं। नारी की अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के प्रति सजगता दाम्पत्य जीवन या परिवारिक व्यवस्था को आघात नहीं पहुंचाती, परन्तु दाम्पत्य जीवन को एक नया आयाम देती है। घर आज की कार्यशील नारी के जीवन का केन्द्र बिन्दु नहीं रह गया, वह उसके जीवन का अंग मात्र है। घर की चारदिवारी से बाहर जीवन के विस्तृत क्षेत्र में वह अपनी प्रतिभा और सामर्थ्य का उचित उपयोग करना चाहती है। ऐसी स्थिति में अगर उस घर तक ही स्वयं को सीमित करना पड़े तो उसका गृहकार्य आत्मिक सन्तोष के स्थान पर एक नई नौकरी का रूप धारण कर लेता है। आधुनिक युग की कार्यशील पत्नी से घर और बाहर दोनों क्षेत्रों का दोहरा कार्यभार निभाए नहीं निभता और परिवार के सभी दायित्वों को वह एक साथ पूरा नहीं कर पाती। जीवन की इन सारी जटिलताओं का प्रभाव कई बार पारिवारिक सम्बन्धों पर अवांछनीय रूप से पड़ता है। आज स्त्री-पुरुष के समान पति-पत्नी-सम्बन्धों का आधार समझौता और साहचर्य में मिलने वाला शारीरिक और मानसिक सुख है। पति-पत्नी किसी विशेष धरातल पर जब तक एक दूसरे की उपयोगिता अनुभव करते हैं तभी उनके सम्बन्धों मे स्थायित्व की आशा की जा सकती है।

आधुनिकता की दृष्टि से नारी के मातृ रूप मेंभी परिवर्तन आया है। बाल मनोविज्ञान से परिचित मां भाव-विभोर माता से अधिक बच्चे के भविष्य के प्रति चिन्तित, दूरदर्शी, संरक्षिका, अभिभाविका बनती जा रही हैं।

आज की नारी भावनाओं में वह जाने में अपनी 'हार महसूस करती है और जीवन के प्रति रोमांटिक बोध उसके लिए एक 'झूठा दर्पण' है। आधुनिकता ने नारी को पौष्टिकता दी है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण ही सैक्स-जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण पहले से कहीं अधिक स्वस्थ है।

ठीक इसी प्रकार से आधुनिकता को व्यावहारिक धरातल पर समझने के लिए सामान्य आधुनिक व्यक्ति से परिचय प्राप्त कर लेना भी उपयोगी सिद्ध होगा। आधुनिक व्यक्ति के साथ साफ दो पक्ष देखे जा सकते हैं। एक उसका आन्तरिक रूप है, दूसरा उसका बाहरी रूप। एक उसकी वृत्ति भावना मूल्यबोध और दृष्टि का पक्ष है तो दूसरा उस के परिवेश आचरण और व्यवहार का। और यह भी शायद आधुनिक व्यक्ति की ही ट्रेजिडी है कि वह अपने अंतर्बाह्य के दो ध्रुवों में विभाजित हो कर जीने को अभिशप्त है। यदि अन्त: उसका आधुनिक है तो परिवेश नहीं, या आधुनिक परिवेश में नितांत रूढ़िवादी है। केवल परिवेश की आधुनिकता—औद्योगीकरण, यन्त्रीकरण, नगरीकरण, रेडियो, फोन, टेलीवीजन, मोटर आदि किसी व्यक्ति को आधुनिक नहीं बना देते। इस में सन्देह नहीं कि इन सब का व्यक्ति के चिन्तन पर प्रभाव पड़ता है। परन्तु केवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवेश बदल जाने से व्यक्ति नहीं बदल जाता। केवल आधुनिक परिवेश ही व्यक्ति को आधुनिक नहीं बना देता। जब तक व्यक्ति का पूर्ण अन्तर्बाह्य, उसकी वृत्ति और सम्पूर्ण व्यक्तित्व नहीं बदलता, उस के सोचने समझने और कार्य को नयी दिशाएं नहीं मिल जाती तब तक वह आधुनिक नहीं हो सकता। आधुनिक व्यक्ति का कोई एक ही प्रतिमान या रूप स्थिर नहीं किया जा सकता। संस्कृति, जीवन की पद्धति, प्रणाली और यथार्थ के दबाव के अनुसार यह प्रतिमान और रास्ता बदल भी सकता है। देशकाल सापेक्ष्य कुछ खास वृत्तियों और मूल्य दृष्टियों का अनुक्रम आधुनिक कहा जा सकता है।

आधुनिक व्यक्ति नई दिशाओं में जाता है, जीवन के नये अनुभव-प्रयोगों के प्रति एक स्वीकृति का दृष्टिकोण रखता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह प्रत्येक नयी वस्तु को लपककर पकड़ता है और स्वीकार करता है। उसे बिना अपनी कसौटी पर तोले बिना अपने अन्तर्विवेक से जांचे, बिना व्यापक सामाजिक संदर्भ में उसके औचित्य और सार्थकता की तलाश किये—उसे स्वीकारना आधुनिकता नहीं, आधुनिकता का फैशन है।

अब प्रश्न यह है कि अपनी कसौटी अंतर्विवेक, सार्थकता की तलाश का प्रतिमान और मूल्य की परख कहां से मिलेगी? —जाहिर है कि यह बिना सम्पृक्ति के नहीं मिल सकती, बिना पार्टीज़न हुए, बिना उसे जिये, उन स्थितियों और संघर्षों को झेले बगैर उनका बोध ही कैसे जागृत होगा और आप उसे स्वीकार्य या अस्वीकार्य ही कैसे मानेंगे?

सम्पृक्ति, सम्बद्धता और पक्षधरता भी दो धरातलों पर हो सकती है: एक व्यक्ति अत्यन्त भावुक होकर कुछ ग्रहण करता है और दूसरा बुद्धि और तर्क कर अपने चेतन अन्तर्विवेक को सक्रिय रखकर। दूसरे में एक बौद्धिक प्रौढ़ता है और यह दूसरा व्यक्ति ही आधुनिक कहलाता है। भावुकता में वस्तुपरक यथार्थ के साक्षात्कार में भी भावुकता बाधक होती है। इस लिए आधुनिक व्यक्ति में बौद्धिक प्रौढ़ता अवश्य होनी चाहिए।

आधुनिक व्यक्ति वर्तमान में अपने युग में जीवित होता है। वह अतीत जीवी या भविष्य जीवी नहीं होता। वर्तमान में जीने का मतलब उपस्थित यथार्थ और वास्तविकता का खुली आंखों साक्षात्कार और स्वीकार है। उसे औद्योगीकरण, मशीनीकरण, शहरीकरण—भौतिक और वैज्ञानिक प्रगति से बदलती हुई स्थितियों के सत्य को स्वीकारना है, न कि प्रगति के चक्र को पीछे मोड़ने की कोशिश करना है।

मानवीय सामर्थ्य और गरिमा में विश्वास भी आधुनिक व्यक्ति का ही लक्षण है। इसका सीधा मतलब है कि ऐसा व्यक्ति भाग्य के भरोसे नहीं बैठता, संयोगों में विश्वास नहीं करता, बल्कि एक कार्यकारण सम्बंध और चीजों के वैज्ञानिक नियम को समझता हुआ कर्म में विश्वास करता है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० अतुलवीर अरोड़ा
पंजाब यूनिवर्सिटी
ईवनिंग कालेज,
चण्डीगढ़

आधुनिकता की परिस्थिति और साहित्य का रचना-संदर्भ

यह प्रायः निर्विवाद है कि आधुनिकता का कोई एक कोण स्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि आधुनिकता का प्रश्न इतने व्यापक रचना-संदर्भों से एक समानान्तर स्तर पर जुड़ता है कि किसी एक विशिष्ट रचना-संदर्भ से सम्बद्ध करके इसे व्याख्यायित अथवा विश्लेषित करना इसके आत्मिक स्वरूप को खण्डित करने का खतरा मोल लेना है। संभवतः यही कारण है कि आज तक जितनी भी परिभाषाएं इसकी व्याख्या के लिए रची अथवा गढ़ी गई हैं, एक असंगत और लगभग निरर्थक अभ्यास का कर्म ही सिद्ध हुई हैं। परिभाषाओं की व्यर्थता को समझते हुए ही शायद ज्यादा संजीदा चिंतकों ने इसे पारिभाषित करने का कार्य स्थगित कर दिया है।[1] लेकिन, इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे इसकी प्रकृति की पहचान का कोई प्रामाणिक संदर्भ रेखांकित नहीं कर पाए हैं, बल्कि कहना यह होगा कि परिभाषा के अभाव-बोध ने समस्या से उनका गहरा साक्षात्कार करवाया है और पिछले दो दशकों में यूरोपीय एवं पश्चिमी देशों के साथ-साथ तीसरे विश्व के भी एक बड़े हिस्से ने अपनी सांस्कृतिक एवं बुद्धिजीवी गतिविधियों के संसार के माध्यम से घटित, संचित और प्रदर्शित की जाने वाली साहित्येतर कलाओं की व्यापक भूमिकाओं के तहत और साहित्य-सृजन के संदर्भ में भी इसके अनगिनत रूपाकारों, तेवरों, भाषिक संरचनाओं, आन्दोलन-मुद्राओं के क्रांतिकारी कदमों की नाप-जोख करने के जटिल कार्य को संभव किया है।

इस सिलसिले में अनेकानेक विवादग्रस्त मुद्दे हमारे सामने आए हैं, जो अभी विस्तृत और सारगर्भित बहस मांगते हैं। मसलन, मनुष्य की कल्पनाओं और भौतिक प्रकृति के बीच संघर्ष, प्रकृति के खिलाफ मनुष्य का संघर्ष, प्रकृति और मनुष्य के बीच संवाद, कल्पना और विचार के बीच द्वन्द्व. संशय की उत्पत्ति, शुद्ध कलाओं का निर्माण, परिणतियों से विहीन कलाओं का सृजन, कलाकार एक वैश्विक मनुष्य, कवि का क्राँतिकारी संत व्यक्तित्व, मूल्यों के निर्माण में साहित्य रचना एवं कलाओं की भूमिका, इतिहास निर्माण में मनुष्य की भूमिका, कलाओं का समाज-विज्ञान, सामाजिक यथार्थ और वर्ग-संघर्ष, चेतना के आर्थिक सूत्र, साहित्य एवं कलाओं में ऐतिहासिक सत्य, आदिम अवशेषों की शिनाख्त, तर्कहीनता और तर्क का द्वन्द्व, चेतना-स्तरों का विश्लेषण, आधुनिक मिथक-शास्त्र, स्मृति और मिथक-सृजन के बीच साहित्य और कलाएं, मनुष्य का विभाजित 'स्व' स्वातंत्र्य और अस्तित्त्व के प्रश्न, चुनाव और विसंगति-बोध, ईश्वरहीनता की स्थिति, संवादहीनता, भविष्यहीनता और ऐसा ही कितना कुछ और। कुल मिलाकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों यानी लगभग 1880 से लेकर बीसवीं शती के आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक 'आधुनिक' की पहचान की एक पूरी शताब्दी पसरी हुई है जिसका लम्बा इतिहास व आधुनिक परंपराएं निरावृत हो रही हैं। 'आधुनिक' क्या है, उस का स्वर कैसा है, ताप और ऊर्जा कैसे हैं, उसका मुहावरा कैसा है - यह सब समझा और समझाया जा रहा है। उसके भूगोल की शिनाख्त भी एक बड़े पैमाने पर की जा रही है जिसमें नगर, महानगर, द्वीप, उपद्वीप, और महाद्वीप—अपने-अपने नक्शों सहित नंगे हो रहे हैं। आधुनिकता की गत्यात्मक प्रकृति और प्रक्रियामूलक परिस्थिति इस तमाम आलम के बीचोंबीच एक सार्वभौमिक चक्र के सत्त्व से जुड़ी हुई मनुष्य के इतिहास में विच्छेद बिंदुओं का निर्माण करती हुई लगातार आगे बढ़ती जा रही है।

मानव संस्कृति का समूचा इतिहास इस तथ्य का गवाह है कि उसके विभिन्न युग अपनी अपनी मिथकीय सत्ता का महत्व प्रतिपादित करते हैं। युगों की मिथकीय महत्ता ने ही इतिहास की धारा के विभिन्न मोड़ रेखांकित किए है। यही कारण है कि कभी मिथकीय रूप में कोई युग स्वर्ण युग के नाम से जाना जाता रहा है तो कभी कोई प्रगति, विकास, ह्रास, या रिनेसां के नाम से। युगों की यह मिथकीय सत्ता अपने से पहले के युगों एवं आने वाले युगों से सम्बोधित रही हैं और इसने परम्परा तथा अपने बीच की असंगतियों-विसंगतियों के साथ-साथ उपलब्धियों की दिशा को समझने का अवकाश भी दिया है। इस मिथकीय सत्ता को प्रायः दो स्तरों पर अभिव्यक्ति मिली है—संवेदना और बौद्धिकता के स्तरों पर। यह तय हो चुका है कि आज का युग व्यापक अर्थों में उक्त दोनों स्तरों पर अपनी तथाकथित मिथकीय महत्ता को 'आधुनिकता' में आँकता है। दूसरे शब्दों में आज का संवेदनशील और बौद्धिक प्राणी, दोनों इस सत्य से भागना नहीं चाहते कि आज का मिथक आधुनिकता का मिथक है। प्रोफेसर बदॉउन के कथन में इस मिथक का प्रतिपादन उपलब्ध होता है '[illegible] दो शताब्दियां प्रगति के मिथक से परिचित थीं। हमारी शताब्दी आधुनिक के मिथक को अपनाया है। एक मिथक ने दूसरे मिथक ने ले ली है।[1] वह संवेदनशील स्तर है। संभवतः इसी लिए वह आधुनिकता में मात्र विघटन की स्थितियों के प्रभाव के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देख पाते। उनका कहना है कि आधुनिकता का मिथक मनुष्यता को केवल वही स्थितियां अर्पित करता दिखाई देता है जिनसे मुँहामुंह होने पर वह सिर्फ पलायन कर सकती है या फिर वे स्थितियाँ जिनसे निराशा एवं अवसाद उत्पन्न होते हैं। आधुनिक मिथक के रूप में आधुनिकता का यह स्वरूप निश्चित रूप में एकांगी दृष्टि का परिणाम है जो पुराने के प्रति निष्ठा और भविष्यत् के प्रति असृजनशीलता का सूचक है। असल में आधुनिकता की परिस्थिति तो निर्मित ही एक तनावतिक्त द्वंद्व में हुई है जिसके केन्द्र में संघटन और विघटन की द्वन्द्वात्मकता निरन्तर विद्यमान है। एक अगर आधुनिक संवेदना जगाती है तो दूसरी आधुनिक बोध से परिचय करवाती है। संवेदना का रचनाकार चिंताओं का मारा हुआ आक्रांत और त्रस्त देखा जा सकता है जबकि बोध का आधुनिक बोधिसत्व अगले और संभावित जगत के प्रति सरोकार लिए हुए है। उसकी प्रतिबद्धता और संबद्धता उन सभी रीति-रिवाजों और रूढ़ियों के खिलाफ चलनेवाले आधारभूत बदलावों के पक्षधर अनेकानेक चिंतनों से है, जिनकी सीधी लड़ाई और व्यापक संघर्ष अमूर्त किस्म की जड़ व्यवस्थाओं और तर्कों के विरुद्ध जन्म लेती हैं। मानवीय अनुभवों के उत्तरोत्तर विकास में बाधक तत्वों के विरुद्ध यह बोधिसत्व साधना करता हैं और ऐतिहासिक विच्छेद की परम्पराओं में सामाजिक मनुष्य से ऊपर का दर्जा अपनी वैयक्तिक ऊँचाइयों के लिए सुरक्षित रखता है—भले ही इस प्रयास में उसे खुद की बलि भी देनी पड़ती है। उसकी वास्तविकता मानवीय सघनताएं उसे [illegible]तिशील बनाती हैं और [illegible] के जड़ घेरों से बाहर मानवीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकल्पों, आकांक्षाओं, फंतासियों और स्वप्नों के क्रियात्मक रूपांतरण के संभव संसार की तरफ खींच ले जाती हैं जहाँ से वह स्थापित मुद्राओं में लगभग जड़ हो रही संस्कृतियों को एक जन्मजात चुनौती भेजता हुआ खड़ा रहता है। इस क्रम में अगर कुछ खो जाने, अलगाव में गर्क हो जाने अथवा विषाद और नैराश्य के अनुभव भी उसे भोगने पड़ें तो वह उन्हें अपनी ऐतिहासिक समझ के विस्तारों के तहत उपयोगी बना लेता है। उसके निकट एक 'मरा हुआ अतीत' और 'जीता हुआ वर्तमान'—दोनों ही संदर्भ आधुनिक परिस्थितियों से उत्पन्न होने वाली चिंताओं की हिस्सेदारी निबाहते दिखाई देते हैं। 'जीता हुआ वर्तमान' तो इस संदर्भ में उसके लिए सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि वह दरअसल उसके 'वर्तमान' से भी बड़ा और व्यापक होता है-उसका भयावह अथवा खतरनाक होना उसके लिए कमजोर चिंताओं का कारण नहीं होता। प्रौद्योगिक क्रांति के बीच आज की मानवी चिंताओं से घिरा आधुनिक मनुष्य इसका एक विराट नमूना है। एल्विन टाफ्लर के मुहाबरे का सहारा लेकर कहें तो कह सकते हैं कि यह मनुष्य 'फ्यूचर शॉक' में से गुजरते हुए भी अपने असंतोष से नई आस्थाओं को जन्म दे रहा है—आस्थामयी नवीन आस्थाओं को। सृजन और विनाश की असीम मानवीय शक्ति का विराट रूप देखता हुआ यह मनुष्य ऐतिहासिक स्तर पर पहली बार खुद अपने से संबोधित हो रहा है—अपने खिलाफ खड़े होकर।

मानव-जाति का जो अध्ययन सांस्कृतिक इतिहासकारों ने किया है वह युग-युगांतरों में समय-समय पर होने वाली संक्रांत स्थितियों का ही प्रतिपादन करता है। इसमें विचारधाराओं की विभिन्न कड़ियों के आपसी टकराव और द्वंद्व की सूचनाएं मिलती हैं। लेकिन, तमाम ऐतिहासिक संक्रांत स्थितियों के बीच कहीं भी 'प्रश्नचिन्ह' का इतना सशक्त और मर्मान्तक प्रहार उपलब्ध नहीं होता जितना बीसवीं शताब्दी के आज के युग में सार्वभौमिक स्तर पर उपलब्ध हो रहा है। जाहिर है कि उन संक्रांत स्थितियों ने कभी भी हमारे जीवन और जगत को एक व्यापक वैश्विक भूमिका के अन्तर्गत आमूल-चूल रूप में परिवर्तित करने की धमकी नहीं दी थी। वे द्वन्द्व और टकराव इतने ठोस थे ही नहीं कि हमारे 'जीने' और 'होने' की स्थितियां यकायक अधारभूत स्तर पर बदल जातीं। विश्वयुद्धों के भयंकर परिणाम और टेक्नोलॉजी का अभूतपूर्व अभ्युदय हमारी शताब्दी की ऐसी तनावग्रस्त घटनाएं हैं जिनके परिणामस्वरूप हमारे जीवन का केन्द्रीय स्रोत, आस्थामूलक धार्मिक संसार उजड़ कर खण्डित हो गया है। धर्म ने केन्द्र खो दिया है। शाश्वत सत्य, परम मूल्य, ईश्वरीय सत्ता अथवा त्रिकालदर्शी बद्धमूल संस्कार भी प्रविधि के तन्त्र में जकड़ कर हमेशा के लिए दांव खो चुके हैं। अब चारों तरफ प्रविधि का घेरा है, जो मशीन के तेज घूमते पहिये के साथ हमारी तमाम सोच को एकबारगी बांध कर मुक्त हो चुका है और पहिया लगातार घूम रहा है। अब जितनी मात्रा में निराशा संशय, संत्रास अनिश्चितताएं, अविश्वास, उद्विग्नताएं, स्नायविक तनाव, हत्याएं, आत्महत्याएं, नरसंहार और महानगरीय सभ्यता के बीच पर्यावरण के दूषण के तमाम अभिशाप जन्म लेते हैं, उससे दुगनी मात्रा में जीव-अभिनियन्त्रण, परीक्षण नली-शिशु, कृत्रिम गर्भाशय में भ्रूण का विकास, मौजूदा जीव में परिवर्तन, कम्पयूटर-संस्कृति, रोबोट, ग्लास-फाईवर-पुस्तकालय, एन्टी-बायोटिक्स, इन्सूलिन, रेडियो थैरेपी लैसर वेव वीम, स्पेस टेक्नॉलोजी आदि से सम्बन्धित कितने ही शोध बड़े पैमाने पर अपनी संभावनाओं सहित सामने आ जाते हैं। मनुष्य की बुद्धि और उसकी चेतना में अभूतपूर्व विस्तार आज के बुद्धि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवियों, कलाकारों और चिन्तकों के बीच संवाद और विवाद का एक महत्त्वपूर्ण विषय है।

मानव-जीवन के इस भ्रमजालिक फैलाव के बीच रहते हुए हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि हमारे बिलकुल सामने देखते-ही-देखते एक संसार अपनी मौत मर चुका है और दूसरे ने अभी आंखें पूरी तरह खोलीं नहीं हैं कि उसे जन्म ले चुका मान लिया जाए।

इस स्तर पर आधुनिकता का मिथक हमें 'भविष्यहीनता' और संभावित भविष्य' की परिकल्पनाओं से सम्पृक्त करता है और भूगोल के एक बड़े भाग पर क्रियाशील बदलाव की विस्फोटक प्रक्रियाओं से जोड़ता है। 'असन्तोष' और 'अनास्था-मयी आस्था' के संदर्भों से उत्पन्न हो रही व्यापक मानवीय सच्चाई का उक्त चेहरा 'आधुनिकता' को मनुष्य शक्ति की उस महानता से जोड़ता है जो पुनः असन्तोष और अनास्था से ही उत्पन्न होने वाली मनुष्य की आशाओं, आकांक्षाओं, स्वप्नों और प्रतिक्षाओं के प्रति आश्वस्त करती है।

आधुनिकता के प्रश्न की मूलभूत दिशा कुछ ऐसे ही आधारभुत बिन्दुओं से हमारा परिचय करवाती है। जिन विद्वानों ने इसे इस रूप में पहचान लिया है. उनके निकट आधुनिकता की व्याख्या और उसके विश्लेषण का संसार एक विचार-विधि-पुन्ज' के रूप में उभरता है और आधुनिकवादों की लगभग सही वादगत भूमिकाओं की जबरदस्त शल्य-क्रिया करता है। परिणामस्वरूप, आधुनिकता की जो परिस्थिति अपने विभन्न संदर्भों सहित उभर कर सामने आती है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसकी अवधारणा अर्थ और शब्द (रूप) के स्तर पर नयी रचना-शैलियों, पद्धतियों, परम्पराओं और संकल्पनाओं से सम्पृक्त है। यह हमारे इन्द्रिय संवेदन और अनुभव का हिस्सा तो है लेकिन विश्लेषण की प्रक्रिया में जिस बिंदु पर हमारा विश्लेषण आकर थोड़ी देर के लिए भी रुकता है— यह खुद को चकमा देती हुई और विश्लेषण के ठहराव-बिंदु से एक बार पुनः आगे चलने के लिए बाध्य करती हुई जटिल से जटिलतर हो जाती है। इसका यह स्वरूप ऐसे बने रहने के लिए अनिवार्यतया अभिशप्त है। प्रायः इसी स्थिति के अन्तर्गत आधुनिकवाद से आधुनकिता का भेद-स्थापना स्पष्ट होने लगता है। आधुनिकता की संकल्पनाएं जिंदगी से चलकर जिस रूप में कलाओं और साहित्य तक आते आते परिवर्तित हो जातीहैं और कलाओं तथा साहित्य के साथ जिंदगी के सरोकारों को कथ्य और रूप की अथवा सृजन की अनेकानेक शैलियों और पद्धतियों के अंतर्गत जिन नयी से नयी परम्पराओं से जितना-जितना जोड़ती हैं, उतना-उतना विकास अपने विशिष्ट प्रारूपों में कथित परम्पराओं के तहत समृद्ध होने लगता है। चूंकि यह समृद्धि किन्हीं निश्चित भंगिमाओं में आधुनिकवादों की एक सांस्कृतिक और बौद्धिक जलवायु तैयार करने लगती है और साहित्य तथा कला-आन्दोलनों की भूमिकाएं उजागर करने लगती है, इसलिए आधुनिकता इनमें से धीरे धीरे खारिज हो जाती है और वादगत सम्बद्धताएं मुखर होने लगती हैं। अब यह क्रम प्रतीकवाद से बिम्बवाद की तरफ बढ़ने का हो या यथार्थवाद से अतियथार्थ की तरफ प्रयाण का इतालियन भविष्यवाद के प्रस्थान बिन्दुओं से जुड़ा हो अथवा रूसी भविष्यवाद के उत्थान से। रूपवादियों अथवा संरचनावादियों की परम्परा से सम्बद्ध हो या मार्क्सवादी-जनवादी परम्पराओं से निसृत हो रहे संघर्ष के लड़ाकू मूल्यों का पक्षधर - आधुनिकता का चेतना-क्रम इन्हें जन्म देकर अथवा इनके लिए जन्म की भूमिकाएं जुटाकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलग हो जाता है-अपनी गति में चलता हुआ । यहां तक कि आधुनिक विकास-क्रम आधुनिक परम्पराओं में तबदील होता हुआ आधुनिक इतिहास का हिस्सा बन जाता है और आधुनिकता कितनीही समकालीनताओं को जन्म देने के बाद पुनः उनसे विच्छिन्न होकर समय और इतिहास के स्थापित संदर्भों की चंगुल से आजाद हो जाती हैं। उसका यह 'विच्छिन्न नैरन्तर्य' मानवीय अनुभवों के उत्तरोत्तर विकास के पक्ष में नए-से-नए संदर्भों और आयामों में जाने के लिए सृजनात्मक स्तर पर चिंतन और कर्म की आन्तरिक अनिवार्यता और आवश्यकता बन जाता है। यह सब कुछ एक प्रकार की 'अपरम्परात्मक' परम्परा के विस्तार जैसा है जिसकी नियामक गति बनकर आधुनिकता की प्रक्रिया एक तरफ तो कलाओं के माध्यम से युगों का निर्माण करती चलती है और दूसरी तरफ युगानुरूप शक्लें लेती हुई ज़माने की भौतिक प्रकृति से जूझती, कलाकारों के कृतित्व को उनके सामान्य निजत्व से भी परे ले जाने का श्रम अर्जित करती दिखाई देती है । परिणामस्वरूप, आधुनिक कलाओं और साहित्य के विभिन्न रचना संदर्भों पर शासन करने वाले उत्तेजक ताप-तिक्त तत्व अलग-अलग कृतित्वों, चीजों, पदार्थों और निर्मित वस्तुओं में; खोजे हुए सत्यों और नए-से-नए जन्म लेने वाले वाह्य और आन्तरिक समाज-रूपों के माध्यम से अपना रौब गालिब करते दिखाई देने लगते हैं।

आधुनिकता की विस्फोटक प्रक्रिया का यह अजीब आलम है कि इन तमाम तत्वों के भीतर बर्बरता, अमानवीयता, आदिम सच्चाइयां, आधारभूत आर्केटाइप्स, मिथ और स्वप्न अपने नकार और विद्रूपमय चरित्रों के साथ अपनी अंतर्मुक्ति चुपचाप हासिल करते रहते हैं। ऐसे हालात में कलाओं और साहित्य के रचना-संदर्भों का इतिहास और वास्तव के बीच से होकर गुजरना जितना महत्त्वपूर्ण है, उससे कहीं अधिक महत्त्वपूण है इनका इन दोनों विच्छेद-बिन्दुओं से भी परे चला जाना । इतिहास और वास्तव के तनाव को भेदती हुई नए तेवरों और नयी शैलियों का कलात्मक और साहित्यिक रचना संदर्भ इस दिशा में एक नितान्त अभिनव और गम्भीर अध्ययन की मांग हमारे सामने रखता है।

अंत में कहा जा सकता है कि 'आधुनिकता' समाज-राजनैतिक और सांस्कृतिक-ऐतिहासिक खतरों से भरपूर एक ऐसा विस्फोटक शब्द है जिसके प्रयोग मात्र से ही एक विराट् वैश्विक मानवीय-स्थिति फट कर खुल जाती है । एक ऐसी स्थिति जो प्रत्येक क्षण में हज़ारों किस्मों के बदलावों की शर्त झेल रही है और जिसका सौंदर्य शास्त्र भी उसका अपना और विशिष्ट है जो पुनः किसी एक विशिष्टता का पक्षधर होने की त्रुटियों से भी नितान्त बरी है : ●

1. The Modern Tradition. Richard Ellmam and Charles Fiedelson, Preface. P V, Oxford Uni. Press 1965.

2. The Myth of Modernity, Charles Baudouin, P. 1, Unwin Books.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा॰ विनय
25, बंग्लो रोड़,
दिल्ली-110007

आधुनिकताबोध और हिंदी आलोचना

आधुनिकताबोध और हिंदी आलोचना विषय के विवेचन-स्पष्टीकरण के दो सूत्र हो सकते हैं। एक तो आलोचना की आलोचना दृष्टि में आधुनिकताबोध की खोज, अर्थात् उसके मानदण्ड किस रूप में आधुनिकबोध की धारणा से संचालित-नियमित हैं। दूसरे परम्परागत आलोचना पद्धति (संस्कृत काव्यशास्त्रीय रस, अलंकारवादी पद्धति) से विच्छेद और आधुनिक वैचारिक अनुशासनों-मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद तथा अस्तित्ववाद से ग्रहीत समीक्षा के मानदण्ड। हमारे विचार में यह देखना अधिक प्रासंगिक और समीचीन होगा कि-आधुनिक हिंदी आलोचना ने नये वैचारिक अनुशासनों के प्रति क्या रवैया रखा और वह कितनी सीमा में सर्जनात्मक क्षमता के साथ अपने आप को जोड़ पायी। इस विषय के विस्तार को रूपायित करने के लिये हमारे सामने हमारा समाज (जिसमें रचनाकार विद्यमान है) उसकी रचना (जो इन दोनों से अपना मूल रूप निर्मित करती है)-तीन घटक हैं। इन तीनों घटकों का आधुनिक बोध सामान्यतः समानांतर रूप लेता है। कभी-कभी उसमें व्यतिक्रम की सम्भावना भी रहती है।

हमारे सामने व्यावहारिक सूत्र को समझने के लिए सैद्धान्तिक सूत्रों को जानना आवश्यक हो जाता है। इस पूरी विवेचना में आधुनिकता, आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण तीन बातों पर विचार आवश्यक है। आधुनिकता के विषय में जितनी भी धारणाएं व्यक्त की गई हैं उनमें एक बात सबने स्वीकार की है कि आधुनिकता एक विशिष्ट दृष्टिकोण है या एक ऐसी विचार पद्धति जो मध्ययुगीन विचार पद्धति से भिन्न ऐतिहासिक चेतना से संपन्न नई दृष्टि से, सोचने समझने और अपने समय को व्याख्यायित करने की धारणा है। दूसरे शब्दों में यह एक ऐसी जीवन दृष्टि है जिसमें परम्परा से विच्छेद के कई सूत्र विद्यमान हैं। आधुनिकता का सही रूप देशकाल के साथ जीवित और सचेतन संबंध में रूपायित होता है। हम चाहें तो यहाँ से शुरू कर सकते हैं कि जहाँ से मनुष्य ने अपने काल के प्रति अधिक सचेतनता दिखलाई वहीं से वह आधुनिक हुआ क्या यह कहा जा सकता है कि जो परम्परागत नहीं हैं वह आधुनिक है, लेकिन इतने मात्र से आधुनिकता का रूप स्पष्ट नहीं होता। "आधुनिकता एक विचार विधि एक व्यवस्था की समग्र धारणाएं एक चिन्तन पद्धति, एक वृत्ति अथवा मूल्य चक्र से अभिहित होती हैं" (र. कु. मेघ) अर्थात वह एक ऐसी विचार विधि है जो व्यवस्था को समग्रता देती है। हमारे विचार में यह समग्रता के प्रति जीवंत इतिहास बोध से आती हैं।

आधुनिकता परम्परा से विच्छेद में न होकर परम्परा में विच्छेद से होती है। परम्परा में विच्छेद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से जो विचारशील मानसिकता, आचरण शीलता समाजिक यथार्थ की सही पहचान कराती है और जीवन के संश्लिष्ट उलझावों की जकड़न को तोड़ती है वह सही आधुनिकता है। लगभग चार सौ वर्ष पहले के कबीर आज भी आधुनिक लगते हैं क्योंकि उन्होंने अपने समय में पहले के निश्चित सामाजिक सम्बन्धों को न केवल प्रश्नाकुल होकर देखा था, अपितु विद्रोह के स्वर में सामाजिक परिवर्तन की नव्यता को भी रेखांकित करने की सर्जनात्मक कोशिश की थी। अतः आधुनिकता एक ऐसी अवधारणा, और प्रक्रिया है जिसके तहत सर्जक-चिन्तक पुराने का विश्लेषण करता हुआ उसे अपने वर्तमान के प्रसंग में जांचता है और भविष्य का रुपायन भी करता है। इस पूरी प्रक्रिया में कालबद्धता समाप्त हो जाती है। जो लोग केवल वर्तमान में रहने की आधुनिकता कहते हैं वे लोग इतिहास की शक्तियों को नहीं पहचानते जिस पहचान के अभाव में भविष्य की दृष्टि पाना लगभग असम्भव हो जाता है। सही आधुनिकता प्रश्नों और द्वन्द्वों के बीच रूपायित होती है। इससे इतिहास के धारा प्रवाह रूप से उन बिन्दुओं को जान लेना सरल हो जाता है जिन पर व्यर्थता बोध के स्थान पर मानवीय संघर्ष और शून्यता के स्थान पर मानव जिजीविषा ने चरण रखकर अपनी अद्वितीयता सिद्ध की। क्योंकि यह तय है कि एक परम्परागत समाज भी आधुनिक हो सकता है। और जब हम परम्परागत समाज में भी (इंग्लैंड) आधुनिकता पाते हैं तो निश्चय रूप से मानना होगा कि परम्परा से कटकर ही आधुनिक नहीं हुआ जा सकता।

तो वे कौन से आधार हैं जिनसे हम परम्परा के रहते भी आधुनिक हो सकते हैं। आज के संदर्भ में विज्ञान और प्रविधि ये दो आधार ऐसे हैं जो हमें सोच और कर्म के स्तर पर सही रूप में आधुनिक बनाते हैं। हमारे विचार में सही आधुनिकता प्रकृति जयी विज्ञान से चालित मानसिकता में देखी जा सकती है। जब हम विज्ञान को प्रकृति जयी कहते हैं तब भी हमारे मन में विज्ञान की सीमा और प्रकृति को असीम अगोचर महत्ता का ज्ञान निश्चित रूप से होता है। यही वह बिन्दु हैं जहां हम एक निरन्तर प्रश्नाकुलता को अपना पीछा करते अनुभव करते हैं। विज्ञान की सीमा चाहे जितनी हो, वैज्ञानिक दृष्टिकोण उसकी तुलना में विचार को अधिक स्पष्टता, घनत्व देता है।

आज हम जिस समाज में रह रहे हैं उसका प्रारूप पहले के समाज जैसा नहीं हैं। अर्थात संस्कार आस्था, विश्वास, जिस समाज के मुख्य संचालक तत्व थे, आज अपना अर्थ बदल रहे हैं। सही आधुनिकता इन बदलते अर्थों को मानव हित में रूपांतरित करती है और गलत आधुनिकता एक खालीपन पैदा करती है। हमारे सामने दोनों ही उदाहरण हैं। हम जितना अपने युग की समस्याओं, चुनौतियों और तदर्थ उपजी स्थितियों का बौद्धिक रूप से सामना करते हैं, उतने ही आधुनिक होते हैं। इस बौद्धिक दृष्टि में भावना का योग भी निरन्तर बना रहता है, यह इसलिए कि बौद्धिक विश्लेषण करता है और भावुक जोड़ता है। यहाँ अन्तर्विरोध दिखाई दे सकता है किन्तु मानव व्यक्तित्व में बुद्धि और भावना का सन्तुलन किसी भी गुणात्मक दृष्टि के लिये अत्यन्त आवश्यक है। लेकिन इस संतुलन में यह भी ध्यान रखना है कि केन्द्रीय महत्व वाली चुनौतियों को ही प्राथमिकता दी जाए।

डा. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने समकालीनता के संदर्भ में जो बात कही है, उसे मैं आधुनिकता के प्रसंग में दोहरा देना चाहता हूं कि सही आधुनिकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस बात में है कि हम अपने पर परम्परागत समाज की वैषम्य मूलक, संग्रहयुक्त मुद्रा परक, संग्रहशील, उच्चवर्गोन्मुख और भेद की प्रकृति के विरुद्ध समता मूलक, संग्रहमुक्त और सामान्योन्मुख प्रकृति की स्थापना करें। इसी संदर्भ में आतंक, आत्महीनता, लघुत्व, परायापन से मुक्ति पायी जा सकती है; क्योंकि उक्त स्थितियाँ एक पूंजीवादी समाज में पनपती हैं, शोषण युक्त समाज में नहीं और सृजनात्मक मनस की सही आधुनिकता मानव मूल्यों की रक्षा करते हुए शोषण मुक्त समाज की पक्षधरता का मार्ग प्रशस्त करती है। मूल्य हीनता का एहसास आधुनिकता का अन्धकार पक्ष है, मूल्य हीनता में जीवन स्वस्थ नहीं हो सकता और साहित्य जीवन के रोग का विकल्प देता है, रोग को भव्य (ग्लोरी फाई) नहीं करता।

आधुनिकता कई प्रकार की हो सकती है। अपने देश के साहित्य के सदर्भ में यूरोपीय आधुनिकता के अवयव शायद अनुपयुक्त हों। पाश्चात्य विचार से उधार ली हुई आधुनिकता जिस रूप में हमारे साहित्य में चित्रित हुई है उससे चिन्तन के अनुकूल झरोखे नहीं खुल पाए। अतः हमारे संदर्भ में सही आधुनिकता जातीय परम्परा की नयी वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक सूझबूझ से पनप सकती है। धर्मवीर भारती के 'अन्धायुग', कुंवरनारायण के 'आत्मजयी' आदि रचनाओं में जातीय संचय को आधुनिक दृष्टि देखा गया है। इन रचनाओं में परम्परा से विच्छेद नहीं परम्परा में विच्छेद है। बाद के समीक्षा-साहित्य में भी वही समीक्षा स्थायी हो पायेगी जिसमें आधुनिकता की अवधारणा भीतर से उपजी विचार-विधि-पुंज के रूप में व्यक्त हुए साहित्य का इसी अर्थ में परीक्षण करेगी।

शुद्ध मानवीय सम्बन्धों पर आधारित साहित्य में, जिसमें मानवीय संघर्ष, जिजीविषा का अभाव है—एकांगी आधुनिकता मिलती है। मोहन राकेश, निर्मल वर्मा का अधिकांश लेखन इस एकांगी आधुनिकता का उदाहरण है। और उसकी आलोचना के लिए जिस शब्दावली का प्रयोग, मानों का प्रयोग आलोचना शास्त्र ने किया है, वह भी एकांगी है। मै केवल 'भूख' की समस्या को भी एकांगी मानता हूं। वस्तुतः सही आधुनिकता मनुष्य की सम्पूर्ण जिज्ञासाओं को समेटती है। जीवन की अर्थवत्ता पाना, अस्तित्व के संकट से मुक्ति, शोषण से मुक्ति और एक कर्म संचालित समाज की स्थापना जिस साहित्य का आधार होगा उसी में आधुनिकता की अवधारणा का सही सर्जनात्मक उपयोग किया जा सकता है। इधर के उपन्यासों में योगेश गुप्त के उपन्यास 'उनका फैसला' में आधुनिकता की अनेक आयामी प्रकृति का अत्यन्त सार्थक रचनात्मक उपयोग किया गया हैं। आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता कोई अर्थ नहीं रखती—और आर्थिक स्वतन्त्रता या आर्थिक प्रजातन्त्र का अर्थ विशिष्ट वर्गों की खुशहाली और बहुमत का अभाव ग्रस्त जीवन नहीं है। जबकि हमारे तथाकथित आधुनिक समाज में वर्गगत खाई अभी भी इतनी चौड़ी और गहरी है कि कामू, सार्त्र और मार्क्स द्वारा नियोजित आधुनिकता के हिज्जे भी अभी सही तरह से हमें समझ में नहीं आ सकते।

हमें साहित्य के संदर्भ में आधुनिकता की बात करते हुए अपने समाज की बहुमुखी संरचना को भी ध्यान में रखना होगा। जब समाज अनेक मुखी है, अभी भी धर्मावलम्बी है, तो सही आधुनिकता की अवधारणा धार्मिकता को धर्म निरपेक्षता में बदलते और अनेक मुखता के समन्वित रूप को स्थापित करने में ही स्पष्ट हो सकती है। यह समन्वय मनोविज्ञान, दर्शन और संस्कृति के साथ अर्थशास्त्र समाज व्यवस्था के समन्वय की भी मांग करता है। कम से कम वर्तमान के सही प्रारूप को आधुनिक [illegible]विरोधी समाज व्यवस्था और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोषण मुक्त आर्थिक आधार अवश्य देना होगा। इसके अभाव में आधुनिकता की बात करना पहाड़ी पेड़ को मैदान में फलता फूलता देखने की गलती करना होगा।

प्रश्न जीवन में महत्वपूर्ण होता है, साहित्य में भी किन्तु प्रश्न तो केवल प्रश्न के रूप में छोड़ना स्थिति से पलायन करना होगा। एक सार्थक उत्तर की तलाश से प्रतिबद्ध जीवन व्यवस्था में ही सही आधुनिकता की अवधारणा पानी होगी। और, जब हम सार्थक उत्तर की बात करते हैं तो वह उत्तर ऊपर से खोजा गया न होकर जीवन के भीतरी तर्क से निकालना होगा। जीवन का आन्तरिक तर्क तथा-कथित पवित्र चेतना की आस्था में न होकर तार्किक चेतना के विवेक में होता है। और यहाँ फिर एक बात कहनी पड़ती है कि सही आधुनिकता के लिए सच्चा राजनैतिक और आर्थिक लोकतन्त्र अनिवार्य है जिसके लिए डा. मेघ के शब्दों में सामाजिक समानता आर्थिक समाजवाद और सांस्कृतिक ज्ञानोदय होना आवश्यक है।

आधुनिकता के संदर्भ में जो कुछ पीछे कहा गया है उसका सही ज्ञान ही आधुनिकता बोध है। अर्थात् आधुनिकता के जो घटक मनुष्य की चेतना का रूपांतरण कर रहे हैं, उनका सम्यक ज्ञान इसे जानकर किया गया आचरण या कृत आचरण के प्रति विवेक-शील दृष्टि। इस दृष्टि में जो घटित हुआ है, वह होना ही था—के नियतिवाद का विरोध और उस होने के ऐतिहासिक-सामाजिक-आर्थिक कारणों का विश्लेषण। दूसरे शब्दों में जीवन के उन तत्वों का विरोध, जो व्यक्ति को ऐसे समूहवाद में परिवर्तित करते हैं, जो दूसरे समूह या व्यक्ति के जीवन-अधिकार को छीनते हैं—आधुनिकता बोध को रूपायित करते हैं। परम्परा के दिव्य-शुद्ध संस्कार यदि शो पीस की तरह जीवन में लिए जाएं तो आधुनिकता का विरोध नहीं होता किन्तु, यदि वे समकालीन जीवन को गुणात्मक रूप में प्रभावित करें—तो वह निश्चित ही आधुनिक होना होगा।

क्योंकि, हम एक सामाजिक अनुभव के बीच जी रहे हैं और परम्परागत अनुभव तथा सामयिक अनुभव के टकराहट माध्यम भी हैं अतः हम यह आसानी से समझ सकते हैं कि राजनैतिक आर्थिक स्तर पर समाजवाद की ओर बढ़ता कदम आधु-निकीकरण की प्रकिया को न केवल एक रूप देगा, अपितु उसकी समग्रता का निर्णय भी करेगा।

वास्तविक आधुनिकीकरण राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर पर होता है। राजनैतिक स्तर पर समाजवाद की स्थापना के लिये, पूंजीवाद से संघर्ष, आर्थिक स्तर पर वर्गगत खाईयों को पार कर समत्व की स्थापना की कोशिश और सांस्कृतिक स्तर पर परम्परागत जड़ मूल्यों का निषेध इस प्रक्रिया के जीवन्त घटक हैं। और एक स्तर पर यह प्रक्रिया संश्लिष्ट हैं। यहीं समकालीन समाज के दो स्पष्ट रूप हो जाते हैं। एक रूप है, समाज निर्मिति के अन्त-विरोधों को दूर करके सही आधुनिक चेतना का विकास और दूसरा है किन्हीं संगठनों और संस्थाओं द्वारा इस स्थापना का विरोध। पर यह द्वन्द्व की स्थिति ही आधुनिकिकरण की प्रक्रिया है। इसके अभाव में नयी चेतना युक्त समाज, साहित्य की रचना असम्भव है।

सर्जनात्मक साहित्य के संदर्भ में आधुनिक अनुशासनों से हमें कुछ शब्द मिले- जो एक भाव और विचारगत फिनामिना की सृष्टि करते हैं। मार्क्सवाद से विद्रोह, संघर्ष, वर्गभेद, वर्गसंघर्ष; आस्तित्ववाद से भोगा हुआ यथार्थ, परायापन, अकेलापन, अजनबी-पन, संत्रास, विघटन, विसंगति आदि और मनोविश्लेषण से आत्मरति, हीनभावना, लघुत्व - आदि। कहना न होगा कि विभिन्न विचारधाराओं से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभावित रचनात्मक साहित्य में इस शब्दावली की विचारगत प्रचुरता है और इसी अर्थ में आलोचना ने इस शब्दावली का प्रयोग किया है।

अब प्रश्न यह है कि आलोचना ने नव्य अनुशासनों से उद्भूत आधुनिकताबोध किस रूप में अपनाया और साहित्य तथा समाज के रिश्ते का विश्लेषण करते हुए अपनी पद्धति को किस रूप में विकसित किया।

हमारे यहां आलोचना की परम्परागत रस अलंकारवादी पद्धति छायावादी काव्य तक साहित्य धारा का निर्णय करती रही लेकिन उसके बाद नए अनुशासनों से प्रभावित लेखन के लिए वह उतनी ही अनुपयुक्त सिद्ध हुई। क्योंकि रचना की संश्लिष्टता मार्क्स, फ्रायड और सार्त्र के आधुनिक चिन्तन से निर्मित हुई। जब हम एक आधुनिक संपूर्ण मनुष्य की कल्पना करने लगते हैं तो यह सब अनुशासन अकेले उसके लिए असमर्थ लगते हैं सम्पूर्णता या समग्रता के लिए हमें इन सब में से थोड़ा लेना होगा। समकालीन रचनाकार के सामने ऐसी कोई कठिनाई नहीं आई कि वह इस संश्लिष्टता को पाने के लिए या इससे मुक्ति के लिए कोई अतिरिक्त प्रयास करे लेकिन आलोचना के सामने यह चुनौती अवश्य उपस्थित हुई है कि इस संश्लिष्ट रचनाकार के व्याख्या विवेचन के लिए वह किससे कितना ले। आधुनिक रचनाकार को लेकर अनेक रसवादी और भाववादी आलोचकों की यही दिक्कत रही। डा. नगेन्द्र, नन्द दुलारे बाजपेयी आदि आलोचक अपने को आधुनिक बोध से सम्पन्न मानते रहे और आधुनिकता बोध जिस मानसिकता का निर्माण करता है उसकी सही व्याख्या और रेखांकन से कतराते भी रहे।

हिन्दी आलोचना ने एक स्तर पर अस्तित्ववादी शब्दावली अपनाकर एक क्रम विशेष में आने वाले लेखकों की व्याख्या विवेचना की कविता के संदर्भ में नई कविता की परम्परा स्थापित करते हुए और उसका मूल्यांकन करते हुए अस्तित्ववादी जीवन दृष्टि और पारिभाषिक शब्दावली का घटाटोप निर्मित किया गया। इस आलोचना ने इस बात की बिल्कुल उपेक्षा की कि हिन्दी कविता की धारा अज्ञेय के प्रयोगवाद और बाद में नई कविता से इतर जन चेतना से संयुक्त एक सशक्त धारा के रूप में विकसित होती रही। प्रारम्भ में आलोचना ने आधुनिक बोध के सभी सूत्र अस्तित्ववादी और मनोविश्लेषणवादी पारिभाषिक शब्दावली से ग्रहण करने शुरू किए, जिसे स्पष्ट करने के लिए आधुनिकता बोध सम्पन्न आलोचना दृष्टि का एक वर्गीकरण करना आवश्यक है। एक रचनाकारों की आलोचना दूसरी आलोचकों की आलोचना। रचनाकारों में अज्ञेय, मुक्तिबोध, जगदीशगुप्त लक्ष्मीकांत वर्मा, आदि ने आलोचना करते हुए या अपने रचना सिद्धांतों की बात करते हुए आधुनिकता बोध अपना आधार तो रखा लेकिन उनका सारा स्वरूप मुक्तिबोध के अतिरिक्त व्यक्तिवादी अधिक रहा। डा. मेघ ने अवमानवीकृत अनुगामिता और मानवीय कृत अनुगामिता में आधुनिक बोध के विभिन्न अयामों की चर्चा है। हमारी दृष्टि में वे सब स्थापनाएं आधुनिक बोध से गृहीत संस्कार को स्पष्ट करती हैं। दूसरी श्रेणी में आलोचकों में, नामवर सिंह, र.कु.मेघ शिव कुमार मिश्र, विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, नवलकिशोर, नरेन्द्रमोहन, देवेन्द्र इस्सर, धनंजय वर्मा, आदि आलोचक आते हैं जिनकी आलोचना का मूलप्रतिमान आधुनिक बोध ही सम्पन्न या उद्भूत किया गया जिसे डा. मेघ ने मानवीय कृत अनुगामिता के रूप में माना है। आज का मनुष्य, समाज और इतिहास एक ऐसी त्रयी का रूप धारण करते हैं जो विश्लेषण के संदर्भ में अस्तित्ववादी अमानवीयकृत धारणा से मुक्ति पाने की बात करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आजकी समीक्षा में आधुनिक बोध की कुछ ऐसी स्थितियां मूलरूप में विद्यमान हैं जो सैद्धांतिक, पारिभाषिक शब्दों के द्वारा विश्लेषित नहीं की जा सकतीं। रसवाद का विरोध समीक्षा और आधुनिकता के एक रिश्ते की शुरुआत करता है। रस शब्द कहते ही काव्य की पुरानी धारणा सामने आती है जबकि कविता पुरानी नहीं रही उसका प्रभाव न रसात्मक रहा और न उतना आनन्दात्मक। अतः आजकी आलोचना ने रस और आनन्द का निषेध करते हुए कविता की परख आधुनिकता बोध के उस बिन्दु से की जहां संघर्ष चेतना लेखन का मूल आशय बनती है। इसके साथ ही आज की आलोचना ने अस्तित्ववादी शब्दावली की व्याख्या सामाजिक संगति के संदर्भ में करते हुए उसकी बहुत कुछ विचारधारा को स्वीकृत भी किया।

आधुनिकता बोध और आलोचना की सबसे बड़ी संगति उस स्तर पर होती है जहां महानता का निषेध करके सामान्य सार्थकता की स्वीकृति पर बल दिया जाता है। नए साहित्य के प्रारम्भ से ही महान गौरवपूर्ण और बड़े के विकल्प में सामान्य, सार्थक और लघु की अभिव्यक्ति होती रही। हिन्दी आलोचना ने इस स्थिति को लेखन और बदलते हुए समाज के रिश्तों में स्वीकार किया। आधुनिक आलोचना ने स्पष्ट किया कि 'कामायनी' की महानता से कम महानता 'अन्धेरे में' नहीं है बल्कि उसकी प्रासंगिकता अधिक गुणात्मक होने के कारण सार्थकता के अनेक आयाम निर्मित करती है। डा. नामवर सिंह की और डा. मदान की आलोचना ने रसवाद और कथावाद का विरोध ही नहीं किया अपितु इसके साथ 'अंधेरे में' की मूलदृष्टि को समझने का प्रयास किया और 'साकेत' जैसे घोषित महाकाव्य के काव्यत्व पर भी प्रश्न चिन्ह लगाया। यह इसी लिए हुआ कि आधुनिकता बोध से सम्पन्न आलोचना ने कविता की सामाजिक भूमिका को प्रतिपादित करते हुए कविता की प्रासंगिकता पर अधिक विचार किया। आलोचकों ने कुछ मूलाधार अपनाए जैसे - बीट बोध, विसंगति बोध [देवेन्द्र इस्सर] अजनबीपन, परायापन, विघटन (विश्वम्भर नाथ उपाध्याय) नियतिवादिता का विरोध और मानववाद की प्रतिष्ठा (नवल किशोर) सामाजिक और सांस्कृतिक संगति [र. कु. मेघ] आधुनिकता एक सतत प्रक्रिया [नरेन्द्रमोहन] कलात्मकता और सामाजिक दायित्व (धनंजय वर्मा) भाषा की आधुनिकता [रामस्वरूप चतुर्वेदी] और इस आधार पर रचनाशीलता की परीक्षा की। यह एक आश्चर्यजनक बात नहीं है कि आधुनिक आलोचना ने उन रचनाओं के प्रति भी तटस्थ विश्लेषण की दृष्टि अपनाई जिनमें यथार्थ के स्तर पर मूल्यहीनता, विसंगति, विघटन आदि का चित्रण हुआ।

रचनाकारों ने अपनी आलोचनाओं में सामान्यतः उन स्थितियों को प्रमुखता दी जो उनकी रचना की प्रेरणा बनी रहे। अज्ञेय ने आधुनिकता के पहले दौर की भाषा का प्रयोग करते हुए विषय और वस्तु, व्यापक सत्य और व्यक्ति सत्य की परख की और यह स्वीकार किया कि राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियाँ बदल गई हैं। मुक्तिबोध ने अपने आलोचनात्मक लेखों में आलोचना के मूलसिद्धांतों के साथ साथ सिद्धांतों के प्रयोग के तरीकों को अधिक महत्वपूर्ण बताया और उनकी स्थापना से यह स्पष्ट रूप में आभासित होता है कि उनका आधुनिकता बोध संघर्षशील दृष्टि और सामाजिक दृष्टि तथा सौंन्दर्य प्रतीति का समन्वय में स्थापित होता है। उन्होंने पंत, प्रसाद, शमशेर और मध्य युगीन भक्ति आंदोलन की व्याख्या विश्लेषण करते हुए काव्य को एक सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में माना किन्तु उसमें वास्तविकता के प्रति गंभीर संवेदन क्षमता की वकालत की। पंत और प्रसाद की संवेदन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रणाली की भिन्नता स्पष्ट करते हुए उन्होंने उन सांस्कृतिक मूल्यों की आधुनिकता की भी चर्चा की जो कवियों की सीमा बन जाते हैं। रूप और तत्व की परस्पर आश्रितता की बात करते हुए उन्होंने तत्व की आलोचना पर अधिक बल दिया जिससे साहित्य के तत्व और जीवन तत्व की मित्रता की धारणा को निराधार बताते हुए वास्तविक जीवन के तत्वों की प्रमुखता स्थापित की। जहां मुक्तिबोध वास्तविक करुणा की बात करते हैं वहां वे शायद आलोचक की आधुनिकता की दृष्टि की बात करते हैं।

जगदीश गुप्त और लक्ष्मी कांत वर्मा की आलोचना मानवमूल्यों के संदर्भ में लघुमानव की कल्पना को सहज और स्वाभाविक मानती है लेकिन इनमें छोटे से घरौंदे में पराजय और विवशता को भुलाने की प्रवृत्ति का विरोध किया गया है।

आज की हिन्दी आलोचना का एक सशक्त आयाम मार्क्सवादी आलोचना में मिलता है। आधुनिकता बोध की मानवीय कृत धारणाएं नियतिवादिता के विरोध में मनुष्य के श्रम या कर्म की निष्ठा पर बदलती है। सैद्धांतिक समीक्षा से हटकर और दार्शनिकता से स्थगित होकर जहाँ कहीं डा. मेघ ने व्यावहारिक आलोचना की है वहां उन्होंने रचना के सौन्दर्य पक्ष की अवहेलना न करते हुए उसकी सामाजिक प्रासंगिकता पर अधिक बल दिया है। कनुप्रिया पर उनका समीक्षात्मक लेख हमारी इस धारणा को पुष्ट करता है। डा: नामवर सिंह ने 'नई कविता के प्रतिमान' में उन नये आधारों को लिया जिनसे आधुनिक कविता की व्याख्या समाज संदर्भ में हो सके। लेकिन उन्होंने जहां रस की प्रसंगानुकूलता पर प्रश्न किया, वहां नए प्रतिमानों में यथार्थ दृष्टि, ईमानदारी काव्य बिम्ब और सपाट बयानी, प्रतीकात्मकता और नाटकीयता, विसंगति और विडम्बना आदि आधारों से कविता के साहित्यक और सामाजिक सरोकारों की परीक्षा की। नामवर सिंह का प्रतिमान यदि मुक्ति बोध की कविता रही है तो रामविलास शर्मा का प्रतिमान निराला। कहना न होगा कि इस प्रकार के एकांतिक प्रतिमान आलोचना के मूल्य स्तर को संकुचित भी करते हैं। इन दोनों आलोचकों की आलोचता में यह संकुचन अनेक स्थलों पर पाया जाता है।

अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या में रामस्वरूप चतुर्वेदी ने आधुनिकता बोध का एक स्तर गैर रोमाटिसिज्म में माना है। लेकिन डा. इन्द्रनाथ मदान का यह कहना सही प्रतीत होता है कि वह गैर होने की गवाही नहीं देती। रामस्वरूप चतुर्वेदी रसवाद का भी हल्का विरोध करते हैं लेकिन उनकी आलोचना दृष्टि अज्ञेय के प्रति आस्था में इतनी सीमित हो जाती है वि वे आधुनिकतावाद को अज्ञेय या उन जैसे कवियों की रचनाओं में ही मानते हैं। यह सही है कि हिन्दी आलोचना की नव्यता और भिन्न प्रतिमानों की सृष्टि कविता के माध्यम से ही हुई क्योंकि जितनी सिद्धांत परक चर्चाएं कविता को लेकर हुई उतनी कथा साहित्य को लेकर नहीं। वैसे पिछले दो दशकों में कहानी को लेकर समीक्षा का एक महत्वपूर्ण संसार खड़ा किया गया लेकिन– आधुनिकता बोध को जिस स्तर पर कविता की आलोचना ले सकी उस स्तर पर कथा साहित्य की आलोचना नहीं ले पाई। वैसे लगता यह रहा है कि पिछले दो दशकों में कविता पर कम और कथा साहित्य पर अधिक बातें हुई हैं।

समकालीन रचना धर्म का मूल आशय प्रचलित समाज व्यवस्था में मानव विरोधी स्थितियों का विरोध और एक सहज स्वतन्त्र समाज की निर्मित का लक्ष्य रहा है। इस स्तर पर आधुनिक समीक्षा के दो और वर्गीकरण हो जाते हैं—एक में वे आलोचक आते हैं जो कविता, कहानी उपन्यास, किसी की भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग धर्मिता, कथ्य के समाजीकरण, संघर्षमयता की ऊंचाईयों को विधि की कलात्मकता के भीतर ही विश्लेषित करते हैं, दूसरे वे जो विषय की प्रासंगिकता को ही महत्व देकर लेखन और समाज के रिश्तों की बात करते है। आधुनिकबोध ने समीक्षा के संदर्भ में सबसे बड़ा काम यह किया कि रूपवाद का महत्व कम किया लेकिन गंभीर वैंचारिक दृष्टि की पृष्ठभूमि होते हुए भी अनेक समीक्षकों ने जीवन के यथार्थ को व्यक्त करने वाली रचनाओं की भरपूर प्रशंसा की। इस संदर्भ में मुर्दाघर, सारा आकाश, रागदरबारी, उनका फैसला, वसंती, लाल,पीली जमीन पर प्रकाशित उन अनेक समीक्षात्मक लेखों को लिया जा सकता है जिनमें लेखक की एक प्रतिबद्ध, सुविचारित दृष्टि परिणाम में फलित न होने के कारण उस पर दृष्टिहीन होने का आरोप लगाया गया। अनेक चर्चा-परिचर्चाओं के बीच यह बात बार-बार कर उभर कर आई कि नागार्जुन की कवितात्वहीन कविताएं किसलिए बहुत महत्वपूर्ण है? ऐसी स्थिति में आधुनिक हिंदी आलोचना आधुनिकताबोध के साथ समीक्षा के अन्य उपादानों, मूल्यों, मानों का अतिक्रमण करके वर्गो और खेमों में विभाजित हो गई। प्रेमचन्द ने भारतीय जीवन के जिस यथार्थ का चित्रण अपनी रचनाओं में किया है वैसा यथार्थ नागार्जुन और यशपाल व भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासो में नहीं मिलता। इस स्थिति का अनुभव करते हुए भी हिन्दी आलोचना ने दो टूक रूप में इस तरह के फैसले नहीं किए।

मार्क्सवादी आलोचना ने आधुनिकताबोध को जिस स्तर पर लिया उसे हाशिए से इस्तेमाल करते हुए अपनी बात कही। उन्होंने व्यक्तित्व की खोज की अंतर्मुखी यात्रा का विरोध किया, अज्ञेय का अकेलापन निषिद्ध धोषित किया, अनुभव की प्रामाणिकता और ईमानदारी पर बात करना उचित नहीं समझा लेकिन इसके विहीन समाज संबद्ध यथार्थ-वाद की आधार शिला के बावजूद समूहगत मानसिकता के अन्तर्विरोधों पर चुप्पी साधते रहे। शायद इसीलिए धनञ्जय वर्मा को मार्क्सवादी आलोचना एक पुनर्विचार लेख लिखना पड़ा। कहने के लिए तो हर मार्क्सवादी आलोचक यह कहता है कि उनकी आलो- का मतलब पार्टी परक नीति का अनुसरण और स्थूल सैद्धांतिक आग्रह नहीं है। वह साहित्य की सामाजिक सार्थकता और प्रासंगिकता की तलाश है उसकी एक विवेक सम्पन्न और वैज्ञानिक पहचान है। लेकिन पिछले तीस वर्षो में कम्युनिस्ट पार्टी के पार्टियाँ वनते जाने की प्रक्रिया में आलोचना के परस्पर आधार और व्यवहार गत बिंदुओं में उभरे अंतर्विरोध साफ झलकते हैं। रचना के रागात्मक और संवेदनात्मक धरातल आधुनिकता बोध के जिन स्तरों पर रचनाओं में आए हैं विचारों में उनका वही रूप नहीं दिखाई देता। अनेक बार ऐसा हुआ है कि सैद्धांतिक रूप से की गई व्याख्याओं से रचनाएं प्रस्थान करती रही हैं। वस्तुतः आधुनिकता बोध ने आलोचना को उतना समृद्ध नहीं किया जितना रचना को सर्जक कलाकार विवेक बुद्धि से नियत इस बोध को वर्तमान की जिस टकराहट में अनुभव करता है। उसकी व्याख्याएं तो हुई हैं लेकिन उसके आधार पर निर्णयों में विवाद बना रहा। इसका एक दिलचस्प पहलू एक ओर तो इस आधार पर अनुभव होता है कि एक मार्क्सवादी आलोचक कहे कि हमने पार्टी लेबल पर यह फैसला किया है कि अमुक लेखक का समर्थन करेंगे अमुक का विरोध और दूसरा दिलचस्प रूप यह कि नामवर सिंह 'कहानी नई कहानी' में राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर की चर्चा करते हुए कमलेश्वर की प्रगतिशील दृष्टि को राजेन्द्र यादव की अस्तित्ववादी दृष्टि की तुलना में रेखांकित करते हैं और कुछ समय बाद ही सामान्य जन को केन्द्र में रख कर समांतर कहानी की चर्चा करते हुए वे कमलेश्वर के रचनाकार के रूप में अनेक आवरण भ्रम और फ्राड गिनाते हैं और वही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचक 'मेरा पन्ना' किताब रूप में प्रकाशित होने पर उस पर बात करना अनिवार्य समझते हैं। अर्थात रचनात्मक आशय और समीक्षात्मक विवेक में कही न कहीं अन्तर्विरोध मिलता रहा है।

इस अन्तर विरोध की खोज बहुत संभवतः हमारे नए बनते हुए देश में की जा सकती हैं क्योंकि यहां पर ये सारे आधार और कारण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं जिनसे हमारा लेखन अस्तित्ववादी जीवन दर्शन की ओर झुका और दूसरे कारण भी प्रचुर मात्रा में रहे जिनके कारण मार्क्सवादी दृष्टि की ओर झुकना एक बहुत बड़ी सामयिक आवश्यकता हीनता अपितु ऐतिहासिक प्रक्रिया से उत्पन्न यथार्थ का स्वीकार था। इसीलिए एक ओर अस्तित्ववादी चिन्ताओं की अभिव्यक्ति दूसरी ओर जनसंघर्ष की अभिव्यक्ति और इन दोनों की परीक्षा करती हुई आलोचना सामने आती रही।

आधुनिकता बोध से प्राप्त जिन पारिभाषिक शब्दों को एक फिनौमेनोन के रूप में लिया तथा उनमें आत्म परायापन की धारणा ने आलोचना को एक दृष्टि तो दी लेकिन एक भ्रम भी पैदा किया। यह भ्रम तब और भी अधिक गहरा दिखाई देता है जब विभिन्न संदर्भ में—एक ही आलोचक अलग अलग रचनाकारों को लेकर भिन्न निष्कर्ष निकालता है। आधुनिकता बोध तात्कालिकता और क्षणवाद में नहीं है लेकिन जिन रचनाओं में तात्कालिकता का अतिक्रमण करके शाश्वत दृष्टि के बीच क्षण और तत्काल की विशिष्ट स्वीकृति मिलती है उन की व्याख्या विवेचना भी किन्हीं कारणों से पूरी नहीं हो पाई। आधुनिक बोध का महत्वपूर्ण घटक उदात्त और उच्च प्रति का मोह का खण्डन है। इसे रचनाकारों ने जितनी गम्भीरता से लिया उसके अनुरूप आधुनिक समीक्षक ने अनेक सामाजिक आर्थिक कारणों की जांच करते हुए इस मोह भंग की स्तुति भी की।

आधुनिकता बोध वस्तुतः एक संश्लिष्ट, गतिमान जीवन प्रक्रिया का बोध है। वह जितने गुणात्मक रूप में रचनाकार को प्रभावित करता है उतने पैमाने पर समीक्षा के सरोकारों को बनाता है। हमें यह देखना होगा कि आधुनिक समीक्षा आधुनिक बोध के मार्क्सवादी सैद्धांतिक मानों के प्रति जड़ता पूर्ण आग्रह से बचे और उतनी ही मात्रा में अस्तित्ववादी दर्शन से मुक्ति प्राप्त करे।

हिन्दी समीक्षा की परम्परावादी दृष्टि का सरोकार केवल रचनाया. रचना और समाज का रिश्ता नहीं था, आधुनिकता बोध ने समीक्षा को अन्य मान दण्डों की तुलना में सामाजिक सरोकार से संपृक्त किया। रचना के कलागत, सौन्दर्यपक्षीय मूल्यांकन के साथ वह उसकी सामाजिक प्रासंगिकता और प्रामाणिकता पर भी विचार करती है। यदि रचनाकार अपने इंट्यूशन, अपने स्वायत्त संसार अनुभव जगत की प्रामाणिकता की बात करता है तो आलोचक के पास भी विभिन्न अनुशासनों, सांस्कृतिक सामाजिक आवश्यकताओं के संसार की अवधारणा है। दोनों में टकराहट होती है या समन्वय, यह इस बात पर निर्भर करता है कि दोनों जीवन, समाज व्यक्ति को और इससे परे इतिहास को किस दृष्टि से देखते हैं। यह दृष्टि ही यह तय करती है कि वे कितने आधुनिक हैं और कितने नहीं हैं। क्योंकि यह किसी को भूलना नहीं चाहिये कि व्यक्ति स्वातंत्र्य की परिणति परायेपन में होती है और प्रतिबद्धता में 'स्व' का विलयन होना है। लेकिन ये दोनों परिणतियाँ आजके मनुष्य के अस्तित्व से जुड़ी हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० नरेन्द्र मोहन
हिंदी विभाग,
खालसा कालेज
दिल्ली

आधुनिकता : कहानी के संदर्भ में

आधुनिकता के संदर्भ में हिन्दी कहानी को लेकर कुछ भी कहने से पहले यह जरूरी है कि मैं यह बताऊं कि आधुनिकता से मेरा मतलब क्या है और मैं इसे किस नजरिये से देखता हूं। आधुनिकता मेरे लिए न शास्त्र है न दर्शन, न रीति है न परिपाटी। इसे आप मानसिक दृष्टि कह सकते हैं, जिस के मूल में है वैज्ञानिकता, टकनॉलोजी और औद्योगीकरण की संस्कृति। आधुनिकता आधुनिक जिन्दगी के दबावों, आधुनिक आदमी की सोच और चिन्तन, उस की द्वन्द्व पूर्ण, प्रश्नाकुल और संघर्षशील मानसिकता से बना एक दृष्टिकोण है—दृष्टिकोण जो आधुनिक मनुष्य ने अपनी सामाजिक संरचना, सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं और ऐतिहासिक चक्रों में से गुजरते हुए, उन्हें समझते हुए अर्जित किया है।

हम सब जानते हैं कि आधुनिकता को एक व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना के रूप में परिकल्पित और विकसित करने में पाश्चात्य दार्शनिकों और विचारकों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। विकासवादी सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाले चार्ल्स (1809-1882), इसे समाज के विकासवादी सिद्धांत के रूप में डालने वाले हर्बर्ट स्पैन्सर (1820-1903) तथा समाजवादी विकास की धारणा को वर्ग-संघर्ष की नींव पर टिकाने वाले...उसे एक ओर प्रविधि के विकास से, दूसरी ओर वस्तु उत्पादन और सामाजिक वर्गों के सम्बन्धों की आधारशिला प्रदान करने वाले कार्ल मार्क्स (1818-1883)—इन सभी दार्शनिकों विचारकों ने आधुनिकता को एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार दिया और विद्रोह और क्रांति जैसी धारणाओं पर नये सिरे से विचार किया। आधुनिक चेतना और चिन्तन पद्धति का प्रारम्भ इन्हीं से हुआ। मध्यकालीन बोध और चिन्तन से अलग एक नये ढंग की आधुनिक बोध और चिन्तन का विकास हुआ। आस्था और विश्वास के स्थान पर मानवीय विवेक और विचार को केन्द्रीय महत्व प्राप्त हुआ। इस से सामाजिक संकल्पना की स्थिर और पिटी-पिटाई धारणा में बदलाव आया। विचारों की दुनिया में यह निश्चय ही एक नयी क्रांति की शुरूआत थी।

आधुनिकता को आप अस्तित्ववाद से जोड़ें या मार्क्सवाद से, या दोनों से—इसका सही स्वर विद्रोहात्मक है। काफ्का ने अस्तित्व और विकल्पहीन मानव नियति की बात की थी। 'मेरे लिए सबसे निकटतम सत्य यह है कि मैं एक ऐसी काल कोठरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दीवार से टकराता हूं जिसके न दरवाजे हैं और न खिड़कियां। कामू ने अस्तित्व और विद्रोह में एक अटूट रिश्ता मानने हुए कहा था :- 'प्रतिरोध की क्रिया, कितनी ही अकेली क्यों न हो, वास्तव में एक सामूहिक क्रिया है। मैं विद्रोह करता हूं, इसलिए अस्तित्व रखता हूं।' आधुनिक युग और आधुनिकता का प्रारंभ मनुष्य द्वारा अपनी स्थिति के प्रति असन्तोष और विद्रोह करने तथा समाज की गली सड़ी मान्यताओं और व्यवस्थाओं को चुनौती देने या उन्हें अप्रामान्य ठहराने के संकल्प के साथ जुड़ा हुआ है। आधुनिक युग में शक्ति और सत्ता के प्रतीकों में युगान्तकारी परिवर्तन हुए हैं और नवीन सत्ताओं और व्यवस्था-तन्त्रों के विरुद्ध एक नयी जागरूकता, और विद्रोही मानसिकता पनपी है, जो आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का ही हिस्सा है। आधुनिकता के दवाब से कुछ खास आचरणगत मनोदिशाएं (बेरोजगारी, आत्महत्या, आवारागर्दी, व्यर्थता-बोध, शारीरिक और मानसिक रुग्णताएं आदि) पैदा हुए हैं। उनसे निपटने के लिए कई तौर-तरीके अपनाये गये हैं। अस्वीकृति, आक्रोश, विद्रोह और संघर्ष उन्हीं में से उभर कर सामने आए हैं।

हम यह मानते हैं कि विद्रोह, संघर्ष और क्रांति आधुनिकता बोध का ही हिस्सा है। पर क्या विद्रोह, संघर्ष और क्रांति फार्मूलों और रूढ़ धारणाओं के सहारे संभव हैं—ये फार्मूले और धारणाएं अस्तित्ववादी दर्शन के हों या मार्क्सवादी दर्शन के। उदाहरण के लिए किसी कहानीकार द्वारा सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा के निमित्त शोषित वर्ग के जुझारू तेवर को दिखाना एक बात है पर सर्वत्र शोषक वर्ग पर उसे विजयी होते दिखाना क्या नुस्खे का शिकार हो जाना और छद्म को पनाह देना नहीं है? सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों और वर्गीय लड़ाई का इस ढंग का सरलीकरण एक खुशफहमी से ज्यादा और क्या हो सकता है? वास्तविकता यह है कि इस ढंग की लड़ाई में पराजय का मुंह भी देखना पड़ सकता है और जिन्हें नेस्तोनाबूद करने के मसूबे बांधे थे, उनके चंगुल में फंसे रह कर यंत्रणा झेलनी पड़ सकती है।

आधुनिकता का सम्बन्ध मानव व्यक्तित्व की खोज से ही नहीं है, मानव मुक्ति की गतिशील धारणा से भी है। इस में एक ओर स्वच्छन्द रूप से आत्म निर्णय की स्वतन्त्रा की विद्यमानता है, दूसरी ओर मानव-मुक्ति की कामना की सक्रियता। आधुनिकता एक ओर अस्तित्वदर्शन से, अस्तित्वगत स्थितियों के यथार्थ से जुड़ती है तो दूसरी ओर सामाजिक दर्शन और सामाजिक यथार्थ से। व्यक्ति के दृष्टिकोण से और अस्तित्ववादी पद्धति पर यथार्थ बोध की पहचान का अपना महत्व है पर इसे आधुनिकता का पर्याय नहीं माना जा सकता। इसी तरह के आधुनिकता को केवल सामाजिक यथार्थ या मानव मुक्ति की समाजवादी धारणा तक सीमित नहीं किया जा सकता। यह दावा करना कि एक ढंग की विद्यमानता आधुनिकता है, दूसरे ढंग की नहीं, आधुनिकता के स्वरूप और विकास को नजरअंदाज करना है, आधुरचना की जटिल सृजन की प्रकृति को समझने से इन्कार करना है और आधुनिकता को अपने बनाए शिकंजे में कसना है।

साहित्य के संदर्भ में आधुनिकता पहले से सजी-संवरी, तराशी कोई मुकम्मिल चीज नहीं है। लेखक इसे अर्जित करता है-जीवन संदर्भों में एहसास और ख्याल की, अनुभव और विचार की, संवेदन और ज्ञान की निजी ही नहीं ऐतिहासिक यात्राओं में से गुजरता हुआ। जिन्दगी के वास्तविक सदर्भों की सामाजिक और ऐतिहासिक शक्तियों और प्रक्रियाओं की उसे जितनी गहरी समझ और पहचान होगी, उस का आधुनिक बोध उतना ही खरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और प्रासंगिक होगा।

हिन्दी में यह बहस एक लम्बे समय तक चलती रही है कि आधुनिकता मूल्य है या प्रक्रिया। एक कहता है कि यह प्रक्रिया नहीं, मूल्य है, दूसरा कहता है यह मूल्य नहीं प्रक्रिया है। मूल्य और प्रक्रिया को एक दूसरे के विरोधी मानने की धारणा इस बहस के मूल में स्थित है। इसे प्रक्रिया मानने का अर्थ मूल्यों की गैर-मौजूदगी क्यों मान लिया जाए? ऐतिहासिक विकास-क्रम में उसे मूल्य चिंता के सिलसिले के रूप में या मूल्यों की छान-बीन और पड़ताल के रूप में क्यों न ग्रहण किया जाए? इसी तरह आधुनिकता को मूल्य मानने का अर्थ इतिहास-विरोधी क्यों समझा जाए जबकि मूल्यों को हम ऐतिहासिक परिस्थिति में ही ग्रहण और अर्जित करते हैं। आधुनिकता को प्रक्रिया मानने वालों का एक मकसद यह जरूर है कि इसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति को एक सिलसिले के रूप में देखा जाए, किसी एक दौर की आधुनिकता को किसी अन्य दौर की आधुनिकता के आधार पर न आंका जाए। पर अनेक दौरों की आधुनिकता के मूल्यांकन के क्रम में उन्हें एक दूसरे अलग-थलग करके कैसे देख सकते हैं? उनके बीच के रिश्ते और सिलसिले को कैसे काटा जा सकता है? मिसाल के तौर पर मन्नू भंडारी की 'त्रिशंकु', कहानी उनकी पहले दौर की कहानियों से विच्छिन्न करके नहीं समझा जा सकता। यह सही है कि आधुनिकताबोध की दृष्टि से यह कहानी उनके विकास को सूचित करती है। आधुनिकता और संस्कार के द्वन्द्व को इस कहानी में वे गहराई से उभार सकी हैं। पर उनके विचारों और अनुभवों की जड़ें पहले दौर की मानसिकता का ही हिस्सा है। इस कहानी में संबंधों के धरातल पर आधुनिकता और संस्कार के जिस द्वन्द्व का बोध कराया गया है, उसकी बुनियाद पहले दौर की कहानियों में पड़ गयी थी। इसी लिए मुझे लगता है आधुनिकबोध प्रक्रिया और मूल्य के दोहरे स्तरों पर रचना का हिस्सा बनता है और मूल्यांकन करते वक्त उन्हें एक दूसरे से काटा नहीं जा सकता।

एक अन्य उलझा हुआ मसला है आधुनिकता और प्रगतिशीलता के संबंध का। आधुनिकता के केवल एक रूप को सामने रख कर आप प्रगतिशीलता से उस का विरोध दिखा सकते हैं और हम जानते हैं कि एक लम्बे समय तक अस्तित्ववाद के प्रभावाधीन, व्यक्ति को समाज और इतिहास के विच्छिन्न करके, आर्थिक स्थितियों से काट करके देखने की कोशिश हुई और व्यक्ति के अकेलेपन, बेगानेपन, आत्मपरायेपन और विकल्पहीनता की दुहाई दी गयी। समकालीनता के पहले दौर—नयी कहानी दौर की कहानियों में अस्तित्वपरक आधुनिकता का इतना दबदबा रहा कि नामवर सिंह जैसे आलोचक भी उषा प्रियंवदा की अस्तित्ववादी भाववादी कहानी 'वापसी' में मार्क्सवादी एलियनेशन को ढूंढने लगे। नामवरसिंह इस कहानी को अस्तित्ववादी आत्मपराएपन से जोड़ कर एलियनेशन से इस लिए जोड़ रहे थे क्योंकि मार्क्स ने भी एलियनेशन अथवा एस्ट्रेंजमेंट की चर्चा की थी। चन्द्रभूषण तिवारी ने ठीक ही लिखा है कि 'मार्क्स ने जहां एलियनेशन अथवा एस्ट्रेंजमेंट की चर्चा की है (एस्ट्रेंज्ड लेबर इकोनामिक एण्ड फिलासाफिक मैनुस्क्रीप्ट आफ 1844) वहाँ सिर्फ विच्छिन्न पड़ा व्यक्ति ही दिखायी नहीं देता बल्कि उसे विच्छिन्न करने वाला जालिम अर्थ तंत्र तथा उस की मुट्ठियों में कसा हुआ उस व्यक्ति का भाग्य भी दिखायी देता है, उस का अर्जित पदार्थ जो स्वयं उस के विरोध में स्थित होकर इतनी आसानी से उसे अलग और स्वतंत्र नहीं होने देता, जितनी आसानी से 'वापसी' के गजाधर बाबू अलग होते जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि गजाधर बाबू का आत्मपरायापन अस्तित्ववादी किस्म का है और उनकी प्रतिक्रियाएं भावनात्मक सरोकारों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से उत्पन्न हुई हैं। भावात्मक स्तरों पर परिवार से जुड़े हुए गजाधर बाबू भावात्मक कारणों से ही उस से ही बाहर आ जाते हैं, उस से अलग हो जाते हैं। गजाधर बाबू के आत्मपरायेपन को मार्क्स की-एलियेनेशन की चर्चा से जोड़ने की नामवरसिंह की हड़बड़ी यह सूचित करती है कि नयी कहानी दौर की अस्तित्ववादी आधुनिकता से वे कितने आतंकित हो गये थे। इसी तरह समकालीनता के दूसरे दौर—साठ के बाद की कहानी में भी आधुनिकता की अस्तित्ववादी मुद्राओं और तेवरों की भरमार रही। रमेश बक्षी, सुदर्शन चोपड़ा, रवीन्द्र कालिया, गंगा प्रसाद विमल, दूधनाथ सिंह, महेन्द्र भल्ला, महीप सिंह, ज्ञानरंजन, योगेश गुप्त और धर्मेन्द्र गुप्त की उस दौर की कहानियों पर इन मुद्राओं की छाप बहुत स्पष्ट है।

यह मानने में दिक्कत नहीं होनी चाहिए कि अस्तित्वगत प्रश्नों और सरोकारों से जुड़ी आधुनिकता जो हमारी ऐतिहासिक और सामाजिक स्थितियों की देन थी—लगभग दो दशकों तक छठे और सातवें दशकों में हमारी कहानियों का मुख्य सरोकार बनी रहीं। राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, रवीन्द्र कालिया, विमल सभी आधुनिकता की इसी ढंग की व्याख्याएं करते रहे और अकेलेपन, अजनबीपन और को गहराने वाली संबंधों की, करुणा और पीड़ाबोध की कहानियां लिखते रहे। पर क्या आधुनिकता को अस्तित्ववादी आशयों, रवैयों तक सीमित मान लिया जाए? क्या आधुनिकता के इस एक रूप के बरक्स एक दूसरा रूप, ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भों को, मुनष्य की विद्रोह प्रवृति और मुक्ति कामना को छठे-सातवें दशकों में उभारता नहीं रहा और इधर आठवें दशक में बड़ी शिद्दत से कहानी का नाभिक केन्द्र नहीं बना? नयी कहानी के दौर में अमरकांत, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, ने जो कहानियाँ लिखीं, उन्हें अस्तित्ववादी आधुनिकता के खाते में कैसे डाला जा सकता है? आधुनिकता और प्रगतिशीलता में विवाद पैदा करने वाले लोग वे ही हैं जो आधुनिकता और प्रगतिशीलता को बेहद सीमित अर्थ में ग्रहण करते हैं। आधुनिकता बोध के पहले दौर और आधुनिकता-बोध के नये दौर के अन्तर और संबंध को पहचान लेने पर आधुनिकता और प्रगतिशीलता में विरोध कहां रह जाता है? डा० रमेश कुंतल मेघ की तरह अगर आधुनिकता-बोध और ऐतिहासिक व्याख्या को द्वंद्वात्मक एकता मान कर समारंभ' किया जाए तो आधुनिकता और प्रगतिशीलता में विरोध की कहीं कोई गुंजाइश नहीं रह जाती।

कहानियों में आधुनिकता-बोध की अभिव्यक्ति दो स्तरों पर हुई है—एक, सभी कुछ को फूहड़ अर्थहीन और निरर्थक करार देने वाला, दूसरा, सभी कुछ को क्रान्ति की आग में दमकता हुआ दिखाने वाला। एक फोरमकोर जटिलता- विसंगति और विडम्बना के विधानों पर टिका हुआ, दूसरा संकल्प और निर्णय के शिखरों पर चढ़ा हुआ। हमें लगता है कि आधुनिकता बोध की अभिव्यक्ति के रास्ते में ये दो स्तर, ये दो रवैये एक दूसरे से स्वतंत्र और आत्यंतिक बने नहीं रह सकते। परिस्थिति से टकराते हुए विचार जब सृजन में ढलते हैं तो फूहड़ता से क्रान्ति तक और विसंगति से निर्णय तक का फासला लेखक को तय करना होता है और अन्ततः इनके अन्तर्विरोधों को भी उसे झेलना ही होता है। अन्तर्विरोधों और विसंगतियों का बोध कराने वाले कहानीकार को इसलिए रद्द नहीं किया जा सकता कि उस का रवैया निर्णयात्मक नहीं है। हमें यह जान लेना चाहिए कि विसंगति का सच्चा और तीव्र एहसास स्थितियों से छिटके पड़े सपाट निर्णय और संकल्प से कहीं बेहतर होता है इस का अर्थ यह नहीं है कि हम निर्णय के महत्व को कम कर रहे हैं। हम यह जरूर कहना चाहते हैं कि निर्णय अधिक विश्वसनीय तभी होगा जब वह विसंगतियों को झलेते हुए अर्जित किया गया होगा, न कि ओढ़ा हुआ। निर्णयात्मकता भावुकता की उपज नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगी बल्कि उस के पीछे परिवेश का दबाब होगा। समकालीनता के पहले दौर—नयी कहानी दौर की दो कहानियों—कमलेश्वर की 'नीली झील, और कृष्णा सोबती की 'यारों के यार' इस दृष्टि से देखी जा सकती है। 'नीली झील' में भी पीड़ा और करूणा के भावों का आदर्शीकरण है। लेखक वैयक्तिक पीड़ा को मानवीय करुणा की दिशा में धीरे-धीरे बढ़ाता गया है। कहानी की अंतिम परिणति को सामने रखें तो कहानी के प्रारंभ में दिये गये महेश की मनःस्थिति के संकेत विरोधाभास-सा उपस्थित करते हैं। उसकी वैयक्तिक पीड़ा जैसे-जैसे गहराती है, उसकी मानवीय करुणा तीव्र होती जाती है। इस तीव्रता को लेखक ने संदर्भों के भावात्मक सन्निधिकरण के माध्यम से भी व्यक्त किया है, 'वह घर लौट आया है। रात भर उस अकेले घर में उसे बार-बार वही तेज आवाज सुनाई पड़ती रही। फिर जाने कहां से अस्पताल की चीखती पारवती की आवाज आने लगी।...सुबह होते ही उससे नहीं रुका गया। वह सीधा झील पर पहुंचा ... उसके पैर दलदल की ओर बढ़ रहे थे। सारस उसे दिखायी दिया। वह मृत पड़ी सारसनी के पंखों में चोंचगड़ाकर उसे जगा रहा था शायद,और जब सारसनी नहीं जगी तों वह विलाप करता झील की ओर चला गया।' संदर्भों की यह सन्निधि ही उसे निर्णय लेने के प्रेरित करती करती है: नीलामी वाले दिन उसने तीन हजार की बोली लगाकर चबूतरे के पास वाली जमीन नहीं, दलदली नीली झील खरीद ली।' यह वैयक्तिक पीड़ा का मानवीय करुणा में पर्यवसान है। यह एक संवेदन- वृत्त का पूरा होना है। यह उसके भाव-जगत का निर्णय है और उसमें अपनी पीड़ा का जश्न मनाने वाला मनोभावात्मक तीव्रता के तनाव बिन्दु यहां बेशक मौजूद हैं पर वास्तविक परिवेशगत बिन्दु लगभग गायब है। इसी लिए कहानी में लिया गया निर्णय पाठकों को रुला जरूर सकता है पर जो कहानी में मानवीय करुणा को वास्तविक संदर्भ देखने के आकांक्षी हैं उन्हे कमलेश्वर की यह कहानी ऊपरी अर्थ में ही मानवतावादी लगेगी, किसी गहरे मानवीय अर्थ में नहीं।

कृष्णा सोबती की कहानी 'यारों के यार' में कहीं भी निर्णय का एलान नहीं किया गया पर कहानी के अन्त में परिस्थितियों को तानते हुए पूंजीवादी तंत्र की अमानवीयता जिस ढंग से उभरती गयी है और मानवीय दुर्घटना का एहसास जिस तरह नुकीला बनता गया है, वह क्या किसी निर्णय से कम है? रोमानी समृद्धि और करुणा की उत्सवधर्मिता से अलग यह कहानी एक ठेठ संदर्भ और परिस्थिति को आधार बनाती है और उसी में अनुभव को अर्जित करती है। इसमें केवल दफतरी सूचनाएं, धूर्तताएं, चालाकियां ही नहीं हैं, दफ्तर अपने पूरे भ्रष्ट माहोल और अमानवीय रूप में उपस्थित है और उसका एक सिरा नैतिक गिरावट से जुड़ा हुआ है जहां ब्राह्मण ब्राह्मण का, बनिया बनिये का, कायस्थ कायस्थ का और हर हरामखोर ससुरा साला चांदी के चिट्टे जूते का' है। कहानी के शुरू में आफिस और घर के हादसों...भवानी बाबू द्वारा अपनी मुअत्तिली की आशंका और बेटे की मौत के संदर्भों का सन्निधिकरण जिस ढंग से किया गया है, वह इस कहानी को केवल दफ्तरी जिन्दगी का रेखा-चित्र भर नहीं रहने देता बल्कि यहाँ दफ्तरी ढांचा दारुण मानवीय स्थिति का एक क्रूर और ठोस संदर्भ बन गया है। फाइल और मौत का अन्तर्सम्बन्ध ('कितनी बार रूमाल से आंसू पोंछते, बेटे के लहूलुहान सिर पर किसी मनहूस फाइल का पन्ना चिपका दीखता') महज एक भौतिक दुर्घटना की ओर संकेत नहीं है, यह एक नैतिक और मानवीय दुर्घटना की ओर भी संकेत है जिसमें छोटे-छोटे क्लर्क फंसे पड़े हैं। कहानी के अंत का संवाद-अंश इस दुर्घटना की ओर स्पष्ट संकेत है। हिसाब बाबू कहता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है: 'दोस्त, हम छोटे बड़े क्लर्कों की क्या बिसात हम सब तो किसी बड़े हजूम की रेल-पेल में फंसे है।' और सूरी कहता है: 'सच तो यह है कि हिसाब बाबू कि हम में से हर एक चूतिया है और हर एक उल्लू का पठ्ठा। यूं तो हम से भी बड़े उल्लू के पठ्ठे मौजूद हैं जो हरामजादगी में उन गुरू घंटालों के भी बाप हैं जो फाकेट की चुसकियां खिलाकर खलकत के महबूब बने फिरते हैं।' यह स्थिति का बयान भर नहीं है, इस में एक ऐसी कड़ी और बेबाक नजर निहित है जो तिलमिला देती है। इस दुर्घटनाग्रस्त स्थिति के सभी सूत्रों से लेखिका वाकिफ है और उन्हें हमारी आंखों के सामने उधेड़ कर तार तार करती जाती है हम परतों-दर-परतों में छिपी हुई स्थिति की नंगई, जलालत और कमीनगी को देख सकें: 'यह लानत तो हम सब पर है जो क्लर्क की कुर्सी पर ही पैंशन पा जायेगें इस उम्र में हमारा तुम्हारा छुटकारा तो होने से रहा ...हां, अपने-अपने लड़कों को अच्छे स्कूल-कालेजों में पढ़ाओ, सालो, नहीं तो इन्हीं अफसरों के लौंडे तुम्हारे बच्चों के गालों में भी नाखून देंगे। किस्मत के मारे वे भी इन्हीं कुर्सियों पर बूढ़े हो जायेंगे। लेखिका ने संवादों और ब्यौरों को इस कौशल से गूंथा है कि दफ्तरी तंत्र के सभी भयावह पक्ष एक दूसरे से जुड़ते टकराते मानवीय दुर्घटना के एहसास को और नुकीला बना देते हैं। संवादों-ब्यौरों के सम्मिलित विधान द्वारा यहां पात्रों के मानसिक मनोवैज्ञानिक स्तर ही उजागर नहीं हुए हैं स्थिति की क्रूरता और विभीषिका भी सामने आती गयी है।

समकालीनता के दूसरे दौर-साठोत्तरी कहानी में आधुनिकता बोध स्थिति के तर्क में लिपटा हुआ है। इस दौर का लेखक स्थितियों में इस कदर मुब्तला है कि उस से परे और आगे देख नहीं पाता। हां, स्थिति का चित्रण करने, स्थिति और चरित्र की विसंगति और विडम्वना का विधान करने में उसकी तबीयत खूब रमी है। इन कहानीकारों का मुख्य सरोकार मानव स्थिति की पहचान पाना रहा है-- वह भी अस्तित्ववादी अर्थ और सीमा में। इन लेखकों का रवैया वहां अधिक चिन्त्य है जहां वे व्यवस्था और व्यक्ति की टकराहट को भी मानव स्थिति में खपा देते हैं और 'कोई रास्ता नहीं है' का रवैया झलकने लगते हैं। दूधनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया, महेंद्रभल्ला, गिरिराज किशोर, गंगाप्रसाद विमल, की कहानियां, अंधी गली के मनोविज्ञान से उबर नहीं पातीं। इस दौर की तीन कहानियाँ रामनारायण शुक्ल की "हसरा' धर्मेन्द्र गुप्त की 'अपंग संज्ञा' और बदीउज्जमां की 'दुर्ग' देखी जा सकती है। 'सहारा' में व्यक्ति और व्यवस्था की टकराहट की ऐसी ही स्थिति दर्ज है। व्यवस्था ने हमें इस कदर जकड़ लिया है कि हम वही सब करने के लिए बाध्य हैं, जिन के लिए हमारा मन स्वीकृति नहीं देता हैं। व्यवस्था से संघर्ष करने की बात मानसिक स्तरों पर है ज़रुर पर जो परिस्थितियों हैं उनमें यह सोच भी असंगत सी लगती है। धर्मेन्द्र गुप्त की कहानी 'अपंग संज्ञा' एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो अपने परिवेश की भ्रष्टता के विरुद्ध लड़ता हुआ पाता है कि वह अपनी मान्यताओं के विरुद्ध व्यवहार करने पर मजबूर है। उसे लगता है कि वह स्वेच्छा से कुछ भी करने में समर्थ नहीं और अपने ही बुने हुए जाल में स्वयं उलझ कर रह गया है। वह दूसरों को न्याय दिलाने की खातिर अपनी निजता और अस्मिता खो बैठता है, एक गहरी खाकी रंग से अपनी चेतना आक्रांत हो जाती है। उसकी यह मन: स्थिति अप्रामाणिक नहीं है पर स्थितियों द्वारा चेतना के आक्रांत हो जाने की पैरवी करके लेखक ने विकल्पों और संभावनाओं को अवरुद्ध कर दिया है। बदीउज्जमां दूसरा रास्ता अपनाते हैं। व्यवस्था से लड़ते टकराते हुए व्यक्ति के बिड़म्बनापूर्ण व्यवहार और आचरण को वे सामने लाते हैं। उनकी एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानी है 'दुर्ग'। 'दुर्ग' व्यवस्था तन्त्र का प्रतीक है जिसका चरित्र मायावी है। लेखक ने इसके मायावी चरित्र को, विभिन्न अवसरों पर: रंगों के माध्यम से व्यक्त किया है। वह देखता है कि 'ये' ('ख' और 'क') दोनों ज़रुर दुर्ग को मटियामेट करने का मंसूबा लेकर चले हैं। वे अपने दु:खों का सम्बन्ध सीधे-सीधे इस दुर्ग से जोड़ते हैं और इसे मटियामेट करने का संकल्प करते हैं। 'ए' दुर्ग की शक्ति और विवशता को पहले से भी महसूस करता रहा है। पर दुर्ग के बाहर फैली विपन्नता से दुर्ग का भी कोई रिश्ता हो सकता है, यह बात उसकी समझ में नहीं आई थी... अब यह बात सन्देह से परे थी कि चारों ओर फैली हुई विपन्नता को खत्म करने के लिए इस स्याह दुर्ग को खत्म करना होगा। पर धीरे-धीरे 'क' का आचरण बदलता जाता है। अब वह विद्रोहात्मक प्रवृत्ति के बदले समझोतापरस्त और संशोधनवादी रुख अपनाता है। वह कहता है: 'अब दुर्ग के अन्दर पहुंचकर ही दुर्ग को खत्म किया जा सकता है?' इस तरह लेखक ने भयावह और क्रूर व्यवस्था के सम्मुख मानवीय विडम्बना का एहसास उपजाया है।

ऐसी कहानियां पढ़ने के बाद मैं सोचता हूं ऐसा क्यों है कि हम अपनी तकलीफों का बयान तो करते हैं पर उन से जुड़े सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों की तफसील में नहीं जाते। उन की जाँच-परख करना तो दूर, उन्हें छूने-खरोचने से भी डरते हैं। हम ऊबते हैं और आतंकित होते हैं और अपनी ऊब और आतंक को सम्वेदनात्मक समृद्धि के नाम पर खपाते रहते हैं। उस से आगे बढ़ना हम नहीं जानते या जानना नहीं चाहते। क्योंकि हमारी अधिकतर कहानियां मुकाम पर पहुंचकर रुक जाती हैं और हमें कुछ नहीं सुझता? कहानीकार के नाते क्या हम किन्हीं बौद्धिक विभ्रमों और सम्वेदनात्मक भटकावों के शिकञ्जों में तो नहीं कसते जा रहे? अगर कोई रास्ता नजर नहीं आता (नजर न आना हमारी दृष्टि का एक खास हद के बाद न देख सकना भी तो है।) तो क्या रास्ता तलाश करने और अपनी दृष्टि को फैलाने से रोक लें। हमें लगता है दृश्य में उलझाये रखकर, उस पर टिकाये रख कर नजर को तेज करना ही होगा और उसे व्यापक और ज्ञानात्मक भी बनाना होगा ताकि हम आधुनिकीकरण के दौरान आने वाली चुनौतियों से सहम करके दुबके नहीं बल्कि उनका सामना कर सके। आठवें दशक की कहानी ने सामना करने की वैचारिक क्षमता का प्रमाण दिया है और इस तरह आधुनिक बोध में गुणात्मक दृष्टि से इजाफा किया है। वास्तविकता और लेखकीय चेतना का जैसा द्वन्द्वपूर्ण और टकरावपूर्ण प्रतिफलन इस दौर की कहानियों में हुआ है उतना इससे पहले की कहानियों में नहीं मिलेगा। परिवर्तन की आकांक्षा के साथ साथ संघर्षशीलता इस बीच बढ़ी है। इस सम्बन्ध में मैं विशेष रूप से दो कहानियों का संदर्भ देना चाहता हूं—एक माहेश्वर की 'शुरूआत' और दूसरी इसरायल की 'फर्क'। माहेश्वर की कहानी सामाजिक आधार में परिवर्तन की आकांक्षा से प्रेरित है। इस कहानी के केन्द्र में है 18-19 साल का नौजवान जो गांव से शहर में आया है। शहर में अन्याय और अत्याचार झेलते हुए उस की मानसिकता में कैसे परिवर्तन होता है, इसे लेखक ने, अन्य उपायों के साथ साथ उसकी बदलती भाव-भंगिमाओं के आधार पर भी संप्रेषित किया हैं। पहले उसके चेहरे पर मस्ती और अल्हड़ता रहती थी पर एक बार ज़ेल में रहकर आने के बाद उसके चेहरे पर बड़ी तेजी से रक्षता की परतें चढ़ आयी थीं। उसकी मुस्कराहट को देखकर कहानी का 'मैं' सोचता है। 'जिन्दगी के बारे में बहुत सी खौफनाक बातें जान लेने के बाद ही कोई इस तरह मुस्करा सकता है।' यह सही है कि कहानी का 'मैं' मध्यवर्गीय मानसिकता का व्यक्ति है, पर यहं अच्छी बात यह है कि इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानसिकता को मूल संघर्ष के उत्थान में बाधक नहीं होने दिया गया है। मध्यवर्ग की संस्कारगत भीरूता के बावजूद यहां यह मानसिकता धीरे-धीरे मुख्य संघर्ष का हिस्सा बनती गई है। विरोध दिवस में 'मैं' और 'वह' दोनों शामिल हैं। वह दुविधाग्रस्त है। क्योंकि उसे लगता है कि वह खामखाह झमेले में पड़ गया है। वह निर्णय लेने में असमर्थ है। लोग घोड़ों की टापों से बचने के लिए भाग रहे हैं। 'मैं' भय से जैसे जड़ हो गया हूं। भाग नहीं पा रहा हूं। अपनी जगह से हिलने की ताकत नहीं। थर-थर कांपने लगा हूं मैं।' इस बाहर तेरह साल का लड़का कैसे घुड़सवारों के बीच फंस जाता है, उसकी बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में हुई है। 'और दो घुड़सवारों के बीच वह फंस गया है। घोड़े नाच रहे हैं और उसकी पीठ पर बैंत बरस रहे हैं। वह बेंतों से बचने की कोशिश में दोनों हाथ ऊपर किए हुए है। नौजवान शासनतन्त्र द्वारा किये गए इस जुल्म का बदला लेना चाहता है। कहानी के अन्त में वह कहानी के 'मैं' (मास्टरजी) से पूछता है, 'मास्टर जी, कौन है वे लोग जिनसे ये इतना डरते हैं। ये लोग जो हथियारबन्द हैं और जिनका पेशा है अत्याचार करना। तथा आपको उस गुप्त दल का पता मालूम है? मैं उनसे मिलना चाहता हूं जिससे मैं इसका बदला ले सकूं।' आततायी और अत्याचारी को पहचान लेने के बाद, उसका संगठित रूप से मुबाबला करने के लिए जिस संकल्प को कहानी में, व्यक्त किया गया है वह 'आदमी के लिए आदमी बने रहने के अनवरत संघर्ष को सूचित करता है। वास्तविकता और लेखकीय चेतना, स्थिति और विचार के टकराव से कहानी में कैसे संघर्ष-शिखर निर्मित होता चलता है, इसे इस कहानी के माध्यम से जाना जा सकता है। जन आन्दोलनों के संदर्भ में एक पूरी सोच यह कहानी देती है और सोच को क्रियान्वित करने वाला विचार भी।

इसराइल की सभी कहानियों में शोषण और लाभ पर आधारित अर्थ व्यवस्था को सदर्भ मिलेगा। उनकी कहानियों में आज के मजदूर जीवन की स्थितियों, संघषों और निर्णयों का जितना प्रामाणिक बोध जगता है, इतना अन्यत्र शायद ही मिले। इस बात को उनकी कहानियों का कथ्य ही प्रमाणित नहीं करता, भाषा, प्रस्तुतीकरण और ब्यौरों का संयोजन भी इसकी गवाही देता है। उनकी कहानी 'फर्क' इस दृष्टि से देखी जा सकती है। कहानी के प्रारम्भिक ब्यौरों से ही स्थिति उभरनी शुरू हो जाती है और संघर्ष की दिशा का बोध जगने लगता है। वास्तविक स्थितियों से लिपटी हुई हिंसा-अहिंसा की अन्तर्विरोधपूर्ण और पाखण्डपूर्ण हरकतों और दुष्चक्रों के संकेत इन ब्यौरों के माध्यम से मिलने शुरू हो जाते हैं। जमींदारों की हिंसक हरकतों के सामने चुप्पी साथ लेने वाले और हिंसा पर उतारू किसानों को अहिंसा का संदेश देने वाले भूदानी नेता बैंनी बाबू के चरित्र को गांव के बडे-बूढ़े भले न पहचाने, गांव के लड़के उन्हें अच्छी तरह जानते पहचानते हैं। भगलू बैंटाईदार का लड़का विशु और उसके साथी यह जान चुके हैं कि ग्रामदान और अहिंसा की ये सारी नीतियां और चालाकियों भूदानियाँ, जमींदारों और नेताओं की ओर से उन्हें फंसाने, प्रताड़ित करने के लिए है। वे महसूस करते हैं कि एक विराट दानवीय षड़यन्त्र उनके खिलाफ चल रहा है। इस षडयन्त्र के विरुद्ध संघर्ष के लिए वे तत्पर हो जाते हैं। वे बजरुह चरवाहे को अपना नेता चुनते हैं जो साफ-साफ कहता है। हम किसी को मारने नहीं जा रहे हैं, लेकिन हमें कोई मारने आयेगा तो हम उसे छोड़ेंगे भी नहीं।' यह सक्रिय और सशस्त्र संघर्ष की की शुरुआत है जो दिनोंदिन तीव्रतर होता जा रहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। उन्हें लगता है कि 'विशु' के आन्दोलन के घटाव-बढ़ाव के साथ उन के गठिया के दर्द का सम्बन्ध हो गया है।' इस दर्द के मारे वे जिस अस्पताल में पड़े हैं,उसी संघर्ष में पड़े दर्द से कराहते किसान भी पड़े हैं। और यहीं पर कहानी के अंत में यह टिप्पणी है: 'एक दर्द अहिंसक है, और दूसरा हिंसक।' सामाजिक स्थितियों की निर्मम पड़ताल द्वारा ही इस ढंग का निर्मम वैचारिक रचना-विधान अर्जित किया जा सकता है और विचार को अमल और सक्रिय कार्यवाही का हिस्सा बना देता है।

इधर की कहानियों में संघर्षशील नायकों की सशस्त्र कार्यवाहियों, हिंसक व्यवहारों और कहानियों के अन्त में परिवर्तनकामी संकेतों का प्रतिफलन हो रहा हैं, उस की पड़ताल करने और उसे आलोचना का विषय बनाने के हम पक्ष में हैं। हम इस बात से भी सहमत हैं कि 'क्रान्तिधर्मी आधुनिकता' के नाम पर छद्म न पनपे और कहानीकार अतिरिक्त उत्साह और ऊर्जा में ऐसे उपायों की पैरवी करना शुरू न कर दे जो हमारे एहसास से कोसों दूर हों और जिनका हमारी परिस्थितियों से कोई ताल्लुक न बैठता हो। पर कहानियों में इस तरह की कार्यवाहियाँ, व्यवहारों और संकेतों के प्रतिफलन को देखकर वे आलोचक/कहानीकार ही नाक-भौं सिकोड़ते हैं जो सामाजिक स्रोतों में इन कार्यवाहियों, व्यवहारों और संकेतों की जड़ों को नहीं पहचान पाते, जो एक चलताऊ नैतिकता के तहत परिवर्तनकामी शक्तियों की भूमिका को उस हद तक ही स्वीकार कर पाते हैं जिस हद तक उनकी स्वीकृत धारणाओं को ठेस न लगे। ऐसे लेखकों कहानीकारों की परिवर्तन इच्छा सुधारवादी किस्म की होती है। ऐसे लोग अक्सर कहते हैं...पहले सुधार ले आएं, क्रान्तिकारी परिवर्तन बाद में देखें। सुविधा के लिए इन्हें सुधार-वादी उदारवादी लेखक/कहानीकार कह सकते हैं। ये नये लिबास में पुराने समन्वयवादी हैं। इधर की रचनाओं में-खासतौर पर कहानियों में, इस ढंग के सुधारवादियों, उदारतावादियों और समन्वयवादियों की अच्छी पोल खोली गयी है। ज्ञानरंजन की कहानी 'बहिर्गमन' में इस ओर संकेत और छद्म आधुनिकतावादियों पर भरपूर व्यंग्य। यह कहानी भारतीय नौजवान के या बुद्धिजीवी के ढोंग की पोल खोलती है। कस्बे में मनोहर सबसे परेशान, बेचन और उत्पीड़ित था और लोगों से जबरदस्ती भिड़ जाता था। शहर आकर वह एक महत्वपूर्ण व्यक्ति बन जाता है। उसके पीछे एक अच्छा खासा अहो-अहो दल रहता है। 'ये सभी लोग अपनी छाती में 'हाय मानवता' का दर्द और मुंह में 'लोकतंत्र की चुसनी' लिए हुए थे। उन्होंने मनोहर को उस ऊंचाई पर पहुंचा दिया था जहां जिन्दगी की तरह उसके कटोरे में शोरबा परोस रही थी' पर तभी मनोहर का मित्र अपने समय का एक सर्वाधिक छंटा हुआ बुद्धिजीवी' सोमदत्त लौट आता है और उसके सामने मनोहर हतप्रभ, दीन, तुच्छ और अदना सा हो जाता है। वह उसके हाथों अपमान भी सह लेता है क्योंकि वह सोचता है अभी उसे अपना बहुत विकास करना है। यह भारतीय बुद्धिजीवी की आत्मग्लानि का एक टुच्चा नमूना है। लेखक बुद्धिजीवी की आत्मभर्त्सना या आत्मग्लानि कितनी झूठी, बोदी और भावुक है: 'इस देश में रहकर बताओ तो समझूं। हम जमें रह सकते हो लेकिन इस देश में नहीं।' सोमदत्त की बुलन्दी मनोहर को पटरी पर से उतार देती है और वह चिल्ला पड़ता है: 'मुझे यहां नहीं रहना है। मैं यहां नहीं रह सकता। मैं साथ चलूंगा, मुझे तुम मरने से बचा लो।' और इसके तुरन्त बाद मनोहर को विदेश जाने का अवसर प्राप्त होता है। यहाँ व्यंग्य का विषय बुद्धिजीवी का निरंतर पतनोन्मुख होते जाना है। कस्बे से बाहर और फिर विदेश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...विकारा की यह यात्रा किस तरह से भीतरी पतन की यात्रा है इसे ज्ञान ने भावुक हुए बिना व्यंग्य के तेज, पैने औजार से उद्घाटित किया है जिसमें मानवीय सरोकार भी झलकता है: 'मैं अपनी निजी और बुद्धिविहीन हालत में घिरा हुआ एक नौजवान आदमी के अन्त का समारोह नहीं मना सकता था।' ज्ञान की तटस्थ संरचनात्मकदृष्टि और भाषा से ही इस ढंग की कहानी संभव हो सकी है।

आधुनिक बोध कहानी संरचना को कैसे प्रभावित करता है, इस पर विचार होना चाहिए। कहानियों के अन्त को लेकर इस पर कुछ विचार हुआ भी है, खास तौर पर डा० इन्द्रनाथ मदान द्वारा जो आधुनिकता को एक बड़ी हद तक अन्त के खुले होने पर निर्भर मानते हैं। यह सही है कि जब कोई कहानी अन्त में तनाव का समाहार करने लग जाती है या निष्कर्ष देने लग जाती तो उसे आधुनिक नहीं कहा जा सकता। आधुनिक कहानी संभावनाओं को अस्वस्थ नहीं करती, उन्हें खुला छोड़ती है। यह निर्णय की कमी का नहीं, उस की पहचान का सबूत है। अन्त के संभावनापूर्ण होने के साथ, चरम बिन्दु का महत्व भी अब नहीं रहा। पुरानी कहानी में चरमबिन्दु अलग से अपनी चमक दिखाता रहता था और उसका पूर्वानुमान करना आसान होता था। पर इधर की कहानी में चरमबिन्दु की सत्ता धूमिल पड़ती गयी है। आधुनिकता के दबाव से घटना, चरित्र और स्थिति के आपसी संबंधों में बहुत अधिक परिवर्तन हो चुका है और घटनात्मक विन्यास अब पुरानेपन की निशानी मानी जाती है। घटनाओं, प्रसंगों की यांत्रिक अन्तर्सम्बद्धता सिद्ध करने वाली पुरानी कहानी की पद्धति को आधुनिकता के दबा ने छिन्न-भिन्न कर दिया है। इससे कहानी के रचना-विधान में एक बड़ा परिवर्तन हुआ। एक और भीष्म साहनी ने बड़ी सादगी से अपने परिवेश के प्रातिनीधि पात्रों की पड़ताल करके स्थितियों और संबधों में निहित व्यंग्यों और अन्तर्विरोधों को उघाड़ा तो दूसरी ओर कृष्ण-बलदेव वैद ने वस्तु संगठन के सख्त अनुशासन को प्रसंगों और मनोदशाओं के क्रम में हेर-फेर करके ही नहीं, उनके विस्मयीकरण द्वारा भी चनौती दी।

यह कथा या घटनाक्रम को, पूर्वदीप्ति के सहारे तोड़ते चलने वाला शिल्प मात्र नहीं था बल्कि यह कथ्य और संवेदना में से उत्पन्न बदलाव था, कथा के यांत्रिकीकरण के विरुद्धएक अंतर्मुखी रचनात्मक कार्यवाही थी। यह कार्यवाही एक ओर सामाजिक यथार्थ की टोह लेती हुई, उसका चित्रण करती हुई कार्यवाही थी तो दूसरी ओर वह परंपरित कथागत अपेक्षाओं को तोड़नेवाली, मनुष्य की अस्तित्वगत स्थिति को उद्घाटित करने वाली थी। वस्तु-विन्यास की ये दोनों पद्धतियाँ साठ के बाद की कहानी में और आगे बढ़ी। यहां सीधे सपाट ढंग से वस्तु-निरूपण न करके उसे एक 'कर्व' देकर कहने को प्रवृत्ति बढ़ी। वस्तु-विन्यास में परिवर्तन लाते हुए, उसकी 'टोन' में तब्दीलियाँ करते हुए चलना, उसे अलग-अलग बेवलैंग्थों में प्रसारित करना इस दौर की कहानी की संरचना का एक खास पहलू बना। कहानी का बाकायदा अंत करने की प्रवृत्ति वहाँ आकर पूरी तरह से टूट गयी। समकालीन कहानी में झटके से कहानी का अन्त करने का महत्व समाप्त हो गया। झटका देने की शैली अगर कहीं बचे खुचे रूप में बची भी रही है तो उस की प्रकृति कथागत उतनी नहीं है जितनी अर्थगत है। एक गढ़ा हुआ रचना तन्त्र, चक्करदार शिला, चालू मुहावरों वाली उत्तेजक भाषा आधुनिक कहानी की संरचना के लिए सर्वाधिक घातक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन कहानी में सार्थक ब्यौरों के अन्तर्प्रवेश ने संरचना की प्रचलित धारणा को तोड़ा है। यों तो कहानी के माहौल को बनाने में ब्यौरों का हमेशा हाथ रहा है। पर समकालीन कहानी में चूंकि माहौल द्वारा ही बहुत कुछ कहने का प्रयत्न रहता है, इसलिए ब्यौरों के सर्जनात्मक इस्तेमाल की जरुरत और अहमियत बढ़ गई है। इसके लिए पद्धति तो वह है जो अमरकांत ने अपनी कहानियों में अपनायी है। वे अपनी कहानियों में स्थितियों और घटनाओं का वर्णन नहीं करते, उनके सपाट ब्यौरे नहीं देते बल्कि वे स्थितियों को सटीक ढंग से उभारने काले सार्थक ब्यौरे देते हैं और उनके संयोजन द्वारा या एक खास बिन्दु तक उन्हें ले जाकर स्थिति की विसंगति, व्यंग्य या विद्रूप को प्रत्यक्ष कर देते हैं। 'दोपहर का भोजन' कहानी में यथार्थ चित्रण की पद्धति को ही ग्रहण किया गया है। इस कहानी के प्रारंभिक अंश की पंक्तियां हैं : 'छः वर्षीय लड़का प्रमोद नंग-धड़ंग पड़ा था। उसके गले तथा छाती पर हड्डियां साफ दिखाई देतीं थीं। उसके हाथ-पैर बासी ककड़ियों की तरह सूखे तथा बेजान पडे थे। और उसका पेट हंडिया की तरह फूला हुआ था। उसका मुख खुला था और उस पर अनगिनत मक्खियां उड़ रही थीं।' यह चित्रण उसकी आर्थिक विषमता की स्थितियों को प्रत्यक्ष कर देता है। सिद्धेश्वरी भय तथा आतंक से अपने बेटे को निहार रही थी। वह परिवार के सभी सदस्यों को एक दूसरे से बचाती है कि वे कहीं परस्पर न उलझ पड़ें। वह झूठ-मूठ, दैन्य और आर्थिक दशा को सभी के सामने उघाड़ने से बचाती है। कहानी में सिद्धेंश्वरी ही एक ऐसा पात्र है जिसकी मनोदशाओं के संकेत कहानी में मिलते हैं। दारुण आर्थिक स्थिति है और सभी उस स्थिति से मुंह चुराते हैं, सकते हैं और भीतर ही भीतर पीड़ित-आंदोलित होते हैं। फट पड़ने वाली स्थिति को संभालने में सिद्धेश्वरी और भी निरीह, दयनीय और डरी हुई दिखने लग जाती है। कहानी की अंतिम पंक्तियां हैं : 'बाहर की कोठरी में मुंशी जी औंधे मुंह होकर निश्चितता के साथ सो रहे हैं, जैसे डेढ़ महीने पूर्व मकान-किराया विभाग की क्लर्की से उनकी छंटनी न हुई हो और शाम को उनको काम की तलाश में कहीं जाना न हो।' भैरवप्रसाद गुप्त कहानी के इस अंतिम अंश को, इललिए अनुपयुक्त मानते हैं क्योंकि इससे कहानी सामान्य दैन्य का बोध पाठक को नहीं करा पाती और उसके सामने कहानी की सारी यांत्रिकता खुल जाती है। और वह प्रभावित हुए बिना ही रह जाता है।'[1] उनका यह भी यह भी मत है कि 'जीवन अनुभव को यहां कोई व्यापक सामाजिक संदर्भ नहीं मिल पाता।'[2] भैरवजी के इस मत से सहमत नहीं हुआ जा सकता कि छंटनी की ओर संकेत के कारण कहानी सामान्य दैन्य का का बोध नहीं करा पाती। दरअसल, छंटनी की एक बात व्यंजक संकेत के रूप में, स्थिति और मनोदशा के सार्थक सन्निधीकरण के रूप में आई है। यह एक स्थिति की क्रूरता को प्रत्यक्ष करने वाला संकेत है। 'नौकरी मिल जायेगी तो स्थिति ठीक हो जायेगी' जैसा स्थूल संकेत कहानी किसी भी स्तर पर नहीं देती है। लगता है कहानी से अपनी बात कहलवाने के चक्कर में भैरवजी ये सब बातें लिख गये हैं। आर्थिक स्थिति की विभीषिका और उसकी विसंगतियों के संकेत यहां जरुर हैं। इन संकेतों के ब्यौरों के चित्रण और संयोजन के साथ रख कर देखें तो स्थितियों की भयावहता प्रत्यक्ष होती जाती है। ●

संदर्भ :—

1. भैरव प्रसाद गुप्त का लेख 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी और सामान्य आदमी' 'माया', भारत 1965, विशेषांक : विशेष सम्पापक : मार्कण्डेय पृ. 184
2. वही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० यश गुलाटी
हिन्दी विभाग
पंजाब यूनिवर्सिटी
चण्डीगढ़

आधुनिकता के संदर्भ हिंदी कविता

एजरा पाउण्ड ने रोमांटिक और क्लासिक के व्यर्थ के घमासान से उकता कर कहा था—'ये शब्द-जाल हैं और इनमें फँस कर आज तक कोई आलोचक निकल नहीं पाया ।[1] आधुनिकता, आधुनिक बोध के बारे में भी इतने अलग-अलग तरह के और परस्पर विरोधी मत व्यक्त किए गए हैं कि कई बार तो जान क्रोव रेन्सम का यह कथन बहुत सही मालूम पड़ने लगता है कि आधुनिकता अपरिभाषेय है ।[2] एक विद्वान् यदि इसे वर्तमान के संदर्भ में भविष्योन्मुख दृष्टि ठहराते हैं और इस तरह इसे समसामयिकता से अलगाते हैं तो दूसरे इन में किसी तरह का कोई फर्क मानने के लिए तैयार नहीं मालूम पड़ते । तीसरे विद्वान् इसे मूल्य ठहराते हैं [3] तो चौथे इसे एक ऐसी प्रक्रिया समझते हैं जिसके मूल में प्रश्नचिन्ह की निरंतरता हैं और जो वैज्ञानिक दृष्टि का परिणाम तथा ऐतिहासिकता की देन है ।[4] पाँचवें ऐतिहासिक दृष्टि को पूरी तरह नकारते हुए यह कहना अधिक समीचीन समझते हैं कि इसकी प्रकृति सूक्ष्म है । इसकी कोई स्थूल, पूर्व निश्चित और अपरिवर्तनीय दिशा नहीं है । परमाणु की तरह इसके पास कोई याद नहीं है, यह तो मूलतः एक खंडित घटना है जिसका बीती हुई घटना से बहुत दूर का ही सम्बन्ध है ।[5] इतना ही नहीं एक विद्वान् की राय में तो 'चित्रकारों की आधुनिकता तथा संगीतज्ञों की आधुनिकता में, कवियों की आधुनिकता में आलोचकों तथा कथाकारों की आधुनिकता में, आलोचक तथा समकालीनता वादियों की आधुनिकता में अपने रंग-ढंग का भेद है तो समाज शास्त्रियों तथा अर्थशास्त्रियों की आधुनिकताएं भी भिन्न हैं,[6] स्वयं को साहित्य के संदर्भ तक ही महदूद करने की कोशिश करे तो फार्म और कन्टेंट, वस्तु शिल्प के धरातल पर इसे व्याख्यायित करने की कोशिशों से दो चार होना पड़ता है । एक तरफ यदि कथ्य को अहमियत दी जाती है तो दूसरी ओर यह कहा जाता है कि इसकी समस्या नहीं है, उसके लिए इसकी समस्या विषय वस्तु नहीं हैं और जो इसकी समस्या नहीं है, उसके लिए इसकी आलोचना करना विद्यासागर को कपड़ों के लिए तिरस्कृत करना है ।[7]

सवालों के इस जंगल से निकलने का सिर्फ एक रास्ता है कि कुछ ऐसी मुख्य बातों को ही रेखांकित करने की कोशिश की जाय जिनके आधार पर हम आधुनिकता के संदर्भ में हिन्दी कविता की शिनाख्त कर सकें ।

जाहिर है कि आधुनिकता आधुनिक युग से जुड़ी हुई है । इसलिए प्रत्येक युग अपने समय में आधुनिक होता है यह स्वीकार कर लेना संभव नहीं दीखता । यहां यह भी साफ कर देना आवश्यक है कि आधुनिक बोध का अर्थ परम्परा निषेध नहीं है- परंपरा के सार्थक तत्वों का सोख लेने वाली रूढ़ियों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोध अवश्य है।[8] इसके अलावा इसमें मध्य युग के बोध का विरोध भी निहित है। अब यहाँ यह देखना जरूरी हो जाता है कि मध्ययुगीन बोध से क्या समझा जाए? आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का विश्लेषण इसमें हमारी मदद कर सकता है। उनका यह मत बहुत सही है कि भारतीय संदर्भ में हम पांचवीं से सोलहवीं शताब्दी तक की कालावधि को मध्ययुग नहीं ठहरा सकते। वास्तव में यूरोप में भी इसे इस काल के अर्थ में उतना नहीं जितना कि पतनोन्मुख और जकड़ी हुई मनोवृत्ति के अर्थ में लिया जाता है। मध्ययुग का मनुष्य धीरे-धीरे विशाल और असीम ज्ञान के प्रति जिज्ञासा का भाव छोड़ता गया तथा धार्मिक आचारों और स्वतः प्रमाण माने जाने वाले वाक्यों का अनुयायी होता गया।[9] ज़ाहिर है कि आधुनिक युग में धर्म के मौलिक कवच को एक बड़ी हद तक यथावत् रखते हुए भी धर्म के विश्वासगत प्रभाव को तोड़ने और निपटने की कोशिश की गई है।[10] नतीजे के तौर पर आधुनिकता एक ऐसी मानसिकता की शक्ल में ज़ाहिर होती है जो आध्यात्मिक चिन्तन, धार्मिक दर्शन पर प्रश्न चिन्ह लगाने तथा आस्था और विश्वास की जगह मानवीय विवेक और विचार को केन्द्रीय महत्व देने से पैदा हुई है।[11] इस पर भी क्या जोर देने की जरूरत है कि यह प्रश्न प्रवृत्ति एक प्रकार से वैज्ञानिक आधारों पर 'सत्य में से असत्य' की पहचान की प्रवृत्ति के तौर पर सामने आती है। संदेह की यह मानसिकता एक जिज्ञासु वृत्ति तो है ही, साथ-ही-साथ विकल्प की खोज की व्याकुलता भी है। इसी से जुड़ी हुई मनुष्य की स्वतंत्रता की मानसिकता, जिसके बारे में यह समझ लेना आवश्यक है कि स्वतंत्रता अपने आप में कोई स्वतंत्र और निरपेक्ष वस्तु नहीं है और यह अटूट रूप से सामाजिक संदर्भों से जुड़ी हुई है।[12] कुल मिलाकर इस मानसिकता के उदय के लिए उत्तरदायी है विज्ञान का विकास, जिसने एक तरफ परम्परागत मान्यताओं और मूल्यों पर प्रश्न-चिन्ह लगाया है तो दूसरी ओर मनुष्य की स्वतंत्रता और मानव विवेक की आधुनिक धारणाओं को भी जन्म दिया है और साथ ही मनुष्य को अपने निरन्तर परिवर्तमान में अपनी स्थिति को पहचानने और उसे बदलने के लिए प्रेरित भी किया है। डार्विन स्पैंसर, मार्क्स फ्रायड आइन्स्टाइन और अस्तित्ववादी विचारकों ने मनुष्य की प्रश्नवृत्ति को धार दी है और उसकी दृष्टि को और अधिक पैनापन प्रदान किया मानवीय पर्यावरण के परिवर्तन के लिए उत्तरदायी तकनीकी विकास, आधुनिकीरण या नगरीकरण इसी वैज्ञानिक प्रगति का ही परिणाम है जिसमें मनुष्य के सामने का संसार एक ओर स्पष्ट और खुला होता गया है तो दूसरी ओर अधिक जटिल और दुर्बोध भी होता गया है। कुल मिलाकर आधुनिकता इतिहास के एक खास बिन्दु से शुरू होने वाली प्रक्रिया के तौर पर सामने आती है जो मनुष्य की परम्परागत धारणाओं के पुनर्परीक्षण के लिए बाधित करती है और स्वयं को तथा अपने परिवेश को बौद्धिक आधार पर परखने और पहचानने तथा बदले हुए परिवेश में अपनी जिंदगी को ज्यादा सार्थक बनाने इस लिए व्यक्ति के दृष्टिकोण से और अस्तित्ववादी पहाड़ पर यथार्थ बोध को यह सामाजिक यथार्थ यह मानव मुक्ति की समाजवादी धारणा तक आधुनिकता को सीमित नहीं किया जा सकता।[13]

आधुनिकता की दृष्टि से हिन्दी कविता की शुरूआत कब से स्वीकार को जाये, इसके बारे में भी मुख्तलिफ मत हैं। डा० इन्द्रनाथ मदान अगर इस कि शुरूआत को निराला के 'कुकुरमुत्ता' से जोड़ते हैं[14] तो डा० नरेन्द्र मोहन नयी कविता को इसका प्रथम दस्तावेज़ ठहराते हैं जिसका मसौदा प्रयोगवाद ने तैयार किया था। एक तरह से देखा जाए तो इसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्फुटन को भारतेन्दु युग की कविता में भी पहचाना जा सकता है। प्रथम स्वाधीनता संग्राम की असफलता के बाद भारतीय व्यक्ति की मानसिकता में परिवर्तन लक्षित होता है। बाह्य संघर्ष से पराजित होकर वह भीतर की ओर मुड़ता है और सोच-विचार में लगता है जिसमें उसके बौद्धिक सम्मान की पहचान होने लगती है। भारतेन्दु, प्रेमघन, बालमुकुन्द गुप्त आदि कवियों की रचनाओं में आधुनिकता परतंत्रता के संदर्भ में वस्तु-स्थिति की पहचान और उसके अस्वीकार के धरातल तक ही सीमित होकर रह जाती है। इसके अलावा मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए दैवी सत्ता आह्वान के समावेश की वजह से भी वह अपनी सही शक्ल में उघड़ नहीं पाती। जाहिर है कि तत्कालीन रचनाकार की दृष्टि में वैज्ञानिक दृष्टि का पैनापन नापैद था जिसमें वह आधुनिकता की चुनौती को पहचानने या उसका सामना करने में ज्यादा संलग्न मालूम नहीं पड़ता। अभी शरणागति और आत्म-समर्पण जैसे बने बनाये आस्थावादी वैचारिक विधानों से उबरने की मानसिकता पैदा नहीं हुई थी और न ही तकनीकी विकास और औद्योगीकरण से समाज-आर्थिक परिवेश में इतनी जटिलता ही आ पाई थी जिससे तत्कालीन रचना में आधुनिकता सही आकार पा सकती। द्विवेदी युग की कविता भी आत्यंतिक सवालों से अपनी संलग्नता को त्याग न सकी और न अपने आस्थावादी रवैये से ही मुक्त हो सकी। 'भारत-भारती' जैसी रचनाओं में भी समसामयिक प्रश्नों के रू-ब-रू होने की कोशिश रचनाकार की आस्थावादी चेतना और अतीतोन्मुखी दृष्टि की वजह से एक बड़ी हद तक निरस्त होकर रह जाती है। छायावादी कविता में व्यक्ति और परिवेश में असामंजस्य की चेतना अगर इसे आधुनिकता की मानसिकता के निकट लाती हैं तो सन्तुलन के सामंजस्य की बेचैनी इसको सही शक्ल अख्तियार नहीं करने देती। यह सही है कि इसमें सामन्ती व्यवस्था की जड़ सामूहिकता, जाति व्यवस्था और रूढ़िबद्ध मान्यताओं पर चोट की गई किन्तु रोमानी भावुकता, अतीतोन्मुखता, रहस्यवादिता की मजबूत गिरफ्त और इड़ा की बजाय श्रद्धा के महत्व को प्रतिष्ठित करने की इसकी कोशिश ने इसमें आधुनिकता की चेतना को सही तौर पर उघड़ने का मौका ही नहीं दिया। उत्तर छायावादी वैयक्तिक काव्य, जिसे छायावाद का दूसरा दौर और छायावाद शेषांश जैसे शीर्षकों के अंतर्गत रखा गया है, भी आधु-निकता की चुनौती से कतराता हुआ मालूम पड़ता है। नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा और बच्चन जैसे कवि तो बौद्धिक धरातल पर जिंदगी के जटिल सवालों और द्वन्द्वों का साक्षात्कार करने की बजाय, बुद्धि की उपेक्षा को ही बेहतर ठहराते रहे क्योंकि उनकी राय में डा० मदान का यह निष्कर्ष बहुत सही मालूम पड़ता है कि निराला के 'कुकुरमुत्ता' से ही आधुनिकता की दृष्टि से हिन्दी कविता की शुरूआत मानी जानी चाहिए। इसमें छायावादी बोध को नकारते हुए विसंगति बोध उजागर होता है जो आधनिकता की चुनौती का परिणाम कहा जा सकता है।[16]

प्रगतिवादी काव्य, छायावाद के रोमानी बोध अतीतोन्मुख दृष्टि और रहस्य प्रवृत्ति से ही नहीं, उत्तर छायावादी काव्य के बौद्धिकता विरोधी रवैये से भी मुक्त था। मानवीय जिंदगी के तात्कालिक सवालों की पहचान-परख के लिए उस के पास एक वस्तुनिष्ठ सोच, एक ऐतिहासिक दृष्टि, एक वैज्ञानिक नजरिया भी था। कुल मिलाकर, वे सब आधार मौजूद थे जो उसे आधुनिकता से जोड़ देते। किन्तु उसने मार्क्स वाद को जिंदगी को जानने, समझने और विश्लेषित करने का जरिया समझने की बजाय उसे स्वयं जिंदगी का स्थानापन्न और बदल समझ लिया। नतीजे के तौर पर इसके द्वारा जीवन का जो रूप उजागर हुआ,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह एकांगी नकली और झूठा था, अपने सारे अन्त-विरोधों, उतार-चढ़ावों से मुक्त वास्तविक जीवन की प्रतिकृति वह न था। इसके अलावा प्रगतिवादी रचनाकार ने जिस तरह उत्सवधर्मी मुहावरे में सभी क्रांति की तस्वीरें प्रस्तुत की और भारतीय संदर्भों की अवहेलना करते हुए वैसी ही क्रांति की संभावनाओं के प्रति उत्साहातिरेक का परिचय दिया उससे उसका अवास्तववादी अवैज्ञानिक और रोमानी सम्मान ही प्रकट हुआ, आधुनिक रवैया नहीं।

इस प्रकार आधुनिकता की चुनौती का सामना करने की विधिवत् शुरूआत, प्रयोगवादी कविता में ही दीख पड़ती हैं। युगीन मानसिकता का स्पष्टीकरण करते हुए अज्ञेय ने 'विश्व भारती, कवार्टर्ली में प्रकाशित अपने एक लेख में कहा था—यह युग संशय, अस्वीकार और कुण्ठा का है। अस्वीकार का स्वर सर्वोपरि है और कुछ अपवादों को छोड़कर सामान्यत: इसे अश्रद्धा का युग कह सकते है। किसी आस्था को स्वीकार करना अथवा पुराने आदर्शों से आसक्ति दिखलाना उपहासास्पद हो गया है।[17] तद्युगीन मानसिकता के अनुरूप प्रयोगवादी कविता में व्यक्ति की कुंठाओं, अनास्थाओं को उकेरा गया और उसके पराजय बोध को व्यक्त किया गया। छायावादी और उत्तर छायावादी डिकेडेंट कविता की मायुकता पूर्ण मुद्राओं की जगह इसका बौद्धिक समाधान और शिल्पगत अन्वेषण के प्रति आग्रह भी इसके आधुनिक बोध के एक रूप से जोड़ देता है। इसके अलावा, प्रयोगवादी कविता में राजनैतिक विरोध, सामाजिक व्यंग और सामाजिक क्रांति का एक अन्य स्वर भी उपलब्ध होता है जो इसे साठोत्तरी कविता के मुख्य तेवर से संबद्ध करता है नयी कविता में उभरने वाली प्रखर प्रश्नकुलता भी मुख्यतया वैयक्तिक धरातल तक ही सीमित रही मूल्यों की तानाशाही को चुनौती देते हुए, उनकी सनातनता और निरपेक्षता को अस्वीकार करते हुए यह आम आदमी के जीवन में उनकी अप्रासंगिकता पर विशेष बल देती है :—

नहीं चाहिए वह विश्वास जिसकी चरम परिणति
मैं अपनी अनास्था में अधिक सहिष्णु हूं
अपनी नास्तिकता में अधिक धार्मिक।[18]

और बारम्बार पाया
शून्य नीलाकाश
तुम ईश्वर नहीं हो
तुम हमारे प्रश्न का विस्तार पर उत्तर नहीं हो[19]

ज्ञान और मर्यादा
उनका क्या करें हम
उनको क्या पीसेंगे ?
या उनको खायेंगे ?
या उनको ओढ़ेंगे ?
या उनको बिछायेंगे ?[20]

नयी कविता में यांत्रिकता का दबाव झेलती जिन्दगी-वह गंवई शहराती दोनों की तस्वीरें उजागर हुई हैं। एक तरफ शहर का आदमी है जो मशीन के एक पुर्जे के सान पर डाल दिया गया है और जिसे लगातार बढ़ती भीड़, अलगाव, परायेपन, मूल्यों की अराजकता सम्बन्धों की टूटन और बेचारगी के तनाव झेलने पर विवश कर दिया गया है तो दूसरी ओर गांव का आदमी है जो नये परिवेश में स्वयं को अपरिचित और पराया महसूस कर रहा है।

यन्त्र हमें दलते हैं
और हम अपने को छलते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थोड़ा और रपट लो, थोड़ा और पिस लो
पल का उद्देश्य तो बस शीघ्र अवकाश
और अवकाश, एक मात्र अवकाश हैं ।[21]

सुनो सुनो !
यहीं कहीं एक कच्ची सड़क थी
जो मेरे गांव को जाती थी
अब वह कहां गयी ?
किसने कहा उसे पक्की सड़क में बदल दो
उसकी छाती को बेलौस कर दो
स्याह कर दो यह नैसर्गिक छटा
विदेशी तार कोल से;

इस दौर की कविता, आम तौर पर, छायावादी कविता के रोमानी बोध, उसकी पलायन वृत्ति और इच्छित-कल्पित संसार में आश्रय खोजने की प्रवृत्ति से मुक्त है। इसकी आधुनिक दृष्टि की एक बड़ी पहचान यह है कि यह विसंवादी तत्वों की उपेक्षा नहीं करती बल्कि उन्हें समेटती हैं। आज के मनुष्य द्वारा व्यक्ति के दोहरे पन के एहसास की टूटन, उसके अकेले पन, अजनवीपन और संत्रास को आधुनिकता के धरातल पर व्यक्त करते हुए यह सिर्फ तभी लड़खड़ाती हुई प्रतीत होती हैं जबकि यह यांत्रिक ज़िंदगी के तस्वीरों के बीच नास्टेलजिया की मनोवृत्ति को जगह देती है अथवा अर्थों के माध्यम से ज्योती की तलाश को अहमियत देने लगती है। इसके अलावा, ठोस सामाजिक सवालों और राजनीतिक सरोकारों से भी यह एक बड़ी हद तक भारती के अंधा युग और कतराकर निकल जाती है। मुक्ति बोध के चांद का मुह टेढा है के सिवाय आधिकाश अन्य रचनाओं में जीवन की तात्कालिक समस्याओं, मानवीय जीवन की नियंत्रित करने वाली समाजिक व्यवस्था और राजनीतिक तंत्र के प्रति घोर उपेक्षा का रवैया इसके आधुनिक तेवर को एकांगी बना धालता हैं।

नयी कविता के आन्तिम दौर में रघुवीर सहाय ज़रूर राजनैतिक स्थितियों के प्रति अपनी जागरूकता का परिचय देते हैं। समकालीन राजनीति के प्रति अपना विक्षोभ व्यक्त करते हुए वे कहते हैं- 'लोकतंत्र ने हमें इंसान की शानदार ज़िंदगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है।[23] अपने समय की राजनीति के टुच्चेपन और खुदगर्ज़ी से प्रेरित शासनतंत्र की वास्तविकता को उघाड़ने में रघुवीर सहाय की कविता एक निर्मम ठण्डे पन की शिनाख्त देती है। रचनाकार न तो उत्तेजित प्रतीत होता है और न ही गलदश्रु भावुकता का शिकार। ज़ाहिर हैं कि सीधे—सादे ढंग से इसकी विद्रूपात्मक तस्वीर को वह जिस तरह बिना कुछ घटाये-बढ़ाये सामने रखता है, उससे उसमें आधुनिकता की दृष्टि उभरने लगती है।

टूटते—टूटते
जिस जगह आकर विश्वास हो जायेगा कि
बीस साल
धोखा दिया गया
वही मुझे फिर कहा जायेगा विश्वास करने को
पूछेगा संसद में भोला भाला मन्त्री
मामला बताओ हम कारवाई करेंगे
हाय-हाय करता हुआ हां-हां करता हुआ हे-हे करता हुआ
दल का दल
पाप छिपा रखने के लिए एक जुट होगा
जितना बड़ा दल होगा उतना ही खायेगा देश को
सबसे बड़े नेता के बूढ़ हो जाते ही
लगा लेगा पीछे एक कम बूढ़ा
जाने किस वक्त वह मर जाये जो ज्यादा बूढ़ा है।[24]

सन साठ के वाद की हिन्दी कविता आधुनिकता के दूसरे दौर में अपने प्रवेश की देखती हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीत होती है। इसके शुरूग्राती चरण के बारे में डा.इन्द्र नाथ मदान के शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि इसमें नगर बोध की तीखी अनुभूती है और लगता है कि डायोनिसस का देव शहर में गहरे धँस कर दहशत फैला रहा है। इस दहशत का परिणाम कभी मृत्यु बोध में निकलता है तो कभी अजातीयता में तो कभी नगर-यंत्रणा में[25] ज़रा व्यापक धरातल पर देखे तो इस काल की कविता विश्व के क्षितिज पर मंड़राती हुई तीसरे महायुद्ध की विनाशक छाया से घिरे, स्वार्थाश्रित टुच्ची राजनैतिक व्यवस्था और संड़ाधग्रस्त समाज में जीने के लिए अभिशप्त व्यक्ति की मानसिकता की उपज मालूम देती है। ज़िंदगी के ठोस सामाजिक सवालों के वाजिब उत्तर तलाश करने और उसकी विसंगतियों तथा विरोधाभासों में कोई तालमेल बैठा पाने में नाकामी से उपजी खीझ और झुंझलाहट एक तरफ सर्वनाशेच्छा की शक्ल में जाहिर हुई तो दूसरी ओर बोल्ड साहसिक मुहावरे के प्रति रुझान में प्रकट हुई। कुल मिलाकर नतीजा यह हुआ कि व्यामोह में उलझाने वाली स्थितियों और रागस्फीत मुद्राओं के प्रति निषेधात्मक रुख के अपने तमाम दावों के बावजूद इस कालखंड का रचनाकार एक नये ढ़ंग की रूमानियत की गिरफ्त में आ गया और आधुनिकता के धरातल पर समकालीन जीवन-स्थितियों की चुनौती का सामना न कर सका।

सातवें दशक के अन्तिम चरण में कविता के मिज़ाज में एक और बदलाव आया। अब रचनाकार ने, सही मायने में, स्वयं को रचना के बुनियादी सरोकार मनुष्य और उसके लगातार परिवर्तमान वास्तविक संसार के ठोस और जीवन्त संदर्भों से जोड़ने की कोशिश की। उसने मानवीय ज़िन्दगी को अपंग और अपाहिज बना देने वाले दबावों अन्तर्विरोवों और कुरूपताओं की पहचानने, इंसानी रिश्तों को विकृत कर देने वाली शक्तियों की असलियत उघाड़ने और मनुष्य की ज़िन्दगी को सही धरातल पर प्रतिष्ठित करने के प्रयत्नों से अपनी संबद्धता के ज़रिये आधुनिक चेतना की सामाजिक धारणा से जुड़ने की कोशिश की। इस कालावधि के रचनाकारों की एक जमात ऐसी भी है, जो ज़िन्दगी का सीधे साक्षात्कार की जगह, विचारधारा के चश्मे से देखी गई ज़िन्दगी को वरीयता दे रही है। उसने भारतीय समाज के द्वन्द्वात्मक रिश्तों और उसकी जटिल तथा चकरा देने वाली सचाइयों को नज़रअंदाज करते हुए जिस तरह जनासामान्य को क्रांति के लिए तैयार ठहराया-लाल तारे के इन्तज़ार में मुस्तैद। उससे उसकी अवैज्ञानिक और अवास्तववादी सोच ही उजागर हुई।

अब वे एक नयी भाषा बोलने का अभ्यास करते हैं। जब रात ढलती है, लुहारों की भूमिगत दुकानें जगती हैं, लोहाघानी और हथौड़े की चोट पर एक-एक नया शब्द गढ़ता है। और वे उन शब्दों के प्रयोग के लिए उतावले हुए रहते हैं उन्हें इन्तजार सिर्फ लाल तारे का है।[26]

यही नहीं सामाजिक स्थितियों की जांच पड़ताल के जरिये उनके जिम्मेंदार कारणों की पहचान की कोशिश करने की बजाय उसने अदम्य जिघांसा की झोंक में व्यवस्था पर ताबड़-तोड़ वार करते हुए जिस अतिक्रांतिकारी रोमनी मुद्रा की शिनाख्त दी उसे भी आधुनिकता से नहीं जोड़ा जा सकता। इस काल के रचनाकार का एक ऐसा समूह भी है जो अनुभूत सत्य की जांच—पड़ताल, विवेचन-विश्लेषण प्रक्रिया को अपदस्थ करके दलीय राजनीति के स्वार्थों में ढली हुई स्थितियों की पहचान को वरीयता नहीं देती। ज़िन्दगी की ठोस और वास्तविक स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में और वैचारिक धरातल पर मानवीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज और उसके जटिल सम्बन्धों की शिनाख्त उसे उन शक्तियों के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया करने के लिए प्रेरित करती है जो मनुष्य की वर्तमान हालत की जिम्मेदार है। अपनी तीखी प्रतिक्रिया को व्यक्त करते हुए यह एक बड़ी हद तक भावस्फीत मुद्रा उग्र तथा बड़बोले मुहावरे से गुरेज़ करता है तथा विचार; भाव और संवेदना में एक नया समीकरण तलाश करने में संलग्न मालूम पड़ता है।

आधुनिकता के निकष पर कविता की परख की दृष्टि से मानवीय दुनिया के बदलाव में भूमिका के बारे में कवि के रवैये का परीक्षण भी उपयोगी होसकता है। धूमिल में आधुनिकता के वास्तविक रूप के पूरी तरह उधेड़ने में एक बड़ी बाधा यह पैदा हुई कि उन्होंने रचना के वास्तविक चरित्र को पहचानने की जगह उसकी क्षमता से बड़ी भूमिका की अपेक्षा की और वे मनुष्य की मौजूदा हालत की जिम्मेदार व्यवस्था के मुकाबले पात्र रचना को खड़ा करने शहीदाना तेवर की गिरफ्त में आ गये। उनके इस रवैये के उल्ट, आज कई रचनाकार ऐसे है जो इस तरह का कोई भ्रम नहीं पालते। वे समझते हैं कि रचना सामाजिक बदलाव के लिए अनिवार्य सामूहिक मानवीय प्रयास का स्थानापन्न या बदल नहीं है। उसकी भूमिका रचनाकार के व्यक्तित्वान्तरण, उसको सामूहिक चेतना से जोड़ने, पाठक को वस्तु-स्थिति देने, उनके व्यक्तित्वान्तरण की प्रक्रिया को तेज करने और उसकी संघर्ष चेतना को तराश देने तक ही सीमित है।

"मैं जानता हु कविता में आदमी की मुक्ति नहीं
लेकिन जब आदमी
कविता को शराब के अंधेरे से निकालकर
श्रम की रोशनी में लाता है
तब वह आदमी की मुक्ति के नये अर्थपाता है।[27]
नंगे सच की तासीर यही हैं कि
एक लपट सी उठती है फैलती
कचरे को जलाती
उसको झेलने का माद्दा रखने वाला
ज़िन्दा रहने की रस्म नहीं निभाता
और मौत से टकरा जाता हैं
तब, सच, शहादत और स्वाधीनता में
कोई फ़र्क नहीं रह जाता।[27]

ज़ाहिर है कि समकालीन कविता में आधुनिकता की चुनौती का सामना मुख्यतया समाजार्थिक स्तर पर हो रहा है। नतीजे के तौर पर मानवीय दुनिया को नरक बना देने वाले तात्कालिक सवालों से जूझने की बेचैनी में रचनाकार द्वारा प्रतिकृत संसार संकरा और सीमित होकर रह गया है मानवीय संसार नहीं बन सका, मनुष्य को महज राजनैतिक प्राणी समझ लेने, उसके समग्र भाव जगत को उसके सारे संशयो, कमजोरियों और बेचैनी के साथ चित्रित न करने और मनुष्य के प्रकृति प्रेम, सौंदर्य वगैरह के प्रति प्राकृतिक रूझानों को काव्यात्मक सरोकारों की परिधि से खारिज कर देने से उसकी आधुकिता प्रश्न चिह्नित हो जाती है और जो संसार सामने आता है, वह बहु आयामी नहीं, एक आयामी है, वास्तविक और आधुनिक नहीं कृत्रिम और बनावटी है। आठवें दशक के अन्तिम दौर की कविता अपनी इन कमजोरियों पर काबू पाती हुई नज़र आती है और बाह्य संसार के साथ-साथ आन्तरिक संसार को भी अपनी परिधि में समाहित कर रही है। इसका सर्वाधिक महत्त्व पूर्ण रूप वहां उजागर हो रहा है जहां यह व्यक्ति-मानव की आन्तरिक खोज के साथ समन्वित रूप में प्रस्तुत कर रही है :—

मुझे एक छोटा सा घर चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक घर—
जिसकी खिड़की खोलूं
तो आसमान का एक टुकड़ा दिखाई दे दरवाज़ा
तो बाहर पड़ोसी के बच्चों की किलकारियां
मेरे आंगन में लगे पेड़ के तनों से टकराएं
और मुस्कराकर उसके पत्तों पर बिखर जाएं
हरियाली फिर नमी मांगने
कहीं नहीं जाएगी।[29]

संदर्भ :—

1. आलोचना, पूर्णांक 40, पृ० 7 पर उद्धृत।
2. डॉ. गंगा प्रसाद विमल-आधुनिकता : साहित्य के संदर्भ में पृष्ठ 41 पर उद्धृत।
3. गिरिजा कुमार माथुर-नयी कविता सीमाएं और संभावनाएं, 1966 पृष्ठ 106
4. डॉ. इन्द्रनाथ मदान-कविता और कविता, 1967, पृष्ठ 4
5. विपिन कुमार अग्रवाल-आधुनिकता के पहलू, 1972, पृष्ठ 13
6. डॉ. रमेश कुन्तल मेघ-आधुकिता बोध और आधुनिकीकरण, 1969, पृष्ठ 10
7. विपिन कुमार अग्रवाल-आधुनिकता के पहलू पृष्ट 25
8. डॉ. नरेन्द्र मोहन-आधुनिकता के संदर्भ में हिन्दी कहानी, 1982, पृष्ठ 14
9. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी-मध्यकालीन धर्म साधना, 1962, पृष्ठ 10
10. डॉ. गंगा प्रसाद विमल-आधुनिकता साहित्य के संदर्भ में, पृष्ठ 7
11. डॉ. नरेन्द्र मोहन-आधुनिकता के संदर्भ में हिन्दी कहानी, पृष्ठ 13
12. देखिए डा. गंगा प्रसाद विमल-आधुनिक साहित्य के संदर्भ में आधुनिकता का स्वरूप और मुख्य सहस्त्रबंध नामक अध्याय।
13. डा. नरेन्द्र मोहन-आधुनिकता के संदर्भ में हिन्दी कहानी, पृष्ठ 15
14. डा. इन्द्रनाथ मदान-आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य, 1978, पृष्ठ 12
15. डॉ. नरेन्द्रमोहन-आधुनिकता और समकालीन रचना-संदर्भ, 1973, पृष्ठ 35
16. डा. इन्द्रनाथ मदान-आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य, पृष्ठ 13
17. डा. नामवर सिंह कविता के नये प्रतिमान, 1968, पृष्ठ 88 पर उद्धृत
18. कुंवर नारायण-आत्मजयी, 1965, पृष्ठ 8
19. कुंवर नारायण-चक्रव्यूह, 1956 पृष्ठ 18
20. धर्मवीर भारती-अंधायुग, 1954 पृष्ठ 107
21. अज्ञेय बावरा अहेरी, 1954, पृष्ठ 62
22. नयी कविता संयुक्तांक 5-6 पृष्ठ 240-41 (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता)
23. रघुवीर सहाय-आत्महत्या के विरुद्ध, 1976 वक्तव्य
24. वही, पृष्ठ 86
25. डा. इन्द्रनाथ मदान-आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य, पृष्ठ 55
26. डा.विश्वम्भर नाथ उपाध्याय समकालीन कविता की भूमिका, 1976 पृष्ठ 148 (मेरे गांव के लोग कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह)
27. कुमार विकल एक छोटी सी लड़ाई, 1980
28. नरेन्द्र मोहन-सामना होने पर, 1979, पृष्ठ 28
29. विनय-कई अन्तराल, 1980, पृष्ठ 42-43

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्यपाल सहगल
4/7 मेहरचंद महाजन हाल
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

आधुनिकता और आधुनिकता बोध

आधुनिकता और आधुनिकता बोध का प्रश्न यद्यपि अब नया नहीं रहा पर उसके उत्तर को लेकर विद्वानों में इस समय भी तीव्र मतभेद है। उसे प्रक्रिया कहें या मूल्य अथवा सामाजिक परिवर्तन की समझ ? क्या वह वास्तव में कोई ऐसी व्यक्तित्व सम्पन्न वस्तु है जिसे रेखांकित करने की आवश्यकता है ? क्या आधुनिकता की अवधारणा मात्र आधुनिक युग के प्रसंग में ही संगत है ? आधुनिकता और समसामयिकता में क्या भेद है ? इस तरह की अनेकानेक ज्वलंत समस्याओं के समाधान के लिए हिन्दी विभाग पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा विगत 31 अक्तूबर को विश्वविद्यालय परिसर में एक परिसंवाद का आयोजन किया गया था। उपर्युक्त सेमिनार में 'आधुनिकता और आधुनिकता बोध' पर हिन्दी में विचार-विमर्श करने वाले कई प्रमुख विद्वानों के साथ विश्वविद्यालय से सम्बद्ध महाविद्यालयों के अध्यापकों और छात्रों ने भी भाग लिया। सेमिनार दो सत्रों में विभाजित था— प्रथम सत्र में विषय के सैद्धांतिक पक्ष और द्वितीय सत्र में उसके व्यावहारिक पक्ष की विवेचना की गयी। प्रथम सत्र की अध्यक्षता हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक डा० इन्द्रनाथ मदान और द्वितीय सत्र की अध्यक्षता गुरु नानक देव विश्वविद्यालय के अध्यक्ष डा० रमेश कुंतल मेघ ने की।

प्रथम सत्र में परिसंवाद की प्रस्तावना प्रस्तुत करते हुए विभाग के अध्यापक डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा ने 'आधुनिकता' की अवधारणा से सम्बन्धित विवाद को प्राचीन युग में 'रस-सिद्धांत' और 'अलंकार को लेकर हुए विवाद से भी अधिक उग्र बताया। उनका विचार था कि आधुनिकता भी आज एक रूढ़ि में तब्दील हो रही है। उन्होंने आशा प्रकट की कि यह सेमिनार इस रूढ़ि के विमोचन में अपेक्षित भूमिका निभाने में सफल होगा।

प्रथम सत्र का आरम्भ विभागाध्यक्ष डा० मैथिलीप्रसाद भारद्वाज के आधार-पत्र से हुआ। उन्होंने परिसंवाद के प्रतिपाद्य विषय का सैद्धांतिक विवेचन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने परिसंवाद की विषयगत सीमा का निर्धारण भी किया जिसके कारण परिसंवाद को एक सहज वैज्ञानिक आधार प्राप्त हो गया। डा० भारद्वाज के विचारानुसार आधुनिकता का मूलाधार नगरीकरण है। ग्राम संस्कृति के सामन्ती बोध का आधुनिक भाव बोध में रूपांतरण तीव्र नगर-विकास से ही संभव हुआ है। नगरीकरण की प्रक्रिया का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने उसकी विभिन्न अवस्थाओं का निरूपण किया। उनका मत था कि सभी गुण-दोषों के साथ आधुनिकता हमारी नियति है जिससे लौटना किसी भी दृष्टि से संभव नहीं है। आधुनिकता के कुछ तत्व अस्थायी हैं जो ऐतिहासिक विकास में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपना रूप परिवर्तित कर लेंगे। आधुनिकता जहाँ एक ओर मानवीय मुक्ति के आवाहन के रूप में हमारे सामने आई है वहीं दूसरी ओर वह व्यक्ति को निरंतर अकेला और अरक्षित भी बना रही है।

द्वितीय पत्र डा० रमेश कुंतल मेघ का था। उनके शोध निबन्ध का शीर्षक था—'भारतीय आधुनिकता के वृत्त में नवजागरण तथा परकीयकरण।' अपनी विशिष्ट शैली में डा० मेघ ने आधुनिकता को चार माडलों के अन्तर्गत पहचानने का प्रयास किया। उनका पहला माडल 'राजा राम मोहन राय' है जिन्हें वे भारतीय आधुनिकता के 'प्रथम पुरुष' के रूप में देखते हैं। इसीलिए वे राजा राममोहन के युग को 'पुनर्जागरण काल' न कहकर 'नवजागरण युग' कहना अधिक पसंद करते हैं। आधुनिकता के प्रथम चरण के रूप में यहां वस्तुओं को बौद्धिक आग्रहों से देखने की परम्परा का सूत्रपात हुआ। उनके द्वारा प्रवर्तित सती प्रथा विरोधी आंदोलन ही समकालीन स्त्री जागरण की पृष्ठभूमि है। इस माडल की अपनी गंभीर समस्याएं थीं। मसलन यह अपने आपको दलित हरिजनों की दारुण स्थिति से जोड़ने में असफल रहा। 'गांधी माडल' का आधार ज्यादा व्यापक और संश्लिष्ट था। उसे अति-मानवतावाद और भाववाद को 'नेहरु माडल में सन्तुलित करने का प्रयास मिलता है। आधुनिकता का श्रेष्ठ माडल 'लोक माडल' है जिसमें जन-जन की मुक्ति के लिए वर्गगत द्वन्द्व को समझने और सुलझाने का संकल्प हो। उसका मत था कि उस बोध से सम्पन्न लेखक और कलाकृति ही उचित आधुनिकताबोध का प्रतिनिधित्व करती है। इसके पश्चात् प्रस्तुत डा० अतुलवीर का पत्र आधुनिकता को एक प्रक्रिया के रूप में देखने का आग्रह करता है। आधुनिकता हमारे युग का अनिवार्य सत्य है पर वह किसी नए मूल्य निर्माण के लिए संलग्न नहीं है। आज का मनुष्य अनास्थामयी आस्था से संतप्त है। वह एक संक्रांत मनः स्थिति में जी रहा है। वह एक नये परिवेश में तो अपने आपको पाता है पर एक नये मूल्य ढांचे में नहीं। इस अजीबोगरीब परिस्थिति में निरन्तर छटपटाता वह मुक्ति की आकांक्षा कर रहा है।

पठित पत्रों पर हुई चर्चा में भाग लेते हुए हिन्दी विभाग पंजाब विश्वविद्यालय के आचार्य डा० धर्मपाल मैनी ने इस बात पर सन्देह व्यक्त किया कि आधुनिकता कोई नितांत नयी वस्तु है। प्रत्येक युग की अपनी आधुनिकता होती है जिसका कि प्रत्येक दूसरे युग की तथाकथित आधुनिकता से अन्तर पर होना स्वाभाविक है। आधुनिकता के सत्स्वरूप में तर्क की प्रधानता को उछालना अजीब है क्योंकि यदि भारतीय संस्कृति के इतिहास को लें तो हमारी समस्त दार्शनिक परम्परा-तर्काश्रित और विवेकगामी ही है। आधुनिकता का ग्राम, नगर या गरीबी-अमीरी से कोई सम्बन्ध नहीं क्योंकि यह मूलत: एक मानसिक अवस्था है जिसकी अवस्थिति कहीं भी संभव है। दर्शन विभाग पंजाब विश्वविद्यालय के आचार्य डा० धर्मेन्द्र गोयल ने डा० मेघ के वक्तव्य पर बहस करते हुए उसके प्रकारान्तर अर्थों की चर्चा की। उनके विचार में साहित्य का मानवीय मुक्ति के प्रश्नों से सम्बन्ध जोड़ना समीचीन नहीं हैं क्योंकि मानवीय स्थिति में उठ रहे घटनाक्रम को प्रभावित करने में साहित्य असमर्थ है। इतिहास की गति अलग है और साहित्य साधना अलग। मानवीय चेतना मात्र परिवेश ही नहीं है उस से अलग भी एक वस्तु है जोकि देशकाल निरपेक्ष है।

राजकीय महाविद्यालय होशियारपुर से आए डा० मथुरादत्त पांडेय का कहना था कि आधुनिकता के पैरवीकारों को उसके नकारात्मक पक्षों के समाधान के लिए किसी ठोस सुझाव को प्रस्तुत करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए। समय की आवश्यकता यह है कि हम अपनी सभ्यता को समकालीन विकृतियों से सुरक्षित करने के लिए एकजुट हों। चर्चा में भाग लेते हुए सांध्य कालेज पंजाब विश्वविद्यालय के प्राध्यापक सत्यपाल सहगल ने कहा कि आधुनिकता क्षेत्र या देश विशेष के सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक ढांचे से अभिन्न हैं जिनकी ओर संकेत किए बगैर आधुनिकता की सही व्याख्या नहीं की जा सकती। एक पूंजीवादी देश और समाजवादी देश के नगरीकरण में अन्तर होगा। हमारा अब तक का सारा चिन्तन पश्चिमी यूरोप के आधुनिक मनुष्य की नियति को लेकर हुआ है।

अपने अध्यक्षीय भाषण में डा० इंद्रनाथ मदान ने यह विचार प्रवट किया कि प्रक्रिया और मूल्य एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। यदि वे आधुनिकता को एक प्रक्रिया मानते हैं तो उसका अर्थ मात्र इतना है कि उसके मूल्य शाश्वत उहीं होते, निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं। यदि उन्होंने कहीं इसके विपरीत बात भी की है तो वे अपनी भूल स्वीकारते हैं।

अपराह्न सत्र में डा० मेहन्दीरत्ता ने आधुनिकता के बारे कछ व्यावहारिक सूत्र प्रस्तुत किए। उसे हमारे जीवन के नित्यप्रति के सम्बन्धों में ढूंढते हुए उन्होंने उसकी मुख्य पहचान नारी के बदलते हुए रूप में की। वैज्ञानिक चिन्तन को आधुनिकता की पृष्ठभूमि के रूप में रखते हुए उन्होंने बताया कि किस तरह उसने हमारे समग्र नैतिक और आस्थागत व्यक्तित्व को प्रश्नाकुल बना दिया है। पिछले दो सौ वर्षों में दुनिया बहुत तेजी से बदली है जिसके दवाव को आधुनिक मनुष्य एकीकृत होकर वहन करने में अक्षम हो चला है। डा० यश गुलाटी (हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय) ने आधुनिक हिन्दी कविता के विकास क्रम में आधुनिकता की शर्तों को भारतेन्दु काल की कविता में भी उपस्थित माना। हिन्दी कविता के समग्र इतिहास का अवलोकन करते हुए उन्होंने अपनी दृष्टि समकालीन कविता पर केन्द्रित की उनके विश्लेषण से यह पता चलता था कि किस तरह से सामयिक कविता डा० मेघ के लोक माडल के नजदीक आती जा रही है और सामाजिक अन्तर्विरोधों की पहचान करते हुए उसके परिष्कार में जुटी है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राध्यापक और प्रसिद्ध हिन्दी आलोचक और कवि नरेन्द्र मोहन ने अपने पत्र में हिन्दी कथा साहित्य और आधुनिकता के परस्पर सम्बन्ध को पारिभाषित किया। डा० मदान से सहमत होते हुए उन्होंने विचार प्रकट किया कि ज्यादातर कहानियों का अन्त खुला संभावनापूर्ण है। शिल्प के स्तर पर आज की कहानी सभी सर्वस्वीकृत मापदण्डों को तोड़ती हुई एक उन्मुक्त विधान की रचना करने का प्रयास कर रही है। इस सत्र का अंतिम पत्र दिल्ली विश्वविद्यालय के ही अध्यापक प्रसिद्ध आलोचक-कवि डा० विनय ने प्रस्तुत किया। उनके पत्र का विषय था- आधुनिकता बोध और आलोचना' समालोचना में आधुनिकता के तत्वों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने मत व्यक्त किया कि आज की आलोचना आधुनिक बोध की दृष्टि से आज की रचना से पिछडी हुई है।

अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में डा० रमेश कुंतल मेघ ने इस सत्र में पढ़े गए सभी पत्रों पर अपनी संक्षिप्त टिप्पणी प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि लेखक चाहे किसी भी विधा को अपना रहा हो सही आधुनिक बोध से सम्पन्न होने के लिए उसका ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं और अपने परिवेश के इतिहास और विविधमुखी ज्ञान आवश्यक है। आधुनिकता का अर्थ परम्परा से विच्छिन्न होना नहीं अपितु परम्परा वाद से मुक्ति है। आधुनिक मानव की सर्वांगीण मुक्ति वैज्ञानिक चिन्तन और आधुनिक साधनों के बिना असंभव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० ब्रज लाल गोस्वामी
हिंदी विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

विश्वविद्यालयों में हिन्दी शोध : स्वरूप और अपरूप

भारत के बहुत से विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा और साहित्य में शोध कार्य ज़ोरों से चल रहा है। यूनिवर्सिटी और कालिजों के प्राध्यापकों के वेतनमानों के संशोधन के बाद यह शर्त लगा दी गई है नये वेतनमानों और प्राध्यापकीय पदों के लिए वही व्यक्ति पात्र समझें जाएंगे जिन के पास कोई रिसर्च उपाधि होगी। विश्वविद्यालयों में ऐसे पदों के पूर्ति के लिए तो यह प्रावधान, अनिवार्य सा हो गया है। इस से शोध कार्य को निश्चय ही प्रोत्साहन मिला है। इस संदर्भ में दो प्रश्न बड़े महत्व पूर्ण हैं जिन में पहले का सबन्ध हिन्दी शोध के साथ विवक्षित एवं परोक्ष है परन्तु दूसरे का प्रत्यक्ष सामान्य प्रश्न तो यह है कि क्या शोध उपाधि अध्यापक को अध्यापन कार्य के लिए अधिक योग्य और व्युत्पन्न बनाती है। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अधिकारियों का तो यही मत प्रतीत होता है कि शोध उपाधि अध्यापन क्षमता को बढ़ाती है। परन्तु इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं। अमेरिकन और युरोपियन यूनिवर्सिटियों में इस प्रश्न को लेकर बहुत सोच-विचार हुआ है। इस ऊहापोह से यही निष्कर्ष निकलता है कि अधिकांश विचारक इन दोनों कार्यों-शोध और अध्यापन के लिए भिन्न भिन्न ही नहीं असंसर्गी और असन्धेय गुणों की अपेक्षा करते हैं। यह बहुत कम देखने में आता है कि एक ही व्यक्ति में आदर्श अध्यापक के गुण भी हों और आदर्श अनुसन्धापक के भी। अध्यापक का काम अध्यापन है न कि रिसर्च जैसे डाक्टर का काम रोगियों का उपचार है न कि मैड़िकल पत्र पत्रिकाओं में लेख लिखना। रिसर्च और उस के परिणामों के प्रकाशन को अध्यापन कौशल की कसौटी बनाना उतना ही युक्तिसंगत है जितना कि मैडिकल पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों को डाक्टर के भेषज्य कौशल का निर्णायक मानना न कि रोगोंपचार में उसकी सफलता को। यदि अध्यापक की सफलता के लिए उसके क्षेत्र में हो रहे अनुसन्धान का ज्ञान आवश्यक हैं तो यही बात डाक्टर के लिए भी कही जा सकती है। रिसर्च और अध्यापन के इस संकरण का दुष्परिणाम यह है कि पाण्डित्य और अध्यापन का क्षेत्र तिकड़म का अखाड़ा बन गया है। अध्यापकों की नियुक्ति के समय अध्यापन कौशल से देखने की चेष्टा तो की जाती ही नहीं, शोध कार्य को ही सब प्रकार की विज्ञता और उत्तमता का एकायन मान लिया जाता है। ऐसी स्थिति में विश्व-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यालयों को अच्छे अध्यापक मिलने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यदि थोड़ी देर के लिए शोध-कार्य को अध्यापन कौशल का मान-दण्ड मान भी लिया जाए तो यह प्रश्न उठता है कि हिन्दी के क्षेत्र में किस प्रकार की रिसर्च हो रही है यह भी कहा जा सकता है कि विश्वविद्यालयों का काम केवल अध्यापन, ज्ञान-दान ही नहीं ज्ञान का संरक्षण और संवर्धन भी है और इस के लिए रिसर्च आवश्यक है। परन्तु इस स्थिति के साथ अन्य कई प्रश्न जुड़े हुए हैं जिन का ठीक समाधान न कर सकने के कारण हिन्दी अनुसन्धान न केवल विषयस्थ है परन्तु उपहास का पात्र बना हुआ है। सब से महत्वपूर्ण प्रश्न तो यह है, क्या ज्ञान और उसकी सीमाओं के विस्तार का अर्थ नये तथ्यों का अनवरत संकलन और संचयन मात्र है? क्या साहित्य और विज्ञान में ज्ञान का स्वरूप एक ही है? क्या मानविकी और विज्ञान तथ्य की एक ही परिभाषा करते हैं? हिन्दी के विद्वान् "साहित्य-विज्ञान" 'कशा के विज्ञान' 'अनुसन्धान की वैज्ञानिकता' 'वैज्ञानिक प्रविधि' की चर्चा करते नहीं थकते। वस्तुतः विज्ञान और वैज्ञानिक प्रक्रिया के स्वरूप और सीमाओं के प्रश्न को हिन्दी में अभी गंभीरता से उठाया ही नहीं गया। यदि इनका तात्विक विवेचन किया गया होता तो वैज्ञानिकता की रटन्त को सुनते सुनते कान पक गए होते। विज्ञान अनुभव के प्रति एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण होने के कारण सीमित है और अनुभव के सारे क्षेत्र को उस की प्रविकलता में ग्रहण कर ही नहीं सकता। धर्म, दर्शन, कला, दूसरे दृष्टिकोण है। यदि कला और साहित्य के अध्ययन को 'वैज्ञानिक' होना चाहिए तो 'विज्ञान' के अध्ययन को 'साहित्यिक' धार्मिक अथवा 'कलात्मक' क्यों नहीं होना चाहिए।

हिन्दी का सामान्य आलोचक और अनुसंधित्सु वैज्ञानिकता से इतना क्यों अभिभूत है इस प्रश्न को यहां उठाना तो अप्रासंगिक होगा। यहां तो इस विज्ञानप्रवण दृष्टि के उन परिणामों की मीमांसा अपेक्षित है जो हिन्दी शोध के क्षेत्र में दिखायी दे रहे हैं।

अनुसन्धान का सब से प्रमुख तत्त्व अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण है। विज्ञान के लिए यह ठीक है परन्तु क्या साहित्य क्षेत्र के अनुसन्धान में भी इस व्यवस्था का उतना ही महत्व है जितना वैज्ञानिक अनुसन्धान में। तथ्य क्या है और उस के प्राप्त हो जाने के बाद उसका कैसे उपयोग किया जाता है।"तथ्यों के अन्वेषण का साहित्यिक संदर्भ में क्या अर्थ है?' तथ्यान्वेषण एक निर्दोष सा व्यापार प्रतीत होता है परन्तु जरा गंभीरता से विचार करने पर इस की जटिलता प्रगट होती है। उस घटना पदार्थ तत्व या या वस्तु को हम 'तथ्य' कह सकते हैं जिस का ज्ञान इन्द्रियों या मन को होता है।" वैज्ञानिक किसी विषय से सबन्ध ज्ञेय तथ्यों का संकलन करता है, उन में कारण-कार्य शृंखला का सन्धान करता है और इस आधार पर ऐसे सामान्य नियमों को उपन्यस्त करता है जो उन तथ्यों को सूत्रित करदे या उन के पारस्परिक संबन्ध को अनावृत करदें। साहित्य क्षेत्र का अनुसन्धायक तथ्यों का प्रयोग ऐसे किसी व्यापार के लिए नहीं कर सकता। विज्ञान का कारण-कार्य सिद्धान्त साहित्य के क्षेत्र में प्रयोजनीय नहीं। आर्थिक परिस्थितियां और सामाजिक परिवेश उस रूप में साहित्य का कारण नहीं जिस प्रकार गर्मी अनिवार्य रूप में घी के पिघलने का कारण हैं। कलिदास और रवीन्द्रनाथ के साथ एक ही आर्थिक समाजिक परिवेश में रहने वाले अगणित व्यक्ति थे परन्तु क्या कवि-प्रतिभा का उन्मेष सब में हुआ।'राम के चरित्र-विषयक तथ्यों के ज्ञानमात्र से 'रामचरितमानस' का प्रणयन नहीं हो सकता। यह कहना भी ठीक नहीं कि वैज्ञासिक सब प्रकार के पूर्वग्रहों ले मुक्त होकर निरपेक्ष दृष्टि से तथ्यों का सन्धान करता है क्योंकि वैज्ञानिक ऐसे पूर्वग्रहों से ग्रस्त है जिन के कारण मानव चेतना के सभी उदात्त और प्रशस्त व्यापार-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे दर्शन, धर्म, सहित्य आपर्थ हो जाते हैं। ये पूर्व-ग्राहों है (i) इन्द्रिय गोचर जगत ही वास्तव है (ii) भाव के हस्तक्षेप से प्रमा या यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति असंभव या दूषित हो जाती है (iii) पदार्थ के वे गुण जिन का ग्रहण वैज्ञानिक पद्धति द्वारा नहीं हो सकता मिथ्या गौण या कल्पना-विलास मात्र है। यदि इन मान्यताओं को स्वीकार कर लिया जाय तो साहित्य कला आदि निरर्थकता का वितत विलास मात्र बन कर रह जाते हैं।

"तथ्यों" के सबन्ध में सामान्य धारणा यह है कि प्रत्येक तथ्य अपने आप में एक निरपेक्ष असंवद्ध इकाई हैं। प्रत्येक तथ्य न केवल एक असंबद्ध तत्व है परन्तु उस की सत्ता ज्ञाता की भी अपेक्षा नहीं रखती और मन की किसी भंगिमा इच्छा, ज्ञान, भाव-आदि स्पर्शमात्र से उसका यथार्थ ज्ञान बाधित हो जाता है। वस्तुत साहित्य के क्षेत्र में एसे 'तथ्यों' की सत्ता संभव ही नहीं। साहित्य "तथ्य-केन्द्रित" विषय है ही नहीं यह मूल्य-केन्द्रित है। साहित्यिक तथ्यों के प्रति चेतना की प्रतिक्रिया को महत्व देती है न कि तथ्यों को। परिवेश में उपलब्ध अगणित पूंजीभूत-तथ्यों-आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक व्यावहारिक में से साहित्यकार की चेतना उन्हीं को ग्रहण करती है जो उस की दृष्टि में अर्थ-गर्भित हैं इस प्रकार तथ्य "मूल्य" बन जाते है। तथ्यों के रूप में तो कबीर और तुलसीदास के परिवेश में अनंग का रंग और लम्पटों के दुर्मद विलास भी थे और साधना की शुभ्रता भी परन्तु विलासिता उन के लिए 'मूल्य नहीं बन सकी। इसी प्रकार रीतिकालीन कवियों के परिवेश में वेदान्त के पारदृश्वा पण्डित भी थे और उच्च कोटि के साधक भी परन्तु इन के लिए एक विशेष प्रकार की लौकिकता से लिए और भोग-प्रवण दृष्टि ही 'मूल्य बन सकी। तथ्य अपने आप में निर्जीव हैं, चेतना के परिस्पन्द से ही वे जीवन प्राप्त करते हैं। भक्त कवियों के लिए लोग लम्पटता और रीति रसिक के लिए अध्यात्म साधना तथ्यों की जड़ता से उठकर 'मूल्यों' के परिस्पन्द को प्राप्त कर ही नहीं सकी।

वस्तुतः तथ्यों से साहित्यिक कृति की ओर जाने वाला कोई मार्ग है ही नहीं। किसी साहित्यिक कृति या कृतिकार के सम्बन्ध में पुंजित तथ्य कृति पर पड़ने वाले प्रभाव, उस का परिवेश, कृतिकार की जीवनी उसका चरित्र उसका समाज आदि-ये सब तथ्य एकेकशः या समुच्चित रूप में किसी कृति की साहित्यिकता या उसके साहित्यक सौन्दर्य के रहस्य को अनावृत नहीं कर सकते। साहित्यक अनुसन्धान के क्षेत्र में उस साहित्यिक समाजिक पद्धति का विनियोग बहुत प्रचलित है जो कृतिकार के जीवन-तथ्यों का वर्णन करती है, उस के युग की विशेषताओं का विश्लेषण करती है, उस पर पड़ने वाले प्रभावों का सन्धान करती है परन्तु इस पद्धतिकी उपयोगिता बहुत सीमित है। इसकी सीमाओं का ज्ञान न होने के कारण हिन्दी के साहित्यिक पण्डित बौद्धिकता की दृष्टि से इतने नि.सत्व और म्लान प्रतीत होते हैं। हिन्दी का सामान्य अनुसन्धाता तथ्यों की प्रदर्शनी लगा देने में ही अपने आप को कृतकृत्य समझता है। उद्धरणों का बहुल परन्तु विवेकरहित प्रयोग तथ्यों का स्तूपीभूत आडम्बर, पाद-टिप्पणियों का आतान-वितान, ग्रन्थ-सूचियों एवं नामो का ग्रन्थन अनुसन्धान के बाह्य लक्षणों का औपचारिक, यान्त्रिक, आरोप एवं अनुशीलन इन सब को सफल अनुसन्धान का मानदण्ड मान लिया गया है। इन सब से परिश्रम तो प्रगट होता है परन्तु "परिश्रम कोई बौद्धिक गुण नहीं।" हम जानते हैं जन्तु जगत में सब से परिश्रमी जीव कौन है। निर्जीव तथ्यों के भार-वाहक इन ग्रन्थों को गवेषणात्मक महत्ता ही असंभव है-बौद्धिकता के गुरुत्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारण नहीं उसके प्रभाव के कारण पाद टिप्पणियों संदर्भ संकेत या कलेवर बढ़ाने के लिए सन्दर्भों की साक्षात उद्धृति और ऊपर संकेतित सन्दर्भों का गद्यानुवाद ऐसे ग्रन्थों के लिए अनुसन्धान में प्रतिपादन का यह आदर्श प्रतिरूप है। ऐसे ही हाथों में पड़कर सूर और तुलसी जैसी अर्चिष्मती प्रतिमाएं राख का ढेर वर्न कर गई हैं। इस सब के मूल में यही धारणा है कि अनुसन्धान निरपेक्ष दृष्टि से संचयन और उपस्थापन है। यह दृष्टि साहित्य अनुसन्धान के क्षेत्र में विज्ञान का अनधिकार प्रवेश है और साहित्य को एक हीन कोटि का विज्ञान वना देती है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है इस प्रकार के निरपेक्ष तथ्यों की जिन का निष्पक्ष दृष्टि से उपस्थापन किया जा सके साहित्य में सत्ता ही नहीं। जो कल्पना के दारिद्र्य से पीड़ित हैं उन के लिए कवि की जीवनी से सम्वन्ध तथा कथित तथ्य रोचक हो सकते हैं परन्तु वास्तव तथ्य तो कवि-प्रतिभा का वह पारस स्पर्श है जो लौह तथ्य को स्वर्णाभ बना देता है। वाह्य, जड़ तथ्य गणनीय हैं परिमेय हैं, तुलनीय हैं परन्तु उन का यह कायाकल्प सूक्ष्म, दुर्विभाव्य तथ्य हैं जिस को नापा तोला नहीं जा सकता परन्तु विज्ञानवाद से प्रभावित हमारे अनुसन्धायक इन परिमेय तत्वों का ही लेखा जोखा करते हैं जो अपनी स्थूलता में इतने स्पष्ट और असदिग्ध हैं। आधुनिक परिवेश के आर्थिक सामाजिक तथ्यों की लंबी सूची तैयार की जा सकती है परन्तु इन तथ्यों से प्रसाद या पंत की प्रतिभा का रहस्य खुलता नहीं अन्यथा इस परिवेश में रहने वाले और ऐसे हि तथ्यों से प्रभावित अनेक पंत और प्रसाद पैदा हो गए होते। साहित्य के तथा-कथित तथ्य मूल्यविष्ट परिभावित तथ्य होते हैं, उदासीन, तटस्थ तथ्य नहीं जो विज्ञान के लक्ष्य हैं ऐसे उदासीन तथ्यों का संकलन हमें तासी-लिखित इतिहास जैसे ग्रन्थ तो दे सकता है परन्तु तासी के प्रयास की प्रवृति को आजकल तो साहित्यिक प्रयासों में अवर और निम्नतम स्थान दिया जायगा। "मूल्य परिभावित तथ्य" वे तथ्य हैं जिन के मानव-व्यक्तित्व की तरह ही दो पक्ष हैं, परिमेय और अपरिमेय। किसी कवि को आपने अनुसन्धान के लिए चुना है। यह स्थूल तथ्य है। इस का दूसरा पक्ष यह है कि उस कवि मे आपने साहित्यिक गुण देखे हैं अत: उस के कृतित्व को अनुसन्धेय माना है। जब हम किसी पुराने कवि का काल—निर्णय करने की चेष्टा करते हैं तो हमारे अचेतन मन में यह धारणा रहती है कि उस की पुरातनता उसकीमूल्यवत्ता या अर्थवत्ता का अंग है।

तथ्यवाद और विज्ञानवाद पर्यायवाची हैं और हिन्दी अनुसन्धान को सब से ज्यादा खतरा इसी तथ्यवाद से है। विज्ञानवाद का अर्थ है विज्ञानेतर या विज्ञान से भिन्न विषयों का वैज्ञानिक पद्धति से आकलन अध्ययन करने का पयास। विज्ञानवाद के अनुसार वैज्ञानिक पद्धति से ही सत्य जाना जा सकता है,कला,धर्म आदि में तो सत्याभास और कल्पना विलास के ही दर्शन होते हैं। ज्ञान अनुभव पर आश्रित है और अनुभव केवल इन्द्रियों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है जो इन्द्रिय ग्राह्य नहीं या इन्द्रियों के विषय रूप में जिसे ग्रहता करने की संभावना भी नहीं वह सत्यान्वेषी द्वारा अग्राह्य है। विज्ञान का लक्ष्य सैद्धान्तिक नहीं व्यावहारिक है क्योंकि वह वस्तुओं, पदार्थों, व्यापारों में कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें नियन्त्रित करना चाहता है। सब वस्तुओं और पदार्थों, का परम अधिष्ठान भौतिक है जिस में सब व्यापार सपन्न विपन्न होते हैं। यह सर्वथा निर्वैयक्तिक, उदासीन और तटस्थ तत्त्व है जिस में तथ्य तो हैं कोई मूल्य अथवा उद्देश्य नहीं है केवल कारण-कार्य परमपरा की यान्त्रिक आवृत्ति है। ऐन्द्रिय अनुभव ही विज्ञान के लिए सर्वोच्च न्याय-पीठ है, और इन्द्रियों द्वारा प्रमाणित या सत्यापित हो करे ही कोई अनुभव तथा या सत्य की कोटी में रखा जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है।

थोड़ा विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि अनुभव समष्टि का निन्यानवे प्रतिशत भाग विज्ञान और उस की पद्धति के अधिकार क्षेत्र से बाहिर चला जाता है। मन और बुद्धि के विषय, भाव, विचार, कला, धर्म, दर्शन, अध्यात्म में अनुशीलित तत्वावली अनिन्द्रिय गोचर होने के कारण ये सब विज्ञान के हाथों से निकल जाते हैं। विज्ञान केवल उन्हीं विषयों के ग्रहण में प्रवृत होता है जो संख्येय और परिमेय हैं, जिन्हें गिना, नापा तोला जा सकता है, जिनकी इयत्ता का निर्धारण हो सकता है। मूल्यों का सारा क्षेत्र जिस पर मानव संस्कृति और सभ्यता आधारित है कभी विज्ञान का वशवर्ती नहीं हो सकता। 'सत्य, शिव, सुन्दर को नापा तोला नहीं जा सकता। विज्ञान के पास एक बाल के लाखवें भाग को तोलने के उपकरण हो सकते हैं परन्तु उस के पास ऐसी कोई मानतुला नहीं जो विचार की गरिमा का, भाव के स्पन्दन का, इन्द्रधनुष या काव्य के सौन्दर्य का ग्रहता कर सके कला और साहित्य का सारा क्षेत्र वैज्ञानिक पद्धति के लिए अतीत और अगोचर है। कुछ तथ्य ऐसे हो सकते हैं जैसे कवि के जीवन से संबन्ध तिथियां आदि जिनके संबन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जा सकताहैपरन्तु साहित्य के सृजन आस्वादन, परीक्षण की व्यापार समष्टि में ऐसे अकिंचितकर तथ्यों का क्या स्थान है। इस प्रश्न का समाधान कि तुलसीदास के गुरू का नाम नरहरिदास था या लंबोदरदास उनके साहित्य के रसास्वादन में कैसे साधक या बाधक हो सकता है या उन की जन्म तिथि का ज्ञान जिस पर अनगिन पृष्ठ रंगे गए हैं और उपाधियां हथियायी गई है साहित्य की रस-संविति में क्या योग दे सकता है। जो जन्मतिथि भारी भरकम गाणितिक प्रपंच के प्रस्तार के बाद निर्धारित की जाती है, उस में दस पांच वर्ष घटाने बढ़ाने से या दस पांच वर्ष इधर, उधर हो जाने से क्या हो जायेगा। कहने का यह अर्थ नहीं कि कवियो के जीवन-वृत तिथियों कृतियों का पौवापर्य आदि तथ्य सर्वथा हेय और अनुपादेय है परन्तु इन तथ्यों कों अनुसन्धान का प्रथम लक्ष्य समझना विडंबना मात्र है। तथ्यवाद का अर्थ है ऐसे तथ्यों का विवेक रहित संचयन और सायास संकलन-इस आशा से कि इस से साहित्य के लक्ष्य-एक विशिष्ट प्रकार की अनुभूति कि प्राप्ति संभव हो जायेगी या उस का सन्धान अधिक आसानी से हो सकेगा। साहित्यिक अध्ययन और अनुसन्धान की यह प्रणाली हिन्दी में बद्धमूल सी हो गई है कि कवि के जीवन-वृत्त और युग से संबद्ध जितने तथ्यों की भरती कर सको अच्छा है। इस प्रकार विज्ञानवाद की कारण-कार्य धारणा का प्रवेश साहित्य में हो जाता है जब हम यह मान लेते हैं कि कवि का जीवन वृत्त, उसकी मनोवैज्ञानिक विशेषताएं उसके युग की परिस्थितियां तो कारण हैं और साहित्यिक कृति कार्य है। विज्ञान में दो वस्तुओं और व्यापारों में कारण कार्य संबन्ध तब स्थापित होता है जब पूर्ववर्त्ती वस्तु का व्यापार अनिवार्य रूप से एक विशेष कार्य को जन्म देता है। परन्तु क्या किसी भी कारण कार्य संघात चाहे वह आर्थिक हो या सामाजिक या राजनीतिक के सबन्ध में हम भविष्यवाणी कर सकते हैं कि यह अमुक प्रकार की प्रतिभा को जन्म देगा। इसी प्रकार कवि की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं या उसके जीवन चरित्र घटनाओं को उस की प्रतिभा का कारण मानना सर्वथा भ्रामक है। महादेवी की कविता मूल में उनकी विशिष्ट परिस्थितियां हैं-उन्होंने विवाह करके भी नहीं किया या मध्ययुग का कवि इस लिए मुक्ति और भगवत्प्रेम की ओर झुके क्योंकि देश इस्लाम के हाथों परास्त हो चुका था इस प्रकार कवि प्रतिभा के बीज विशेष परिस्थितियों में देखना साहित्यिक प्रक्रिया को एक प्राकृत व्यापार बना देनी है जिस में भावना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो सर्वथा निरीह हो जाती है-कारण-कार्य चक्र अपरिहार्य रूप में विवर्तन करता है। विवाह और प्रेम के क्षेत्र में लाखों लोग अवसाद अथवा असफलता का अनुभव करते हैं लाखों की चेतना कवि की ही नहीं डाक्टर, इंजीनियर, व्यापारी आदि बहिर्मुख वर्ग के व्यक्तियों की भी-मनोग्रन्थियों से ग्रंथिल रहती है कितने कवि बनते हैं इतिहास अनगिन लड़ाइयों को जानता है जिन में कोई देश नेता बनता है कोई विजित परन्तु कितने पराभूत देशों की सामारिक असफलता ने अपने आप की भक्ति आन्दोलन में अभिव्यक्त किया। यदि कारण-कार्य सिद्धान्त इस प्रकार से साहित्य के क्षेत्र में व्यभिचरित हो जाता है और साहित्यकार की जीवनी के तथ्य भी इस सदर्भ में अप्रासंगिक हो जाते हैं तो परिस्थितियों का लेखा जोखा तैयार करने की और कवि के मनोविज्ञान का सन्धान करते हुए राशि-राशि तथ्यों की प्रदर्शनी लगाने में क्या तुक है?

परिवेश को अत्यधिक महत्ता देना साहित्य चेतना को क्षुण्ण करना है। परिवेश, जीवनी, राजनीति, अर्थशास्त्र संबन्धी तथ्यों पर बल देते हुए अनुसंधान को अग्रसर करने की चेष्टा यही बतलाती है कि अभी हिन्दी के विद्वान इस सम्बन्ध में एकमत नहीं कि साहित्यिक अध्ययन का विषय क्या है। क्या साहित्य का अध्ययन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिवेश के सम्बन्ध में तथ्य संग्रह करने का साधन मात्र है? क्या साहित्य दर्शन और धर्म की साधना के लिए उपकरण मात्र है? शंकराचार्य, रामानुज, सूर जैसे क्रांतदर्शी कवियों और साधकों के सारे साहित्य को पढ़ जाइये परन्तु इसमें आपको उन के समय के राजनीतिक-सामाजिक परिवेश के द्वंद्वों, संघर्ष विसंगतियों के सम्बन्ध में कोई तथ्य नहीं मिलेंगे। इस का यही अर्थ है कि महान कवियों का मानस ऐसे तथ्यों का उपजीवी नहीं। ऐसे तथ्य विद्यमान तो थे परन्तु इन कवियों के लिए असत् थे, अर्थात उन की चेतना के अन्तरस्थ प्रदेशों में प्रवेश नहीं पा सके थे। कवि का शब्द हमें उसके व्यक्तित्व के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय कोषों को अतिक्रांत करके आनन्दमय में में अनावृत करता है जिनमें कवि रमण करता है। दूसरे तथ्यों का संबन्ध अन्नमय, प्राणमय कोषों से हो सकता है कवि के बहिर्मुख, भौतिकता-निष्ठ, ऐंद्रियता प्रवण, शरीर-निबंधन-व्यक्तित्व के लिए सार्थक सिद्ध हो सकते हैं परन्तु उसकी चेतना के आंनदमय कोष के लिए जो साहित्यिक कृतियों में रूपायित होता है उन का अस्तित्व नगण्य है।

विज्ञानवाद और तथ्यवाद का एक और अप्रत्यक्ष प्रभाव साहित्य और साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र पर पड़ा है जिस की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। मनुष्य के शरीर का परिमेय पक्ष भी है अपरिमेय भी। उस के शरीर को नापा, तोला जा सकता है, भाव और विचार को नहीं, परन्तु मनुष्य के भार, आकार को जान लेना उसके व्यक्तित्व के संबंध में केवल ऐसे तथ्यों को जानना है जिन का महत्व अपरिमेय पक्षों—मन, बुद्धि, भाव आदि की तुलना में बहुत कम है। साहित्य-कृति के सम्बन्ध में भी ऐसे दो पक्षों की ओर निदेश किया जा सकता है कविता जिस कागज पर जिस पर लिखी गयी है उसका और उस स्याही का जिससे लिखी गयी है रासायनिक विश्लेषण हो सकता है परन्तु उस में जो भावना साकार हुई है उस का नहीं। किसी मनुष्य के सम्बन्ध में आप अगणित तथ्यों का संचय कर लो परन्तु उन सब से उसकी अन्तरात्मा का स्वरूप अनावृत नहीं होता मानसिक तथ्य भी यह नहीं कर सकते क्योंकि मन आत्मा नहीं इसी प्रकार काव्य-कृति के सम्बन्ध में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक और इतर जीवन-चरित-विषयक तथ्यों का पिण्डित ज्ञान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमें काव्यकृति का तथा उसके तात्त्विक स्वरूप का विभावन नहीं करने देता क्योंकि उसकी तात्त्विकता एक विशिष्ट प्रकार की अनुभूति में है, वाह्य तथ्यों (और मानसिक तथ्य भी इस दृष्टि से बाह्य हैं क्योंकि उन्हें भी परीक्षण-मीमांसन के लिए 'विषय' बना दिया गया है) बाह्य तथ्यों के बौद्धिक आकलन में नहीं। तथ्य वाद या वैज्ञानिक ऐंद्रियता चार या प्रत्यक्षवाद का यह भ्रम है कि इस प्रकार का तथ्यनिष्ठ-विशकलित, ज्ञान सौन्दर्य की अनुभूति दे सकता है।

यहां यह कहा जा सकता है कि हम आलोचना की बात कर रहे हैं न कि अनुसंधान की। वस्तुत: आलोचना और अनुसंधान के सम्बन्ध में जो ऊहापोह हिन्दी में हुई है वह अधिकतया अप्रासंगिक है और तथ्यवाद के भ्रामक आकर्षण का संवरण नहीं कर सकते।

विज्ञानवाद ने आधुनिक चिन्तन के लिए बहुत से ऐसे बेकार प्रश्न पैदा कर दिए हैं जिन का जन्म विज्ञान की सीमाओं का न जानने के कारण हुआ है- जैसे आलोचना विज्ञान या कला? साहित्य के इतिहास लेखन में वैज्ञानिक पद्धति को किस प्रकार अपनाया जाय? समाज और इतिहास के तथ्यों की दुर्भेद्य संकुलता के जंगलों में वैज्ञानिकता की सड़क कैसे बिछायी जाय? अनधिकारी व्यक्तियों ने इन बनाबटी प्रश्नों को लेकर शब्द-राशि का ऐसा प्रकाण्ड और अटपटा मन्थन किया है कि मुंह में पानी के स्थान पर उद्रिक्त फेन राशि पड़ जाने से ज्ञान-पिपासा बुद्धि विक्षोभ और विभ्रम का शिकार हो जाती है। एक ऐसा ही प्रश्न है: अनुसंधान और आलोचना का क्या अन्तर है? विज्ञान में अनुसंधान का लक्ष्य है नये तथ्यों का अन्वेषण और उन्हें किसी कारण-कार्य परम्परा में समंजित करना। साहित्य के क्षेत्र में जैसा कि हमने ऊपर देखा है इस धारणा को प्रतिरोपित करने से विचित्र फल निकलते हैं। इस प्रकार के तथ्यों की चाहे वे आर्थिक-सामाजिक हो या चारित्रिक मनोवैज्ञानिक की उपयोगिता साहित्य क्षेत्र में बहुत सीमित है क्योंकि साहित्य में ये तथ्य एक विशिष्ट सन्दर्भ के या संदृब्ध एकता के अंग बनकर प्राण-वाहक स्नायु-तंत्र के समान एक दूसरे के साथ एक ऐसी अलक्ष्य परन्तु अंतरंग रीति से संश्लिष्ट हो जाते है कि पृथक कृत रूप में उनका कोई महत्व रहता ही नहीं। कारण-कार्य सिद्धांत साहित्य के क्षेत्र में निरर्थक हो जाता है और किसी भी साहित्यिक कृति का मूल्यांकन कवि के मन के विश्लेषण या उस के जीवन चरित से संबद्ध तथ्यों के परिगणन से नहीं हो सकता। इस प्रकार के नये तथ्यों की खोज इसलिए भी बेतुकी है विज्ञान में तो नये तथ्यों का प्रयोग किसी व्यावहारिक लक्ष्य की सिद्धि के लिए किया जा सकता है परन्तु साहित्य भावनात्मक अनुभव को निवेदित है व्यवहार-निष्ठ कर्म-प्रपंच को नहीं।

विज्ञान न केवल एक विशिष्ट प्रकार के तथ्य को महत्व देता है- ऐसे तथ्य को जिस का ग्रहण इस की परिमाणात्मक पद्धति से हो सके—ऐसे जिन्हें नापा तोला जा सके, इस की अर्थ-प्रमिति समझने की पद्धति भी साहित्य और कला से भिन्न है। विज्ञान का आग्रह है कि तथ्य को समझने के लिए भाव को निरपेक्ष होना चाहिए, प्रेम, घृणा, श्रद्धा आदि भावों के रहते हुए वस्तु-स्थिति का यथार्थ ज्ञान असंभव है, भावों से रंजित यथार्थ यथार्थ की विडम्बना है। परन्तु अनुभव के ऐसे क्षेत्र हैं जिनके उद्घाटन की कुंजी 'तटस्थता' के पास नहीं 'अनुप्रवेश' तादात्म्य के पास है, जिन्हें समझने के लिए 'विषय' से विविक्त नहीं उसके साथ एकरूप होना पड़ता है। न केवल विज्ञान की निष्पक्षता, निरपेक्षता एकाँगीन है—इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का पक्षपात वस्तुओं के परिमेय, संख्येय, गुणों की ओर है—परन्तु इस की पद्धति और इस के उपकरण कलात्मक अनुभूति को ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ है। भाव की अनुभूति रस संवित्ति, भावना का प्रसाद, अंतर्द्वन्द्वों की तुमुलता-इन को वैज्ञानिक रीति से न तो जाना जा सकता है, न नापा तोला। प्रेम आदि भावों का ज्ञान मनोविज्ञान की पुस्तक पढ़ कर नहीं होता, उनकी साक्षात् अनुभूति पर ही होता है। भारत का राष्ट्र-ध्वज एक दृष्टि से डण्डे से लटकता हुआ कपड़े का टुकड़ा है-शायद वैज्ञानिक के लिए ऐसा वर्णन यथार्थ होगा-परन्तु हुतात्मा देशभक्त के लिए वह क्या है इसे कोई विदेशी जानने में पूर्ण रूप में समर्थ नहीं हो सकता। हुतात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित कर के, भेद-विगलन के बाद प्राणों में ओजायमान देश प्रेम के भावों द्वारा जो ज्ञान तिरंगे के संबन्ध में दिया जाता है क्या वह अयथार्थ है। यदि वह अयथार्थ है तो साहित्य और कला ते विश्व व्यापी प्रयासों के सामने प्रश्न-चिह्न लग जाता है।

साहित्य में अनुसंधान का उद्देश्य नये तथ्यों का अन्वेषण नहीं हो सकता क्योंकि विज्ञान और साहित्य के स्वरूप, प्रक्रिया और उद्देश्य में बहुत अन्तर है। साहित्य में भी 'ज्ञान' है परन्तु यह विज्ञान की तरह पृथक्कृत, आत्मनिर्भर, तथ्यों का ज्ञान नहीं जिन्हें कारण-कार्य शृंखला में समायोजित करके व्यवहार-भूमि को निवेदित किया जा सके। जो कवित के शब्दार्थ मात्र को जानता है वह तो उसके मात्र बौद्धिक अर्थ को समझता है वह भी उसके वास्तव अर्थ को नहीं जानता। बौद्धिक अर्थ से वह अर्थ अभिप्रेत है जो बाह्य सम्बन्धों का विधान करने वाली या केवल कार कार्य जाल का चयन करने वाली बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाता है। कविता के अर्थ को समझने का अर्थ है 'तन्मयी भवन' की योग्यता, कवि की चेतना के साथ तादात्म्य, उसके जीवन व्यापार में अनुप्रवेश। कविता के अर्थ की अनुभूति वह अन्तर्लीन प्रयाग है जो प्रमाता या सहृदय की चेतना और कवि-चेतना सारस्वत प्रवाहों के संगम पर अस्तित्व में आता है।

वस्तुतः इस क्षेत्र में फैली हुई भ्रांत धारणाओं का मूल कारण यह है कि हम विज्ञान को यथार्थ ज्ञान का वाहक और साहित्य को मात्र भावों का उद्बोधक मानते हैं। साहित्य में भी विषय का अस्तित्व है और उसका ज्ञान मी है परन्तु यह विज्ञान के विषय से भिन्न है। परन्तु इस दृष्टि से विज्ञान का विषय व्यवहार जगत् के तथाकथित वास्तव विषय से भी भिन्न है। यदि कवि की 'गंगा' में आप स्नान नहीं कर सकते तो वैज्ञानिक के 'जल' से आप प्यास नहीं बुझा सकते। कविता का विषय भावना शक्ति द्वारा देखा जाता है जिस प्रकार स्थूल दृश्य पदार्थ नेत्रों द्वारा। जिसके पास देखने की शक्ति नहीं उस के लिए 'रंग' शब्द कर्ण-ग्राह्य वायुविकार मात्र है, चाक्षुष अनुभूति नहीं। इसी प्रकार जिस के पास भावना-शक्ति नहीं उस के लिए फूल का सौंदर्य असत् है। आँखों से ती रंग या रूप के ही दर्शन होते हैं, सौंदर्य के नहीं। 'सूर' के यमुना-कुंज लताओं, पर्ण वितानों और विटपियों के मध्य प्रस्तार मात्र नहीं जिन्हें कोई भी नेत्रवान् अभक्त जा कर देख सकता है। सूर के मन में तरंगायित, ओजायित भाव भी उन के यमुना तट के उसी प्रकार अंग हैं जिस प्रकार वे वीथियां, लता-कुंज और तरंगे जिनका वे वर्णन करते हैं। जो सूर के यमुना-तट के निकुंजों को देखता है वह संबद्ध भौतिक पदार्थों, व्यापारों और अपनी चेतना के उन्मेष को इस प्रकार आबद्ध और अन्तबिद्ध रूप में देखता है कि वे एक नूतन विषय-सूर के यमुना निकुंज के निष्पादक बन जाते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। सूर के ये यमुना निकुंज वास्तव तो हैं परन्तु उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में भौतिक यमुना का भौगोलिक प्रवाह वास्तव है। भौगोलिक यमुना तो सूर से पहले भी विद्यमान थी और अब भी विद्यमान है और निराला के काव्य में फिर नूतन रूप में भावित होती है :

बता कहां अब वह वंशीवट
कहां गए नटनागर श्याम
चल चरणों का व्याकुल पनघट
कहां आज वह वृन्दा धाम
कभी यहाँ देखे थे जिनके
श्याम विरह से तप्त शरीर
किस विनोद की तृषित गोद में
आज पोंछती वे दृगनीर

नहीं, भौतिक यमुना और सूर की यमुना की सत्ता समानांतर नहीं। सूर की यमुना की सत्ता ,सूर सागर' की सत्ता के साथ भी समानांतर नहीं अर्थात हम यह भी नहीं कह सकते कि जब तक सूर सागर रहेगा तब तक सूर के यमुना निकुंज रहेंगे, क्योंकि 'सूर सागर तपने आप में कागज, स्याही आदि का निर्जीव संघात मात्र है। सूर के यमुना निकुंज तब तक जीवित रहेंगे जब तक उन की चेतना के प्रावेश, अन्तर्वेध से तन्मय होने वाले ऐसे प्रमाता रहेंगे जिन की भावना उपर्युक्त नूतन विषय- सूर की युमना का साक्षात्कार करने में समर्थ होगी।

इसी लिए वे लोग जो वाल्मीकि की अयोध्या को भौगोलिक सत्ता या रावण की लंका की स्थिति, या जायसी के सिंहलद्वीप के अवस्थान या पद्मावत के कथानक के ऐतिहासिक अनुसन्धान का नाम देते हैं। दया के पात्र हैं। उन्हें इस बात का पता नहीं कि साहित्यिक 'विषय' की सत्ता का स्वरूप है या किन अर्थों में कविता और साहित्य का 'विषय' विद्यमान है। पर्युक्त प्रकार के अनुसन्धान ऐतिहासिक, भौगोलिक या सामाजिक अनुसन्धान की कोटि में ही रखे जा सकते हैं, साहित्य की नहीं। वे शायद समझते हैं कि भौगोलिक यमुना के संबन्धों में तथ्यों का संचयन करके वे सूर की यमुना को अधिक अन्तरंग रूप में जान सकेंगे। परन्तु सूर की यमुना को आप टिकट लेकर और गाड़ी या बस की यात्रा द्वारा विशेष स्थान पर पहुंच कर नहीं देख सकते। जो कल्पना के अवसाद या भावना के दारिद्रय से पीड़ित हैं वही ऐसा सोच सकते हैं। सूर की यमुना को देखने के लिए क्रियाओं का प्रवर्तन नहीं चेतना का परिवर्तन चाहिए यात्रा के लिए पुरूषकार नहीं, व्यक्तित्व का संस्कार चाहिए, इसीलिए तथ्यों का अन्वेषण करने वाला अनुसन्धान साहित्य के क्षेत्र में कोई अर्थ नहीं रखता, क्योंकि इस क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टि से निरपक्ष, संसिद्ध तथ्यों की सत्ता या तो है ही नहीं और यदि है तो इतनी तुच्छ और नगण्य है कि इन्हें साहित्यिक अनुसन्धान का विषय बनाना साहित्यिक के स्वरूप को भुलाना है।

तथ्यवादी अनुसन्धान के रूप में साहित्य विज्ञान के बराबर सेवक की भूमिका में प्रगट होता है परन्तु विज्ञान को अपने तथ्यों को या तो व्यवहार सिद्धि के लिए प्रयोग में लाता है या उन के आधार पर सामाध्य नियमों को सूत्रित करता है। साहित्य इन तथ्यों का प्रयोग किस रूप में कर सकता है क्योंकि साहित्य का मूल तत्त्व "भावना" है और भावना-जगत में तथा कथित तथ्यों का प्रवेश एक उग्र विसंवाद को जन्म देता है। इस अनधिकृत प्रवेश से कई प्रकार की अवधारणाएं जन्म लेती हैं। ऐतिहासिक काव्य या उपन्यास को देखते हुए हम सोचते हैं कि जो कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रित किया जा रहा है वह अतीत की घटनाओं का अनुसारी है परन्तु वस्तुतः ऐसा चित्रण किसी अतीत का अनुसारण नहीं करता अनुसरण करता है या तो किसी साहित्यिक विधा-नाटक, कविता, कहानी,-की परंपरा के समयों और रूढ़ियों का या मनोविज्ञान द्वारा बाधित अपेक्षाओं का श्रीकृष्ण अपने मर्त्य जीवन में कैसे भी रहे हों जब तक हम श्रीमद्भागवत या सूरसागर को पढ़ते हैं तो हमारा आलंबन शताब्दियों के कुहरे से आवृत्त कोई लोकोत्तर ऐतिहासिक नायक नहीं होता। हमारी भावनाओं का आलंबन एक लोकोत्तर प्रतिभा (सूर या भागवतकार) द्वारा उद्‌भावित श्रीकृष्ण हैं जो हमारे वर्तमान परिवेश के अंग हैं। हमारी प्रतिक्रिया किसी अतीत को नहीं, वर्तमान को लक्ष्य करती है, हमारी अनुभूति का उन्मीलक कोई अतीत का चरित्र नहीं सृजनात्मक प्रतिभा द्वारा साक्षात्कृत वर्तमान सत्य है। जब हम इस अनुभूति की वर्तमानता को भूलकर इसे अतीत तथ्यों का यथार्थ या अयथार्थ चित्रण समझने लगते हैं तो साहित्य के मर्म को खो देते हैं और तथ्यवादी बन जाते हैं। तथ्यों के ऐसे व्यापारियों के हाथ में पड़ कर सूरसागर और रामचरित मानस स्याही से चिह्नित लुगदे के रूप में तो ज़िन्दा रह सकते हैं परन्तु अध्यात्म चैतन्य के उद्‌गीथ के रूप में, भक्तिभावना से शताब्दियों को सूत्रित करने वाली दिव्य भारती के रूप में, मानवता और भगवत्ता के सेतु बन्ध के रूप में, इन की सत्ता निःशेष हो जायेगी। इस प्रकार कलाकृति के जीवन का प्रश्न उस की भौतिक सत्ता से संबद्ध नहीं। एक ग्रन्थ के रूप में विद्यमान रहने पर भी सूर सांगर उस समय उत्क्रान्तजीवित हो जायेगा, जब इस देश के लोगों में इसकी अक्षर-सन्तति के पीछे अध्यात्म-चेतना की नानाविध भंगियों के उद्‌भास को देखने वाली भावना-शक्ति लुप्त हो जायगी।

इस प्रकार वैज्ञानिक तथ्यवाद से मुक्त हो कर ही हिन्दी में साहित्यिक अनुसन्धान स्वस्थ हो सकता है। वैज्ञानिक तथ्यवाद का प्रभाव हिन्दी अनुसन्धान पर पग पग पर देखा जा सकता है। यह स्पष्ट है कि इस समस्या पर गंभीरता से विचार नहीं किया गया। इस प्रभाव के परिचायक लक्षण हैं (i) तथ्यों का तथ्यों के लिए अन्वेषण। विज्ञान में तथ्य तथ्यों के लिए नहीं खोजे जाते परन्तु वैज्ञानिक व्यापार का श्री गणेश तथ्यान्वेषण और तथ्य संकलन से होता है। तथ्यों का संकलन और उन को प्रमाणित करने के लिए संदर्भ संकेतों और पाद टिप्पणियों की नामित चिह्नत और वर्गीकृत प्रदर्शनी हिन्दी में यह अनुसन्धान का आदर्श रूप बन गया है। (ii) सामाजिक आर्थिक राजनीतिक एवं मनोवैज्ञानिक तथ्यों और साहित्यिक कृति में कारण कार्य सूत्र का सन्धान। विज्ञान में "तथ्यों को समझने" का अर्थ है उन का कारण-कार्य धारणा द्वारा अन्वित किसी संदर्भ में व्यवस्थित करना परन्तु साहित्य और कला में ऐसा संभव नहीं क्योंकि साहित्य मे वैज्ञानिक कोटि के तथ्य उपलब्ध ही नहीं होते। यदि कागज पर अक्षरों के विनिवेश को साहित्य का मूल तथ्य माना जाय तो भी वैज्ञानिक तथ्य से इसकी भिन्नता स्पष्ट है। तथा-कथित साहित्यिक तथ्य "द्विपार्श्विक" है, उनका एक आन्तरिक है एक बाह्य शब्द का बाह्य पक्ष तो कागज पर मूर्त्त है परन्तु उस का आन्तर पक्ष चेतना वह आयाम हैं जिसे वह अभिव्यक्त करता है। वैज्ञानिक "तथ्यों" में इस प्रकार की "द्विपार्श्विकता" नहीं—उन का कोई आन्तर पक्ष नहीं और क्योंकि आन्तर नहीं इसलिए बाह्य भी नहीं आन्तर और बाह्य एक दूसरे की अपेक्षा में ही सार्थक होते हैं। साहित्यिक "तथ्यों" को इस विलक्षणता को ध्यान में न रख कर ही हम उनके प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाते हैं। साहित्यिक चैतन्य-गर्भित "तथ्यों" का आकलन किसी वैज्ञानिक उपकरण या प्रक्रिया द्वारा नहीं हो सकता। चैतन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रौर उसके रूपों को विज्ञान ग्रहण करने में ग्रसमर्थ है। उस की पहुंच जड़ तत्वों, पदार्थों ग्रौर व्यापारों तक है ग्रौर वह भी ग्रांशिक रूप में। विज्ञानवाद ग्रौर तथ्यवाद जडवाद के ही पर्याय हैं। जहां यह दृष्टि ज़ोर पकड़ती है वहां प्रकृति एक बृहत्‌यन्त्र ग्रौर उस के कलपुर्जों का ग्रावर्तन-विवर्तन, कर्षण-घर्षण बन कर रह जाती है। हम भूल जाते हैं कि प्रकृति एक बहु-स्तरीय तत्त्व हैं ग्रौर उस के एक स्तर से दूसरे स्तर तक जाने के लिए कारण-कार्य सिद्धान्त सोपान कार्य नहीं दे सकता। प्रकृति में जड़ पदार्थ ग्रौर द्रव्य हैं, दूसरे लोगों के मन है, हमारा ग्रपना मन है, मूल्य जगत्‌ है, ग्रौर इन सब से परे कोई परमतत्व है जिस की सत्ता के कारण दूसरे सत्तावान्‌ हैं। इन सब स्तरों के ग्रध्ययन, परीक्षण के लिए एक ही पद्धति को ग्रपनाना संभव नहीं। विज्ञान में भी जो पद्धति भौतिकी में ग्रपनायी जाती है वह खगोल-विज्ञान में नहीं। विज्ञानों में भौतिकी को ग्राद्य विज्ञान माना जाता है ग्रौर उस की प्रणाली को ग्रादर्श। परन्तु यह प्रणाली ग्रनुभव के सब क्षेत्रों में प्रयोज्य नही। नैतिक सौन्दर्यात्मिम ग्राध्यात्मिक सत्य इस प्रणाली के सामने ग्रपने स्वरूप को ग्रनावृत नहीं करती। सब प्रकार के भावों को निरस्त कर के ज्ञान प्राप्ति की चेष्टा भौतिक विज्ञान में उपादेय हो सकती है, परन्तु ग्रनुभव के उच्चतर प्रदेशों में नहीं। कई सत्य ऐसे हैं, जिनका साक्षात्कार दूसरों के भाव कौ ग्रात्मसात्‌ करके ही होता है स्वयं भाव-विधुर बन कर नहीं। यदि कोई विदेशी या विधर्मी दीवाली के हर्ष ग्रौर उल्लास को समझना चाहता है तो उसे उन भावनाग्रों को एक सीमा तक ग्रात्मसात्‌ करना होगा जो इस पर्व के मूल में हैं। रसानुभूति को ग्रखण्ड़ तत्त्व कहा गया है, इस में ग्रौर भेदों को तो जाने दीजिए ज्ञाता, ज्ञेय तक भेद विगलित हो जाता हो जाता है। यदि रसानुभूति साहित्य में विशिष्ट स्थान रखती है तो विज्ञान की ग्रास्थाएं इस क्षेत्र से बहिष्कृत हो जाती है क्योंकि विज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय का भेद ग्रपरिहार्य ग्रौर वैज्ञानिक प्रक्रिया का मेरुदण्ड़ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० मथुरादत्त पाण्डेय
अध्यक्ष स्नातकोत्तर हिंदी विभाग
राजकीय कॉलेज होशिआरपुर

सूरकाव्य में प्रकृतिभूत रस तथा उसका परिपाक

भगवद्भक्ति गायन में सीन सूरदास को श्री बल्लभाचार्य ने घिघियाना छोड़कर भक्ति करने की ओर प्रवृत्त किया - यह बात जन-प्रचलित है। वह कौन-सी भक्ति थी, जिसेमें घिघियाना ठीक माना जाता रहा है और वह कौन सी भक्ति रही जिसमे वैसा किए बिना ही काम चल सकता था जिसे अपनाने के लिए सूरदास को कहा गया। सूर के प्रारम्भिक तथा परवर्ती पदों के अध्ययन से उनका अन्तर स्पष्ट हो जाता है। जो"मो सम कौन कुटिल खल कामी", भरि भरि उदर विषय को धावत जैसे सूकर गामी" तथा 'प्रभु नेरे अवगुण चित न धरो'। समदरसी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो' आदि पदों को गाता हुआ नम्रता तथा अधीनता अवतार बना रहता था, वही पीछे कहने लगता है :-

निगम तैं अगम हरि कृपा न्यारी।
प्रीति बस स्याम है राव कै रंक कोउ,
पुरुष कै नारि नहि भेदभारी।
प्रीति कै हेतु सूरज-प्रभु पाइये,
प्रीती कै हेतु दोउ स्याम स्यामा।।[1]

डा० हरवंश लाल शर्मा सूरदास को बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले सन्त परम्परा का भक्त मानते हैं।[2] पीछे वे प्रेमा भक्ति के क्षेत्र में उतर गये। घिघियाने का काम उपालम्भों ने ले लिया और भगवान् की प्रधानतः मधुर लीलाओं का वर्णन ही उनके काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य बन गया। मधुर लीलाओं मुख्यतः वात्सल्य और शृंगार रसों के आश्रय में दिखायी गई। सूर रम गये अपने आराध्य के बचपन तथा यौवन की लीलाओं में।

उनकी इस रागानुगा भक्ति की एक परंपरा है। वे ही नहीं, उनके सम्प्रदाय के अन्य कवि भी युगल छवि के उपासक रहे और उपासना का स्वरूप रहा—कृष्ण की मधुर क्रीड़ाओं का वर्णन। बल्लभ सम्प्रदाय में प्रचलित प्रेमाभक्ति की समस्त आसक्तियां पुष्टि के सभी अंग सूर की भक्ति में विद्यमान हैं। डॉ० हजारी प्रसाद जी का निष्कर्ष उनके विषय में सर्वथा समीचीन है कि वे मूलतः भक्त थे' और उनकी 'भक्ति का मूलाधार प्रेम' रहा। सूरदास द्वारा वर्णित वृन्दावन, मुरली, यमुना, कदम्ब गोप-गोपियां सभी प्रतीक हैं।[4] श्री बलदेव प्रसाद मिश्र सूर वर्णित रासलीला की आध्यात्मिकता के बिषय में इस तरह लिखते हैं 'अनहदवाद ही भगवान की वंशीध्वनि है, अनेक नाडियाँ ही गोपियां हैं। कुण्डलिनी ही राधा है और मस्तिष्क का सहस्र दल कमल ही वह सुरम्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृन्दावन है 'जहाँ आत्मा और परमात्मा का सुखमय सम्मेलन होता है तथा जहां ईश्वरीय विभूति के साथ जीवात्मा की सम्पूर्ण शक्तियां सुरम्य रास रचाती हुई नृत्य करती हैं'।[5] रासलीला को डॉ ब्रजेश्वर वर्मा योगक्रिया[6] डॉ वीरेन्द्रसिंह प्रेमयोग[7] कहते हैं। सूरदास ने जिस प्रेम प्रधान रास लीला का वर्णन किया है, निश्चित ही उनकी भक्ति का एक प्रकार है। वे प्राकृत पुरुष की प्रेमक्रीडा दिखाकर लौकिक शृंगार का वर्णन नहीं करते हैं, अपितु 'कृष्णास्तु भगवान् स्वयम्' इस भागवती भावना के आधार पर परब्रह्म परमात्मा की मधुर लीलाओं को दिखाते हैं उनका विश्वास है :

सूरदास प्रभु ब्रह्म सनातन सो सेवत नन्द धामहि।[3]

राधाकृष्ण के जिस प्रेममय भगवद्रूप को सूरदास ने अपनाया, गौड़ी वैष्णवों ने उसे पहले ही अपनी मधुरोपासना का विषय बना लिया था। दाक्षिणात्य आलवार भक्तों तथा आचार्यों ने इसका प्रचार किया। बृहद ब्रह्म संहिता (२.४.१७४) में राधा और रासलीला का नामोल्लेख है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा को कृष्ण का अर्धांश तथा मूल प्रकृति कहा गया है; वह ब्रह्म की पूरक शक्ति है।[9]

इस तरह सूर का मन्तव्य स्थिर कर कर जाने पर सूरकाव्य में अंगीरस के निर्धारण का मार्ग निकल आता है और यदि भक्ति को रस माना जाय जैसा कि बहुत से लोग मानते है तो सूरकाव्य का वह रस भक्ति रस है। भक्ति को रस मानने वालों की दृष्टि में भक्ति का स्थायी भाम भगवद्रति है काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार भक्ति रति के तीन भेदों में से एक है। वे लिखते हैं :- 'स्नेहो भक्ति र्वात्सल्यमिति हिं रतेरेव विशेषाः। तुल्ययो र्या परस्परं रतिः स स्नेहः' उत्तमस्य अनुत्तमे रतिः प्रसक्ति सैव भक्ति पदवाच्या। उत्तमस्य अनुत्तमे रति वात्सल्यम्' संगीतरत्नाकरकार श्री शारंगदेव भी भक्ति को ज्ञान का ही एक भेद मानते हैं[10] किन्तु स्थायीभाव भगवद्रति मान लेने पर वह भक्तों और आस्तिकों द्वारा ही आस्वाद्य रहती है। यदि भक्ति का स्थायी भाव श्रद्धा को माना जाय जैसा कि श्री शारंगदेव ने पूर्व पक्ष के रूप में दिखाया भी है तो इस रस में परिणत होने की इसकी क्षमता बढ़ जाती है; किन्तु भक्ति को रस माना। गौड़ी वैष्णवों तथा आलवार भक्तों में जो इसका स्थायी भाव भगवद्रति मानते हैं क्योंकि श्रद्धा को स्थायी भाव मान लेने पर प्रेम के संयोग तथा वियोग के चित्रों को भक्ति रस में अवसर ही नही रहता।

प्रकृति भूत रस को खोजनेवालों में से किसी ने अद्भूत किसी ने शृंगार किसी ने शान्त तथा किसी ने करुण को प्रधानता दी है। अपने प्रपितामह कवि पंडित नारायण की मान्यता का उद्धरण देते हुए विश्वनाथ ने कहा है कि चमत्कार की प्रधानता के कारण अदभूत रस समस्त रसों का आधार हैं :—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्रप्यद्भुतो रसः
तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्[11]

रस में चित्त को द्रुति (शृंगारादिमें) तथा दीप्ति (वीर रौद्रादि में) उस चित्त की विस्मृति या विस्मय से अनुप्राणित रहती हैं जो अद्भुत रस का स्थायीभाव है। इस व्यापक दृष्टि से सूर काव्य का अंगीरस अद्भुद माना जा सकता है। कृष्ण का शौर्य और सौन्दर्य दोनों अद्भुत हैं। सूरकाव्यागत अंगरस चमत्कार पूर्ण होने से अंगीरस अद्भुत का पोषण तो करते ही हैं। यदि अद्भुत का अपेक्षाकृत सीमित अर्थ ले तो भी उस की निष्पत्ति के लिए स्थान स्थान पर शास्त्र सम्मत अद्भुत स्थल आये हैं। बालकृष्ण का मुंह खोलते ही यशोदा जो कुछ देखती है, बालकृष्ण पूतना के छाती से चिपके हुए जिस तरह उसके प्राणों के सविष दुग्ध-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पान कर जाते हैं। कालीय का दमन कर उसके माथे पर जो नाच करते हैं। हर गोपी के साथ पृथक् पृथक् कृष्ण द्वारा जो रास रचाई जाती है उस प्रत्येक वृत्तान्त से अद्भुत रस निष्पन्न हुआ है। तब क्या सूरकाव्य का प्रकृतिभूत रस अद्भुत है। इसमें सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि सूरकाव्य की अद्भुतता भक्ति रस की तरह उन्हीं पाठकों के लिए है जो भक्त है औरों के लिए वे बातें मितीहास एवं इन्द्रजाल बन कर रह जाती हैं। काव्यात्मक रसात्मकता उनमें नहीं रहती। अथ च अद्भुत रस सर्वत्र रहने से अन्य एक ही चर्चा ही निरर्थक हो जाती है। इसके अतिरिक्त सूरकाव्य में कहीं कहीं अद्भुत के वाच्य होने पर रस हानि तक हो चली है। उदाहरणार्थ :-

एक अद्भुत कौतुक देखि सखी री
वृन्दावन नभ होड़ परी
उतहिं इन्द्रधनु इतबन माल अतिथि चित्र हरि काढ़ परी
सूरदास प्रभु कुंवर रधिका गगन की शोभा दूर करी [12]
ख) अद्भुत एक अनूपम बाग [13]
ग) अद्भुत राम नाम के अंक
घ) अद्भुत इक चितयौ हौ सजनी नन्दमहर के आंगन री
ट) अद्भुत जस विस्तार करन कौ हम जन कौ बहुहेत

भवभूति ने प्रकृतिरस के रूप में करुण को माना। शेष रस चाहे वे द्रुतिपरक हों चाहे दीप्तिपरक, उसी के विवर्त हैं। इस मत के अनुसार सूरदास के काव्य में मुख्यरस के रूप में करुण की स्थिति का पर्यालोचन करना होगा। श्री कृष्ण के वे कार्य जिनसे जीवन संकट ग्रस्त समझा जाता है भले ही शोक के अभिव्यंजक हों अन्य दुःखात्मक स्थितियाँ उसके अन्दर नहीं आती हैं। वियोग वात्सल्य, वियोग शृंगार, संभोगमुग्धा खण्डिता तथा मानिनी नायिकाओं की कातर एवं सरोष उक्तियों के विषाद को छोड़कर अधिकांश विद्वानों की दृष्टि में सूरकाव्य सुखात्मक है। अथ च विषाद भी कृष्ण भक्तिसाहित्य में अस्पृहणीय नहीं माना जाता, अपितु कृष्ण भक्त तो कृष्णवियोगोत्थ दुःख को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा रखता है।[17] करुण का स्थायीभाव वह शोक है जो इष्ट के वियोग से रतिहीन मनोविकार के रूप में गृहीत है।[19] श्रीकृष्ण का वियोग करुणा की सीमा की स्पर्श करता हुआ भी इसकी सर्वसामान्य मान्यता के अनुसार करुण रस नहीं बनता। श्रीकृष्ण बिछुड़ते हैं पुनर्मिलन के लिए। दावानल तथा कालियदमन आदि कतिपय स्थल ही सूरकाव्य में शुद्ध करुण रस की विभूति हैं।

आचार्य अभिनव गुप्त के विचारानुसार प्रकृति रूप रस शान्त है, अन्य रस उसी के विकार हैं। नाट्य शास्त्र में भी शान्त को प्रकृति भूत रस कहा गया है[20] इस शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद या शम माना जाता है जो विभावादि के संयोग से उपराम रूप में प्रकट होता है, भक्ति को पृथक् रस न मानने वाले अन्तर्भाव इस शान्त रस में मान सकते हैं, सूर के जिन भक्तिपदों में रति भाव नहीं पाया जाना अपितु श्रद्धा है उन्हें भक्ति को भाव नाम मानने के कारण किसी रस के अन्दर लाना हो तो उस रस का नाम शान्त होगा क्योंकि आस्वाद्य भक्ति प्रवण शान्त रस उसी तरह मन में द्रुति पैदा करता है जिस भक्ति निरपेक्ष शान्त रस कुछ ऐसे पद उद्धृत किए जाते हैं :—

क) अपनी भक्ति देउ भगवान
कोटिक लालच जो दिखावहु नाहिन रुचि आन[21]

ख) अब में नाच्यौ बहुत गोपाल
कोटिक कला कांछि दिखराई जल थल सुधि नहि काल
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नन्दलाल[22]

ग) दीनानाथ अब बार तुम्हारी
पतित उधारन विरद जानि लेहु सँभारी[23]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घ) मेरी कौन गति ब्रजनाथ[24]

भक्ति को भाव मात्र मानने वाले निश्चित रूप से इन पदों को शान्त रस की परिखा के अन्दर ले जायेंगे । उन पदों को भी शान्त रस के उदाहरण मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए जिनमें अनुराग होते हुए भी आलम्बन कृष्ण का भगवदैश्वर्य, आश्रयों का भक्तत्व तथा प्रपत्ति की भावना का निदर्शन हो । वहां गोपियों की रति शृंगार रस के स्थान पर शान्त रस में अभिव्यक्ति पाती है ।

तब क्या डा. राम रतन भटनागर के निष्कर्ष को ठीक मानकर शान्त को भूत भूत रस माने सूर-काव्य का ? वे लिखते हैं :—

"सच्चिदानन्द धर्म विग्रह लीला पुरुष कृष्ण की अखण्ड रस रीति से अपने खण्डित (आनन्द तिरोभूत) व्यक्तित्व को जोड़ कर कवि-साधक 'पूर्णाय पूर्ण' की अनुभूति में ढलता है । नित्यरास और नित्य विहार के रूप में आत्मा का यह चिदानन्दी रूप ही भासमान है ।[25] किन्तु उन पदों को कैसे शान्त रस के पोषक मानेंगे जो घोर शृंगारिकता किंवा अश्लीलता के कारण शृंगाररस को भी सदोष बना डालते हैं । नीचे कुछ ऐसे पद उद्धृत किए जाते हैं ।

क) हरषि पिय प्रेम तिय अंक लीन्ही
प्रिया विनु वसन करि, उलझि धरि भुजनि भरि
सुरति रति पूरी अति निबल कीन्ही[26]

ख) रुपे संग्राम रति खेत नीके ।
एक ते एक रन वीर जोधा प्रबल मुरत नहि नैंकु अति सबल जी के

... ...

पीत पट डारि, कन्दुकि मोचित करन,
कवच सन्नाह छुटैं तन तैं
भुजा भुज धरतैं, मनु द्विरद सुंडनि लरत,
उर उरनि सिरे दोउ जुरैं मन तैं ।[27]

ग) किसोरी अंग अंग भेटी स्यामि ।

... ...

गिरिवर धरन सुरत रति नायक रति जीत्यो संग्रामहि ।
सूर कहै ये उभय सुभट बिच क्यों जु बसै रिपु कामहि

घ) प्यारी चितै रही मुख पिय कौ ।
अंजन अधर, कपोलनि बंदन, लाग्यों काहु त्रिय को
तुरत उठी दर्पण कर लीन्हें देखौ बदन सुधारौ
अपनो मुख उठि प्रात देखिकै तब तुम कइं सिधारौ
काजर बंदन, अधर कपोलनि सकुचे देखि कन्हाई
सूर-स्याम नागरि मुख जोवत वचन कह्यौ नहि जाई[29]

ङ) स्याम वाम कौ सुख दे बोले रैन तुम्हारे आइंगौ

... ...

तुम मिलिवे की साध भुजा भरी, उरसौ कुच परसाउंगौ[30]

च) स्याम कर भामिनी मुख सँवाज्यौ
वसन तनु पूरिकटि सबल भुज अंक भरि उरसौ कुच पर नसाउँगो।
अधर दसनि भरे कठिन कुच उरलरे परे सुख सेज मनु मुरछि होई[31]

छ) अरुग नैन राजत प्रभु मोरे
रति सुख सुरति किए ललना संग जात समद मनमथ सर जोहे[33]

... ...

सूरदास सो कौन तिया जिनि हरि के अंग अंग तोहे

ज) मुख निरखत तिय चकित भई

... ...

अकंन भई तिय कण्ठ लगाई कुचउर चतैनी लई
सूरस्याम मानिनि मन मोहन रति रस सौं भिजइ[33]

रतिक्रीडाओं का सूरसागर में कोई अंत है ! एक नायिका से नहीं अनेक नायिकाओं से रमण विरह, मिलन मान मनुहार 'छल छन्दों से सूर-काव्य भरा पड़ा हे । श्रीकृष्ण सखाओं के साथ बैठे हैं । पिछवाड़े से राधा के संकेतात्मक बचनों को सुनकर श्रीकृष्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कहकर वन को दौड़ पड़ते है कि वहां उनकी गाय बिया गई है:—

पिछकारें हैं बोलि सुनायौ
... ...
गाइ एक बन ब्याइ रही है याहीं मिस आतुर उठिधायौ
मिली बैठे सकेत-लता-तर कियौ सबै जितनौ मन भायौ
सूरदास सुन्दरी सयानी,उलटि अंक गिरिधर परनायौ[34]

ऐसी बात नहीं कि बन में गाय भी वियाई हो और कृष्ण को राधा अचानक ही वहां मिली। तब वे 'एक पन्थ दो काज' सिद्ध करने लगे। गायका बियाना एक बहाना है :—

धौरी मेरी गाइ बियानी
सखनि कह्यौ तुम जेवहिं स्याम चतुरई ठाणी
गय नहीं ह्वां बछरा नाहीं ह्वैं है राधा रानी
सखा हंसत मन हीं मन कहिकहि ऐसे गुननि निधानी
जननी भेद नहीं कछु जानै, बार बार अकुलानी।
सूरस्याम भूखौ उठिधायौ मेरे न गाइ बियानी ।।[35]

संयोग ही नहीं वियोग के कितने ही मार्मिक एवं चमत्कारी चित्र सूरदास ने खीचें हैं। राधा साड़ी नहीं धुलवाती; फलत उसका मलिन वेश हो मया है। यह इसलिए नहीं कि श्रीकृष्ण के अभाव में साज-सज्जा से क्या लेना। अपितु इसलिए कि उसपर श्रीकृष्ण का पसीना लगा है।

अति मलीन वृषभान कुमारी
हरि स्रम जल भीज्यौ उर अंचल तिहिं लालच न
धुवावति सारी।[36]

इसी तरह 'अब वे बातें उलटि गई सरद समैं हूं स्याम न आए' 'या बिनु होत कहा अब सूनो' 'पिया बिनु नागिन कालि रात' 'उधौ कोयल कूजत कानन' 'भुज फरकत अँखियाँ तरकाती कोउ मीठी बात सुनावै' 'तौ तू उड़ि न जाइ रे काग' इत्यादि पदों में विरहिणी के हृदय की अनन्त भाव भंगिमाओं को दिखाने में सूर सर्वथा कृतकार्य रहे हैं।

तब यह मान लिया जाय कि सूरकाव्य का मुख्य प्रतिपाद्य रस श्रृंगार है? इसमें पहली आपत्ति यह है कि सूरकाव्य में आलम्बनादि का वर्णन आध्यात्मिकता से परिपूर्ण है। फलतः साधारणीकरण में बाधा उपस्थित हो जाने से श्रृंगार रस की निर्दोष निपत्ति शास्त्रीय दृष्टि से नहीं हो पाती है। जिस आलम्बन को लेकर रति स्थायीभाव को जागृत होना है, वह केवल काव्योपयोगी नायक नहीं, अपितु परात्मक ब्रह्म है। श्रीमद् भागवत का जो एक पुराण है, गोपियों के मन में श्री कृष्ण विषयक जो ईश्वरीय भाव है वही सूरसागर में भी जिसे काव्य ग्रन्थ कहना हीं अधिक संगत है, विद्यमान है, उदाहरणार्थ कुछ पद नीचे उद्धृत किए जारहे है :-

वर्षा होने पर राधा कृष्ण से कंबल मांगती है तब कंबल तो नहीं कृष्ण और राधा दोनों एक पीताम्बर ओढ़कर आनन्द लाभ करते है। इस पर सूर कह उठते हैं :--

सिव सनकादिक नारद सारद अन्त न पाने तुवर
सूरस्याम गति लखि न परति कछु खात ग्वाल संग
संबर[37]

श्रीकृष्ण के लिए रतिदान हेतु राधा को तैयार करवाती हुई सखी कहती है :-

राधे या मैं कहा तिहारौ
मुख हिमकर तनु हाटक बेना सो पलंग अंग कारौ
गति मराल केहरिकटि, कदली जुगल जंघ अनुहारौ
... .
सूरदास प्रभु त्रिभुवन पति की एक उनहिं उबारौ[38]

राधा कृष्ण होरी खेलते हैं। उसका सरस वर्णन है: किन्तु अन्त में माहात्म्य जोड़ दिया जाता है :-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पढ़ै पढ़ावै सुनै सुनावै तो वैकुण्ठ परम पद पावै सरस
रसहिं फूल डोल
सूरदास कैसे करि गावै, लीलासिंधु पार न पावै सन्तन
हित फूल डोल ।[39]

चन्द्रावली मान करती है। श्रीकृष्ण को आँगन में छोड़कर भीतर किवाड़ बन्द कर सो जाती है। अन्तर्यामी श्री कृष्ण फिर भी उसके संग सोए रहते हैं। यहाँ उन्हें अन्तर्यामी कहने में वाच्य और लक्ष्य दोनों अर्थों को लिया गया है। उनके दो रूप एक बाहर एक भीतर-समकाल ही दिखाई देते हैं। वे कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ हैं :-

इहिं अन्तर हरि अन्तरजामी-जो कछु करै सो होई
जहां नारि मुख मुंदि पौड़ी रही तहां संग रहे सोई
जो देखे ह्यां संग विराजत चली तिया अहराय
एन स्याम आँगनकहिं देखे इक गृह रहे समाइ ।[40]

मानिनी राधा को मान छोड़ने की बात समझाती हुई दूती जो कुछ कहती है उससे श्रीकृष्ण को समस्त शृंगारिक चेष्टाएँ लीलामय सिद्ध होती है
क) जाके दरसन कौ जग तरसत दैरी नैकुं दरसतिहिं
दैरी
जाकी मुरली की धुनि सुरमुनि मोहै ता तनु नैकुं
चितौरी
शिव विरंचि जाकौ पार न पावत सौ तेरे चरननि
परसैरी
सूरदास बस त्रिभुवन जाकै सौ मुख धुनि सुनाई बस कैरी[41]
ख) राधिका तजि मान मया कह
तरै चरन सरन त्रिभुवन पति कोटि कलपतु होहि
कल्पतरु
जिनके चरन-कमल मुनि वंदत सो तेरो ध्यान धरै
धरतीधन[42]

राधा को मनाने के इन मनुहारों को पढ़कर पाठक के हृदय क्या शृंगाररस रह सकता है?

राधा उसे प्यार करती जिसे हजारों मुखों निगम ने नेति नेति कहकर गाया[43] वह नखक्षत कुचग्रह अधरदंश से आनन्द लाभ नहीं पुण्यार्जन[44] करती है मानिनी नायिकों को याद दिलाई जाती है कि जिसे वह जलारही है वह वही है जिसमें सभी रूप धारण तीनों लोकों को मोह लिया था।[45] जिसने अनेक अवतार धारण किए, जिसे होरी खेलते देखने के लिए देवता विमान चढ़कर घूमते हैं जय जयकार करते हुए पुष्पवृष्टि करते हैं।[46] जिसके कारण देवस्त्रियां व्रजवनिताओं के भाग्य को सराहती हैं और जिन्हें नारदादि मुनि व्रज युवतियों के साथ नाना जल क्रीड़ाएं करते देखकर रस-गान करते हैं।[47]

ये सब बातें शृंगार रस की निष्पत्ति में बाधा पैदा करती हैं। जो परात्पर प्रभु है, सबका पिता-सखा-स्वामी ठाकुर है उसका रूप सौंदर्य क्या शृंगार का आलम्बन बन सकता है? इसी तरह जो ईश्वर का अर्धांश है : जगत्स्वामिनी है उसके नखशिख वर्णन से शृंगाररस, नहीं रसाभास होगा। यह ऐसा है कि जैसे कोई वर्णन करे कि उसका (नायिका का) मुंह चन्द्र सदृश है, हाथ कमल-से, और कुच कलश से हैं, वह कमर की पतली तथा पृथुल नितम्बों वाली है। वह पुष्ट जघन तथा रति नागरी आगरी है-आदि आदि! जब पूछा गया कि यह कौन है तो कहने लगे कि तुम्हारी माँ है।[48] एक ऐसा धक्का लगता है कि पाठक शृंगार भावना की उद्दिप्ति को सदोष मानने लगता है जहाँ नायक-नायिका की रतिक्रीड़ा में सामाजिक स्पर्धालु अथवा ईर्ष्यालु न होकर श्रद्धालु होकर जय जयकार करता हुआ पुष्प वृष्टि करने लगता है-जैसा कि सूर की देवांगनाएं और देव राधा कृष्ण के कुञ्ज-कुटीरों में घटित रति रण को देखकर करते हैं-वहाँ शुद्ध शृंगार रस कैसे माना जाय? यहां कई उदात्त रस की बात करेंगे। मेरे विचारानुसार वह अद्भुत की चर्चा की जा चुकी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शृंगार की तरह वात्सल्य भी देव भावना ग्रस्त हैं। अतएव इसमें भी निदोष साधारणीकरण नहीं हो पाता। कृष्ण के मुंह के भीतर त्रैलोक्य दर्शन, यमलार्जुन मोक्ष, पूतना बध, वसुदेव-देवकी को दर्शन दान आदि वृत्तांत श्री कृष्ण को बच्चा मानकर उनके प्रति वत्सल स्नेहार्पण में बाधक हैं। जो माँ यह जानती है कि जिसे उसका बच्चा कहा जाता है, वह साक्षात ईश्वरावतार है, बच्चे के प्रति उसका स्नेहिल व्यवहार क्या निर्विशेष वात्सल्य का आस्वादन करवाने समर्थ हो सकेगा? कृष्ण के मथुरा से न लौटाने पर यशोदा नन्द से कहती है :-

यद्यपि मन समुझावत लोग
सूल होत नवनीत देखि मेरे सोहन के मुख जोग।
निसिवासर छतिया ले लाउं बालक लीला गाउं।
वैसे भाग बहुरि कब ह्वै है मोहन मोद खवाउं॥
जा कारन मुनिध्यान धरै सिव अंग विभूति लगावै
सो बालक लीला धरि गोकुल उखल साथ बधावै
बिदरत नाहीं ब्रज को हिरदै हरि वियोग क्यों सहिए
सूरदास प्रभु कमल नयन बिनु कौन विधि ब्रज रहिए[49]

जब वात्सल्य के दो चार उन पदों को ही पढ़ा जाता है जिनमें श्रीकृष्ण का भगवद्रूप व्यञ्जित न हो तो पाठक वात्सल्य भाव से अभिभूत होता हैं; किन्तु संयोग वियोग वात्सल्य के सारे पद जब एक ही समय पढ़े जाते हैं तो भगवद्भक्ति उपस्थित हुए बिना नहीं रहती और जितनी ही भक्ति आती जाती है उतनी ही वत्सलता खिसकती जाती है। वत्सलता और भक्ति एक दूसरी को प्रभावित करे तो एक दूसरे के रूप को परिवर्तित किए बिना नहीं रहती सम्भवत इसीलिए सूरकाव्य गत भक्ति को प्रेमाभक्ति कहा गया है।

इसी प्रेमा भक्ति में जो आनन्द सहृदय भक्त को प्राप्त होता है, उसे मधुर या उज्ज्वल रस के नाम से कहा जाता है। जीव गोस्वामी ने इस रस का शास्त्रीय विवेचन किया है। इसमें श्रीकृष्ण आलम्बन हैं भगवान् की कटाक्षों वाली प्रेयसियों को भी आलम्बन माना गया है। गोपियों के कटाक्षादि तब श्री कृष्ण आश्रय हो हाते हैं। मधुरा रति स्थायी भाव हैं, मुरली ध्वनि उद्दीपन, गोपियों के कटाक्षादि अनुभाव आलस्य और उग्रता को छोड़ कर शेष सभी व्यभिचारी इसमें रहते हैं। प्रेमा भक्ति के पांच प्रकार शान्त, प्रीति, प्रेयान्, वत्सल और मधुर-मधुर रस में अन्तर्हित हो जाते हैं। भगवान् को सन्तान रूप में मिलने वाले प्यार की भी वात्सल्य के क्षेत्र से निकाल कर इसमें लाया जा लकता है और किसी सीमा तक पूर्वोक्त शंकाओं का समाधान किया जा सकता है। शृंगार रस के रूप में जिन विवाहित गोपियों का कृष्ण विषयक प्रेम रसाभासोद्भासक माना जाता है वही इसके क्षेत्र में अनुचित न माने जाने के कारण सीमित संख्यक रसज्ञों के लिए पूर्ण रस रूप में परिणत होने की क्षमता रखता है। डा. हरवंशलाल के शब्दों में 'सूर की दानलीला मधुर रति की परम परिणति कही गई है।[50]

मधुर रस को काव्यशास्त्रियों ने सर्वात्मना अंगीकार नहीं किया इसका कारण जो मुझे प्रतीत होता है कि भगवान् सम्बन्धी मधुरा रति जो इसका स्थायी-भाव है सर्व हृदय व्यापक नहीं है। नास्तिकों में तो वह रहेगा ही नहीं। सूरसागर को पढ़ते हुए जो आनन्द भारतीय को होगा, वह रूसी को नहीं जो सनातनी को होगा, वह आर्य समाजी को नहीं और जो बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित भक्त को होगा, वह दास्यभावापन्न भक्त को नहीं। तुलसीदास का मस्तक तो तभी झुकता है जब भगवान् के हाथ में धनुषबाण हो, सूरदास के उन पदों को पढ़कर जिन में राधा कृष्ण के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रति रण की चर्चा है किसी विशेष सम्प्रदाय के व्यक्ति के हृदय में भले ही भगवद्भक्ति का उदय हो उस सम्प्रदाय को न मानने वाले तथा श्रीकृष्ण को अवतार न मानकर एक काव्य-नायक मानने वाले विदेशी सहृदय के मन में शृंगार ही उद्भावित होगा भले ही भगवद्रूप के यत्र तत्र आ जाने से वह भी बार बार उससे ग्रस्त होकर ध्वस्त होता रहे। मधुरस सर्वमान्य तब होता है जब वह भक्ति निरपेक्ष मधुर होता; भक्ति सापेक्ष भी होता तो उसका स्थायी भाव श्रद्धा को माना जाता। जब तक सामान्य मधुर विषय न हो तब तक कुछ एक भक्तों और आचार्यों के हृदय में रहने वाला स्थायीभाव भले ही मधुर रस में अभिव्यक्त हो औरों के हृदय में उसी रूप में निष्पन्न नहीं हो सकता। रूप गोस्वामी के उज्ज्वल नीलमणि तथा भक्तिरसामृतसिन्धु विट्ठल नाथ जी का शृंगारमण्डण आदि आदि में ही इसकी रसवत्ता स्वीकार की गई है। आधुनिक आचार्यों और आलोचकों ने भी भक्ति साहित्य विशेषत: कृष्ण भक्ति साहित्य की रसात्मकता का विवेचन करते समय यत्र तत्र इसका नाम लिया है।

मधुर रस मान्य हो या न हो, यह निश्चित है कि सूर ने इसी रस बुद्धि से काव्य प्रणयन किया। उसमें शास्त्र की दृष्टि से कौन कौन सी विशेषताएं हैं और कौन सी न्यूनताएं हैं, यह ढूंढ़ना आलोचकों का काम है। सूर काव्य का पूरा आनन्द वही उठा पायेगा जो सूर के हृदय में प्रविष्ट होकर भगवान् में आस्थावान् बन और सूरदास की ही पद्धति पर उपासना कर सकने वाला हृदय रखता है। अन्यथा कोई आश्चर्य नहीं कि चार पदों में जहाँ भगवदैश्वर्य अवर्णित हो पाठक को काव्योपयोगी शृंगारादि रसों का स्वाद मिले किन्तु पूरा प्रकरण पढ़ने पर परस्पर रसविरोधी बातों की उपस्थिति से न वह भक्तिभाव पर टिक सके और न लौकिक रसों पर ही।

संदर्भ-सूची

1. सूर सागर पद संख्या 2635.
2. द्रष्टव्य 'सूर और उनका साहित्य' परि. 1. पृ.9
3. हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ. 63
4. सूर साहित्य संदर्भ पृ. 342-350. डा० लक्ष्मणैय्या शेट्टी का लेख। संपा. डा. रामस्वरूप
5. रास लीला में आध्यात्मिक तत्व -- कल्याण-वर्ष 7 अगस्त 1971 पृ. 194
6. सूरदास पृ. 209-10
7. हिन्दी काव्य में प्रतीक वाद का विकास पृ 378
8. सूरसागर - पद संख्या 1133
9. श्री कृष्ण जन्म खण्ड अध्याय 15 श्लोक 57-61
10. भक्ति स्नेहं तथा लोल्यं केचिन्नीन् मन्वते रसान्
श्रद्धार्द्रताभिलाषाश्च स्थायिनरतेषु ते विदुः।
तदसत् रतिभेदौ हि भक्तिस्नेहौ नृगोचरौ
व्यभिचारिनगनयोः नृ नार्योः स्थायिनावुभौ॥
11. साहित्यदर्पण - विश्वनाथ, परिच्छेद 3
12. सूरसागर पद संख्या 1807
13. वही 2728
14. वही 90
15. वही 755
16. वही 215
17. यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले
गोपिकानां च यद्दुखं तद्दुखं स्यान्मय क्वचित्।
—षोडश ग्रन्थ-वल्लभाचार्य
18. द्रष्टव्य साहित्यदर्पण परिच्छेद 3-1772
19. तत्र सर्वत्र रसानां शांतप्राय एवास्वादः विषयेभ्यो विपरिवृत्या (अभिनवभारती अध्याय 6)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

20. भावा विकारा रत्याद्या: शांतस्तु प्रकृतिर्मत:
विकार: प्रकृतेजति: पुनस्त्रैव लीयते ।
स्वस्वं निमित्तमासाद्य शांताद् भाव: प्रवर्तते ।
पुर्ननिमित्तापाये च शांत एवोपलीयते ।
–नाट्य शास्त्र 6.335.36

21. सूरसागर पद संख्या - 136
22. वही 118
23. वही 126
24. सूरदास : मूल्यांकन की समस्या पृ 348
25. सूरसागर, पद संख्या 1988
26. वही 2129
27. वही 2948
28. वही 3100
29. वही 3111
30. वही 2115
31. वही 3305
32. वही 3340
34. वही 2603
35. वही 2691
36. वही 4691
37. न खलु गोपिका नन्द नो भवानपि योगिनामन्न रात्म दृक्
विश्व नसार्थितोविश्वगुप्तये सत्वमुपेयिताम् सात्वतांकुले ।
—श्रीमद्भागवत (गोपीगीत) दशम स्कन्ध

38. सूरसागर 2609
39. वही 3365
40. वही 3535
41. वही 3144
42. वही 3201
43. वही 3435
44. वही 3445
45. वही 3440
45. वही 3432
46. वही 3433
47. वही 3490
48. वही 3528
49. वही 3528
50 वही 3530
51. द्रष्टव्य - ब्रह्मोवाच -
हे मातस्त्वन्मुखाम्भोजं दृष्टं कृष्णप्रसादत:
सुदुर्लभं च सर्वेषां भारते च विशेषत: ।
-श्री ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म खंड ग्रंक 15
52. ग्रसमानोर्ध्व सौन्दर्य लीला वैदग्ध्य सम्पदाम्
ग्राश्रयत्वेन मधुरे हरिरालम्बनो मत: ।
-भक्तिरसामृतसिन्धु जीवगोस्वामी पृ 426
53. स्थायी भावो भवत्यत्र पूर्वक्ता मधुरा रति:
वही पृ 429
54. सूर ग्रौर उनका साहित्य पृ 245

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब विश्वविद्यालय में सम्पन्न शोध-कार्य : सर्वेक्षण तथा वर्गीकरण

पंजाब विश्वविद्यालय भारत के विश्वविद्यालयों में प्राचीनता और स्तर की दृष्टि से प्रथम कोटि के विश्वविद्यालयों में स्वीकार्य है। अतः स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर के शिक्षण के साथ-साथ इस विश्वविद्यालय में शोध-कार्य भी गुण तथा मात्रा दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। पंजाब विश्वविद्यालय विभाजन से पूर्व लाहौर में स्थित था और हरियाणा के कुछ भाग को छोड़ कर मुख्य रूप में अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के लिए ही उच्चतम शिक्षा का केन्द्र था। देश के विभाजन के बाद पश्चिमी पंजाब से आने वाले शरणार्थियों के साथ-साथ यह विश्वविद्यालय भी शरणार्थी रूप में भारत में आया। प्रशासनिक कार्यालय हिमाचल प्रदेश के सोलन नामक स्थान पर फौजी छावनी के भवनों में स्थापित किए गए और प्रदेश के विभिन्न नगरों में उपलब्ध अध्यापक वर्ग के साथ विभिन्न प्रकार की शिक्षण-कक्षाएँ आरम्भ की गईं। उन्हीं दिनों जालन्धर के डी० ए० वी० कालेज के साथ सम्बद्ध रूप में हिन्दी विभाग की भी स्थापना हुई। १९५९-६० में चण्डीगढ़ में पञ्जाब विश्वविद्यालय के वर्तमान परिसर के निर्माण के साथ-साथ विभिन्न स्थानों से शिक्षण-विभागों को चण्डीगढ़ स्थानांतरित किया गया। उन्हीं दिनों हिंदी विभाग की भी चण्डीगढ़ में विधिवत स्थापना हुई और प्रथम बार स्वतन्त्र विभाग के रूप में हिन्दी विभाग ने यहां कार्य करना आरम्भ किया। डा० इन्द्रनाथ मदान ने हिन्दी विभाग के संस्थापक और अध्यक्ष के रूप में हिन्दी विभाग का उत्तरदायित्व संभाला। व्यवस्थित विभाग, अपेक्षित अध्यापक वर्ग, सुनिश्चित छात्रावास की सुविधा, छात्र-वृत्तियो के प्रावधान, व्यवस्थित पुस्तकालय की उपलब्धि तथा सर्वाधिक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रेरक व्यक्तित्व के परिणाम स्वरूप १९६० के बाद ही सही अर्थों में पञ्जाब विश्वविद्यालय से हिन्दी में शोध कार्य का प्रारम्भ हुआ। आगे दिये जा रहे आँकड़े इस तथ्य का भली प्रकार समर्थन करते हैं।

इस सर्वेक्षण में पंजाब विश्वविद्यालय में गत 45 वर्षों में हुए शोध-कार्य सम्बन्धी सूचना विभिन्न दृष्टियों से दिए जाने का प्रयास है। पंजाब विश्वविद्यालय से शोधकार्य का आरम्भ सन् 1938 में हुआ। प्रस्तुत सर्वेक्षण फरवरी 1982 तक की कालवधि को समेटे हुए है। 45 वर्षों के सम्पूर्ण काल में 252 शोधार्थियों को हिन्दी भाषा और साहित्य से सम्बद्ध विभिन्न विषयों पर पीएच. डी. तथा डी. लिट की उपाधियाँ प्रदान की जा चुकी हैं।

सही अर्थों में पंजाब विश्वविद्यालय से शोध-कार्य का आरम्भ सन् 1958-59 के बाद ही हुआ। सन् 1938 के पहले वर्ष केवल एक शोधार्थी को उपाधि मिली। इसके बाद 6 वर्षों में किसी शोध-प्रबन्ध का उल्लेख नहीं मिलता। सन् 1945-45 में फिर एक-एक शोध-पत्र को उपाधि प्रदान की गई। इसके बाद चार वर्षों के व्यवधान के बाद 1945,52,54 और 57 में एक-एक शोध-प्रबन्ध पर पीएच. डी. की उपाधि दी गई इससे यह स्पष्ट है कि 1938 से 1957 तक के 20 वर्षों में केवल 7 शोध प्रबन्ध ही पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा पी०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एच०डी०की उपाधि के स्वीकृत हुए थे। परन्तु इसके बाद के 25 वर्षों के अर्थात् सन् 1958 से 1982 की कालावधि में 252 शोधकर्ताओं में पंजाब विश्वविद्यालय से उच्च शोध-उपाधि प्राप्त की। इस दृष्टि से इन 25 वर्षों में पंजाब विश्वविद्यालय से प्रति वर्ष शोध-उपाधि प्रदान किए जाने का मध्यमान 10 रहा है। यदि 1938 के प्रथम वर्ष से 1982 तक की सम्पूर्ण कालावधि का मध्यमान लिया जाए तो यह प्रति वर्ष 5.8 बनता है। इस सम्पूर्ण अवधि में सर्वाधिक संख्या सन् 1980 में रही जबकि 26 शोधकर्ताओं को उपाधि प्रदान की गई। 1971 में 23 1974 में 1992 से 1972 में 15 शोधार्थियों को उपाधि प्रदान की गई। 1967 और 1970 के वर्ष इस दृष्टि से कुछ अतिरिक्त अकर्मण्यता के वर्ष हैं जब केवल 2 और 5 शोध छात्र ही उपाधि प्राप्त कर सके। अन्य वर्षों में 6 और 11 के बीच शोधार्थी प्रति वर्ष उपाधि प्राप्त करते रहें है।

पंजाब विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से विविध युगों, विभिन्न प्रवृतियों, विशिष्ट कृतियों अथवा रचनाकारों तथा अलग-अलग साहित्यिक वादों, सम्प्रदाओं अथवा आंदोलनों को आधार बनाकर होने वाले शोधकार्य का सर्वेक्षण रोचक होगा। इससे जहां अद्यावधि हुए समग्र कार्य का अपनी वर्गगत सीमाओं में, आकलन संभव होगा, वही पंजाब विश्वविद्यालय को विभिन्नकालीन शोधकार्य निर्देशन की वर्गीय क्षमताओं तथा सम्भावनाओं का रेखांकन भी संभव होगा।

सन् 1938 से फरवरी, 1982 तक कुल 259 विषयों पर सफलतापूर्वक शोधकार्य सम्पन्न हुआ। इसमें आदिकाल से संबधित विषयों की संख्या केवल तीन है। भक्तिकालीन साहित्य संबंधी कुल 76 विषयों को शोध का उपजीव्य बनाया गया, जिनमें 21 विषय भक्ति के सामान्य दर्शन अथवा तुलानात्मक अध्ययन संबंधी है। सन्तकाव्य सम्बधी 25, प्रेमाख्यानक एवं सूफीकाव्य सबंधी 10, कृष्णभक्ति संबंधी 15 और रामकाव्य संबंधी 5 विषयों पर शोध प्रबंध स्वीकृत हुए। रीतिकाल पर आधारित शोध-प्रबंधों की सख्या 23 है। आधुनिक युग साहित्य की विविध-मुखी प्रगति का काल है। केवल सृजनात्मक साहित्य की विभिन्न विधाओं के संबंध में 89 शोध-प्रबंध स्वीकृत हुए जो संख्या युग एवं प्रवृत्तियों को दृष्टि से सर्वाधिक है। इनमें आधुनिक काव्य संबंधी 29 कथा साहित्य पर 33, नाट्य साहित्य पर 24 तथा निबंध-जीवनी आदि पर 3 शोध प्रबंध उपाधि के लिए स्वीकार हुए।

भाषा, व्याकरण भाषा-विज्ञान और लोक साहित्य पर शोधकार्य की मात्रा पर्याप्त उत्साहजनक रही और ऐसे 27 विषयों पर शोध उपाधि प्रदान की गई।

अनेक विषय इस कोटि के हैं जिनकी सामग्री का संबंध सर्वाधिक युग और एकाधिक प्रवृत्ति से है, अथवा जिन्हें किसी विशेष काल, प्रवृत्ति लेखक या सिद्धान्त के वृत्त में नहीं बांधा जा सकता। ऐसी कृतियों को प्रकीर्ण वर्ग में परिगणित किया है। इस कोटि की प्रस्तुतियां की कुल संख्या 41 है।

उपर्युक्त समस्त सामग्री का एक तालिका द्वारा स्पष्टीकरण तथा प्रतिशत निर्धारण सूचक एवं रोचक होगा। विभिन्न वर्गों उपवर्गो के अनुरूप तथा कालक्रमानुसर विषय सूची इस सर्वेक्षण के अन्त में परिशिष्ठ के रूप में दी जा रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तालिका—1

1938-82 में हुए शोधकार्य का वर्गीकरण एवं प्रतिशत

क्रमांक	युग,प्रवृत्ति, शाखा आदि	कुल शोध प्रबंध	अद्यावधि हुए 259 कुल शोध का प्रतिशत
1.	आदि काल	3	1.2 %
2.	भक्ति काल	76	29.4 %
	2.1 भक्ति-सामान्य 21 (8.1%)		
	2.2 सन्त काव्य 25 (9.7%)		
	2.3 प्रेमाख्यान 10 (4.0%)		
	2.4 कृष्णकाव्य 15 (6.0%)		
	2.5 रामकाव्य 5 (2%)		
3.	रीतिकाल एवं रीतिकाव्य	23	9 %
4.	आधुनिक साहित्य	89	34.4 %
	4.1 आधुनिक काव्य 29 (11.3%)		
	4.2 कथा साहित्य 33 (12.8%)		
	4.3 नाट्य साहित्य 24 (9.1%)		
	4.4 निबंध जीवनी आदि-3 3 (1.2%)		
5.	भाषा, भाषा विज्ञान, लोक साहित्य	27	10.4 %
6.	विविध	41	15.8 %
	कुल जोड़	259	100 %

एक-एक युग, प्रवृत्ति अथवा विधा संबंधी विभिन्न सर्वेक्षण एवं मात्रा निर्धारण भी विशुद्ध सूचनात्मक दृष्टि से रोचक एवं उपादेय हो सकता है।

1. आदि काल

1938-1982 की सुदीर्घ कालावधि में आदिकाल के संबंध में केवल तीन विषयों पर ही शोध कार्य सम्पन्न हो सका। इन में से एक विषय का संबंध पाठ सम्पादन से तथा शेष दो का विशिष्टयुगीन काव्य के सामान्य अध्ययन से है। निम्नलिखित तालिका द्वारा इस कार्य की मात्रात्मक स्थिति स्पष्ट हो जाएगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तालिका–2

वर्ष	कुल स्वीकृत शोध प्रबंध	आदिकाल सवंधी शोध कार्य		
		सम्पादन	सामान्य	कुल
1958	7	1	-	1
1971	23	-	1	1
1975	13	-	1	1
जोड़	43	1	2	3

विचाराधीन वर्षों में शोध प्रबंधों की कुल संख्या = 43

आदिकाल संबंधी कुल शोध-प्रबंध = 3

उपर्युक्त शोध-प्रबंधो का प्रतिशत = 7%

हिन्दी में हुए कुल शोध कार्य में उपर्युक्त का प्रतिशत = 2%

2. भक्ति युगीन काव्य

भक्तिकाल तथा आधुनिक काल इस विश्वविद्यालय में शोधपरक अध्ययन के लिए अपेक्षतया अधिक लोकप्रिय क्षेत्र रहे हैं। इसके कारण इन में शोधोपयुक्त क्षेत्र और विषयों की असीम संभावनाओं के साथ-साथ इन दोनों क्षेत्रों में उच्च-स्तरीय शोध-निर्देशको को उपलब्धि रेखांकित हो सकती है। डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डा. इन्द्रनाथ मदान का इस विभाग से उच्चतम स्तर पर गहरा संवंध व सम्पर्क इस तथ्य का उदाहरण है। यह निश्चित है कि विभाग या इससे संबद्ध अन्य उच्च शिक्षा संख्याओं में जहां शोध निर्देशन सम्भव एवं स्वीकार्य रहा है। इन दोनों की शिष्य परम्परा द्वारा नए शोध-निर्देशकों के रूप में उन क्षेत्रों को अपने अध्यापन-निर्देशन का विशेष क्षेत्र बनाया गया। भक्तिधारा में निर्गुण अथवा सन्त काव्य पर सर्वाधिक कार्य हुआ है, जबकि राम काव्य में सबसे कम। कृष्णकाव्य प्रेमाख्यानक काव्य की स्थिति मध्यवर्ती है। इनमें भी 27 शोध प्रबंध ऐसे विषय पर लिखे गए हैं जिन्हें भक्ति काव्य के इन चारों में से किसी एक वर्ग की सीमा में आबद्ध करना सम्भव नहीं। अतः उन्हें भक्ति संबंधी सामान्य, ऐतिहासिक या प्रवृत्तिगत अध्ययन के अन्तंगत परिगण्य स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार भक्तिकाल की किसी रचना का यदि भाषा वैज्ञानिक, व्याकरण संबंधी अथवा शास्त्रीय विवेचन अभिप्रेत रहा है तो उसे भी भक्तिकाव्य के स्थान पर भाषा-वैज्ञानिक/भाषाशास्त्रीय अथवा प्रकीर्ण वर्ग के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। भक्ति संबंधी विभिन्न युगों व काव्य धाराओं का अलग-अलग परिचय नीचे दिया जा रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2.1 सन्त काव्य

सन्त काव्य संबंधी कुल 25 विषयों पर शोध-कार्य सम्पन्न हुआ। सामान्य भक्ति संबंधी 21 विषय इनके अतिरिक्त है। इस वर्ग के शोधकार्य का परवर्ती वर्गीकरण निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाएगा।

तालिका—3

वर्ष	कुल शोध कार्य	सामान्य भक्ति संबंधी	सन्तकाव्य संबंधी शोध-कार्य				
			कवि विशेष	कृति विशेष	सैद्धांतिक	तुलनात्मक	कुल
1958	7	1	-	-	-	1	1
1962	16	4	1	1	-	1	3
1963	5	1	-	-	-	-	-
1964	7	1	-	-	-	-	-
1965	10	-	1	-	-	-	3
1966	16	2	2	-	1	-	3
1970	5	-	-	-	1	-	1
1971	23	1	2	1	–	-	3
1972	15	4	1	-	-	-	1
1974	19	1	3	1	1	-	5
1975	13	-	1	1	–	-	2
1976	10	-	1	-	-	-	1
1977	6	-	1	-	-	-	1
1980	26	1	-	1	-	-	1
1981	15	3	1	-	-	-	-
	205	21	14	5	3	2	25

विचाराधीन वर्षों में शोध प्रबंधों की कुल संख्या	=	204
सन्त—साहित्य सबंधी शोध प्रबंध	=	25
उपर्युक्त शोध प्रबंधों का प्रतिशत	=	12.3%
हिन्दी में हुए कुल शोध-कार्य में उपर्युक्त का प्रतिशत	=	9.7%
सामान्य भक्ति संबंधी विषयों सहित सन्त काव्य संबंधी अध्ययन का प्रतिशत	=	17.8%

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2.2 प्रेमाख्यान/सूफी काव्य

सन् 1938-1982 की कालावधि में प्रेमाख्यान/सूफी काव्य संबंधी कुल 10 शोध-प्रबंध स्वीकृत हुए। कार्य का विवरण निम्न तालिका से स्पष्ट है :

तालिका-4

वर्ष	कुल शोध प्रबंध	सामान्य भक्ति संबंधी	प्रेमाख्यान काव्य संबंधी शोध प्रबंध			
			कवि विशेष	प्रवृत्ति विशेष	तुलनात्मक	कुल
1966	16	2	...	1	...	1
1968	11	2	...	...	1	1
1969	8	...	...	...	1	1
1971	23	1	2	1	...	3
1974	19	1	...	1	...	1
1978	9	...	1	1	...	2
1980	26	1	...	1	...	1
	112	7	3	5	2	10

विचारधीन वर्षों में शोध प्रबंधों की कुल संख्या	=	112
प्रेमाख्यान/सूफी काव्य संबंधी शोध प्रबंध	=	10
उपर्युक्त शोध-प्रबंधों का प्रतिशत	=	9%
सामान्य भक्ति संबंधी शोध प्रबंधों सहित यह प्रतिशत	=	15%
1938 से अब तक हुए कुल शोधकार्य में प्रेमाख्यान संबंधी कार्य का प्रतिशत	=	3.9%
कुल शोध-कार्य में सामान्य भक्ति तथा प्रेमाख्यान संबंधी कार्य का समाहित प्रतिशत	=	6 5%

2.3 कृष्ण भक्ति

सगुण भक्ति की कृष्ण-भक्ति शाखा संबंधी शोधकार्य कुछ अधिक लोकप्रिय रहा है। सामान्य भक्ति सम्बन्धी विषयों के अतिरिक्त विशुद्ध कृष्ण-काव्य के संबंध में 15 शोध प्रबंध स्वीकारे हुए। निम्नलिखित तालिका द्वारा इस कार्य का विवरण एवं मात्रात्मक महत्व स्पष्ट होगा :—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तालिका...5

वर्ष	कुल शोध कार्य	सामान्य भक्ति संबंधी	कृष्ण-भक्ति संबंधी शोध-कार्य				
			कवि विशेष	प्रवृत्ति विर्शष	सैद्धांतिक	तुलनात्मक	कुल
1954	1	...	1	...	...	...	1
1959	7	...	1	...	...	...	1
1962	16	4	1	1	...	...	2
1965	10	...	...	...	...	1	1
1968	11	2	1	...	...	...	1
1969	8	...	1	...	...	...	1
1971	23	1	...	...	1	...	1
1972	15	4	...	1	...	...	1
1973	6	...	...	...	1	...	1
1974	19	1	...	...	...	...	1
1978	9	...	1	...	...	...	1
1979	10	...	1	...	...	1	2
1982	6	...	...	...	1	...	1
	141	12	7	2	4	2	15

विचाराधीन वर्षों में शोध प्रबंधों की कुल संख्या	141
कृष्ण काव्य संबंधी शोध प्रबंधों की सख्या	15
उपर्युक्त शोध प्रबंधों का प्रतिशत	10.6%
सामान्य भक्ति संबंधी कार्य सहित उपर्युक्त का प्रतिशत	19%
हिन्दी में हुए कुल शोध कार्य में कृष्ण-भक्ति संबंधी कार्य का प्रतिशत	6%
सामान्य भक्ति संबंधी कार्य सहित यह प्रतिशत	10.4%

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2.4 राम—भक्ति

रामभक्ति शाखा में तुलसी ही एकमात्र कवि है जो अनेकाविध शोधकार्य का आधार बने। यही कारण है कि भक्ति संबंधी शोधकार्य सबसे कम मात्रा में हुआ है। निम्न तालिका द्वारा इस का परिमाण तथा वर्ग विभाजन स्पष्ट हो जाएगा :—

तालिका—6

वर्ष	कुल शोध कार्य	सामान्य भक्ति संबंधी	रामभक्ति संबंधी शोधकार्य कवि विशेष	कृति विशेष	कुल
1958	7	1	1	...	1
1962	16	4	1	...	1
1970	5	...	...	1	1
1974	19	1	1	...	1
1975	13	...	...	1	1
	60	6	3	2	5

विचाराधीन वर्षों में शोध प्रबंधों की कुल संख्या	60
रामकाव्य संबंधी शोध प्रबंधों की संख्या	5
उपर्युक्त शोध प्रबंधों का प्रतिशत	8.2%
सामान्य भक्ति संबंधी कार्य सहित यह प्रतिशत	18.3%
विभाग में हुए कुल कार्य में रामभक्ति संबंधी कार्य का प्रतिशत	1.9%
सामान्य भक्ति संबंधी कार्य सहित यह प्रतिशत	4.2%

3 रीतिकाल एवं रीतिकाव्य

रीतिकाल एवं रीतिकाव्य सम्बन्धी अद्यावधि कुल 23 शोध-प्रबंध स्वीकार हुए हैं। निम्न तालिका द्वारा विवरण स्पष्ट हो जाएगा :—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तालिका-7

वर्ष	कुल शोध प्रबंध	रीतिकाल-रीतिकाव्य संबंधी शोध-कार्य				
		व्यक्ति विशेष	प्रवृत्ति	सैद्धान्तिक	विविध	कुल
1951	1	1	...	...	...	1
1957	1	1	...	...	...	1
1959	7	1	...	...	...	1
1962	16	...	...	...	1	1
1964	7	...	...	1	...	1
1965	10	...	...	2	...	1
1966	16	...	...	1	...	1
1968	11	1	2	1	...	4
1969	8	...	1	...	1	2
1971	23	...	2	...	1	5
1972	15	1	...	...	...	1
1978	9	...	...	1	...	1
1979	10	...	1	...	...	1
1980	26	...	1	...	...	1
	160	6	7	7	3	23

विचाराधीन वर्षों में शोध प्रबंधों की कुल संख्या = 160

रीति-काव्य संबंधी शोध प्रबंधों की संख्या = 23

उपर्युक्त शोध प्रबंधों का प्रतिशत = 14.4%

विभाग में हुए कुल शोध-कार्य में उपर्युक्त का प्रतिशत = 9%

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4 आधुनिक युग

आधुनिक युग वैविध्य का काल है। इसमें गद्यात्मक और पद्यात्मक विधाओं पर भिन्न-भिन्न विचार अपेक्षित हैं। सामान्यतः काव्य-मात्र को एक इकाई मानकर छायावादी, छायावादपूर्व और छायावादोत्तर इन तीन प्रमुख वर्गों में इसका सर्वेक्षण किया जा रहा है। इसी प्रकार गद्यविधायों में कथा-साहित्य, निबंध आदि तथा नाट्य विधाओं संबंधी सूचना भी अलग-अलग दी जा रही है, जिससे विविध-वर्गीय शोध-कार्य का मात्रात्मक अनुमान सम्भव हो सके।

4.1 आधुनिक काव्य

आधुनिक काव्य का सर्वेक्षण प्रमुख मान्य उपवर्गों के आधार पर ही हो रहा है। निम्नलिखित तालिका से यह स्पष्ट हो जाएगा :

वर्ष	कुल शोध कार्य	आधुनिक काव्य संबंधी शोध कार्य				
		पूर्वछायावाद	छायावाद	उत्तरछायावाद	विविध	कुल
1964	7	...	...	...	2	2
1965	10	...	...	...	2	2
1966	16	...	...	1	2	3
1968	11	...	1	...	...	1
1969	8	...	...	1	...	1
1971	23	1	...	...	2	3
1972	15	...	2	...	...	2
1973	6	...	..	...	1	1
1974	19	...	2	...	1	2
1975	13	1	...	...	1	2
1976	10	...	2	...	...	2
1977	6	...	...	1	2	3
1978	9	...	1	...	1	1
1980	26	...	...	...	1	1
1981	...	...	...	1	1	1
1982	...	...	...	1	...	1
	200	2	8	5	14	29

विचाराधीन वर्षों में शोध प्रबंधों की कुल संख्या	=	200
आधुनिक काव्य संबंधी कुल शोध-प्रबंध	=	29
आधुनिक काव्य संबंधी शोधप्रबंधों का प्रतिशत	=	14.5%
विभाग से हुए कुल शोध-कार्य में यह प्रतिशत	=	11.2%

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4.2 कथा साहित्य

अब तक पंजाब विश्वविद्यालय से कथा-साहित्य संबंधी 33 शोधप्रबंध स्वीकृत हो चुके हैं, जिनमें से 29 उपन्यास संबंधी और 4 कहानी संबंधी हैं। निम्न तालिका से यह तथ्य वर्गानुरूप स्पष्ट होगा :

तालिका—9

वर्ष	कुल शोध कार्य	कथा-साहित्य संबंधी शोध-कार्य							
		सैद्धांतिक	लेखक विशेष	पूर्व प्रेमचन्द	प्रेम चन्द युग	प्रेमचन्दोत्तर युग	तुलनात्मक	कहानी	कुल
1959	7	1	...	...	...	1	...	...	2
1963	5	1	...	...	...	...	...	...	1
1965	10	...	...	...	...	1	...	...	1
1967	2	...	...	...	...	1	...	...	1
1969	8	1	...	...	...	...	...	...	1
1971	23	...	...	...	1	...	...	...	1
1972	15	2	...	1	...	...	...	...	3
1973	6	1	...	...	...	...	...	1	2
1974	19	1	...	...	1	...	...	1	3
1975	13	1	...	...	...	1	1	...	3
1976	10	...	...	...	...	1	...	1	1
1979	10	...	...	...	...	...	1	...	1
1980	26	8	2	...	...	...	...	1	12
1982	6	1	...	...	...	...	...	...	1
	160	17	2	1	2	5	2	4	33

विचाराधीन वर्षों में शोध प्रबंधों की कुल संख्या = 160

कथा साहित्य संबंधी कुल शोध-प्रबंध = 33

कथा साहित्य संबंधी प्रबंधों का प्रतिशत = 21%

पंजाब विश्वविद्यालय से हिन्दी में हुए कुल शोध कार्य में प्रतिशत = 12.7%

4.3 नाट्य साहित्य

अबतक केवल 26 ऐसे विषयों पर पंजाब विश्वविद्यालय में शोधकार्य सम्पन्न हो चुका है जिनका संबंध नाटक या किसी भी वर्ग की नाट्य विधा से हो। तालिका दस से यह वर्गीकरण भली प्रकार स्पष्ट हो जाएगा :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तालिका—10

वर्ष	कुल शोध प्रबंध	काव्य नाटक	नाटक सामान्य	युग या प्रवृत्ति विशेष	रंगमंच	एकांकी	तुलनात्मक	कुल
1952	1	...	1	...	...	...	...	1
1958	7	...	1	...	...	...	...	1
1962	16	...	2	...	...	...	...	2
1966	16	...	1	...	...	...	...	1
1972	15	...	...	...	1	1	...	2
1973	6	...	...	1	...	...	...	1
1975	13	...	1	...	...	...	...	1
1977	6	...	1	...	...	...	...	1
1978	9	...	...	2	...	...	...	2
1979	10	...	...	...	1	...	1	2
1980	26	1	3	1	...	...	...	5
1981	15	...	3	...	...	...	...	3
1982	6	...	1	...	1	...	...	2
	146	1	14	4	3	1	1	24

विचाराधीन वर्षों में शोध-प्रबंधों की कुल संख्या = 246
नाट्य-साहित्य संबंधी कुल शोध-प्रबंध = 24
नाट्य-साहित्य संबंधी शोधप्रबंधों का प्रतिशत = 16.4%
पंजाब विश्वविद्यालय में हिन्दी में हुए कुल शोधकार्य प्रतिशत = 9.3%

4.4 निबंध जीवनी आदि

निबंध तथा गद्यविधाओं पर कुल तीन शोधप्रबंध लिखे गए। निम्न तालिका उनका क्रम स्पष्ट होगा

तालिका—11

वर्ष	कुल शोध प्रबंध	निबंध आदि संबंधी शोध प्रबंध	कुल
1969	7	1	1
1970	5	1	1
1980	26	1	1
	38	3	3

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचाराधीन वर्षों में शोध प्रबंधों की कुल संख्या	=	39
निबंध आदि सबंधी कुल शोध प्रबंध	=	3
निबंध आदि संबंधी शोध-प्रबंधों का प्रतिशत	=	7.7%
पंजाब विश्वविद्यालय में हिन्दी में हुए कुल शोधकार्य में प्रतिशत	=	1.2%

5. भाषा, भाषा-विज्ञान एवं लोक साहित्य

भाषा, व्याकरण, भाषा-विज्ञान और लोक साहित्य पर कुल 27 शोध प्रबन्ध स्वीकृत हुए। निम्न तालिका द्वारा इनका कालक्रम तथा वर्गीकरण स्पष्ट हो जाएगा :

वर्ष	कुल शोध प्रबंध	व्याकरण एवं भाषा	भाषा-विज्ञान	लोक साहित्य	कुल
1962	16	...	2	...	2
1963	5	1	...	1	2
1964	7	1	1	...	2
1965	10	1	...	...	1
1966	16	...	2	...	2
1968	11	1	...	...	1
1970	5	...	1	...	1
1971	23	...	1	2	3
1972	15	...	1	...	1
1974	19	1	...	...	3
1976	10	1	...	...	3
1978	9	1	2	...	1
1979	10	1	...	...	1
1980	26	...	2	1	1
1981	15	...	2	...	2
1982	6	...	1	...	1
	203	8	14	5	27

विचाराधीन वर्षों में शोधप्रबंधों की कुल संख्या	=	203
भाषा-भाषा विज्ञान तथा लोक साहित्य संबंधी कुल शोध प्रबंध	=	27
उपर्युक्त शोध प्रबंधों का प्रतिशत	=	12.2%
हिन्दी में हुए कुल शोध-कार्य में प्रतिशत	=	10.4%

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6. विविध

किसी विशेष युग, वाद, कृति, कृति या विद्या की निश्चित सीमा में बंध न सकने वाले शोध-कार्य को इस विविध वर्गों के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। यह निश्चित है कि इस वर्ग की रचनाओं में वैविध्य है तथा एकरूपता का पूर्ण अभाव है। इस वर्ग में कुल 41 शोधप्रबंध परिगण्य हैं। निम्न तालिका द्वारा इनका कालक्रम तथा वर्गीकरण स्पष्ट होगा।

तालिका—13

वर्ष	कुल शोध प्रबंध	प्रवृत्ति विशेष	विधा विशेष	व्यक्ति विशेष	अभिव्यक्ति विशेष	प्रकीर्ण	कुल
1938	1	1	...	...	...	...	1
1945	1	...	...	1	...	...	1
1946	1	...	...	1	...	...	1
1958	7	...	1	...	1	...	2
1959	7	...	...	1	1	...	3
1962	16	2	...	...	...	...	2
1963	5	...	...	...	1	...	1
1964	7	...	...	...	1	...	1
1965	10	...	...	...	...	2	2
1966	16	...	1	...	...	1	2
1967	2	...	...	...	...	...	1
1969	8	1	...	...	...	...	1
1970	5	...	...	1	...	...	1
1971	23	...	1	...	1	...	2
1973	6	...	...	...	...	1	1
1974	19	1	...	...	...	...	1
1975	13	2	...	...	...	1	3
1976	10	...	1	1	...	1	3
1977	6	...	...	...	...	1	1
1978	9	...	...	1	...	...	1
1979	10	...	1	...	...	...	1
1980	26	...	...	...	2	2	4
1981	15	1	1	...	...	3	5
	223	8	6	6	7	14	41

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचाराधीन वर्षों में शोध प्रबंधों की कुल संख्या	=	223
विविध-वर्गीय कुल शोध प्रबध	=	41
उपर्युक्त शोध प्रबंधों का प्रतिशत	=	18.4%
हिंदी में हुए शोध-कार्य में उपर्युक्त का प्रतिशत	=	15.8%

7. समाहार

उपर्युक्त सर्वेक्षण का लक्ष्य बहुत सीमित रहा है। पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ के हिन्दी विभाग द्वारा अब तक हुए कुल शोध कार्य का मात्रात्मक परिचय देकर उनका वर्गीकरण विभिन्न वर्गों वर्गों की परस्पर सापेक्षिक स्थिति तथा विभिन्न वर्षों में विभाग की क्रियाशीलता का परिचय मात्र यहां अपेक्षित रहा है। इस सर्वेक्षण के अन्त में विभिन्न युगों, प्रवृत्तियों एवं विधाओं संबंधी अब तक के शोधकार्य को वर्गीकृत सूची दी जा रही है, जिससे अपेक्षित सूचना अधिक पूर्ण और उपयोगी वन जाने की संभावना है। यह कार्य यदि भावी शोधकर्ताओं, शोध-निर्देशकों तथा हिन्दी शोध में रुचि लेने वाले विद्वानों के लिए किंचित् भी रूचिकर व [लाभकर] हुआ तो सर्वेक्षक दल अपने श्रम को सार्थक समझेगा ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ में सम्पन्न सोपाधिक शोधकार्य (१९३८ से फरवरी १९८२ तक)

1. आदि-काल (3)

1. पृथ्वीराज रासो के लघुतम का अध्ययन और उसके पाठ का आलोचनात्मक सम्पादन, 1958।
2. विद्यापति का सांस्कृतिक अध्ययन, 1971।
3. हिन्दी राम काव्यों के प्रमुख पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन : प्राकृत एवं अपभ्रंश के संदर्भ में, 1975।

2. भक्ति-काल (76)

2.1 भक्ति सामान्य (21)

1. निर्गुण तथा सगुण काव्य में रहस्यात्मक अनुभूति का स्वरूप, 1959
2. नेपाली और हिन्दी भक्ति-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, 1962।
3. हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में मुस्लिम संस्कृति के सम्पर्क का परिणाम : विषय-वस्तु, काव्य-रूप और अलंकारों की दृष्टि से, 1962।
4. सगुण भक्ति-साहित्य का नैतिक आधार, 1962।
5. भक्ति काल में माधुर्य-भाव का स्वरूप और सामाजिक परिवेश में उसका मूल्यांकन, 1963।
6. 'नानक-प्रकाश' और 'सूर्यप्रकाश' के काव्य का अध्ययन (छन्द और अलंकार), 1964।
7. वर्णरत्नाकर का सांस्कृतिक अध्ययन, 1965।
8. 19वीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य में वेदान्त परम्परा और निश्चल दास की देन, 1965।
9. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में शान्त-रस, 1966।
10. हिन्दी भक्ति-काव्य पर दैवी कथाओं का प्रभाव,: विशेषकर कबीर, जायसी और तुलसी सम्बन्धी, 1968।
11. संगरूर दरबार के कवियों की 19वीं शताब्दी के व्रजभाषा साहित्य को देन कवि मृगेन्द्र और उसके काव्य 'प्रेम पयोनिधि' के संदर्भ में, 1968।
12. भक्तिकाल की सांस्कृतिक चेतना और उसकी भक्तिकालीन साहित्य में अभिव्यक्ति, 1971।
13. भक्तिकाल के प्रमुख कवियों के व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, 1972।
14. हिन्दी में भक्तकाल परम्परा, 1972।
15. हिन्दी साहित्य में मंगल-काव्य . परम्परा और विकास, 1972।
16. मुगल काल की सगुण-भक्ति का सांस्कृतिक विश्लेषण, 1972।
17. हिन्दी भक्ति-साहित्य में माया का स्वरूप, 1974।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

18. तुलसीदास व सूरदास के काव्य-बिम्बों का तुलनात्मक अध्ययन, 1980।
19. प्राणनाथ के साहित्य का अध्ययन मध्यकालीन हिन्दी भक्तिकाव्य के संदर्भ में, 1981।
20. कबीर और तुलसी के जीवन दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, 1981।
21. सूर और तुलसीदास की जीवन-दृष्टि का तुलनात्मक अध्ययन, 1981।

2.2 सन्त साहित्य (25)

1. 'दशमग्रन्थ' का कवित्व, 1958।
2. 'दशमग्रन्थ' में पौराणिक रचनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन, 1962।
3. गुरुनानक काव्य के दार्शनिक तत्व, 1962।
4. हिंदी तथा पंजाबी के निर्गुण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, 1962।
5. सन्त कबीर की योग-साधना उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, 1965।
6. अर्थविकास की दृष्टि से हिन्दी सन्त साहित्य के दार्शनिक और धार्मिक शब्दों का अध्ययन, 1966।
7. गुरुनानक की हिन्दी कविता, 1966।
8. सन्त दादू और उनका पन्थ, 1966।
9. आदि ग्रन्थ के परम्परागत तत्वों का अध्ययन, 1968।
10. हिन्दी साहित्य पर केवलाद्वैत का प्रभाव, 1970।
11. आदि ग्रन्थ में संकलित गुरूवाणी में बिम्ब-विधान का मूल्यांकन, 1971।
12. मुख्यतः कबीर के संदर्भ में गोरखनाथ की विचारधारा का हिन्दी निर्गुण साहित्य पर प्रभाव, 1971।
13. कबीर ग्रन्थावली में प्रेमभक्ति, 1971।
14. गुरू अर्जुन देव व्यक्तित्व और कृतित्व, 1972।
15. सन्त कवि गरीबदास और उनका पन्थ, 1974।
16. दशमग्रन्थ में मध्ययुगीन समाज और संस्कृति, 1974।
17. सम्प्रेषण क्षमता की दृष्टि से गुरु गोविन्द सिंह के ब्रजभाषा काव्य का मूल्यांकन; 1974।
18. सौन्दर्य और उदात्त के सिद्धान्तों के आधार पर कबीर के काव्य का मूल्यांकन, 1974।
19. तारासिंह नरोतम व्यक्तित्व कृतित्व (18वीं शती में उपलब्ध पंजाब विशिष्ट संदर्भ में), 1974।
20. गुरुप्रताप सूरज : ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन, 1975।
21. ए क्रिटिकल स्टडी आफ 'पारस भाग' विद स्पैशल रैफरैन्स टू सेवा पंथ एण्ड टू हिन्दी लिट्रेचर कलटीवेटड अन्डर द एजीज आफ सेवा पंथ, 1975।
22. आनन्दधन . व्यक्तित्व एवं कृतित्व (गुरुवाणी व्याख्या की परम्परा के विशिष्ट संदर्भ में), 1976।
23. स्वामी हेमराज चिदाकाशी . व्यक्तित्व एवं कृतित्व। 1977।
24. जपू एवं उसके टीकाकार . कला और दृष्टि के विशिष्ट संदर्भ में (1877 ई० तक) 1980।
25. गुरुनानक काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन, 1981।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2.3 प्रेमाख्यान 10

1. मध्यकालीन हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य में कथानक रूढियां, 1966 ।
2. सूफी कविता का हिन्दी और पंजाबी में तुलनात्मक अध्ययन, 1968 ।
3. हिन्दी प्रेमाख्यान तथा पंजाबी किस्सा-काव्य का तुलानात्मक अध्ययन, 1969 ।
4. जायसी में पौराणिक कथाओं का विश्लेषण, 1971 ।
5. मोलाना दाऊद के चंदायन का साहित्यिक और सांस्कृतिक अध्ययन, 1971 ।
6. मध्यकालीन हिन्दी प्रेमाख्यानों के कथानक का अध्ययन, (16वीं शती तक), 1971 ।
7. पद्मावत (जायसी) पूर्व रचित हिन्दी प्रेमाख्यानों के आधार पर हिन्दी प्रेमाख्यान परम्परा के उद्गम स्रोत, स्वरूप का विवेचन, 1974 ।
8. जायसी के काव्य का सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन, 1978 ।
9. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों की स्वच्छंदतामूलक प्रवृत्तियां, 1978 ।
10. मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य के विकास में मुसलमान कवियों का योग, 1980 ।

2.4 कृष्ण काव्य 15

1. सूरदास के (कूटकाव्यों के विशिष्ट संदर्भ में) कूटकाव्य का अध्ययन, 1954 ।
2. श्री हित ध्रुवदास और उनका साहित्य, 1959 ।
3. मध्यकालीन प्रमुख कृष्ण-भक्ति काव्यों में भक्ति-भावना, काव्य-रुचि एवं सौन्दर्य चेतना का सामंजस्य, 1962 ।
4. सूरदास की लालित्य-चेतना, 1962 ।
5. मराठी और हिन्दी के कृष्ण परक वैष्णव साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, 1965 ।
6. आधुनिक मनोविज्ञान के संदर्भ में सूर-काव्य का अध्ययन, 1969 ।
7. सूरदास के काव्य में बिम्ब विधान, 1968 ।
8. निरंजनी सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में स्वामी हरिदास के काव्य का विशेष अध्ययन, 1971 ।
9. हिन्दी कृष्ण-भक्त-कवियों (10-11वीं शती) का जीवनादर्श एवं काव्यादर्श, 1972 ।
10. रामस्नेही सम्प्रदाय : स्वरूप, साधना और साहित्य, 1973 ।
11. रामस्नेही सम्प्रदाय : साधना और दर्शन आचार्य हरिदास की वाणी के विशिष्ट संदर्भ में, 1974 ।
12. मीरा का धर्म-सम्प्रदाय एवं भक्ति का विवेचन, 1978 ।
13. अष्टछाप के कवियों के व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, 1979 ।
14. कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन ; सूर एवं गुरु गोविन्द सिंह के संदर्भ में, 1979 ।
15. चौरासी वैष्णव की वार्ता एक सांस्कृतिक अध्ययन, 1982 ।

2.5 राम काव्य 5

1. तुलसी के रामकाव्य की परिकल्पना राजनीतिक संदर्भ में, 1958 ।
2. ईश्वर कवि और उनका साहित्य, 1962 ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. मध्यकालीन बोध तथा आधुनिक बोध की दृष्टि से रामचरितमानस और हिन्दी के आधुनिक राम-काव्य, 1970।
4. तुलसी के काव्य में बिम्ब, रूपक एवं प्रतीक विधान, 1974।
5. पूर्ववर्ती पौराणिक प्रबंध काव्य परम्परा संदर्भ में रामचरितमानस का अध्ययन, 1979।

3. रीतिकाल (23)

1. आलम का स्याम स्नेही, 1951।
2. रीति-काव्य के संदर्भ में केशवदास का अध्ययन, 1957।
3. हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी, 1959।
4. रीतिकालीन हिन्दी मुक्तक-काव्य पर संस्कृत मुक्तक का प्रभाव, 1962।
5. रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, 1964।
6. रीतिकालीन हिन्दी साहित्य विशेषकर बिहारी-सतसई में उल्लिखित वस्त्राभरणों का अध्ययन, 1965।
7. आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में केशव काव्य का अध्ययन, 1965।
8. रीतिकालीन हिन्दी साहित्य पर कामशास्त्रीय प्रभाव, 1966।
9. रीतिकालीन काव्यगत रूढ़ियां, 1968।
10. हिन्दी काव्य में नख-शिख चित्रण का स्वरूप-विकास, 1968।
11. रीतिकालीन स्वच्छन्द धारा का शिल्प विश्लेषण व मूल्यांकन, 1968।
12. रीतिकालीन काव्य को प्रवृत्तियों के संदर्भ में आचार्य अमीरदास की कृतियों का अध्ययन, 1968।
13. रीतिकाव्य में सौन्दर्य बोधात्मक तथा नैतिक मूल्यों का द्वन्द्व, 1969।
14. रीतिकालीन काव्य के उद्भव में पूर्ववर्ती परम्परा का योगदान, 1969।
15. उत्तरमध्यकाल (1850-1950) के कृष्ण संबंधो हिन्दी प्रबंध।
16. हिन्दी के उत्तरमध्यकालीन (1850—1950) सतसई साहित्य में यथार्थोन्मुखी उन्मीलन और प्रकाशन, 1971।
17. पंजाब के दरबारी कवियों के परिप्रेक्ष्य में कवि ग्वाल के कवितत्व का आधार, 1971।
18. ध्वनिसिद्धान्त : स्वरूप और विकास रीति-काल के संदर्भ में, 1971।
19. गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी का रीतिकाव्य, 1971।
20. रीतिकाल के प्रमुख कवियों का जीवन-दर्शन, 1972।
21. घनानन्द के काव्य का सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन, 1978।
22. रीतिकालीन शृंगार-काव्य की सौन्दर्य चेतना पर संस्कृत काव्य की शृंगार परम्परा के प्रभाव का अध्ययन, 1979।
23. रीति-काव्य की शृंगारेतर भाव-व्यंजना का स्वरूप-विश्लेषण, 1980।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. आधुनिक साहित्य (89)

4.1 आधुनिक काव्य (29)

1. आधुनिक हिन्दी कविता में नैतिक चेतना, 1964।
2. आधुनिक हिन्दी कविता में अभिव्यंजना कला 1964।
3. आधुनिक हिन्दी-काव्य में रूढ़िगत मान्यताएं 1965।
4. उत्तर छायावादी काव्य में प्रतीक और बिम्ब विधान तथा उनका नृतत्वशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय और सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन, 1965।
5. आनन्दवाद का मनोवैज्ञानिक आधार और कामायनी का तुलनात्मक अध्ययन, 1966।
6. आधुनिक हिन्दी काव्य में अप्रस्तुत विधान, 1966।
7. वैयक्तिक चेतना और उसका छायावाद तथा छायावादोत्तर हिन्दी काव्य में स्वरूप और विकास, 1966।
8. स्वच्छन्द कवि निराला, 1968।
9. हिन्दी गीति काव्य 1947 के बाद, 1969।
10. द्विवेदी युगीन काव्य में रीति तत्व, 1971 :
11. आधुनिक हिन्दी काव्य में उदात्त भावना, 1971।
12. आधुनिक हिन्दी काव्य में उर्दू के तत्व, 1971।
13. निराला के काव्य का स्वरूप विकास, 1972।
14. निराला के काव्य मनोवैज्ञानिक विवेचन, 1972.
15. कुकरमुत्ता से 1966 तक हिन्दी काव्य का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन, 1973।
16. महादेवी के काव्यगत बिम्बबोध और प्रतीक संयोजन का स्वरूप विश्लेषण, 1974।
17. छायावादी काव्य में रुपक के व्याकरण तथा काल की भाव दशाओं की पुनर्रचना, 1974।
18. 'इन्दु' से 1936 तक की हिन्दी कविता का सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन, 1974।
19. भारतेन्दु युगीन काव्य में राष्ट्रीय भावना, 1975।
20. छायावादोत्तर काव्य में प्रकृति, 1975।
21. महादेवी के काव्य में सामाजिक चेतना का स्वरूप, 1976।
22. छायावादी काव्य में लाक्षणिकता, 1976.
23. नई कविता में रागात्मक बोध के विविध रूप, तारसप्तक से आज तक, 1977।
24. आधुनिक हिन्दी कविता में व्यंग्य के विविध रूप, 1977।
25. हिन्दी कविता में प्रणय-भाव का स्वरूप और विकास : छायावाद से नई कविता तक, 1977।
26. प्रसाद के काव्य में बिम्बविधान का स्वरूप और विशेषताएं, 1978।
27. आधुनिक हिन्दी काव्य में छायावादोत्तर स्वच्छन्दतामूलक प्रवृत्तियां, 1980।
28. स्वतंत्रयोत्तर हिन्दी कविता में विद्रोह, 1981।
29. छायावादोत्तर हिन्दी कविता में नैतिक चेतना, 1982।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4.2 कथा साहित्य (उपन्यास व कहानी) 33

1. हिन्दी उपन्यास में नायक का स्वरूप, 1959।
2. प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ, 1959।
3. हिन्दी उपन्यास में शिल्पविधि का विकास, 1963।
4. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास में मध्यवर्गीय समाज, 1965।
5. प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्दोत्तर हिंदी उपन्यासों में नारी की परिकल्पना का विकास, 1967।
6. हिंदी उपन्यास-साहित्य के विकास में पाठकीय एवं युग चेतना का योगदान, 1969।
7. प्रसाद तथा प्रसादोत्तर उपन्यास साहित्य, 1971।
8. आज का हिंदी उपन्यास एवं उसके नायक का स्वरूप, 1972।
9. आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिंदी उपन्यास, 1972।
10. प्रेमचन्द पूर्व ऐतिहासिक उपन्यास व ऐतिहासिक रोमांस, 1972।
11. हिंदी साहित्य में प्रकृतिवादी उपन्यास का अध्ययन, 1973।
12. हिंदी कहानी नारी का बदलता स्वरूप, 1973।
13. हिंदी उपन्यास में हिंदु धर्म की अभिव्यक्ति (उद्भव से 1935 तक), 1974।
14. प्रेमचन्दोत्तर हिंदी उपन्यास, 1974।
15. हिंदी कहानी में नारी के बदलते हुए संबंध 1937-70, 1974।
16. हिंदी के नायक-विहीन उपन्यास, 1975।
17. प्रेमचन्दोत्तर हिंदी उपन्यास साहित्य में राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्ति, 1975।
18. प्रेमचन्द तथा शरतचन्द्र के कथा सहित्य में नारी-पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन, 1975।
19. स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी उपन्यास-साहित्य में राजनैतिक केतना की अभिव्यक्ति, 1976।
20. उपन्यासकार प्रेमचन्द तथा नानक सिंह के उपन्यास में चित्रित समस्याओं का तुलनात्मक अध्ययन, 1979
21. समकालीन कथा आलोचकों की आलोचना पद्धति 1950-75, 1980।
22. महिला कथाकारों के कथा साहित्य में प्रेम का स्वरूप, 1980।
23. आधुनिक हिंदी उपन्यास में व्यक्ति और समाज, 1980।
24. अद्यतन हिंदी उपन्यास का समाज मनोवैज्ञानिक संसार, 1980।
25. हिंदी उपन्यासों में उपन्यासकारों का आत्म प्रकाशन, 1980।
26. हिंदी कथा साहित्य के अस्तित्त्व में आस्तित्ववाद का स्वरूप, 1980।
27. हिंदी उपन्यासकारों में उपन्यास सिद्धान्त, 1980।
28. हिंदी उपन्यासों में चित्रित दाम्पत्य जीवन और उसकी समस्याएँ, 1980।
29. भारतीय संस्कृति के संदर्भ में उपन्यासकार गुरुदत्त का कथा साहित्य, 1980।
30. रांगेय राघव के उपन्यास समाजवादी : चेतना के संदर्भ में, 1980।
31. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कहानी में व्यक्ति, परिवार व समाज, 1980।
32. हिन्दी लम्बी कहानी का स्वरूप व विकास, 1980।
33. आत्मकथात्मक शैली के हिन्दी उपन्यासों का अध्ययन, 1982।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4.3 नाट्य साहित्य (24)

1. हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास, 1952।
2. आधुनिक हिन्दी नाटक साहित्य में सामाजिक चेतना, 1958।
3. हिन्दी नाटक की शिल्प विधि का विकास, 1962।
4. आधुनिक हिन्दी नाटक साहित्य पर बंगला नाट्य साहित्य का प्रभाव (1850-1950)
5. हिन्दी नाटक में नायक का स्वरूप, 1966।
6. पाश्चात्य एकांकी का हिन्दी एकांकी पर प्रभाव, 1972।
7. रंगमंच की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी व पंजाबी नाटक, 1972।
8. प्रसादोत्तर ऐतिहासिक नाटक, 1973।
9. हिन्दी नाट्य चिन्तन का विकासात्मक अध्ययन, 1975।
10. हिन्दी नाटकों में राष्टीय चेतना, 1977।
11. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक व आधुनिकता, 1978।
12. स्वातन्त्रोत्तर हिन्दी नाटक साहित्य नाट्य-भाषा के संदर्भ में, 1978।
13. रंगमंच के आलोक में हिन्दी नाटकों का विश्लेषणात्मक अध्ययन, 1979।
14. बीसवीं शती के हिन्दी व अंग्रेजी समस्या प्रधान नाटकों का विषय-वस्तु एवं शिल्पगत प्रवृत्तियों की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन, 1979।
15. हिन्दी नाट्य : प्रयोग के संदर्भ में, 1980।
16. हिन्दी नाटक में अन्तर्द्वन्द्व का स्वरूप (प्रसाद से मोहन राकेश तक), 1980।
17. हिन्दी नाटकों में संघर्ष, 1980।
18. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक-साहित्य में प्रगतिशील चिन्तन, 1980।
19. हिन्दी काव्य-नाटकों में नाटकीयता का स्वरूप, 1980।
20. पंजाब का आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य, 1981।
21. हिन्दी नाटकों के नारी पात्रों का मनोविश्लेषनात्मक अध्ययन, 1981।
22. आधुनिक हिन्दी नाटक में पुराख्यान तत्व, 1981।
23. नाट्य एवं रंग प्रतीक : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य के संदर्भ में, 1982।
24. आधुनिकता के संदर्भ में पौराणिक नाटक, 1982।

4.4 निबन्ध और जीवनी आदि (3)

1. आधुनिक साहित्य (जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, पत्र तथा डायरी), 1969।
2. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के सृजनात्मक साहित्य का अध्ययन, 1970।
3. हिन्दी के समकालीन निबन्ध साहित्य का स्वरूप विकास, (1950-1975), 1980।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5 भाषा भाषा-विज्ञान एवं लोक साहित्य (27)

1. हिन्दी तथा पंजाबी की ध्वनियों का ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन, 1962।
2. हिन्दी भाषा का रूप-वैज्ञानिक तथा काव्य-वैज्ञानिक अध्ययन, 1962।
3. हिन्दी भाषा में पर्यायवाची शब्दों का स्थान, 1963।
4. कुलवी लोक साहित्य, 1963।
5. गुरूमुखी लिपि में हिन्दी गद्य (18वीं और 19वीं शती), 1964।
6. हरियाणावी भाषा का उद्भव-विकास, 1964।
7. हिन्दी क्रियाओं की रूपान्तर प्रक्रिया का विश्लेषणात्मक अध्ययन, 1965।
8. पंजाबी पहाडी और खड़ी बोली को स्पर्श करती मिश्रित बोलियां, 1966।
9. प्रारम्भिक अवधी का अध्ययन, 1966।
10. हिन्दी में लोकोक्तियों के माध्यम से ग्राम्य जीवन का अध्ययन, 1968।
11. द फोनोलोजी एण्ड़ मांरफौनोमक्स आव खड़ी बोली एज स्पोकन इन ईस्टर्न पंजाब, 1970।
12. कम्पैरेटिव माफोलोजिकल स्टडीज आव हिन्दी खड़ी बोली एण्ड पंजाबी, 1971।
13. किन्नर, लोक-साहित्य, 1971।
14. पंजाब की लोक-कथाओं का आलोचनात्मक अध्ययन, 1971।
15. हिन्दी और पंजाबी शब्दो का तुलनात्मक अध्ययन, 1972।
16. कृषक-जीवन सम्बन्धी भोजपुरी शब्दावली का अध्ययन, 1975।
17. मंडी के लोकगीत : एक अध्ययन, 1974।
18. सिरमौर का लोक साहित्य, 1974।
19. ए डिस्क्रिप्टिव स्टडी आव द वैस्टर्न पहाडी डायलेक्ट-कौडयाली, ऐज स्पोकन इन द नार्थ-ईस्ट हिल्स आव डिस्ट्रिक्ट गुरदासपुर, 1976।
20. इंटैलिजेंस रिपोर्टस आव ब्रिटिश एण्ड अदर एजंसीज एज एवेलेबल इन हिंदी (19वीं शताब्दी) विद स्पेशल रेफरैंस टू द हिदरटू अननोन एण्ड अनपब्लिशड हिन्दी वर्कस एण्ड पेपरस, सच-एज अखबार डयोढ़ी का आदि), 1976।
21. हिन्दी तथा उर्दू मुहावरी का तुलनात्मक अध्ययन, 1976।
22. हरियाणा प्रदेश की लोकोक्तियां मुहावरे एवं लोक कथायें, 1978।
23. राम चरित मानस की राजनीतिक और प्रशासनिक शब्दावली का आलोचनात्मक अध्ययन, 1979।
24. भघाटी बोली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन, 1980।
25. ए सिंकोनिक सिमेंटिक स्टडी आव द 'रामचरितमानस', 1981।
26. रसायन शास्त्र की हिन्दी पारिभाषिक शब्दावली का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण तथा मूल्यांकन, 1981।
27. ए कंट्रास्टिव एनेलसिस आव स्टैडर्ड हिन्दी एण्ड बांगरू 1982।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6. विविध

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां, 1938।
2. हिन्दी साहित्य को शाह बरकत की देन, 1945।
3. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 1946।
4. आधुनिक हिन्दी साहित्य में महाकाव्य, 1958।
5. हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, 1958।
6. खड़ी बोली हिन्दी काव्य में अभिव्यक्ति कला, 1959।
7. हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में भारतीय नेताओं का प्रभाव और योगदान, 1959।
8. प्रसाद : चिन्तन व कला, 1959।
9. हिन्दी भाषा साहित्य में राष्ट्रीयतावाद, 1962।
10. हिन्दी साहित्य पर राजनैतिक आन्दोलनों का प्रभाव, 1962।
11. वीभत्स-रस और हिन्दी साहित्य, 1963।
12. हिन्दी साहित्य में व्यंग्य (1850-1957); 1964।
13. वर्णरत्नाकर का सांस्कृतिक अध्ययन, 1965।
14. साहित्य विज्ञान, 1965।
15. हिन्दी कविता में खण्ड़ काव्य, 1966।
16. हिन्दी को योरूपीय विद्वानों की देन, 1966।
17. हिन्दी और फारसी कविता : एक तुलनात्मक अध्ययन, 1967।
18. हिन्दी काव्य में विरह भावना, 1969।
19. आधुनिकता की दृष्टि से मोहन राकेश के साहित्य का अध्ययन, 1970।
20. भारतेन्दु कालीन गद्यरूपों का विश्लेषण एवं मूल्यांकन, 1971।
21. साहित्यिक हिन्दी परिष्कार या आदर्शीकरक की स्थितियां; 1971।
22. हिन्दी काव्य शास्त्र में कविता का स्वरूप विकास, 1973।
23. प्रसादोत्तर हिन्दी रोमांस, 1974।
24. भारतेन्दु युगीन साहित्य में राष्ट्रीय भावना, 1975।
25. हिन्दी काव्य में युद्ध वर्णन, 1975।
26. हिन्दी काव्य में राम का स्वरूप और मूल्यांकन (तुलसी से निराला तक), 1975।
27. परिवेश मन और साहित्य, 1976।
28. जयशंकर प्रसाद के साहित्य में प्रेम और सौन्दर्य का स्वरूप, 1976।
29. काश्मीरी और हिन्दी गीति काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, 1976।
30. हिन्दी साहित्य का इतिहास ; परम्परा और विकास 1977।
31. भारतेन्दु के साहित्य के आधार पर उनके जीवन-दर्शन का अध्ययन, 1978।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

32. गांधी-विषयक हिन्दी काव्यों का मूल्यांकन, 1979।
33. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी काव्य में व्यंग्य, 1980।
34. हिंदी में संदर्भ-ग्रन्थों की परम्परा का अध्ययन, 1980।
35. हिंदी साहित्य के आधुनिक युग के कृष्ण-काव्य के विकास का अध्ययन एवं विश्लेषण, 1980।
36. काव्य भाषा के संदर्भ में समकालीन कविता का अध्ययन, 1980।
37. हिंदी काव्य में मिथकों और पुराख्यानों का पुनर्विवेचन, 1981।
38. स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी का आत्म विकासात्सक अध्ययन (निबन्धों के विशिष्ट संदर्भ में), 1981।
39. दुष्यन्त कुमार : व्यक्ति, परिवेश तथा साहित्य, 1981।
40. स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी साहित्य के मूल्यांकन का आधार, 1981।
41. हिंदी से पंजाबी में अनुवादित साहित्य : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, 1981।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाण्डुलिपि परिचय तथा समापन टिप्पणी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० नरेश
पंजाब विश्वविद्यालय
ईवनिंग कालेज
चण्डीगढ़

जीवनराम कृत वनबास लीला

प्रस्तुत रचना रामायण के अयोध्या कांड पर आधारित राम की वनबास लीला है। एक दिन राजा दशरथ अपने श्वेत बालों को देख कर, अपनी वृद्धावस्था की तीव्रानुभूति से प्रेरित होकर, राम को राज्य-तिलक देने का निश्चय कर लेते हैं। कुलगुरु ऋषि वसिष्ठ से सहमति प्राप्त करके वे अपने मन्त्री सुमन्त को नगर की साज-सज्जादि का आदेश देते हैं। स्वर्ग से, देवताओं द्वारा प्रेषित सरस्वती अयोध्या पहुँचती हैं तथा कैकयी की दासी मन्थरा की बुद्धि भ्रष्ट कर देती हैं। प्रसन्नवदन राजा दशरथ जब कैकेकी के प्रसाद में पहुँचते हैं तो कैकेयी को चिन्तातुर देखकर उसके दुख का कारण पूछते हैं। कैकेयी उनसे अपने दो वर प्राप्त करने का आग्रह करके, प्रथम वर द्वारा भरत के लिए राज्य तथा दूसरे वर द्वारा राम के लिए वनबास मांगती है। भरत को राज्य देने में तो दशरथ को कुछ आपत्ति नहीं है परन्तु राम का वियोग उनके लिए असह्य है। वे कैकेयी से अनुनय-विनय करते हैं परन्तु कैकेयी अपने हठ पर अडिग रहती है। राम-वियोग की आशंका से मूर्च्छित होकर दशरथ धरती पर गिर पड़ते हैं।

बहुत प्रतीक्षा के अनन्तर भी जब दशरथ कैकेयी के भवन से नहीं लौटते तो गुरु वसिष्ठ सुमन्त को कारण जानने के लिए वहाँ भेजते हैं। रानी सुमन्त के द्वारा राम को वहां बुलवाती है और उन्हें स्थिति से अवगत कराती है। श्रीराम तुरन्त वन-गमन का प्रण ले लेते हैं तथा माता कौशल्या से अनुमति लेने चले जाते हैं। वहीं सीता उनके साथ जाने का आग्रह करती हैं तथा राम उन्हें साथ ले चलना स्वीकार कर लेते हैं। तभी अनुज लक्ष्मण भी उनके साथ जाने को तत्पर हो उठते हैं। राम के समझाने-बुझाने पर भी जब वे हठ नहीं छोड़ते तो राम उनसे माता सुमित्रा की आज्ञा प्राप्त करने को कहते हैं। माता की आज्ञा पाकर लक्ष्मण भी उनके संग हो लेते हैं। तीनों लोग दशरथ तथा कैकेयी को प्रणाम करके वनों की ओर प्रस्थान करते हैं, तो दशरथ सुमन्त को आदेश देते हैं कि वे उन्हें वन दिखा कर लौटा लाएं।

सुमन्त के साथ रथ में विराजमान राम, लक्ष्मण तथा जानकी के साथ-साथ अयोध्या की प्रजा भी चल देती है। तमसा नदी पर पहुंच कर रात हो जाती है तो राम, अयोध्या-वासियों को निद्रावश देख, लक्ष्मण एवं जानकी सहित, सुमन्त के संरक्षण में प्रयाण कर देते हैं। गंगा तट पर रात्रि बिताकर, निषाद से वटवृक्ष का दूध मंगाकर अगली प्रातः राम जटाएं धारण कर लेते हैं और सुमन्त को वापस अयोध्या भेज देते हैं। तत्पश्चात् नौका में सवार होकर गंगा पार करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयाग में ऋषि भारद्वाज को प्रणाम करके वे तीनों ऋषि वाल्मीकि के आश्रम में पहुंचते हैं तथा उनके परामर्शानुसार चित्रकूट पर जाकर रहने लगते हैं।

उधर जब सुमन्त अकेले अयोध्या लौटते हैं तो दशरथ राम के वियोग में प्राण त्याग देते हैं। भरत तथा शत्रुघ्न को उनकी ननिहाल से बुलवाया जाता है। वास्तविकता ज्ञात होने पर भरत तब तक अन्नजल ग्रहण न करने की शपथ लेते हैं, जब तक उन्हें राम के दर्शन नहीं होते। पिता के क्रियाकर्मोपरांत भरत समस्त परिवार एवं पुरजनों को साथ लेकर चित्रकूट पहुंचते हैं और राम से अयोध्या लौटने का आग्रह करते हैं राम के समझाने-बुझाने पर वे राम की पादुकाएं लेकर लौट पड़ते हैं परन्तु अयोध्या जाने की बजाय नन्दीग्राम में ही साधुवेश धारण करके विराजमान हो जाते हैं।

अन्य रामायण ग्रंथ तथा प्रस्तुत विषय वस्तु

जीवनराम कृत 'वनबास लीला' का कथानक यद्यपि अन्य रामायण ग्रन्थों में उपलब्ध अयोध्या काण्ड ही है तथा कवि ने स्वयं इस लीला को अयोध्या काण्ड ही स्वीकार किया है परन्तु कथावस्तु किसी भी रामायण ग्रन्थ से ज्यों की त्यों ग्रहण नहीं की गई है। कवि ने अपनी कल्पना शक्ति तथा मौलिकता का परिचय देते हुए इसमें कई एक स्थलों को बदला है तथा इसमें व्यवहारिक दृष्टि से कई एक मनोवैज्ञानिक अपेक्षाओं की पूर्ति का प्रयास भी दिखाई देता है।

यद्यपि यह सर्वप्रसिद्ध है कि राम विष्णु का अवतार थे परन्तु जीवनराम के यहां उनके अवतार धारण करने का कोई स्पष्ट संकेत उपलब्ध नहीं होता अपितु ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि का उद्देश्य राम को ईश्वर के रूप में प्रस्तुत न करके, एक आदर्श मानव के रूप में प्रस्तुत करना ही। सम्भवतः यही कारण है कि अध्यात्म रामायण में जहाँ अयोध्या कांड के आरम्भ में ही नारद जी श्री राम के पास आकर उन्हें ब्रह्मा जी का संदेश देते हुए उनके पृथ्वी पर अवतरण की सुधि दिलाते हैं,[1] वहाँ जीवनराम के यहां इस प्रकार का कोई संकेत नहीं दिया गया है।

रामचरित मानस में गोस्वामी तुलसी दास ऋषियों मुनियों की महिमा तथा उनके महत्व की स्थापना में राजा दशरथ को मुनि वसिष्ठ के पास 'भेजते' हैं, जहाँ जाकर वे राम को युवराज पद देने की इच्छा व्यक्त करते हैं,[2] हालाँकि वाल्मीकि के यहाँ प्रजातन्त्रात्मक पद्धति दिखाई देती है कि राजा दशरथ केवल गुरु वसिष्ठ से ही मन्त्रणा नहीं करते अपितु राज्यसभा बुलवाकर सर्वसाधारण से सम्मति प्राप्त करते हैं। तदनन्तर राजा दशरथ ऋषि वसिष्ट से राम को युवराज का पद देने की प्रार्थना करते हैं:

वसिष्ठं मुनि शार्दूलं राजा वचनमब्रवीत्।
अभिषेकाय रामस्य यत्कर्म सपरिच्छदम्॥

वा. रा.-अ. का.-३/६

परन्तु जीवनराम का समय क्योंकि रियासती राजाओं का समय था, अतः उनके यहाँ न ऋषियों की महिमा की स्थापना का प्रयास ही प्राप्त होता है तथा न जनसाधारण की सम्मति प्राप्त करने की प्रजातंत्रात्मक पद्धति ही अपनाई गई है। यहां तो पूर्ण एकराट् राजाओं की तरह व्यवहार करते हुए राजा दशरथ, सीधे ही सुमन्त को आदेश देते हैं कि जाकर गुरु वसिष्ठ को बुला लाओ। हालाँकि जीवनराम ने दशरथ से यह आदेश दरबार में दिलाया है परन्तु प्रतीत यह होता है जैसे उस समय का दरबार, तथा सुमन्त, दो आदमियों पर ही आधारित हो; अन्य लोग वहाँ उपस्थित न हों।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जल्दी वज़ीर जाओ वसिष्ठ जी को लाओ।
मत देर तुम लगाओ ये हुक्म तुमको दीना ।।

परन्तु जीवनराम अपने नायक के अवतार-पक्ष की उपेक्षा करने में सफल न हो सके। अतः राम के राज्याभिषेक में कैकेयी किस प्रकार विघ्न उत्पन्न करे-इस समस्या के समाधान में उन्हें अध्यात्म रामायण तथा तुलसी रामायण के अनुरूप ही, देवताओं द्वारा प्रेषित सरस्वती को ही साधन बनाना पड़ा। हालाँकि बाल्मीकि रामायण में सरस्वती मंथरा की बुद्धि भ्रष्ट नहीं करतीं अपितु वह 'स्वेच्छा से ही' अटारी पर चढ़ती है और सम्पूर्ण अयोध्या को मोद-मंगलमय देखकर पास खड़ी धात्री से इसका कारण पूछती है :—

ज्ञातिदासि यतोजाता कैकेय्यास्तु सहोषिता।
प्रासादं चंद्रसंकाशमारुरोह यदृच्छया ।।
वा रा- अ का. ७ १

हां, जीवनराम के यहां तनिक नाटकीयता का समावेश अवश्य अधिक हो गया है। रामचरित मानस में देवता राम के राज्याभिषेक का समाचार सुनकर सीधे ही सरस्वती की वन्दना करने लग जाते हैं -

सारद बोलि विनय सुर करहीं।
बारहिं बार पाय लै परहीं ।।
रा. च, मा. - पृ. ३४४

परन्तु जीवनराम के यहाँ इस समाचार पर इन्द्र का दरबार लगता है तथा इन्द्र देवताओं के सामने समस्या प्रस्तुत करते हैं। तब देवता लोग ब्रह्मा जी को जुहारते हैं तथा ब्रह्मा जी यह उपाय बताते हैं कि सरस्वती को मंथरा की बुद्धि फिराने के लिए भेजा जाय।

बुलाय सरस्वती को तुम भेजो सभी काम करके आवे।
जिह्वा पर मंथरा की बैठ कैकेकी को जाकर समझावे।।

बाल्मीकि रामायण में सुमंत के राजा दशरथ के पास जाने का प्रसंग काफी अप्राकृत सा है कि कैकेयी के प्रासाद में, वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ सुमंत दशरथ के समीप बैठ कर उन्हें प्रसन्न करनेवाले वाक्यों से जगाने लगते हैं :-

न शेकुरभिसंरोद्धुं राज्ञः प्रियचिकीर्षवः।
स समोपस्थितो राज्ञस्तामवस्यामजज्ञिवान् ।।
बा रा-अ. का १४।४५

इसके विपरीत अध्यात्म रामायण में सुमंत दशरथ को अत्यन्त खिन्न देखकर कैकेयी से पूछते हैं :

देवी कैकिय वर्धस्व किं राजा दृश्यतेऽन्यथा।
अ रा- अ का-३।४४

इसी प्रकार तुलसी रामायण में भी सुमंत महल में जाते ही; राजा को दशा देखकर, जैसे सूख ही जाते हैं और सुमंत की हालत यह है कि मारे डर के कुछ पूछ भी नहीं सकते :

कहि जयजीव बैठ सिरु नाई।
देखि भूपगति गयउ सुखाई ।।
सचिव सभीत सकहिं नहि पूंछी।
बोली असुभ भरी सुभ छूछी ।।
रा. च. मा.-पृ. ३६५

और जीवनराम के सुमन्त तो राजा को बेहोश पड़े देख कर सीधे कैकेयी से प्रश्न करते हैं कि :

रानी जी क्या राव तुमसे लडे ?
ये पृथ्वी पे बेहोश क्यों हैं पड़े ?
खुशी से ये दरबार से आए थे।
रंजी का कारण न बतलाए थे।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि जीवराम राम को आदर्श मानव दिखाना चाहते थे, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि उनके यहां माता कौशल्या तथा सुमित्रा भी आदर्श नारियां बन कर आतीं। अतः जब राम कौशल्या से तथा लक्ष्मण सुमित्रा से बन जाने की अनुज्ञा मांगते हैं तो वे तुरन्त अनुमति दे देती हैं, हालांकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। इस लिए बाल्मकि तथा अध्यात्म रामायण में[3] माता कौशल्या राम को वन जाने की अनुमति न देकर, उन्हें वन जाने से रोकती हैं :—

न त्वानुजानामि न मां विहाय सुदुःखिता मर्हसि
गन्तुमेवम् ।।
बा. रा. अ. का. २१/५२

इसी प्रकार बाल्मीकि तथा अध्यात्म[4] दोनों रामायणों में लक्ष्मण भी सीधे ही राम के साथ वन जाने का आग्रह नहीं करते अपितु कैकेयी के व्यवहार से क्रुद्ध होकर दशरथ को मार डालने तक की बात कहते हैं :

हनिष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्यासक्तमानसम् ।

कृपणं च स्थितं बाल्ये वृद्धभावेन गर्हितम् ।।
बा. रा.-अ. का.-२१-१८

राम जब लक्ष्मण तथा जानकी सहित वन-गमन पूर्व, दशरथ को प्रणाम करने जाते हैं तो जीवन-राम, सम्भवतः तुलसी[5] के अनुकरण में, दशरथ से सुमन्त्र को यह आदेश दिला देते हैं कि राम को बन दिखाकर लौटा लाओ। हालांकि दशरथ जैसे सत्यवादी तथा दृढ़ प्रतिज्ञ राजा का ऐसा कहना उचित प्रतीत नहीं होता। बाल्मीकि तथा अध्यात्म रामायण में यह प्रसंग अधिक स्वाभाविक बन पड़ा है। वहां दशरथ कैकेयी को दोष न देकर स्वयं को दोष देते हैं तथा राम से आग्रह करते हैं कि वे उन्हें कैद करके अयोध्या का राज्य संभाल लें[6]:-

स्त्रीजितं भ्रान्त हृदयमुन्मार्ग परिवर्तिनम् ।
निगृह्य मां गृहाणेद राज्यं पापं न तद्भवेत् ।।
अ. रा.—अ. का.—३-६१

गंगा पार करके केवट को उतराई देने के प्रसंग की कल्पना में तुलसीदास ने अद्भुत मार्मिकता तथा नाटकीयता का समावेश किया था, हालाकि बाल्मीकि तथा अध्यात्म रामायण में उतराई देने की बात नहीं कही गई है। जीवनराम तुलसी के वर्णन से हट कर तनिक नयापन पैदा करने का प्रयास करते हैं। यहां यद्यपि उनका राम को आदर्श मानव स्थापित करने का उद्देश्य एक बार फिर हिल जाता है परन्तु वे उनके 'जगतारण' नाम का पूरा-पूरा लाभ उठाते हुए काफी मौलिक तथा सुन्दर ढंग से राम को मल्लाह का सजातीय बना देते हैं :—

तुम रघुवर हमरे साथी, हमरी तुमरी इक जाती, मैं
जान लिया दिल माई।
नाई से नाई न लेता, धोबी को धोबी न देता, ये मेरी
समझ में आई।
जो उतराई लुं तुमसे, फिर जाति अलग हो हमसे, मुझ
ताना दें सब भाई।
इन नदियों के खेवट हम भवसागर के प्रभु हो तुम,
जब तेरे घाट पर आइ।
जब तेरे घाट पर आऊं, 'जीवन' तब दर्शन पाऊं मुझे
देना पार लंघाई ।।

तुलसी के यहां भी केवट-राम-संवाद में अद्भुत मार्मिकता है, परन्तु तुलसी का केवट श्रद्धावान है, चतुर नहीं। वह उतराई का सौदा चौदह वर्षों पर उठा रखता है :—

फिरती बार मोहि जो कुछ देवा।
सो प्रसाद मैं सिर धरि लेवा ।।
रा. चा. मा. पृ० ४१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

परन्तु जीवनराम का केवट उतराई के बदले तुरन्त उतराई मांग कर, भवसागर पार करने के लिए राम की अनुकम्पा की याचना कर लेता है।

भरत द्वारा राम को चरण-पादुकाओं के राजगद्दी पर रखने के प्रसग में भी जीवनराम ने, अन्य रामायण ग्रन्थों से भिन्न' नन्दीग्राम में राजगद्दी बनवा कर उस पर चरण पादुकाएँ रखवा दीं तथा राम से मिलकर लौटे हुए भरत अयोध्या गए ही नहीं अपितु लौटते हुए मार्ग में ही नन्दीग्राम नामक स्थान पर ठहर गए और उन्होंने शत्रुघ्न को आदेश दिया कि वे जाकर अयोध्या का राज्य संभाले क्योंकि राजा के बिना प्रजा बहुत दुखी होती है। बाल्मीकि अध्यात्म तथा तुलसी रामायण में उनका मार्ग में ही (नन्दीग्राम) ठहरना वर्णित नहीं है, अपितु वे सबके साथ अयोध्या लौटते हैं तथा वहां से नन्दीग्राम आते हैं। बाल्मीकि रामायण में तो वे नन्दीग्राम आने के लिए गुरुजनों की अनुमति लेते हैं।[7] अध्यात्म रामायण में भी भरत अयोध्या ही लौटते हैं तथा वहां समस्त पुरवासी और देशवासियों को यथायोग्य बसा कर तब नन्दीग्राम जाते हैं।[8] तुलसी के यहां तो भरत राम की चरण-पादुकाओं को भी अयोध्या में ही राज्य सिंहासन पर विराजित करते हैं :—

मुनि सिख पाइ असीस बड़ि जनक बोली दिनु साधि।
सिंघासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि।।
राम मातु गुरू पद सिरु नाई। प्रभु पद पीठ रजायसु पाई।
नंदिगाँव करि परन कुटीरा। कीन्ह निवास धरम धुर धीरा।।

रा. च. मा.—पृ० ५६१

राम को लौटा लाने में असफल परन्तु दृढ़ निश्चय वाले भरत का अयोध्या न आकर, रास्ते में ही, साधु वेश धारण करके' नन्दीग्राम में रुक जाना अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है।

अस्तु विख्यात रामकथा के एक अंश को कथानक के रूप में चुनकर यद्यपि जीवनराम अनुकरण मात्र तक सीमित रह सकते थे परन्तु उन्होंने जहां-तहां अपनी मौलिक कल्पना द्वारा अपनी प्रतिभा का जो प्रमाण दिया है, वह श्लाघ्य है।

भाषा-शैली

वनवास लीला की भाषा खड़ी बोली हिन्दी है परन्तु इस पर उर्दू, पंजाबी, व्रज आदि भाषाओं का बहुत गहरा प्रभाव है। अनेक देशज शब्दों का सहज समावेश इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि इस ग्रन्थ की रचना कवि ने भाषा सम्बंधी अपने पाण्डित्य प्रदर्शनार्थ नहीं की अपितु मंच की आवश्यकताओं एवं अपेक्षाओं के संदर्भ में तत्कालीन जनसाधारण के लिए इसमें रोचकता तथा ग्राह्यता भरने का प्रयास किया है। संभवतः यही कारण है कि इसमें उर्दू-फारसी के अनेक तत्सम शब्दों यथा वज़ीर, फर्माइए, हुक्म, उम्र, रौनक इन्तिजाम खुद व खुद, गमगीन, गुफ्तगु आदि का खुलकर प्रयोग किया गया है। उर्दू-फारसी शब्दों के साथ साथ कवि ने कतिपय उर्दु मुहावरों यथा कमर कसना' 'नौबत दोहराना' आदि का प्रयोग भी किया है। कहीं कहीं कवि ने मौलिक ढंग से हिन्दी एवं उर्दु के शब्दों का मिश्रित रूप अपनाकर कुछ नवीन शब्दों को रचना भी की हैं, जैसे दशरथ को 'अवध का सितारा' न कहकर 'अवध-सितारे' कहा है तथा नश्वर शरीर को 'काल निशानी' कहा है।

प्रस्तुत रचना की भाषा पर पंजाबी का बहुत गहरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसका कारण कवि का स्वयं पंजाबी भाषी होना ही हो सकता है। लाऊं

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(लगाऊं), लऊंगा (लूंगा), दऊंगा (दूंगा), डौंडी (मुनादी), तैं (तूने), पछानो (पहचानो), चरणीं (चरणों में), विछोड़ा (वियोग) इत्यादि पंजाबी शब्दों का प्रचुर प्रयोग इस पुस्तक में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। 'की हैं' के स्थान पर 'करी हैं' 'डाल गया' के स्थान पर 'पा गया' आदि अनेकानेक प्रयोग भी इस ग्रन्थ पर पड़े पंजाबी प्रभाव को स्पष्ट करते हैं। दीन्हा, लीन्हा, ठौर, लगि तथा वेगि जैसे अनेक अवधी तथा तुमरो को (कौन), जरो इत्यादि ब्रज और न्यारा (अलग-भिन्न), म्हारी, लिख्या जैसे बाँगरू शब्दों के दर्शन भी प्रस्तुत रचना में होते हैं।

लय के मोह में पड़कर कवि ने अनेक स्थानों पर, भाषा विषयक मनमानियां भी की हैं। कई जगह तो तुक मिलाने के लिए पुल्लिंग शब्दों को स्त्रीलिंग शब्दों में ही परिवर्तित कर दिया गया है ('कहा' का 'कही') तथा कई जगह शब्द का नया रूप ही गढ़ लिया गया है, जैसे 'झटपट' का 'झपट'। भाषा संबंधी ऐसी मनमानियों के कारण ही कवि ने 'फिर ज़बान से न बोला' के स्थान पर 'फिर न बोला ज़बां', सिधार गया के लिए 'सिधा गया', 'भरे आँखों में नीर' के लिए 'भरे आँखों नीर', -वैसे माता को पहचानों' के लिए 'वैसे माता को पहचानी' तथा 'मिटता नहीं मिटाए' के लिए 'मिटता नहीं मिटाई' आदि प्रयोग किए हैं।

लय की आवश्यकताओं की अनुपस्थिति में भी, कवि कई स्थलों पर तत्सम तथा तद्भव शब्दों का मिश्रण करके कुछ नए प्रयोग किए हैं। यथा 'पितृ, वाक्य' के स्थान पर 'पितुवाक्य' का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'काल कटारी[8] जैसे शब्दों की रचना भी तत्सम और तद्भव शब्दों के श्रमिण द्वारा ही की गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना में कवि की शैली का नाटकीयता प्रधान रहना तो स्वाभाविक ही है लेकिन जीवनराम इतिवृत्तात्मकता के मोहजाल से भी बाहर नहीं निकल पाए हैं। छोटी बड़ी समस्त घटनाओं का व्योरा देने का प्रयास कई स्थलों पर प्रभावोत्पादकता को क्षति पहुँचाता हुआ प्रतीत होता है।

यहां कवि की शैली के एक बहुत बड़े दोष की चर्चा करना भी अनुचित न होगा। यह है 'सम्बोधन दोष।' एक ही वाक्य में तू तुम और आप द्वारा किया गया सम्बोधन कवि की शैली की कमजोरी का द्योतक है। उदाहरण के लिए दो पंक्तियां ही पर्याप्त रहेंगी :-

जो बनती है तुमसे बना लीजिए।

तथा

रहुँ नहीं बिन आपके या चलूं तुम्हारे साथ।

छन्द :-

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना में क्योंकि कवि को अभिनेयता का बहुत ध्यान रहा है और एक शताब्दी पूर्व की रामलीला तथा राम नाटकों में प्रचलित जनप्रिय तर्जों पर आधारित गीतों, गजलों कव्वालियों राग-रागनियों में कवि को बहुत रुचि थी, इसलिए 'वनबास लीला' से छन्दों की विविधता की अपेक्षा की जा सकती है। जीवनराम को संगीत का ज्ञान था तथा वे अपने काव्यगुरु चन्दूलाल के साथ सभाओं, उत्सवों जलसे-जलूसों तथा अखाड़ों में सम्मिलित होकर गायन द्वारा अपनी रचनाओं को पाठकों तक पहुँचाया करते थे। अत: प्रस्तुत रचना में कई स्थलों पर 'संवाद' भी 'दोगाना' बन गया है।

जीवनराम ने 'संवाद' तथा 'स्वगत भाषण' में प्राय: दोहा और शे'र का प्रयोग किया है शे'र का प्रयोग सम्भवत: पारसी थियेटर के प्रभाव के अन्तर्गत किया गया है। इन थियेट्रीकल नाटकों के अनुरूप ही 'वार्ता' को संक्षिप्त' रखकर 'गान' पर बल

दिया गया है। रचना के आरम्भ में ही जब सुमन्त राजा दशरथ से उनकी चिन्ता का कारण पूछते हैं तो दशरथ "सुमन्त सुनो जो हम कहते हैं" कहकर गान आरम्भ कर देते हैं। तत्कालीन नाटकीय पद्धति का प्रभाव वहां भी दृष्टिगोचर होता है, जहां कोई पात्र 'वार्ता, में अपनी बात कहकर: उसी बात को कविता में दोहराता है। दोहा तथा शे'र के अतिरिक्त, प्रस्तुत रचना में, जिस छन्द के दर्शन होते हैं, वह है कव्वाली रचना के आरम्भ में ही, राजा दशरथ जब अपनी वृद्धावस्था का वर्णन करते हुए, राम को राज्य तिलक देने की इच्छा व्यक्त करते हैं, तब कवि उनके मनोभावों की अभिव्यक्ति कव्वाली छन्द में ही करता है। यही कव्वाली छन्द कई अन्य स्थलों पर भी उपस्थित रहता है। सुमित्रा के लक्ष्मण को राम के पदानुराग की शिक्षा देने में, राम-वन-गमन पर राजा दशरथ के रुदन करने में, चित्रकूट पर्वत पर गुरु वसिष्ठ के राम से कैकेयी का कहना मानकर अयोध्या लौट चलने का आग्रह करने में, राम द्वारा भरत को धैर्य धारण करने की शिक्षा देने में तथा भरत के राम से उनकी खड़ाऊँ मांगने में 'कव्वाली छन्द' का ही प्रयोग किया गया है।

शे'र तथा कव्वाली के अतिरिक्त उर्दू-फारसी का एक और छन्द भी कतिपय स्थलों पर प्रयोग में लाया गया है। यह है गजल राम के दशरथ को यह आश्वासन देने में कि वे उनके वचन पूरे करने के लिए सहर्ष वन जाएँगे राम के अयोध्या से विदा होने में, अयोध्या वासियों के हाहाकार में, दशरथ के संताप में, कैकेयी भरत संवाद में, भरत के राज्य को ठुकराने का निश्चय धारण करने में, राम के (चित्रकूट पर) गुरू वसिष्ठ तथा भरत को अयोध्या लौटने से इन्कार करने में, भरत के आग्रह में तथा भरत के नन्दीग्राम प्रवास के निर्णय में 'गज़ल' का ही प्रयोग किया गया है।

राग-रागानियों में राग विहाग, राग पीलू, राग जोग, राग जैजैवन्ती तथा राग जंगला आदि रागों तथा रागनी संगीत जैसी रागनियों का प्रयोग उपलब्ध होता है। जहां एक ओर राम-लक्ष्मण-संवाद में रागनी-संगीत को आधार बनाया गया है, वहां दूसरी ओर निषाद के कथन में राग विहाग के दर्शन होते हैं। यही राग उस समय भी प्रस्तुत होता है जब भरत चित्रकूट जाकर राम से मिलते हैं। सुमन्त जब राम से विदा लेकर अयोध्या लौटते हैं तब पीलू राग उनके मानसिक क्लेश की अभिव्यक्ति का माध्यम बनता है। दशरथ की मृत्यु पर रानियों के रुदन को भी इसी राग में अभिव्यक्ति प्राप्त होती है तथा इसी राग का आश्रय लेकर गुरु वसिष्ठ दशरथ की मृत्यु पर रानियों को धैर्य बंधाते हैं। इसी प्रकार दशरथ की मृत्यु पर रानियों के रुदन में ही राग जोग के भी दर्शन होते हैं तथा भरत से केवट के वार्तालाप में राग जंगला के भरत जब चित्रकूट पर जाकर, राम से उनके वन चले आने पर दुख व्यक्त करते हैं तब उनके मनोभावों की अभिव्यक्ति जैजैवन्ती राग में की गई है।

राग रागानियों के अतिरिक्त तत्कालीन प्रचलित तर्जें भी कवि की अभिव्यक्ति का माध्यम बनी हैं। इनमें तर्ज भजन, तर्ज नाटक तर्ज बंजारा को प्रमुखता प्राप्त हुई है चित्रकूट प्रवास में सीता जब राम से अपने स्वप्न का वर्णन करती हैं, तब उनका गान 'तर्ज भजन' पर कविताबद्ध किया गया है। कैकेयी-दशरथ-संवाद में 'तर्ज नाटक' को आधार बनाया गया है तथा केवट के राम से प्रार्थना करने में 'तर्ज बंजारा' का आश्रय लिया गया है।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छन्दों में 'दोहा' के प्रयोग बाहुल्य के अतिरिक्त छप्पय, वरवै तथा लावणी का प्रयोग भी उपलब्ध होता है। राम के कैकेयी को दिय गए उत्तर में छपय छन्द के दर्शन होते हैं। तथा रचना के अन्त रंगाचार के कथन का पूर्वार्द्ध वरवै छन्द में कवितावद्ध किया गया है। लावणी छन्द तीन महत्वपूर्ण स्थलों पर अपनी छटा प्रदर्शित करता है। राम के राज्याभिषेक पर इन्द्र की चिन्ताभिव्यक्ति में, सरस्वती इन्द्र-संबाद में तथा फिर राम-वन-गमन में लावणी छन्द ही उपलब्ध होता है।

अलंकार

इतिवृत्त-प्रधान इस रचना में न तो कवि को काव्य सम्बन्धी अपने ज्ञान का प्रदर्शन ही अभीष्ट था तथा न ही सर्वसाधारण के लिए, मच की अपेक्षाओं के संदर्भ में, ऐसा करना उनके लिए संभव था। अतः इस ग्रन्थ में अलंकार की उस छटा का अभाव है जो भक्तिकालीन कवियों के यहां प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इस रचना में कवि जीवनराम कथा कहने की धुन में लगे प्रतीत होते हैं। शायद उनके श्रद्धाभाव के लिए राम की कथा ही मन को बाँध लेने में इतनी सक्षम और समर्थ है कि उसके अलंकरण की आवश्यकता ही उन्हें अनुभव नहीं होती। फिर भी कविता जब लेखनी के रास्ते कागज पर उतरती है तो अनायास ही उसके नुपुर झनझना उठते हैं। अस्तु जीवनराम के यहां भी जो थोड़ा बहुत अलंकारों का प्रयोग हुआ है, उसमें सायास कुछ भी प्रतीत नहीं होता; अनायास ही ये अलंकार कविता-वनिता के साथ चले आए हैं।

सहज रूप से प्रस्तुत हुए इन अलंकारों में अनुप्रास, उपमा, रूपक अन्योक्ति आदि अलंकार सम्मिलित हैं। कोप-भवन में पड़ी रानी कैकेयी से दशरथ का वार्तालाप अनुप्रास का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है:—

रानी हमारी तू हमको प्यारी जो मर्जी तुम्हारी तू
कहती नहीं।
क्या मैं बताऊं अभी मर जाऊं मैं प्राण गंवाऊं मैं रहती
नहीं।

इसी प्रकार राम-केवट-संवाद में तथा दशरथ-मरण के समय कौशल्या के विलाप में भी अनुप्रास की छटा विद्यमान है।

अर्थालंकारों में उपमा के अनेक उदाहरण इस रचना में उपलब्ध हैं। अनेक स्थलों पर कवि ने सहज रूप से ही, उपमा अलंकार का सहारा लेकर भी बात को स्वाभाविक बनाए रखा है। राम-वियोग में दशरथ की दशा को 'जल-विहीन मछली' से, राम के वियोग में जनसाधारण की दशा को 'मणि-विहीन सर्प' से तथा लक्ष्मण-भरत-मिलन में 'सर्प की मणि-प्राप्ति' वाली दशा से उपमा देकर, कवि ने उपमा के भेदोपभेद प्रदर्शन में न पड़कर, लोक मुख में प्रचलित साधारण उपमाओं का इस प्रकार प्रयोग किया गया है कि वे अलंकार प्रतीत होने के स्थान पर, कवि के कथन का सहज अंग प्रतीत होती हैं।

इसी प्रकार 'उड़ गया भंवर हुआ सैलानी' जैसी पंक्तियों में रूपक अलंकार के माध्यम से, कवि ने आत्मा के शरीर त्याग कर उड़ जाने की बात कही है। 'मुझे डस गई नागिन कारी है' जैसी पंक्तियों में अन्योक्ति द्वारा कैकेयी की वर-प्राप्ति विषयक हठ पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दशरथ की प्रतिक्रिया को अभिव्यक्ति दी गई है।

रस :

यद्यपि नाट्याचार्य भरत मुनि ने :—

न यत्र दु:खं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सर: ।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्त: प्रथितो रस: ॥

कहकरशान्तरस को वैराग्य की चरम सीमा घोषित करते हुए, इसके सफल अभिनय पर संदेह प्रकट किया था परन्तु अभिनय के उद्देश्य से रचित प्रस्तुत रचना में कवि जीवनराम ने एक ऐसे विषय का चयन किया है, जिसमें सर्वत्र शान्तरस ही विद्यमान रहता है। सम्भवत; इसका कारण यह था कि हमारा कवि पारलौकिक निःश्रेयस के लिए इन्द्रियों के बन्द होने को स्वीकार नहीं कर रहा था। उसकी दृष्टि में संभवत: यह व्यापार विषयोग तक ही सीमित था। अस्तु, प्रस्तुत रचना में लौकिक सुखों के त्याग तथा प्राकृतिक सुखों के उपयोग द्वारा जिस उदासीनता की विद्यमानता रहती है, वह जिस रस की प्रचुर मात्रा में उत्पत्ति करती है, वह शान्त रस ही है।

फिर भी, जैसे-जैसे कथा अग्रसर होती है, इसमें अन्य रसों का सहज समावेश भी होता रहता है कैकेयी-दशरथ-संवाद में कवि ने कैकेयी के अचानक पर्वितित हुए स्वभाव को जिस प्रकार से उघाड़ा है, उससे उत्पन्न हुआ विस्मय तथा इससे पाठक के हृदय में उभरने वाली चिन्ता एवं आश्चर्य अद्‌भुतरस की सृष्टि करता है। इसी प्रकार संवाद की समाप्ति पर राजा दशरथ का बेहोश होकर धरती पर गिर पड़ना तदनन्तर राम का तपस्वी वेश धारण करना और उन के वन-गमन के समय अयोध्या-वासियों का विलाप, सुमन्त के लौटने का वर्णन, दशरथ की मृत्यु तथा भरत-कैकेयी-संवाद आदि प्रसंगों में जिस शोक की भावना का उद्रेक पाठक के मन में होता है, उससे करुण रस की सृष्टि होती है। लेकिन इस कथा के नायक राम उनकी माता कौशल्या, पत्नी सीता, भाई लक्ष्मण तथा माता सुमित्रा की धर्मवीरता तथा दयावीरता शोक की उस भावना पर हावी हो जाती है तथा अनेक स्थलों पर यथा कैकेयी के यहां पहुंचकर राम का अद्‌भुत धैर्य से वरदान को शिरोधार्य करना कौशल्या द्वारा राम को वन जाने की अनुपति प्रदान करना, सीता का साथ चलने का आग्रह, लक्ष्मण का वन जाने के लिए अनुरोध तथा सुमित्रा द्वारा लक्ष्मण को भाई के सेवाहित बन जाने की अनुमति देना आदि प्रसंगों में जिस साहस, शौर्य और महान धैर्य के साथ राम, कौशल्या, सीता, लक्ष्मण तथा सुमित्रा आदि पात्र हमारे सामने आते है, उनके कार्य व्यवहार में वीर रस की सृष्टि होती है।

कवि परिचय तथा रचना काल :

रचना के अन्त में स्व परिचय देने की अपने काव्यगुरु चन्दूलाल की पद्धति के विपरीत जीवनराम को इस रचना से हमें न तो कवि विषय में ही कुछ जानकारी प्राप्त होती है तथा न इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में ही कोई संकेत प्राप्त होता है। अन्त: साक्ष्य से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे चन्दूलाल को अपना काव्यगुरु मानते थे। रचना के अन्त में रंगाचार के मुख से कहलाई गई ये चार पंक्तियां :—

नाटक यह बनवास का काण्ड अयोध्या जान।
भूल चूक होवे कहीं क्षमा करो बुद्धिमान ॥
गुरू गणपति की कृपा से हुए सम्पूर्ण काम।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

चन्दूलाल 'जीवन' कहे जय बोलो श्रीराम ।।

ही हैं, जिन्हें चुटकी भर स्व-परिचय कहा जा सकता है। परन्तु जीवनराम की अन्य रचना 'धर्मदिवाकर' से जिन तथ्यों का उद्‌घाटन होता है, उनसे पता चलता है कि वे चन्दूलाल के शिष्य थे तथा इस हिसाब से, गणपति नामक कवि उनके दादा-गुरु थे। चन्दूलाल ने अपनी रचनाओं में स्पष्ट रूप से घोषणा की है कि मानवी नामक गाँव के निवासी पण्डित गणपति उनके काव्यगुरु हैं तथा चन्दूलाल उनके शिष्य हैं।

प्रस्तुत रचना में अनेक स्थानों पर अपने नाम के स्थाल पर अपने गुरू चन्दूलाल के नाम को जोड़कर उनके प्रति जिस श्रद्धा की अभिव्यक्ति की गई हैं, वह उनकी गुरू-भक्ति की द्योतक है। चन्दूलाल ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में 'रामायण' लिखना आरम्भ किया था। सम्भवतः इसमें उनका प्रेरणा स्रोत उन दिनों मालेरकोटला में खेली जाने वाली रामलीला थी। जैसे जैसे वे 'रामायण' की रचना करते जाते, बड़े बूढ़े साक्षी भरते हैं कि उनके गाने साथ ही साथ रामलीला में सम्मिलित किए जाते थे। यहां तक कि रामलीला के अभिनय में, वे स्वयं हारमोनियम पर बैठकर, अपने 'गानों' को संगीत प्रदान किया करते थे। परन्तु चन्दूलाल अभी 'बालकाण्ड' ही लिख पाए थे कि उनका देहावसान हो गया। रामलीला में उनके लिखे 'बालकाण्ड' को भी लोकप्रियता प्राप्त हुई थी, उसके मुकाबिले में, बाकी का भाग फीका पड़ रहा था। अतः उनकी मृत्यु के बाद संयोजकों की निगाहें उनकी शिष्य-मण्डली पर जमीं कि उनका कोई शिष्य अपने गुरु के अधूरे छोड़े कार्य को पूरा करे। ऐसा प्रतीत है कि यह उत्तरदायित्व जीवनराम ने संभाला तथा 'वनवास लीला' की रचना की।

प्राप्त सामग्री के आधार पर यह कहना कठिन है कि जीवनराम ने अयोध्या काण्ड के बाद के काण्डों की रचना भी की या नहीं। लेकिन क्योंकि उनकी पहली रचना 'धर्म दिवाकर' के विषय में मेरा अनुमान है कि उसकी रचना सं० 1954-55 बि० के बीच हुई होगी, इसलिए मुझे लगता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना सं० 1975-74 वि० में हुई होगी। इस रचना के अधूरा होने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह रचना जीवनराम की अन्तिम रचना रही होगी। अपने गुरु की तरह भी पूरी रामायण को कविताबद्ध करने की बजाय एक काण्ड लिखकर ही चल दिए होंगें। मेरे इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि पिछले अनेक वर्षों से मालेरकोटला में जो रामलीला खेली जाती है, उसमें 'बालकाण्ड' पर आधारित नाटकों में चन्दूलाल रचित गीत ही गाए जाते हैं और अयोध्या काण्ड, जीवनराम द्वारा जिस रूप में रचा गया था, उसी रूप में खेला जाता है। परन्तु इसके बाद के सभी नाटक यशवन्त सिंह की रामायण पर आधारित होते हैं। यदि जीवनराम ने या चन्दूलाल के किसी अन्य शिष्य ने, इस कार्य को पूर्ण कर दिया होता तो यशवन्त सिंह की रामायण के अभिनय की गुंजाइश न रही होती। चन्दूलाल का देहान्त 1 जून 1917 को हुआ था। मेरा अनुमान है कि प्रस्तुत ग्रंथ की रचना उनकी मृत्यु के साल दो साल के भीतर ही हो गई होगी।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

संदर्भ संकेत :—

1. अध्यात्म रामायण : अयोध्या काण्ड : 1/32-34

2. यह विचारू उर आनि नृप सुदिनु सुअवसरू पाइ
प्रेम पुलकि तन मुदित मन गुरुहिं सुनायउ जाइ ॥
रा. च. मा.-पृ० 338

3. अध्यात्म रामायण : अयोध्या काण्ड : 4/11

4. वही : : : 4/15

5. रथ चड़ाई देखराई बनु फिरेहु गएँ दिन चारि।
रा. च. मा.-पृ० 388

6. अहम् राघव कैकेय्या वरदानेन मोहिता :
अयोध्यायास्त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्यमाम् ॥
बा. रा.-अ. का.-34/26

7. बाल्मीकि रामायण : अयोध्या काण्ड : 115/2

8. अध्यात्म रामायण : अयोध्या काण्ड : 9/70-71

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्मल वर्मा की नवीन चिन्ता-सरणि

डा० परेश
हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

कुछ कुछ 'भेड़िया आया' के से बोध कथा के आतंक को फैलानेवाले स्वर में डा. नामवरसिंह जी की आलोचना-शैली के समर्थक निर्मल वर्मा की नई पुस्तक 'कला का जोखम' का प्रतिवाद कर रहे हैं। मेरा अनुमान है उस बोध-कथा के समान ही सचमुच का भेड़िया भी हिन्दी की छद्म आलोचना को समाप्त करने के लिए झाड़ी के पीछे आ गया है। किंचित् विचारणीय स्थिति इसलिए भी उत्पन्न हुई है कि इस बात से लोगों को सहानुभूति उतनी नहीं जितना कि मनोरंजन हो रहा है। बहुत अतीत की बात नहीं कि अपनी सारी कोशिशों के बावजूद राकेश कमलेश्वर-यादव की त्रयी डा. नामवरसिंह को मात देने में असफल रही। ये तीनों ही चरित्र में कुछ-कुछ दक्षिण पंथी रहे। इनके पश्चात् की पीढी बेकारी के कारण वामपंथी बन गई और आलोचना जगत में डा. नामवरसिंह एकमात्र छत्रधर रह गए। विश्वविद्यालयों में डा. नगेन्द्र और आचार्य नंददुलारे वाजपेयी अपनी-अपनी सुरक्षित हदबंदी से परिसरों के बाहर की इस गतिविधि को विना अधिक 'कन्सर्न' के देखते रहे। निर्मल वर्मा विदेशों में घूमते रहे।

वापस आए तो गरीबी और अपर्याप्त भोजन से उत्पन्न शरीर के बुखार को प्रामाणिकता से शब्द-बद्ध करते रहे बल्कि बुखार की ही लय में निबद्ध करते रहे। 'एक चिथड़ा सुख' उपन्यास इसका प्रमाण है। प्रयाग के कुंभ मेले में घूमते रहे -वह विवरण इस पुस्तक में 'एक सुलगती टहनी' नाम से संकलित है। यह वृत्त पुराने निर्मल का रोमांटिक पहलू है। 'कला का जोखम' का दूसरा खण्ड कुछ लेखकों की बाबत निर्मल की दृष्टि का बोध कराता है। इसमें रेणु, अज्ञेय, मुक्तिबोध, नाबोकोव और अपनी सांस रोकिए जयप्रकाश जी शामिल हैं। इनमें लोकनायक को छोड़ कर बाकी चारों लेख साहित्यिक हैं। मैं समझता हूं जयप्रकाश जी से सम्बन्धित लेख पूर्णत: राजनीतिक ही नहीं, राजनीति और सत्ता से टकराने वाला है। मैनेजर पाण्डेय ने 'आलोचना' के प्रेमचन्द अंक में अपनी पूरी शक्ति यह कहने में लगाई है कि 'भेड़िया आ गया है'-वह इसी लेख के बारे में है, बल्कि पुस्तक के प्रथम खंड में इसी प्रकार के विचारधारा, प्रासंगिकता और वामपंथ की निस्सारता को कहनेवाले लेखों के कारण 'आलोचना' का मंच डगमगाया सा लगा है। 'आलोचना-५३' में डा. नामवरसिंह ने बहुत ही त्रासद खिसियाहट के साथ 'निर्मलजी' का जिक्र किया है। मेरी स्मृतिमें ऐसी खिसियाहट और पराजय तथा वैचारिक कट्टरता का ऐसा चरमराता खोखलापन हिंदीसाहित्य के इतिहास में पहले देखने को नहीं आया

यह धूमकेतु (निर्मल वर्मा) इतनी आक्रामकता के साथ इस पुस्तक के माध्यम से उदित हुआ है कि साहित्य में कुछ समय तक मार्क्सवाद और उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

समर्थकों की स्थिति डाँवाडोल ही रहेगी। किन्तु दक्षिणपंथ इसे अपनी विजय समझे तो इससे बड़ी भ्रांति भी कोई दूसरी न होगी।

यह सब निर्मल की भाषा-क्षमता के कारण हुआ है। इसे उनकी चिन्तना का विकास भी कहा जा सकता है। बहुत से वामपंथी व्यक्तिगत सुरक्षा को ही विचार समझते रहे-यह मनीषी निर्मल अपनी सौन्दर्यानुभूतिपरक रचनाओं कहाँ छिपा था ईश्वर ही जाने, किन्तु वह अचानक विस्फोटक हो उठा है। इस विचार खण्ड की एक एक पंक्ति लैटर बम्ब की तरह बारूद से सनी है, रेगिस्तान में छुपी बारूद सुरंगोंसी बिछी है। इन पर चलना जोखम का काम है। किंतु जिसने इन्हें बिछाया है उसने तो निश्चय ही जान को सो पुस्तक के नाम की सार्थकता में कोई कमी नहीं।

सन्देह नहीं कि अनेक वामदक्षिणपंथी इस जोखम को देखकर चुप कर जाएगें, तथा इस विषय पर बात करने से कन्नी काट जाएंगे। इस सम्बन्ध में पहली भूल 'आलोचना' परिवार से हो गई है। इस पुस्तक की विस्फोटकता का अनुमान कर पटियाला हिन्दी विभाग एक गोष्ठी में इस पर विचार कर चुका है। 'सारिका' सम्पादक श्री नन्दन इस पुस्तक की प्रस्तुति करते हुए इस 'जोखम के क्षेत्र' के बिल्कुल दूसरी ओर से निकल गए हैं।

'प्रासंगिक' शब्द साहित्य से कुछ मांगता है, कुछ-कुछ यह उपादेयता का पर्याय है। यदि साहित्य से हमें कुछ सांसारिक किस्म की चीज अपेक्षित है तो फिर कला स्वायत्त नहीं रह जाती। कला की स्वायत्तता का उद्घोष करने के कारण निर्मल वामपंथियों की पकड़ से बाहर निकल जाते हैं। लेखक 'उपादेयता' से बचेगा तो अनायास ईश्वर की ओर उठेगा-इस परिणति को न समझते हुए निर्मल कहीं बीच में शुद्ध कला और नैतिकता का भूलोक निर्मित करना चाहते हैं। सारे जादू का रहस्य स्मृति है और शब्दों से इस 'स्मृति' को जीवित रखा जा सकता है। भारतीय वाङ्मय से बहुत अधिक परिचित न होने के कारण निर्मल यह नहीं जानते कि 'स्मृति' उपनिषदों का ही एक भाग है। उपनिषद् वेद तक ले जाएगें और उन्हें यह आत्यंतिक नैतिकता शुद्ध भारतीय मनीषी और हिन्दू बना देगी।

निर्मल ने हजारी प्रसाद जी के प्रसंग में यह कहने में गौरव अनुभव किया है कि वे शुद्ध हिंदू और ब्राह्मण थे। सत्ता, इंदिरा, इमर्जेन्सी, मार्क्सवाद और यहां तक कि क्रांति का भी विरोध उन्होंने इस पुस्तक में जमकर किया है। यह आश्चर्य है कि राजकमल से प्रकाशित पुस्तक उन्हीं के बुद्धिजीवियों पर टूट पड़े।

विश्वविद्यालयों और प्रकाशन संस्थानों में जमे हुए पेशेवर लोगों के गुट को निर्मल ने माफ़िया कहा है। मैं समझता हूं 'राजकमल' के कृपापात्र होने के कारण निर्मल अभी तक इस माफ़िया के सदस्य थे। यह पुस्तक लिखकर वे वैचारिक रूप से इससे बाहर हुए हैं। हिन्दी में ही नहीं हमारे देश में निर्मल का यह चिन्तन एक अभूतपूर्व घटना है। 'मुक्तिबोध' की समीक्षा में जिस भाषा की निर्मिति हुई है-वह किसी भी बुद्धिजीवी को चकित कर देगी। कुल मिलाकर भाषा की ऐसी अभिव्यक्ति क्षमता—बल्कि गद्य की क्षमता के इतने आलोक-लोक यह वाग्देवी की लीला का अद्भुत विलास है। यह क्षमता प्रशंसा नहीं, आतंक पैदा करती है।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ की पीएच.डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध
(अप्रैल 1981 से फरवरी, 1982 तक)

1.	स्वर्ण कांता	1981	भाषा-विज्ञान	ए सिंक्रोनिक स्टडी ग्राफ द रामचरित मानस
2.	ललिता देवी	1981	संत काव्य	गुरु नानक काव्य का सांस्कृतिक ग्रध्ययन
3.	ग्ररविन्द कुमार	1981	विविध	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी का ग्रात्म विकासात्मक साहित्य (निबन्धों के विशिष्ट संदर्भ में)
4.	सतीश कुमार	1981	भाषा-विज्ञान	रसायनशास्त्र की हिंदी परिभाषिक शब्दावली का भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण तथा मूल्यांकन
5.	राजेन्द्रस्वरूप वत्स	1981	विविध	हिन्दी काव्य में मिथकों ग्रौर पुराख्यानों का पुनर्विवेचन
6.	नरेश कुमार शर्मा	1981	विविध	दुष्यन्त कुमार : व्यक्ति, परिवेश तथा साहित्य
7.	रक्षपाल जिंदल	1981	विविध	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन के ग्राधार
8.	सत्यभामा	1981	नाटक (सामान्य)	पजाब का ग्राधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य
9.	सरोज बंसल	1981	नाटक (सामान्य)	हिंदी नाटकों के नारी पात्रों का मनोविश्लेषणात्मक ग्रध्ययन
10,	बीना नरुला	1981	भक्ति (सामान्य)	प्राणनाथ के साहित्य का ग्रध्ययन : मध्यकालीन हिंदी भक्ति काव्य के सन्दर्भ में
11.	शमी शर्मा	1981	कृष्ण भक्ति	सूर ग्रौर तुलसी की जीवन दृष्टि का तुलनात्मक ग्रध्ययन
12.	जगदीशचन्द्र शर्मा	1981	ग्राधुनिक कविता	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में विद्रोह
13.	स्नेह लता नन्दा	1981	नाटक (सामान्य)	ग्राधुनिक हिन्दी नाटक में पुराख्यान तत्व
14.	ग्रात्मा राम	1981	सन्त काव्य	कबीर ग्रौर तुलसी के जीवन दर्शन का तुलनात्मक ग्रध्ययन
15.	भास्करानन्द शर्मा	1981	विविध	हिन्दी से पंजाबी में ग्रनुवादित साहित्य-एक विश्लेषणात्मक ग्रध्ययन
16.	व्रजभूषण शर्मा	1982	ग्राधुनिक काव्य	छायावादोत्तर हिन्दी कविता में नैतिक चेतना
17.	श्रीमती सुदर्शन सुनेजा	1982	उपन्यास (सैद्धांतिक)	ग्रात्मकथात्मक शैली के हिन्दी उपन्यासों का ग्रध्ययन
18.	सोम दत्त	1982	भाषा-विज्ञान	
19.	जीत सिंह	1982	नाट्य एवं रंगप्रतीक	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाट्य साहित्य के संदर्भ में 1950-75
20.	कृष्ण कुमार मुद्गिल	1982	चौरासी वैष्णव की वार्ता-एक सांस्कृतिक ग्रध्ययन	
21.	बीना रानी	1982	नाटक (सामान्य)	ग्राधुनिकता के सन्दर्भ में पौराणिक नाटक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा पंजीकृत शोध विषय
(अप्रैल 1981 से मार्च 1982)

1. चन्द्र मोहन धस्माना : साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास में सामाजिक चेतना ।
2. विजय लक्ष्मी : हिन्दी का आत्मविकासात्मक निबन्ध साहित्य (नारी के संदर्भ में)
3. रमा पंडित : नारी लेखिकाओं के हिन्दी उपन्यासों में नर नारी विवाहोत्तर सम्बन्ध: समाज मनोवैज्ञानिक अध्ययन ।
4. बलबीर लिंह : सन्त साहित्य में मानव मूल्य ।
5. आशा ठाकुर : साठोत्तरी हिन्दी नाट्य साहित्य पात्र सृष्टि तथा चरित्र-चित्रण के संदर्भ में ।
6. रामचन्दर : भक्तिकालीन हिन्दी कवियों की नारी चेतना (मूल समस्या एवं विस्तार)
7. राजेन्द्र सिंह टोकी : हिन्दी उपन्यास और प्रकृतिवाद ।
8. उपेन्द्र लाल शर्मा : प्रमुख पुराणों के संदर्भ में सन्त भेई (कबीर, गुरुनानक और सुन्दरदास) के साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन ।
9. निर्मला गुप्ता : दशम ग्रन्थ में वीर रस का आलोचनात्मक अध्ययन ।
10. रजिन्दर पाल सिंह : पंजाब के संदर्भ में हिन्दी कहानी (1900–1950)
11. ओम पाल : प्रेमचन्दकालीन उपन्यासों पर आर्य-समाज का प्रभाव ।
12. कृष्णचन्द शर्मा : हिन्दी नाटकों में प्रेम का स्वरूप (1960 से 1980 तक)
13. निर्मल जसवाल : सातवें दशक की हिन्दी कहानी में स्त्री-पुरूष सम्बन्धों का मनोवैज्ञानिक आधार ।

111503

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशोध : ३४-३५

सम्पादक : डा० मैथिली प्रसाद भारद्वाज
डा० लक्ष्मी नारायण शर्मा

प्रकाशक तथा वितरक : अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़-160014.

मूल्य : दस रुपये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

111503

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri